संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

प्रथम भाग

लेखक—

युधिष्ठिर मीमांसक

अध्यक्ष—प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, काशी

प्रकाशक—

श्री पं० भगवद्दत्तजी बी० ए०

वैदिक साधन आश्रम, देहरादून

प्राप्तिस्थान—~~भारतीय साहित्य भवन, नयागंज, लाइब्रेरी रोड~~, नई देहली, 12
इतिहास प्रकाशन मण्डल, 3/8 ईस्ट पटेल नगर

मुद्रक:—

श्री बाबू मथुराप्रसादजी शिवहरे

दी फ़ाइन आर्ट प्रिन्टिङ्ग प्रेस, अजमेर.

प्रथमवार १०००	मार्गशीर्ष संवत् २००७	मूल्य १०) रु०

युधिष्ठिर मीमांसक की अन्य पुस्तकें

लिखित—

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास .... सजिल्द	६)
ऋग्वेद की ऋक्संख्या	॥)
ऋग्वेद की दानस्तुतियों पर विचार	।)
क्या ऋषि मन्त्ररचयिता थे ?	॥)
आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय	।=)
सामवेदस्वराङ्कनप्रकार	≡)
संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास भाग २	(अप्रकाशित)
शिक्षा-शास्त्र का इतिहास	,,
वैदिकछन्दःसंकलनम्	,,
बृहद्देवता भाषानुवाद (सहयोगी अनुवादक)	,,

सम्पादित—

दशपादी-उणादि-वृत्ति	३।)
निरुक्तसमुच्चय वररुचिकृत	३)
भागवृत्ति-संकलनम्	१)
शिक्षासूत्राणि—आचार्य आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी प्रोक्त	।)
चान्द्रव्याकरण-वृत्ति	

प्राप्ति स्थान—

प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान—मोतीझील, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६ ।

प्राक्कथन

पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक का यह ग्रन्थरत्न विद्वानों के सम्मुख उपस्थित है। कितने वर्ष, कितने मास और कितने दिन श्री पण्डित जी को इस के लिये दत्तचित्त होकर देने पड़े, इसे मैं जानता हूं। इस काल के महान् विघ्न भी मेरी आंखों से ओझल नहीं हैं।

भारतवर्ष में अंग्रेजों ने अपने ढंग के अनेक विश्वविद्यालय स्थापित किए। उनमें उन्होंने अपने ढंग के अध्यापक और महोपाध्याय रक्खे। उन्हें आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त करके अंग्रेजों ने अपना मनोरथ सिद्ध किया। भारत अब स्वतन्त्र है, पर भारत के विश्वविद्यालयों के प्रभूत-वेतन-भोगी महोपाध्याय scientific विद्यासंबन्धी और critical तर्कयुक्त लेखों के नाम पर महा अनृत और अविद्या-युक्त बातें लिखते और पढ़ाते जा रहे हैं।

ऐसे काल में अनेक आर्थिक और दूसरी कठिनाइयों को सहन करते हुए जब एक महाज्ञानवान् ब्राह्मण सत्य की पताका को उत्तोलित करता है और विद्या-विषयक एक वज्रग्रन्थ प्रस्तुत करके नामधारी विद्वानों के अनृतवादों का निराकरण करता है, तो हमारी आत्मा प्रसन्नता की पराकाष्ठा का अनुभव करती है। भारत शीघ्र जागेगा और विरोधियों के कुग्रन्थों के खण्डन में प्रवृत्त होगा।

ऐसा प्रयास मीमांसकजी का है। श्री ब्रह्मा, वायु, इन्द्र, भरद्वाज आदि महायोगियों ऋषियों के शतशः आशीः उनके लिए हैं। भगवान् उन्हें बल दें कि विद्या के क्षेत्र में वे अधिकाधिक सेवा कर सकें।

मैं इस महान तप में अपने को सफल समझता हूं। इस ग्रन्थ से भारत की एक बड़ी त्रुटि दूर हुई है। जो काम राजवर्ग के बड़े बड़े लोग नहीं कर रहे, वह काम यह ग्रन्थ करेगा। इससे भारत का शिर ऊंचा होगा।

श्री बाबा गुरमुखसिंहजी का भवन
अमृतसर,
कार्तिक शुक्ला १५ सं० २००७

आर्यविद्या का सेवक
भगवद्दत्त

भूमिका

भारतीय आर्यों का प्राचीन संस्कृत वाङ्मय संसार की समस्त जातियों के प्राचीन वाङ्मय की अपेक्षा विशाल और प्राचीनतम है। अभी तक उस का जितना अन्वेषण, सम्पादन और मुद्रण हुआ है, वह उस वाङ्मय का दशमांश भी नहीं है। अत: जब तक समस्त प्राचीन वाङ्मय का सुसम्पादन और मुद्रण नहीं हो जाता, तब तक निश्चय ही उस का अनुसन्धान कार्य अधूरा रहेगा।

पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करके उस का इतिहास लिखने का प्रयास किया है, परन्तु वह इतिहास योरोपियन दृष्टि-कोण के अनुसार लिखा गया है। उस में यहूदी ईसाई पक्षपात, विकासवाद और आधुनिक अधूरे भाषाविज्ञान के आधार पर अनेक मिथ्या कल्पनाएं की गई हैं।[1] भारतीय ऐतिहासिक परम्परा की न केवल उपेक्षा की है, अपितु उसे सर्वथा अविश्वास्य कहने की धृष्टता भी की है। हमारे कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी प्राचीन वाङ्मय का इतिहास लिखा है, पर वह योरोपियन विद्वानों का अन्ध अनुकरणमात्र है। इसलिये भारतीय प्राचीन वाङ्मय का भारतीय ऐतिहासिक परम्परा तथा भारतीय विचारधारा से क्रमबद्ध यथार्थ इतिहास लिखने की महती आवश्यकता है। इस क्षेत्र में सब से पहला परिश्रम तीन भागों में "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" लिखकर श्री० माननीय पं० भगवद्दत्तजी ने किया। उसी के एक अंश की पूर्ति के लिये हमारा यह प्रयास है।

संस्कृत वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उस का जो वाङ्मय इस समय उपलब्ध है वह भी बहुत विस्तृत है। इस शास्त्र का अभी तक कोई क्रमबद्ध इतिहास अंग्रेजी या किसी भारतीय अपभ्रंश में प्रकाशित नहीं हुआ। चिरकाल हुआ सं० १९७२ में डा० बेलवेल्करजी का 'सिस्टमस् आफ दी संस्कृत ग्रामर' नामक एक छोटा सा निबन्ध अंग्रेजी भाषा में छपा था। संवत् १९९५ में बंगला भाषा में श्री पं० गुरुपद हालदार कृत 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' नामक ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। उस में मुख्यतया व्याकरणशास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों

---

१. देखो श्री० पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १ पृष्ठ ३४—६८ तक 'भारतीय इतिहास की विकृति के कारण' नामक तृतीय अध्याय।

का विवेचन है, अन्त के भाग में कुछ एक प्राचीन वैयाकरणों का वर्णन भी किया है। अतः समस्त व्याकरण शास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास लिखने का हमारा सर्व प्रथम प्रयास है।

इतिहास-शास्त्र की ओर प्रवृत्ति

आर्ष ग्रन्थों के महान् वेत्ता, महावैयाकरण आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु की, भारतीय प्राचीन वाङ्मय और इतिहास के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी के साथ पुरानी स्निग्ध मैत्री है। आचार्यवर जब कभी श्री माननीय पण्डित जी से मिलने जाया करते थे, तब वे प्रायः मुझे भी अपने साथ ले जाते थे। आप दोनों महानुभावों का जब कभी परस्पर मिलना होता था, तभी उनकी परस्पर अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर शास्त्रचर्चा हुआ करती थी। मुझे उस शास्त्रचर्चा के श्रवण से अत्यन्त लाभ हुआ। इस प्रकार अपने अध्ययन काल में सं० १९८६, १९८७ में श्री माननीय पण्डित जी के संसर्ग में आने पर आप के महान् पाण्डित्य का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा और भारतीय प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन तथा उनके इतिहास जानने की मेरी रुचि उत्पन्न हुई, वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई। आप की प्रेरणा से मैंने सर्व प्रथम दशपादी-उणादि-वृत्ति का सम्पादन किया। यह ग्रन्थ व्याकरण के वाङ्मय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और बहुत प्राचीन है। इस का प्रकाशन संवत् १९९९ में राजकीय संस्कृत महाविद्यालय काशी की सरस्वती भवन प्रकाशनमाला की ओर से हुआ। अध्ययन काल में व्याकरण मेरा प्रधान विषय रहा, आरम्भ से ही इस में मेरी महती रुचि थी। इसलिये श्री माननीय पण्डित जी ने संवत् १९९४ में मुझे व्याकरण शास्त्र का इतिहास लिखने की प्रेरणा की। आप की प्रेरणानुसार कार्य प्रारम्भ कर देने पर भी कार्य की महत्ता, उस के साधनों का अभाव और अपनी अयोग्यता को देखकर अनेक बार मेरा मन उपरत हुआ, परन्तु आप मुझे इस कार्य के लिये निरन्तर प्रेरणा देते रहे और अपने संस्कृत वाङ्मय के विशाल अध्ययन से संगृहीत एतद्ग्रन्थोपयोगी विविध सामग्री प्रदान कर मुझे सदा प्रोत्साहित करते रहे। आप की प्रेरणा और प्रोत्साहन का ही फल है कि अनेक विघ्न बाधाओं के होते हुए भी मैं इस कार्य को करने में कथंचित् समर्थ हो सका।

इतिहास की काल-गणना

इस इतिहास में भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार भारतयुद्ध

को विक्रम से ३०४४ वर्ष प्राचीन माना है।[1] भारतयुद्ध से प्राचीन आचार्यों के कालनिर्धारण की समस्या बड़ी जटिल है। जब तक प्राचीन युग-परिमाण का वास्तविक स्वरूप ज्ञात न हो जाए तब तक उनका काल निर्धारण करना सर्वथा असम्भव है। इतना होने पर भी हमने इस ग्रन्थ में भारतयुद्ध से प्राचीन व्यक्तियों का काल दर्शाने का प्रयास किया है। इस के लिये हमने कृत युग के ४८००, त्रेता के ३६००, द्वापर के २४०० दिव्य वर्षों को सौरवर्ष[2] मान कर काल गणना की है। इस लिये भारतयुद्ध से प्राचीन आचार्यों का इस इतिहास में जो काल दर्शाया है, वह उनके अस्तित्व का स्वल्पतम काल है। वे उस काल से अधिक प्राचीन तो हो सकते हैं, परन्तु अर्वाचीन नहीं हो सकते, इतना पूर्ण निश्चित है।

पाश्चात्य तथा उन के अनुकरण कर्ता भारतीय ऐतिहासिकों का मत है कि भारत में आर्यों का इतिहास ईसा से २५०० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। इस की असत्यता हमारे इस इतिहास से भले प्रकार ज्ञात हो जायगी।

हमने अभी तक भारतीय प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में जितना विचार किया है उसके अनुसार भारतीय आर्यों का प्राचीन क्रमबद्ध इतिहास लगभग १६००० वर्षों का निश्चित उपलब्ध होता है। उस इतिहास का आरम्भ वर्तमान चतुर्युगी के सत्ययुग से होता है। उससे पूर्व का इतिहास उपलब्ध नहीं होता। इस का एक महत्त्व पूर्ण कारण है। हमारा विचार है कि सत्ययुग से पूर्व संसार में एक महान् जलप्लावन आया, जिस में प्रायः समस्त भारत जलमग्न हो गया था। उस जलप्लावन में भारत के कुछ एक महर्षि ही जीवित रहे। यह वही महान् जलप्लावन है जो भारतीय इतिहास में मनु के जलप्लावन के नाम से विख्यात है। इस भारी उथल पुथल मचा देने वाली महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख न केवल भारतीय वाङ्मय में है, अपितु संसार की सभी जातियों के

---

१. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत "भारतवर्ष का इतिहास" द्वितीय संस्क० पृष्ठ २०५–२०९। तथा रावबहादुर चिन्तामणि वैद्य कृत 'महाभारत की मीमांसा' पृष्ठ ८९–१४०।

२. तुलना करो—सप्त विंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले। सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्। सप्तर्षिणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्यया स्मृतम्॥ वायु पुराण अ० ९९ श्लोक ४१९। अन्यत्र विना दिव्य विशेषण के साधारण रूप में २७०० वर्ष कहा है।

प्राचीन ग्रन्थों में नूह अथवा नोह का जलप्लावन आदि विभिन्न नामों से स्मृत है। अतः इस महान् जलप्लावन की ऐतिहासिकता सर्वथा सत्य है। इस जलप्लावन का संसार के अन्य देशों पर क्या प्रभाव पड़ा, यह अभी अन्वेषणीय है।

आधुनिक भाषाविज्ञान

भारतीय प्राचीन वाङ्मय के अनुसार संस्कृत भाषा विश्व की आदि भाषा है, परन्तु आधुनिक भाषाविज्ञानवादियों के मतानुसार संस्कृत भाषा विश्व की आदि भाषा नहीं है और उस में उत्तरोत्तर महान् परिवर्तन हुआ है।

संवत् २००१ में मैंने पं० बेचरदास जीवराज दोशी की "गुजराती भाषा नी उत्क्रान्ति" नामक पुस्तक पढ़ी। उस में दोशी महोदय ने वैदिक संस्कृत और प्राकृत की पारस्परिक महती समानता दर्शाते हुए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत का मूल कोई प्रागैतिहासिक प्राकृत भाषा थी। यद्यपि मैं उस से पूर्व आधुनिक भाषाविज्ञान के कई ग्रन्थ देख चुका था, तथापि उक्त पुस्तक के अवलोकन से मुझे भाषाविज्ञान पर विशेष विचार करने की प्रेरणा मिली। तदनुसार मैंने दो ढाई वर्ष तक निरन्तर भाषाविज्ञान का विशेष अध्ययन और मनन किया। उस से मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रासाद अधिकतर कल्पना की भित्ति पर खड़ा किया गया है। उसके अनेक नियम, जिनके आधार पर अपभ्रंश भाषाओं के क्रमिक विकार और पारस्परिक संबन्ध का निश्चय किया गया है, अधूरे एकदेशी हैं। हमारा भाषाविज्ञान पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने का विचार है। उसमें हम आधुनिक भाषाविज्ञान के स्थापित किये गये नियमों की सम्यक् आलोचना करेंगे। प्रसंगवश इस ग्रन्थ में भी भाषाविज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण नियम का अधूरापन दर्शाया है।[1]

संस्कृत भाषा विश्व की आदि भाषा है या नहीं, इस पर इस ग्रन्थ में विचार नहीं किया, परन्तु भाषाविज्ञान के गम्भीर अध्ययन के अनन्तर हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि संस्कृत भाषा में आदि (चाहे उस का आरम्भ कभी से क्यों न माना जाय) से आजतक यत्किंचित् परिवर्तन नहीं हुआ है। आधुनिक भाषाशास्त्री संस्कृत भाषा में जो परिवर्तन

---

१. देखो पृष्ठ १२, १३।

दर्शाते हैं, वे सत्य नहीं है। हां, आपाततः प्रतीत अवश्य होते हैं, परन्तु उस प्रतीति का एक विशेष कारण है और वह है—संस्कृत भाषा का ह्रास। संस्कृत भाषा अतिप्राचीन काल में बहुत विस्तृत थी। शनैः शनैः देशकाल और परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण म्लेच्छ भाषाओं की उत्पत्ति हुई और उत्तरोत्तर उन की वृद्धि के साथ साथ संस्कृत भाषा का प्रयोगक्षेत्र सीमित होता गया। इसलिये विभिन्न देशों में प्रयुक्त होने वाले संस्कृतभाषा के विशेष शब्द संस्कृतभाषा से लुप्त होगये। भाषाविज्ञानवादी संस्कृत भाषा में जो परिवर्तन दर्शाते हैं वह सारा इसी शब्दलोप या संस्कृत भाषा के संकोच = ह्रास के कारण प्रतीत होता है। वस्तुतः संस्कृत भाषा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। हमने इस विषय का विशद निरूपण इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में किया है। अपने पक्ष की सत्यता दर्शाने के लिये हमने १८ प्रमाण दिये हैं। हमें अपने विगत ३० वर्ष के संस्कृत अध्ययन तथा अध्यापन काल में संस्कृत भाषा का एक भी ऐसा शब्द नहीं मिला जिस के लिये कहा जा सके कि अमुक समय में संस्कृत भाषा में इस शब्द का यह रूप था और तदुत्तर काल में इस का यह रूप होगया। इसी प्रकार अनेक लोग संस्कृत भाषा में मुण्ड आदि भाषाओं के शब्दों का अस्तित्व मानते हैं, वह भी मिथ्या कल्पना है। वे वस्तुतः संस्कृत भाषा के अपने शब्द हैं और उस से विकृत मुण्ड आदि भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं। इस विषय का संक्षिप्त निदर्शन भी हमने प्रथमाध्याय के अन्त में कराया है।

इतिहास का लेखन और मुद्रण

मैं इस ग्रन्थ के लिये उपयुक्त सामग्री का संकलन संवत् १९९९ तक लाहौर में कर चुका था, और इस की प्रारम्भिक रूपरेखा भी कुछ निर्धारित की जा चुकी थी। संवत् १९९९ के मध्य से संवत् २००२ के अन्त तक परोपकारिणी सभा, अजमेर के ग्रन्थ-संशोधन कार्य के लिये अजमेर में रहा। इस काल में इस ग्रन्थ के कई प्रकरण लिखे गए और भाषाविज्ञान का गम्भीर अध्ययन और मनन हुआ, इस के परिणाम स्वरूप इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय लिखा गया। कई कारणों से संवत् २००३ के प्रारम्भ में परोपकारिणी सभा, अजमेर का कार्य छोड़ना पड़ा, अतः मैं पुनः लाहौर चला गया। वहां श्री रामलाल कपूर

ट्रस्ट में कार्य करते हुए इस ग्रन्थ के प्रथम भाग की चार पांच बार संशोधन के अनन्तर मुद्रणार्थ अन्तिम प्रति (प्रेस कापी) तैयार की। श्री माननीय पण्डित भगवद्दत्तजी ने, जिनकी प्रेरणा और अत्यधिक सहयोग का फल यह ग्रन्थ है, अपने व्यय से इस ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था की। संवत् २००३ के अन्त में जब संपूर्ण पञ्जाब में साम्प्रदायिक गड़बड़ आरम्भ हो चुकी थी, इस का मुद्रण आरम्भ हुआ। साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण अनेक विघ्न होते हुए भी आषाढ़ संवत् २००४ तक इस ग्रन्थ के १९ फार्म अर्थात् १५२ पृष्ठ छप चुके थे। श्रावण संवत् २००४ में भारत विभाजन के कारण लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने से इस ग्रन्थ का मुद्रित भाग वहीं नष्ट हो गया। उसी समय मैं भी लाहौर से पुनः अजमेर आ गया।

उक्त देशविभाजन से श्री माननीय पण्डितजी की समस्त सम्पत्ति, जो डेढ़ लाख रुपए से भी ऊपर की थी, वहीं नष्ट हो गई। इतना होने पर भी आप किञ्चिन्मात्र हतोत्साह नहीं हुए और इस ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण के लिये बराबर प्रयत्न करते रहे। अन्त में आप और आप के मित्रों के प्रयत्न से फाल्गुन संवत् २००५ में इस ग्रन्थ का मुद्रण पुनः प्रारम्भ हुआ। मैंने इस काल में पूर्व मुद्रित अंश का, जिसकी एक कापी मेरे पास बच गई थी और शेष हस्तलिखित प्रेस कापी का पुनः परिष्कार किया। इस नये परिष्कार से ग्रन्थ का [स्वरूप] अत्यन्त श्रेष्ठ बना और ग्रन्थ भी पूर्वपेक्षया ड्योढ़ा हो गया।

इस प्रकार अनिर्वचनीय विघ्नबाधाओं के होने पर भी श्री माननीय पण्डितजी के निरन्तर सहयोग और महान् प्रयत्न से यह प्रथम भाग छपकर सज्जित हुआ है। इस के लिये मैं आप का अत्यन्त कृतज्ञ हूं, अन्यथा इस ग्रन्थ का मुद्रण होना सर्वथा असम्भव था। इस ग्रन्थ का दूसरा भाग भी यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित होगा, जिसमें शेष १७ अध्याय होंगे।

स्वल्प त्रुटि

विद्या की दृष्टि से अजमेर एक अत्यन्त पिछड़ा हुआ नगर है। यहां कोई ऐसा पुस्तकालय नहीं, जिस के साहाय्य से कोई व्यक्ति अन्वेषण कार्य कर सके। इसलिये इस ग्रन्थ के मुद्रण काल में मुझे अधिकतर अपनी संगृहीत टिप्पणियों पर ही अवलम्बित रहना पड़ा, तत्तत् ग्रन्थ देखकर उनके शुद्धाशुद्ध पाठों का निर्णय न कर सका। अतः सम्भव है कुछ स्थलों पर पाठ तथा पते आदि के निर्देश में कुछ भूल होगई हो। किन्हीं कारणों

से इस भाग में कई आवश्यक अनुक्रमणियां देनी रह गई हैं, उन्हें हम अगले भाग के अन्त में देंगे।

कृतज्ञता-प्रकाश

आर्ष ग्रन्थों के महाध्यापक, पदवाक्यप्रमाणज्ञ, महावैयाकरण आचार्यवर श्री पूज्य पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु को जिनके चरणों में बैठकर १४ वर्ष निरन्तर आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया, भारतीय वाङ्मय और इतिहास के अद्वितीय विद्वान् श्री माननीय पं० भगवद्दत्तजी को जिन से मैंने भारतीय प्राचीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया तथा जिन की अहर्निश प्रेरणा, उत्साहवर्धन और महती सहायता से इस ग्रन्थ के लेखन में कथंचित् समर्थ हो सका तथा अन्य सभी पूज्य गुरुजनों को जिनसे अनेक विषयों का मैंने अध्ययन किया है, अनेकधा भक्तिपुरःसर नमस्कार करता हूं।

इस ग्रन्थ के लिखने सांख्य-योग के महापण्डित श्री उदयवीरजी शास्त्री, दर्शन तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री पं० ईश्वरचन्द्रजी, पुरातत्त्वज्ञ श्री पं० सत्यश्रवाः जी एम० ए० श्री पं० इन्द्रदेवजी आचार्य, श्री पं० ज्योतिःस्वरूपजी और श्री पं० वाचस्पतिजी विभु (बुलन्दशहर निवासी) आदि अनेक महानुभावों से समय समय पर बहुविध सहायता मिली। मित्रवर श्री पं० महेन्द्रजी शास्त्री (भूतपूर्व संशोधक वैदिक यन्त्रालय, अजमेर) ने इस ग्रन्थ के प्रूफसंशोधन आदि में ४२ फार्म तक महती सहायता प्रदान की। उक्त सहयोग के लिये मैं इन सब महानुभावों का अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

मैंने इस ग्रन्थ की रचना में शतशः ग्रन्थों का उपयोग किया है, जिन की सहायता के विना इस ग्रन्थ की रचना सर्वथा असम्भव थी। इसलिये मैं उन सब ग्रन्थकारों का, विशेष कर श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी का जिनके 'जैन साहित्य और इतिहास ग्रन्थ' के आधार पर आचार्य देवनन्दी और पाल्यकीर्ति का प्रकरण लिखा अत्यन्त आभारी हूं।

संवत् २००४ के देशविभाजन के अनन्तर लाहौर से अजमेर जाने पर आर्य साहित्य मण्डल अजमेर के मैनेजिंग डाइरेक्टर श्री माननीय बाबू मथुराप्रसादजी शिवहरे ने मण्डल में कार्य देकर मेरी जो सहायता की, उसे मैं किसी अवस्था में भी भुला नहीं सकता। इस के अतिरिक्त आपने मण्डल के 'फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस' में इस ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण की व्यवस्था की इसके लिये भी मैं आप का विशेष कृतज्ञ हूं।

स्वाध्याय सब से महान् "सत्र" है। अन्य सत्रों की समाप्ति जरावस्था में हो जाती है, परन्तु इस सत्र की समाप्ति मृत्यु से ही होती है। मैंने इस का व्रत अध्ययन काल में लिया था। प्रभु की कृपा से गृहस्थ होने पर भी वह सत्र अभी तक निरन्तर प्रवृत्त है। यह अनुसन्धान कार्य उसी का फल है। मेरे लिये इस प्रकार का अनुसन्धान कार्य करना सर्वथा असंभव होता, यदि मेरी पत्नी यशोदादेवी इस महान् सत्र में अपना पूरा सहयोग न देती। उसने आजकल के महार्घकाल में अत्यल्प आय में सन्तोष, त्याग और तपस्या से गृहभार संभाल कर वास्तविक रूप में सहधर्मिणीत्व निभाया अन्यथा मुझे सारा समय अधिक द्रव्योपार्जन की चिन्ता में लगाकर इस प्रारब्ध सत्र को मध्य में ही छोड़ना पड़ता।

क्षमा-याचना

बहुत प्रयत्न करने पर भी मानुष सुलभ प्रमाद तथा दृष्टिदोष आदि के कारणों से ग्रन्थ में मुद्रण सम्बन्धी कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। अन्त के १६ फार्मों में ऐसी अशुद्धियां अपेक्षाकृत कुछ अधिक रही हैं, क्योंकि ये फार्म मेरे काशी आने के बाद छपे हैं। छपते छपते अनेक स्थानों पर मात्राओं और अक्षरों के टूट जाने से भी कुछ अशुद्धियां हो गई हैं। आशा है पाठक महानुभाव इस के लिये क्षमा करेंगे।

ऐतिह्यप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
मोती झील— काशी
मार्गशीर्ष — सं० २००७

विदुषां वशंवदः
युधिष्ठिरमीमांसकः

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास

अध्यायानुक्रमणी

ओम्

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

पहला अध्याय

संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति, विकास और ह्रास

समस्त प्राचीन भारतीय वैदिक ऋषि-मुनि तथा आचार्य इस विषय में सहमत हैं कि वेद अपौरुषेय तथा नित्य हैं, परम कृपालु भगवान् प्रति कल्प के आरम्भ में ऋषियों को वेद का ज्ञान देता है और उसी वैदिक ज्ञान से लोक का समस्त व्यवहार प्रचलित होता है। भारतीय इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता परम ब्रह्मिष्ठ कृष्ण द्वैपायन व्यास ने लिखा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥[1]

पाश्चात्य तथा तदनुगामी कतिपय एतद्देशीय विद्वान् इस भारतीय ऐतिह्य-सिद्ध सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है—मनुष्य प्रारम्भ में साधारण पशु के समान था। शनैः शनैः उसके ज्ञान का विकास हुआ, और सहस्रों वर्षों के पश्चात् वह इस समुन्नत अवस्था तक पहुंचा। विकासवाद का यह मन्तव्य सर्वथा कल्पना की भित्ति पर खड़ा है। अनेक परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य के स्वाभाविक ज्ञान में नैमित्तिक ज्ञान के सहयोग के विना कोई उन्नति नहीं होती। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण संसार की अवनति को प्राप्त वे जङ्गली जातियां हैं जिनका बाह्य समुन्नत जातियों से देर से संसर्ग नहीं हुआ। वे आज भी ठीक वैसा ही पशु जीवन बिता रही हैं जैसा सैकड़ों वर्ष पूर्व था। बहु-विध परीक्षणों से विकासवाद का मन्तव्य अब अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी शनैः शनैः

---

१. महाभारत शान्तिपर्व २३१। ५६॥ राय श्री प्रतापचन्द्र द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित, शकाब्द १८११। यह श्लोक वेदान्तसूत्र शाङ्करभाष्य १।३।२८ में उद्धृत है।

इस मन्तव्य को छोड़ रहे हैं, और प्रारम्भ में किसी नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। अतः यहां विकासवाद की विशेष विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है।

लौकिक संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति

आरम्भ में भाषा का विकास लोक में किस प्रकार हुआ, इसका विकासवादियों के पास कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं है। भारतीय वाङ्मय के अनुसार लौकिकभाषा का विकास वेद से हुआ। स्वायम्भुव मनु ने भारतयुद्ध से सहस्रों वर्ष पूर्व[1] लिखा—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥[2]

अर्थात्—ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में सब पदार्थों की संज्ञाएं, शब्दों के पृथक् पृथक् विभिन्न कर्म=अर्थ[3] और शब्दों की संस्था[4]=रचनाविशेष=सब विभक्ति वचनों के रूप, ये सब वेद के शब्दों से निर्धारित किये।[5]

---

१. प्रक्षिप्तांश को छोड़ कर वर्तमान मनुस्मृति निश्चय ही भारत-युद्धकाल से बहुत पूर्व की है। जो लोग इसे विक्रम की द्वितीय शताब्दी की रचना मानते हैं, उन्होंने इस पर सर्वाङ्गरूप से विचार नहीं किया।

२. मनु १।२१॥ तुलना करो—महाभारत शान्ति० २३२। २५, २६॥ मनु के श्लोक का मूल—ऋग्वेद १।६५।२ तथा १०।१७।१ है।

३. निरुक्त में कर्म-शब्द अर्थ का वाचक है। यथा—"एतावन्तः समानकर्माणो धातवः" (१।२०) इत्यादि।

४. मनुस्मृति के टीकाकार कर्म और संस्था शब्द की व्याख्या विभिन्न प्रकार से करते हैं। कुल्लूकभट्ट—"कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनादीनि, क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि,....... पृथक् संस्थाश्चेति कुलालस्य घटनिर्माणं, कुविन्दस्य पटनिर्माणमित्यादिविभागेन"। मेधातिथि—"कर्माणि च निर्ममे, धर्माधर्माख्यानि अदृष्टार्थानि अग्निहोत्रादीनि च,....... संस्था व्यवस्थाप्रकार, इदं कर्म ब्राह्मणेनैव कर्तव्यम्, अमुष्यै फलाय च ....॥" टीकाकारों की व्याख्या परस्पर विरुद्ध है। श्लोक के उपक्रम और उपसंहार की दृष्टि से हमारा अर्थ युक्त है।

५. यहूदी=पुरानी बाइबल में आदम को प्राणियों, पक्षियों और अन्य वस्तुओं का नाम रखने वाला कहा है। उसके बहुत काल पश्चात् नोह का जलप्लावन वर्णित है। यहूदी लोगों ने ब्रह्मा को आदम=आत्मभू कहा है और उन का नोह वैवस्वत मनु है।

वेद में शतशः शब्दों की निरुक्तियों और पदान्तरों के सान्निध्य से बहुविध अर्थों का निर्देश उपलब्ध होता है।[1] उन्हीं के आधार पर लोक में पदार्थों की संज्ञाएं रक्खी गईं।[2] यद्यपि वेद में समस्त नाम और धातुओं के प्रयोग उपलब्ध नहीं होते, और न उनके सब विभक्ति वचनों में रूप मिलते हैं, तथापि क्वचित् प्रयुक्त नाम शब्द से धातु की और आख्यात से नाम शब्दों की कल्पना करके समस्त व्यवहारोपयोगी नाम आख्यात पदों की सृष्टि की गई। शब्दान्तरों में क्वचित् प्रयुक्त विभक्तिवचनों के अनुसार प्रत्येक नाम और धातु के तत्तद् विभक्तिवचनों के रूप निर्धारित किये गये। इस प्रकार ऋषियों ने आरम्भ में ही वेद के आधार पर सर्वव्यवहारोपयोगी अतिविस्तृत भाषा का उपदेश किया। वही भाषा संसार की आदि व्यावहारिक भाषा हुई। वेद स्वयं कहता है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।[3]

अर्थात् देवलोग जिस दिव्य वाणी को प्रकट करते हैं साधारण जन[4] उसी को बोलते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार अतिविस्तृत प्रारम्भिक लौकिक भाषा में वेद के वे समस्त शब्द विद्यमान थे जो इस समय केवल वैदिक माने जाते हैं। अर्थात् प्रारम्भ में 'ये लौकिक शब्द हैं ये वैदिक' इस प्रकार का विभाग

---

१. देखो इस ग्रन्थ के द्वितीयाध्याय का आरम्भ।

२. पाणिनीय अष्टाध्यायी की रचना व्यावहारिक संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति के बहुत अनन्तर हुई है। पाणिनीय व्याकरण मुख्यतया लौकिक भाषा का व्याकरण है (इस में वैदिक पदों का अन्वाख्यान गौणरूप से है)। अत एव उसके "संज्ञायां भृतॄवृजिधारि०" (३।२।४६) आदि सूत्रों से अन्वाख्यात पदों का संज्ञात्व लोक में ही समझना चाहिये। इसी प्रकार के कुछ पद वेद में भी मिलते हैं वे संज्ञारूप में नहीं हैं, क्योंकि लोक में जितनी संज्ञाएं रक्खी गई हैं वे वेद के पदों से रखी गई हैं, यह हम पूर्व कह चुके हैं। अतः वेद में कोई संज्ञा शब्द नहीं है।

३. ऋ० ८।१००।११॥

४. वेद में पशु शब्द मनुष्य प्रजा का वाचक है। अथर्ववेद में वधू के प्रति आशीर्वाद मन्त्र है—वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः। अथर्व १४।२।२५॥

नहीं था। इसीलिये तलवकार संहिता तथा ब्राह्मण आदि के प्रवक्ता और पूर्वमीमांसा के रचयिता महर्षि जैमिनि ने लिखा है—

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्। मी० १।३।३०॥

इस सूत्र की व्याख्या में शबरस्वामी लिखता है—

य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्थाः।[1]

अतिविस्तृत प्रारम्भिक लोकभाषा कालान्तर में शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से शनैः शनैः संकुचित होने लगी, और वर्तमान में वह अत्यन्त संकुचित हो गई। इसलिए मीमांसा का उपर्युक्त सिद्धान्त इस समय अयुक्त सा प्रतीत होता है। परन्तु पूर्वाचार्यों का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य था, यह हम अनुपद प्रमाणित करेंगे। शब्दार्थ सम्बन्ध के परम ज्ञाता यास्क मुनि (३००० विक्रम पूर्व) इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। निरुक्त १।२ में लिखा है—

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तत्र मनुष्यवद्देवताभिधानम्। पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

अर्थात्—शब्द के व्यापक और लघुभूत होने से लोक में व्यवहार के लिये शब्दों से संज्ञाएं रक्खी गईं। देवता = वेदमन्त्रों[2] में अभिधान = अर्थ मनुष्यों में प्रयुक्त अर्थों के सदृश हैं। पुरुष की विद्या अनित्य होने से कर्म की संपूर्त्ति कराने वाले मन्त्र वेद में हैं।

इस लेख में यास्क ने लोक और वेद में शब्दार्थ की समानता तथा वेद का अपौरुषेयत्व स्वीकार किया है। लोक वेद में शब्दार्थ की समानता स्वीकार कर लेने पर उभयविध पदों का ऐक्य सुतरां सिद्ध है। यास्क पुनः (१। १६) लिखता है—

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्।

---

१. आधुनिक पाणिनीय शिक्षा की शिक्षाप्रकाशटीका के रचयिता ने इस वचन को महाभाष्य के नाम से उद्धृत किया है। शिक्षासंग्रह, पृष्ठ ३८६।

२. स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार, पृ० ६०। मीमांसक देवता को मन्त्रमयी मानते हैं। देखो "अपि वा शब्दपूर्वत्वात्" मी० ६। १। ६ की व्याख्या॥

अर्थात्—वैदिक शब्द अर्थवान् हैं, लौकिक शब्दों के समान होने से।

वाजसनेय प्रातिशाख्य में कात्यायन मुनि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। यथा—

न, समत्वात्।[1]

अर्थात्—लौकिक और वैदिक शब्दों के समान होने से वैदिक शब्दों का स्वरसंस्कारनियम अभ्युदय का हेतु है यह ठीक नहीं।

इस सूत्र की व्याख्या में उवट और अनन्तदेव दोनों लिखते हैं—

य एव वैदिकास्त एव लौकिकास्त एव तेषामर्थाः (त एव चामीषामर्थाः—अनन्त)।

मीमांसा के लोकवेदाधिकरण[2] में इस पर विस्तृत विचार किया है।

क्या लौकिक और वैदिक पद पृथक् पृथक् हैं ?

गत २, ३, सहस्र वर्ष के अनेक विद्वान् लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद मानते हैं। वे अपने पक्ष की सिद्धि में निम्नलिखित दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) महाभाष्य के आरम्भ में लिखा है—**केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च।**

(ख) निरुक्त १३। ९ में लिखा है—

अथापि ब्राह्मणं भवति—सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि [तुरीयाणि], पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे। यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु। ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति, या च देवानां या च मनुष्याणाम् इति।

इस उद्धरण में स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण देवों और मनुष्यों की उभयविध वाणी का प्रयोग करते हैं।

निरुक्त में उद्धृत ब्राह्मणपाठ का मूल अन्वेषणीय है। मैत्रायणी संहिता १।११।५ और काठक संहिता १४। ५ में इस से मिलता जुलता पाठ उपलब्ध होता है। वह इस प्रकार है—

---

१. वा० प्रा० १। १। २. १। ३। ६॥

मैत्रायणी संहिता

सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्, एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्, या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे, यान्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये, या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ, अथ पशुषु, ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः, तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति यश्च वेद यश्च न । या बृहद्रथन्तरयोर्यज्ञादनं तया गच्छति । या पशुषु तय ऋते यज्ञं .... ।

काठक संहिता

सा वाग्दृष्टा चतुर्धा व्यभवत्, एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्, या दिवि सा बृहती सा स्तनयित्नौ, यान्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये, या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे, या पशुषु, तस्या यदत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः, तस्मात् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति । दैवीं च मानुषीं च करोति.........या बृहद्रथन्तरयोस्तयैनं यज्ञ आगच्छति या पशुषु तयर्ते यज्ञमाह ।

इन उद्धरणों के अन्तिम पाठ से व्यक्त है कि यहां "दैवी" शब्द से बृहद्-रथन्तर आदि में गीयमान वैदिक ऋचाएं अभिप्रेत हैं । अन्त में स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण दैवी वाक् से यज्ञ में और पशुओं-=मनुष्यों[1] की वाणी से यज्ञ से अन्यत्र व्यवहार करता है । अतः महाभाष्य और निरुक्तादि के उपर्युक्त उद्धरणों में दैवी या वैदिक शब्द से आनुपूर्वी विशिष्ट मन्त्रों का ग्रहण है । वस्तुतः लौकिक और वैदिक पदों में कोई भेद नहीं है ।

संस्कृत भाषा की व्यापकता

संस्कृत वाङ्मय में यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि प्रत्येक विद्या का प्रथम प्रवक्ता आदि विद्वान् ब्रह्मा था ।[2] यद्यपि उत्तर काल में ब्रह्मा पद

---

१ देखो पृष्ठ ३, टिप्पणी ४ ।

२. आयुर्वेद—"प्रजापतिरश्विभ्याम्, प्रजापतये ब्रह्मा ।" चरक चिकित्सा० १।४॥ व्याकरण—"ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच ।" ऋक्तन्त्र, प्रथम प्रपाठक के अन्त में ॥ ज्योतिष—"तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा रचितं पुरा ।" नारद संहिता १।७॥ उपनिषद्—"तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच ।" छान्दोग्य ८।१५॥ "कावषेयः प्रजापतेः, प्रजापतिर्ब्रह्मणः ।" बृह० ६।५।४॥ शिल्प—काश्यप संहिता के आरम्भ में, आनन्दाश्रम संस्क० ॥ राजनीति—महाभारत शान्तिपर्व ५।८।१॥ धनुर्वेद—"ब्राह्ममस्त्रमुदैरयत ।" रामा०

चतुर्वेदविद् व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता रहा, तथापि आदिम ब्रह्मा निस्सन्देह एक विशेष ऐतिह्य-सिद्ध व्यक्ति था। संस्कृत वाङ्मय के अवलोकन से विदित होता है कि आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र आदि प्रत्येक विषय के आदिम ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत थे। अतः संस्कृत वाङ्मय के समस्त विभागों में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक तथा सर्वव्यवहारोपयोगी साधारण शब्दों का स्वरूप उस समय निर्धारित हो चुका था। उत्तरोत्तर यथाक्रम मनुष्यों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के ह्रास के कारण प्राचीन, अतिविस्तृत ग्रन्थ शनैः शनैः संक्षिप्त होने लगे।[1] वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ तत्तद् विषयों के अत्यन्त संक्षिप्त संस्करण हैं।[2] अतः यह आपाततः मानना होगा कि वर्त्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन, प्राचीनतर और प्राचीनतम काल में संस्कृतभाषा विस्तृत, विस्तृततर और विस्तृततम थी। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग लिखता है—प्राचीन काल के आरम्भ में शब्द भण्डार बहुत था।[3] शब्दशास्त्र के प्रामाणिक

युद्धकाण्ड २५।५॥ धर्मशास्त्र—महाभारत शान्तिपर्व १०६।१२॥ इत्यादि, जिन्हें इस विषय की विशेष जिज्ञासा हो वे श्री पं० भगवद्दत्त जी रचित भारतवर्ष के बृहद् इतिहास का द्वितीय भाग देखें।

१, आयुर्वेद—"श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान्...... ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वञ्चावलोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्।" सुश्रुत सूत्रस्थान १।३॥ अर्थशास्त्र—"एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः। संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च।" इत्यादि, महाभारत शान्ति० ५९।८१–८६॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र १।१॥ नीतिशास्त्र—"*शतलक्षश्लोकमितं नीतिशास्त्रमथोक्तवान्। अल्पायुर्भूभृदाद्यर्थं संक्षिप्तं तर्कविस्तृतम्।*" शुक्रनीति १।२,४। व्याकरण—"यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्। पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे।" देवबोध, महाभारत टीकारम्भ। कामशास्त्र—वात्स्यायन कामसूत्र १।१ ५–१९॥ मीमांसाभाष्य—प्रपञ्चहृदय, ट्रिवेण्ड्रम संस्क० पृष्ठ ३९॥

२. भारतीय वाङ्मय के उपलभ्यमान संक्षिप्त ग्रन्थों को देखकर पाश्चात्य विद्वानों को आश्चर्य होता है। आज यदि संस्कृत वाङ्मय के अति प्राचीन विस्तृत ग्रन्थ उपलब्ध होते तो पाश्चात्य विद्वानों की अनेक भ्रमपूर्ण मिथ्या कल्पनाओं का निराकरण अनायास होजाता। पाणिनीय व्याकरण के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की क्या धारणा है, इसका उल्लेख हम पाणिनि के प्रकरण में करेंगे॥

३. ह्यूनसांग, भाग प्रथम, वाट्र्स का अनुवाद पृष्ठ २२१॥

आचार्य पतञ्जलि ने संस्कृतभाषा के प्रयोग विषय का उल्लेख करते हुए लिखा है—

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरे प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा[1] सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणम् इत्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः।[2]

पतञ्जलि से प्राचीन आचार्य यास्क ने लिखा है—

शवतिगतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।[3]......विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु।[4]

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि किसी समय संस्कृतभाषा का प्रयोगक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। यदि संसार की समस्त भाषाओं के नवीन और प्राचीन स्वरूपों की तुलना की जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि संसार की सब

---

१. पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन पृष्ठ १२७ में 'सहस्रवर्त्मा' का अर्थ सहस्र प्रकार का सामगान' किया है और 'सहस्रशाखा' अर्थ को अशुद्ध कहा है। यह उन की भूल है। भाष्यपाठ में ऋग् और अथर्व के साथ प्रकारार्थक 'धा' प्रत्यय का प्रयोग है। यजुः के साथ शाखा शब्द प्रयुक्त है। उपक्रम में स्पष्ट 'बहुधा भिन्नाः' कहा है। अतः सहस्रवर्त्मा का अर्थ "सहस्र प्रकार का" करना चाहिये। अन्यथा वाक्य का सामञ्जस्य ठीक नहीं बनेगा। महाभारत में सामवेद की सहस्र शाखाएं स्पष्ट लिखी है—"सहस्रशाखं यत्साम"। शान्तिपर्व ३४२।९७॥ कूर्म पुराण में भी लिखा है—सामवेदं सहस्रेण शाखानां प्रबिभेद सः। पू० ५२।२०॥

२. महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १।

३. कम्बोज की आधुनिक बोलियों में शवति के विभिन्न अपभ्रंश गति अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। देखो भारतीय इतिहास की रूपरेखा, द्वि० सं०, भाग १, पृष्ठ ५३३।

४. निरुक्त २।२॥ तुलना करो—"एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।" महाभाष्य १।१।१॥

भाषाओं का आदि मूल संस्कृत भाषा है।[1] इन भाषाओं के नये स्वरूप की अपेक्षा इनका प्राचीन स्वरूप संस्कृत भाषा के अधिक समीप था।

अब हम प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त सिद्धान्त (संस्कृत का प्रयोग-क्षेत्र सप्तद्वीपा वसुमती था) की पुष्टि में चार प्रमाण देते हैं—

१. पाणिनीय व्याकरण में "कानीन" शब्द की व्युत्पत्ति कन्या शब्द से की है और कन्या को कनीन आदेश कहा है।[2] वस्तुतः कानीन की मूल प्रकृति कन्या नहीं है, कनीना है। इसका प्रयोग वेद में बहुधा मिलता है।[3] पारसीयों की धर्म पुस्तक अवेस्ता में कन्या के लिये "कइनीन" शब्द का व्यवहार मिलता है।[4] यह स्पष्टतया वैदिक कनीना का अपभ्रंश है। इससे स्पष्ट होता है कि कभी ईरान में कन्या अर्थ में कनीना शब्द का प्रयोग होता था और उसी का अपभ्रंश कइनीन बना।

२. फारसी भाषा में तारा अर्थ में सितारा शब्द का प्रयोग होता है और अंग्रेजी में स्टार। इन दोनों का संबन्ध लौकिक संस्कृत में प्रयुज्यमान 'तारा' शब्द से नहीं हैं। वेद में इनकी मूल प्रकृति का प्रयोग मिलता है, वह है "स्तृ" शब्द। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर तृतीया बहुवचनान्त "स्तृभिः" पद का व्यवहार तारा अर्थ में मिलता है।[5] सितारा और स्टार की प्रकृति 'स्तृ' शब्द का प्रथमा का बहुवचन "स्तारः" पद है।

३. बहिन के लिये फारसी में "हमशीरा" शब्द प्रयुक्त होता है और अंग्रेजी में सिस्टर। संस्कृत में इन दोनों के मूल दो पृथक् शब्द हैं। "हमशीरा" का मूल "समक्षीरा" है। संस्कृत के सकार को फारसी में हकार होता है। यथा—सप्त = हफ्त, सप्ताह = हफ्ताह। क्ष के आदि ककार का लोप हो गया और षकार को शकार। इसी प्रकार सिस्टर का संबन्ध स्वसृ पद से विस्पष्ट है।

---

१. वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ २६६—३०३॥

२. कन्यायाः कनीन च। अष्टा० ४।१।११६॥

३. ऋ० ३।४८।१॥ ८।६९।१४॥ जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् (ऋ० १।६६।४) आदि में नुट् का आगम नहीं हुआ।

४. ह ओ मा तास्-चित् या कइनीनो (संस्कृत छाया—सोमः ताश्चित् याः कनीनाः) ह ओम यश्त ६।२३॥ लाहौर संस्क० पृष्ठ ५८।

५. ऋ० १।६८।५॥ १।८७।१॥ १।१६६।११॥ इत्यादि।

४. ऊंट को फारसी में "शुतर" कहते हैं और अंग्रेजी में "कैमल"। स्पष्ट ही इन दोनों के मूल पृथक् पृथक् हैं। संस्कृत में ऊंट को उष्ट्र और क्रमेल दोनों कहते हैं। उष्ट्र के उ और ष का विपर्यास होकर शुतर शब्द बनता है। इसी प्रकार कैमल का संबन्ध क्रमेल शब्द से है।[1]

इस प्रकार वेद के आधार पर अति विस्तार को प्राप्त हुई संस्कृत भाषा मनुष्यों के विस्तार के साथ साथ देश काल और परिस्थितियों के विपर्यास तथा आर्यों के मूलप्रदेश = केन्द्र से दूरता की वृद्धि होने से शनैः शनैः विपरिणाम को प्राप्त होने लगी। संसार में ज्यों ज्यों म्लेच्छता की वृद्धि होती गई त्यों त्यों संस्कृत भाषा का प्रयोग-क्षेत्र संकुचित होता गया। उसी के साथ साथ देश देशान्तरों में व्यवस्थित[2] संस्कृत भाषा के शब्दों का लोप होता गया। इस से संस्कृत भाषा अत्यन्त संकुचित हो गई। संस्कृत भाषा में किस प्रकार शब्दों का संकोच हुआ इस का सोपपत्तिक निरूपण हम आगे करेंगे।

आधुनिक भाषाशास्त्री और संस्कृत भाषा

प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्र के पारङ्गत महामुनि पतञ्जलि, यास्क और स्वायम्भुव मनु के भाषाविषयक मत हम ऊपर दर्शा चुके। आधुनिक पाश्चात्य तथा योरोपीय शिक्षा-दीक्षित कतिपय भारतीय भाषाशास्त्री इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने विकासवाद के मतानुसार संसार की कुछ भाषाओं की तुलना कर के नूतन भाषा-शास्त्र की कल्पना की है। उस के अनुसार उन्होंने संस्कृत को प्राचीन मानते हुए भी उसे संसार की आदिम भाषा नहीं माना। उन का मत है—"प्रागैतिहासिक काल में संस्कृत से पूर्व कोई इतर भाषा बोली जाती थी। उसी में परिवर्तन हो कर संस्कृत भाषा की उत्पत्ति हुई। उत्तरोत्तर काल में संस्कृत भाषा में भी अनेक परिवर्तन हुए। संस्कृत भाषा को भविष्यत् में परिवर्तनों से बचाने के लिये पाणिनि ने अपने महान् व्याकरण की रचना की। उस के द्वारा भाषा को इतना बांध दिया कि पाणिनि से लेकर आज तक उस में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ।" अध्यापक बेचरदास जीवराज दोशी ने

---

१. अन्तिम तीन उदाहरण पं० राजाराम विरचित स्वाध्याय-कुसुमाञ्जलि से लिये हैं।

२. देखो, पृष्ठ ८ की टिप्पणी ४ पर महाभाष्य का तुलनात्मक पाठ।

अपनी 'गुजराती भाषा नी उत्क्रान्ति' नामक व्याख्यानमाला में वैदिक भाषा से प्राकृत की उत्पत्ति मानी है। उन का लेख इस प्रकार है—

उक्त प्रकारे जणावेलां अनेक उदाहरणो द्वारा एम सिद्ध करी शकाय एवुं छे के व्यापक प्राकृतना प्रवाहनो सीधो संबन्ध वेदोनी जीवती मूल भाषा साथेज छे, न हीं के जेनु स्वरूप पाणिनि प्रभृति वैयाकरणोए निश्चित कर्युं छे एवी लौकिक संस्कृत साथे।[1]

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों का अपने ढंग से तुलनात्मक अध्ययन करके स्वकल्पित भाषाशास्त्र के अनुसार उनका कालक्रम निर्धारित किया है। उस में मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, उपनिषत्काल सूत्रकाल और साहित्यकाल आदि अनेक काल्पनिक कालविभाग किये हैं। उनके द्वारा उन्होंने संस्कृत भाषा में यथाक्रम परिवर्तन दर्शाने का विफल प्रयास किया है। आधुनिक भाषाशास्त्रियों के द्वारा संस्कृत भाषा में जो परिवर्तन बताया जाता है, वह उस के ह्रास = संकोच के कारण प्रतीत होता है। संस्कृत भाषा में वस्तुतः कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। यह हम अनुपद सिद्ध करेंगे।

नूतन भाषाशास्त्र की आलोचना

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने संस्कृत भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में जो मत निर्धारित किये है वे सर्वथा काल्पनिक हैं। भारतीय वाङ्मय से उनकी किञ्चिन्मात्र पुष्टि नहीं होती। ग्रीक, लैटिन, और हिटैटि आदि भाषाओं के जिस साहित्य के आधार पर वे नियमों की कल्पना करते हैं, वह साहित्य पुरातन संस्कृत साहित्य की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन काल का है। तथा पाश्चात्यविद्वान् जिस प्रागैतिहासिक काल की प्राकृत भाषा से संस्कृत की उत्पत्ति मानते हैं, उसका कोई स्वरूप उन्होंने अभी तक उपस्थित नहीं किया, अतः इन आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने भाषाविज्ञान के जो नियम निर्धारित किये है, वे सर्वथा काल्पनिक और अधूरे हैं।

आधुनिक भाषाशास्त्र की आलोचना एक स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण विषय है। अतः उसकी विशेष आलोचना के लिये पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का हमारा विचार है। यहां हम उसके नियमों के अधूरेपन को दर्शाने के लिये एक उदाहरण उपस्थित करते हैं।

---

१. पृष्ठ ७४। तथा ७५–७७ तक॥

नूतन भाषाविज्ञान का एक नियम है—वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के स्थान में 'ह' का उच्चारण होता है, परन्तु 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण नहीं होता।[1]

यह नियम औत्सर्गिक माना जा सकता है, एकान्त सत्य नहीं। कुछ अल्पप्रयोग ऐसे भी हैं जिन में 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

१—आधुनिक बोल चाल की भाषा में संस्कृत के 'गुहा' के अपभ्रंश 'गुफा' का प्रयोग होता है।

२. पंजाबी में संस्कृत के 'सिंह' का उच्चारण 'सिंघ' होता है और गुरुमुखी लिपि में 'सिंघ' ही लिखा जाता है।

३. पंजाबी में भैंस के लिये संस्कृत के महिषी का अपभ्रंश "महि" और "मझ" का प्रयोग होता है।

४—'दाह' का प्राकृत में 'दाघ' और 'नहुष' का पाली में 'नघुष' प्रयोग मिलता है।

५—संस्कृत के 'इह' शब्द के स्थान में प्राकृत में 'इध' का प्रयोग होता है।

६—चीनी भाषा में 'होम' के अर्थ में 'घोम' शब्द का व्यवहार होता है।

ये कुछ उदाहरण दिये हैं। इन से पाश्चात्य भाषाविज्ञान के नियमों का अधूरापन स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः ऐसे अधूरे नियमों के आधार पर किसी बात का निर्णय करना अपने आप को धोखे में डालना है। भारतीय शब्दशास्त्री पाणिनि और यास्क अनेक शब्दों में 'ह' को घ, ढ, ध, भ आदेश मानते हैं। अष्टाध्यायी ८।४।६२ के अनुसार सन्धि में झय् से उत्तर हकार को घ, झ, ढ, ध और भ आदेश होते हैं। ऋग्वेद १।११।३ के अनुसार धनवाची मघ शब्द मंह धातु से निष्पन्न होता है।[2]

संसार में भाषा की प्रवृत्ति कैसे हुई इस विषय में आधुनिक भाषाविज्ञान सर्वथा मौन है। उसकी इस में कोई गति नहीं। परन्तु भारतीय

---

१. भाषाविज्ञान, श्री डा० मंगलदेव जी कृत, प्र० संस्क० पृष्ठ १८२।

२. स्तोतृभ्यो मंहते मघम्। तुलना करो—मघमिति धननाम, मंहतेर्दानकर्मणः। निरु० १।७॥

इतिहास स्पष्ट शब्दों में कहता है—लोक में भाषा की प्रवृत्ति वेद से हुई है, और संस्कृत ही सब भाषाओं की आदि जननी तथा आदिम भाषा है।[1] आधुनिक भाषाशास्त्री अपने अधूरे काल्पनिक भाषाशास्त्र के अनुसार इस तथ्य को स्वीकार न करें, तो इस में इतिहास का क्या दोष ? इतिहास सत्य विद्या है, और कल्पना कल्पना ही है।

क्या संस्कृत प्राकृत से उत्पन्न हुई है ?

अनेक प्राकृत भाषा के पक्षपाती देववाणी के लिये संस्कृत शब्द का व्यवहार देख कर कल्पना करते हैं कि संस्कृत भाषा किसी प्राकृत भाषा से संस्कृत की हुई है। इसीलिये प्राकृत के प्रतिपक्ष में इसका नाम संस्कृत हुआ। यह कल्पना नितान्त अशुद्ध है। इस में निम्न हेतु हैं—

१—संस्कृत से प्राग्भावी किसी प्राकृत भाषा की सत्ता इतिहास से सिद्ध नहीं होती, जिस से संस्कृत की निष्पत्ति मानी जावे।

२—भाषा का स्वभावतः विकास नहीं होता, विकार होता है। अत एव पूर्वाचार्यों ने प्राकृत का सामान्य 'अपभ्रंश' शब्द से व्यवहार किया है।

३—भाषा विकार के निम्न दो नियम सर्वसम्मत हैं—

(क) भाषा का विकार प्रायः क्लिष्ट उच्चारण से सुगम उच्चारण की ओर होता है।

(ख) संश्लेषणात्मकता से विश्लेषणात्मकता की ओर होता है।

यदि इन नियमों को ध्यान में रख कर संस्कृत और प्राकृत की तुलना की जाए तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा का उच्चारण अधिक क्लिष्ट तथा संश्लेषणात्मक है, तथा प्राकृत का उच्चारण संस्कृत की अपेक्षा सरल और विश्लेषणात्मक है। अतः सरल उच्चारण और विश्लेषणात्मक प्राकृत भाषा से क्लिष्ट उच्चारण तथा संश्लेषणात्मक संस्कृत भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। हां, क्लिष्ट और संश्लेषणात्मक संस्कृत से सरल और विश्लेषणात्मक प्राकृत की उत्पत्ति हो सकती है। अत एव अति प्राचीन भरत मुनि ने लिखा है—

---

१. मनु का पृष्ठ २ में उद्धृत "सर्वेषां तु स नामानि······" वचन। वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है। सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास, शताब्दी संस्क० भाग १, पृष्ठ ३१६।

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥[1]

इस विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा प्राकृत से प्राचीन है । और प्राकृत संस्कृत की विकृति है ।

संस्कृत नाम का कारण

भारतीय इतिहास के अनुसार देववाणी का संस्कृत नाम इस कारण हुआ—

प्राचीन काल में देववाणी अव्याकृत अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग से रहित थी । इसका उपदेश प्रतिपद पाठ द्वारा किया जाता था । इस प्रकार उसके ज्ञान में अत्यन्त परिश्रम तथा अत्यधिक कालक्षय होता था । अतः देवों ने उस समय के महान् शाब्दिक आचार्य इन्द्र से प्रार्थना की—आप शब्दोपदेश की कोई ऐसी सरल प्रक्रिया बतावें जिस से अल्प परिश्रम और अल्प काल में शब्द-बोध हो जावे । देवों की प्रार्थना पर इन्द्र ने देवभाषा के प्रत्येक शब्द को मध्य से विभक्त कर प्रकृतिप्रत्यय-विभाग द्वारा शब्दोपदेश की प्रक्रिया आरम्भ की । इसी प्रकृतिप्रत्यय-विभाग रूपी संस्कार द्वारा संस्कृत होने से देववाणी का दूसरा नाम संस्कृत हुआ ।[2]

अत एव दण्डी अपने काव्यादर्श में लिखता है—

संस्कृतं नाम दैवी वाग् अन्वाख्याता महर्षिभिः ।१।३३॥

---

१. अ० १८, श्लो० २॥ भरतनाट्यशास्त्र अतिप्राचीन आर्षकाल का ग्रन्थ है । लेखकप्रमाद से इस में कहीं कहीं प्राचीन टीकाओं के पाठ सम्मिलित हो गये हैं । इसे कृत्स्नतया अर्वाचीन मानना भूल है ।

२. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच । महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १ ।

वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति········ तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तै० सं० ६।४।७॥

तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत् । सायण ऋग्भाष्य उपोद्घात, पूना संस्क० भाग १, पृष्ठ २६ ।

संस्कृते प्रकृतिप्रत्ययादिविभागैः संस्कारमापादिते·······। शिक्षाप्रकाश, शिक्षा-संग्रह, पृष्ठ ३८७ ।

भारतीय आर्ष वाङ्मय में देववाणी के लिये संस्कृत शब्द का व्यवहार वाल्मीकीय रामायण[1] और भरतनाट्यशास्त्र[2] में मिलता है। रामायण में उसका विशेषण 'मानुषी' लिखा है। पाणिनि भी अपने शब्दानुशासन में लौकिक संस्कृत के लिये "भाषा" शब्द का व्यवहार करता है।[3] इससे स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा उस समय जन साधारण की भाषा थी।

कल्पित काल विभाग

यह सर्वथा सत्य है कि एक ही व्यक्ति जब विभिन्न विषयों के ग्रन्थों की रचना करता है, तो उन में विषयभेद के कारण थोड़ा बहुत भाषाभेद अवश्य होता है। पाश्चात्य विद्वान् अपने अधूरे भाषाविज्ञान के आधार पर इस सत्य नियम की अवहेलना करके संस्कृत वाङ्मय के रचनाकालों का निर्धारण करते हैं। वे उनके लिये मन्त्रकाल ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि अनेक कालविभागों की कल्पना करते हैं। संस्कृतवाङ्मय का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रदर्शित काल-विभाग कदापि नहीं रहा। पाश्चात्य विद्वानों ने विकासवाद के असत्य सिद्धान्त को मानकर अनेक ऐतिह्य-विरुद्ध कल्पनाएं की हैं। हम अपने मन्तव्य की पुष्टि में तीन प्रमाण उपस्थित करते हैं।

शाखा, ब्राह्मण, कल्पसूत्र और आयुर्वेदसंहिताएं समान कालिक हैं

भारतीय इतिहास-परम्परा के अनुसार वेद की शाखाएं, ब्राह्मण-ग्रन्थ, कल्पसूत्र (=श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र) और आयुर्वेद की संहिताएं आदि ग्रन्थ समानकालिक हैं। अर्थात् जिन ऋषियों ने शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन किया, उन्होंने ही कल्पसूत्र और आयुर्वेद की संहिताएं रचीं। भारतीय प्राचीन इतिहास के परम विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्त जी ने सर्वप्रथम इस सत्य सिद्धान्त की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने अपने प्रसिद्ध 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १ पृष्ठ २५१ पर न्याय वात्स्यायनभाष्य के निम्न दो प्रमाण उपस्थित किये हैं।

---

१. वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। सुन्दरकाण्ड ३०।१७॥

२. अ० १८। १, २५॥ ३. विभाषा भाषायाम्। ६।१।१७६॥

भारतीय वाङ्मय का प्रामाणिक आचार्य वात्स्यायन[1] अपने न्याय-भाष्य २।१।६८ में लिखता है—

द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्—य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्।

अर्थात् जो आप्त-ऋषि वेदार्थ के द्रष्टा और प्रवक्ता थे वे ही आयुर्वेद के द्रष्टा और प्रवक्ता थे।

पुनः न्यायभाष्य ४।१।६२ में लिखा है—

द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः। य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति।

अर्थात् जो ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवक्ता थे वे ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के प्रवक्ता थे।

इस सिद्धान्त की पुष्टि चरक प्रथमाध्याय से भी होती है। उसमें आयुर्वेद की उन्नति और प्रचार के परामर्श के लिये एकत्रित होने वाले कुछ ऋषियों के नाम लिखे हैं। अन्त में उन सब का विशेषण 'ब्रह्मज्ञानस्य निधयः'[2] दिया है। उन में से अनेक ऋषि शाखा, ब्राह्मण और धर्मशास्त्र आदि के रचयिता थे। आयुर्वेद की हारीत संहिता के प्रवक्ता महर्षि हारीत[3] का धर्मशास्त्र इस समय उपलब्ध है। वेद की हारीत संहिता का उल्लेख अनेक वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[4] अतः आचार्य वात्स्यायन का उपर्युक्त लेख अत्यन्त प्रामाणिक है।

अब हम इसी प्राचीन ऐतिह्य-सिद्ध सिद्धान्त की पुष्टि में न्यायभाष्य से पौर्वकालिक एक नया प्रमाण उपस्थित करते हैं। कुछ दिन हुए मीमांसा शाबर भाष्य पढ़ाते हुए जैमिनि के निम्नसूत्र की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ।

१ वात्स्यायन आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य का ही नामान्तर है। यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। इस विषय का एक सर्वथा नवीन प्रमाण हमने स्वसम्पादित दशपादी-उणादिवृत्ति के उपोद्घात में दिया है। आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य का काल भारतीय पौराणिक कालगणनानुसार जो सत्य सिद्ध हो रही है विक्रम से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है। पाश्चात्य ऐतिहासिक विक्रम से लगभग ३५० वर्ष पूर्व मानते हैं।

२. चरक सूत्रस्थान १।१३॥ ३. चरक सूत्रस्थान १।३०॥

१. तै० प्रा० १४।१८॥ इस पर भाष्यकार माहिषेय लिखता है—हारीतस्याचार्यस्य शाखिनः ....।

जैमिनि शाखा और उस के ब्राह्मण के प्रवक्ता भारतयुद्धकालीन महामुनि जैमिनि ने पूर्वमीमांसा के कल्पसूत्र-प्रामाण्याधिकरण में लिखा है—

अपि वा कर्तृसामान्यात् तत्प्रमाणमनुमानं स्यात् ।१।३।२।।

अर्थात्—कल्पसूत्रों = श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रों की जिन विधियों का मूल आम्नाय में नहीं मिलता वे अप्रमाण नहीं हैं। आम्नाय और कल्प सूत्रों के रचयिता समान होने से आम्नाय में अनुक्त कल्पसूत्र की विधियों का भी प्रामाण्य है। अर्थात् जिन ऋषियों ने आम्नाय = वेद की शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन किया, उन्होंने ही कल्पसूत्रों की भी रचना की। अतः यदि उन का वचन एक ग्रन्थ में प्रमाण है तो दूसरे में क्यों नहीं ?

शबर आदि नवीन मीमांसक शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् सब को अपौरुषेय तथा वेद मानते हैं। अतः उन्होंने 'कर्तृसामान्यात्' पद का अर्थ 'श्रौतकर्म के अनुष्ठाता और स्मृति के कर्ता' किया है। परन्तु जैमिनि वेद और आम्नाय में भेद मानता है।[1] वात्स्यायनमुनि ने 'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः' के द्वारा धर्मशास्त्रों का प्रामाण्य सिद्ध किया है। जैमिनि भी 'अपि वा कर्तृसामान्यात् तत्प्रमाणमनुमानं स्यात्' सूत्र द्वारा स्मृतियों का प्रामाण्य सिद्ध करता है। दोनों के प्रकरण तथा विषयप्रतिपादन-शैली की समानता से स्पष्ट है कि जैमिनि के 'कर्तृसामान्यात्' पद का अर्थ 'आम्नाय और स्मृतियों के समान रचयिता' ही है। ऐसी अवस्था में शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र और आयुर्वेद की आर्षसंहिताओं के प्रवचनकर्ता समान थे, और इन का एक काल में प्रवचन हुआ था यही मानना होगा। अत एव पाश्चात्य विद्वानों की कालविभाग की कल्पना सर्वथा प्रमाणशून्य है।

संस्कृत भाषा का विकास

पूर्व लिख चुके हैं कि सृष्टि के आरम्भ में वेद के आधार पर लौकिक भाषा का विकास हुआ। वह भाषा आरम्भ में अत्यन्त विस्तृत थी। वेद

---

१. जैमिनि ने "वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या" १।१।२७ के प्रकरण में वेद के अनित्यत्वदोष का ३१ वें सूत्र से समाधान कर के द्वितीय पाद के प्रारम्भ में 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' के प्रकरण में आम्नाय के अनित्यत्व दोष और उस के समाधान का निरूपण किया है। यदि वेद और आम्नाय एक हो तो 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' सूत्र में आम्नाय ग्रहण करना व्यर्थ होगा, क्योंकि वेद का प्रकरण अव्यवहित पूर्व विद्यमान है, और अनित्यत्व दोष का समाधान भी पुनरुक्त होगा।

के वे समस्त शब्द जिन्हें सम्प्रति 'छान्दस' मानते हैं उस भाषा में साधारण रूप से प्रयुक्त थे। अर्थात् उस समय लौकिक वैदिक पदों का भेद नहीं था। पाणिनि से प्राचीन वेद की शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में शतशः शब्द ऐसे विद्यमान हैं जिन्हें पाणिनीय वैयाकरण छान्दस या आर्ष मान कर साधु मानते हैं। महाभाष्यकार ने पाणिनीय सूत्रों में भी छान्दस कार्य माना है। निरुक्तकार यास्क मुनि ने स्पष्ट लिखा है—'कई लौकिक शब्दों की मूल प्रकृति—धातु का प्रयोग वेद में ही उपलब्ध होता है। इसी प्रकार अनेक वैदिक शब्द विशुद्ध लौकिक धातु से निष्पन्न होते हैं।'[1] इस संमिश्रण से स्पष्ट है कि जिन लौकिक शब्दों की मूल प्रकृति का प्रयोग केवल वेद में मिलता है उन का प्रयोग भाषा में कभी अवश्य रहा होगा। अन्यथा वैदिक धातु से निष्पन्न शब्दों का प्रयोग लोक में कैसे हो सकता है? और लौकिक धातुओं से वैदिक शब्दों की निष्पत्ति कैसे हो सकती है? इतना ही नहीं, प्राकृत भाषा में शतशः ऐसे प्रयोग विद्यमान हैं जिन का सीधा सम्बन्ध वैदिक माने जाने वाले शब्दों के साथ है। यदि उन वैदिक शब्दों का लोक में प्रयोग न माना जाय तो उन से अपभ्रंश शब्दों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अपभ्रंशों की उत्पत्ति लोकप्रयुक्तपदों से ही होती है।[2] इस से यह भी मानना होगा कि अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति का आरम्भ उस समय हुआ, जब संस्कृत भाषा में वैदिक माने जाने वाले पदों का व्यवहार विद्यमान था। उस समय संस्कृत भाषा इतनी संकुचित नहीं थी जितनी सम्प्रति है। अतिपुरा काल में केवल दो भाषाएं थीं। मनु ने उन्हें आर्य भाषा और म्लेच्छ भाषा कहा है।[3] हमारा विचार है कि अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति त्रेता युग के आरम्भ में हुई।

पं० बेचरदास जीवराज दोशी ने 'गुजराती भाषा नी उत्क्रान्ति' पुस्तक में पृष्ठ ५२-७४ तक प्राकृत और वैदिक पदों की तुलनात्मक कुछ सूचियां दी हैं। उन्होंने उन से जो परिणाम निकाला है उस से यद्यपि हम सहमत

---

१. अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। दमूनाः क्षेत्रसाधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः। उष्णम्, घृतमिति। २। २॥ तुलना करो—धरातिरस्मा अविशेषणोपदिष्टः। स घृतं घृणा धर्म इत्येवं विषयः। महाभाष्य ७। १। ९६॥

२. पारम्पर्यादपभ्रंशो विगुणेष्वभिधातृषु। वाक्यपदीय १। १५४॥

३. म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः। १०।४५॥

नहीं, तथापि प्रकृत विचार के लिये उन का कुछ अंश उद्धृत करते हैं। इस से पाठक हमारे मन्तव्य को भले प्रकार समझ जायेंगे।

लौकिक	वैदिक	प्राकृत	लौकिक	वैदिक	प्राकृत
हन्ति	हनति	हणइ	अप्रगल्भ	अपगल्भ	अपगब्भ
भिनत्ति	भेदति	भेदइ	पत्या	पतिना	पइणा
म्रियते	मरति	मरइ	ाम्	गोनाम्	गुणम्
ददाति	दाति	दाइ	अस्मभ्यम्	अस्मे	अह्मे
दधाति	दाति	धाइ	यूयम्	युष्मे	तुह्मे
इच्छति	इच्छते	इच्छए	त्रयाणाम्	त्रीणाम्	तिण्हम्
ईष्टे	ईशे	ईसए	देवैः	देवेभिः	देवेहि
अमथ्नात्	मथीत्	मथीअ	नेतुम्	[नेतवे]	नेतवे
अभूत्	भूत	भवीअ	इतरत्	इतरं	इतरं

	लौकिक	वैदिक	संस्कृत	प्राकृत
सलोप	स्पृशन्य	पृशन्य	स्पृहा	पिहा
ह् को ध	सह	सध	इह	इध
ऋ को र	ऋजिष्ठम्	रजिष्ठम्	ऋजु	रजु
अनुस्वारसे पूर्व ह्रस्व	युवां	युवं	देवानां	देवानं

संस्कृतभाषा का ह्रास

पूर्व लिखा जा चुका है कि संस्कृत भाषा प्रारम्भ में अति विस्तृत थी। संसार की समस्त विद्याओं के पारिभाषिक तथा सर्वव्यवहारोपयोगी शब्द इसमें वर्तमान थे। कोई भी छान्दस या आर्ष प्रयोग इस से बाहर न था। सहस्रों वर्षों तक यह संसार की एकमात्र बोलचाल की भाषा रही। उस अतिविस्तृत मूल भाषा में देश, काल और परिस्थिति की भिन्नता तथा आर्य संस्कृति के केन्द्र से दूरता के कारण शनैः शनैः परिवर्तन होने लगा, उसी परिवर्तन से संसार की समस्त अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति हुई। यद्यपि इस परिवर्तन को प्रारम्भ हुए सहस्रों वर्ष बीत गये, और उन अपभ्रंश भाषाओं में भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक परिवर्तन हो गया, तथापि संस्कृतभाषा के साथ उनकी तुलना करने पर पारस्परिक प्रकृति विकृति भाव स्पष्ट प्रतीत होता है। इन अपभ्रंश भाषाओं के वर्तमान स्वरूप की अपेक्षा प्राचीन स्वरूप संस्कृतभाषा के अधिक निकट था।

यास्कीय निरुक्त और पातञ्जल महाभाष्य से विदित होता है कि इस अतिमहती संस्कृत भाषा का प्रयोग विभिन्न देशों में बंटा हुआ था। यथा—आर्यावर्तदेशवासी गमन अर्थ में 'गम्लृ' धातु का प्रयोग करते थे, सुराष्ट्रवासी 'हम्म'[1] का, प्राच्य तथा मध्यदेशवासी 'रंह' का और काम्बोज 'शव' का। आर्यों में 'शव' धातु के आख्यात का प्रयोग नहीं होता, वे लोग उससे निष्पन्न केवल 'शव' शब्द का प्रयोग करते हैं। लवन= काटने के साधन (दंराती) के लिये क्तिन्नन्त या क्तिजन्त "दाति" शब्द का प्रयोग प्राग्देश में होता था, और ष्ट्रन्-प्रत्ययान्त "दात्र" शब्द उदीच्य देश में बोला जाता था।[2] आजकल भी पञ्जाबी भाषा में 'दात्र' का स्त्रीलिङ्ग 'दात्री' शब्द का व्यवहार होता है। अत एव यास्क ने लिखा है—इस प्रकार देशभेद से बंटे हुए प्रयोगों को ध्यान में रख कर शब्दों का निर्वचन करना चाहिये।[3]

इस लेख से यह सुस्पष्ट है कि संस्कृत भाषा के विभिन्न शब्दों का प्रयोग विभिन्न देशों में बँटा हुआ था। और उस देश में ज्यों ज्यों म्लेच्छता की वृद्धि होती गई त्यों त्यों वहां से संस्कृत भाषा का लोप होता गया, और उस उस देश में प्रयुक्त संस्कृतभाषा के विशिष्ट प्रयोग लुप्त होगये। इस प्रकार संस्कृत भाषा के प्रचार-क्षेत्र के संकोच के साथ साथ भाषा का भी महान् संकोच होगया। यदि आज भी संसार की समस्त भाषाओं का इस दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो संस्कृत भाषा के शतशः लुप्त प्रयोगों का पुनरुद्धार हो सकता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि भाषा के संकोच और विकार के इस सिद्धान्त से भले प्रकार विज्ञ था। वह लिखता है—

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा

---

१ पहम्मतीति पाठे हम्मतिः कम्बोजेषु प्रसिद्धः इति। गउडवाह टीका पृष्ठ २४५। महाभाष्य से विरुद्ध होने के कारण टीकाकार का लेख अशुद्ध है।

२. अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।……विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। निरुक्त २। २॥ तथा पृष्ठ ८ टिप्पणी ४ में महाभाष्य का उद्धरण।

३. एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्। निरुक्त २। २॥

वसुमती……। एतस्मिंश्चातिमहति प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते ।[1]

यद्यपि महाभाष्यकार के समय में संस्कृतभाषा का प्रचार समस्त भूमण्डल में नहीं था, तथापि वह पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध होने वाले शब्दों का प्रयोगक्षेत्र सप्तद्वीपा वसुमती लिखता है, और उनकी उपलब्धि के लिये प्रेरणा करता है। इससे स्पष्ट है कि वह अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से मानता है, और उनके द्वारा संस्कृत भाषा से लुप्त हुए प्रयोगों की उपलब्धि के लिये प्रेरणा करता है।

संस्कृतभाषा से शब्दों का लोप तथा भाषा का संकोच किस प्रकार हुआ इसका अति संक्षिप्त सप्रमाण निदर्शन आगे कराते हैं—

१—भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने ६।१।७७ की वृत्ति में एक वार्त्तिक लिखा है—**इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्**। तदनुसार व्याडि और गालव आचार्यों के मत में 'दध्यत्र मध्वत्र' के स्थान में '**दधियत्र मधुवत्र**' प्रयोग भी होते थे। पुरुषोत्तमदेव से प्राचीन, जैनेन्द्र व्याकरण के व्याख्याता अभयनन्दी ने संग्रह के नाम से इस मत का उल्लेख किया है।[2] हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति[3] और पाल्यकीर्ति ने स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति[4] में यण्-व्यवधान पक्ष का निर्देश किया है। अतः यण्-व्यवधान पक्ष में 'दधियत्र मधुवत्र' आदि प्रयोग भी कभी लोक में साधु माने जाते थे, यह निर्विवाद है। तैत्तिरीय आदि शाखाओं में इस प्रकार के कुछ प्रयोग उपलब्ध होते हैं। बौधायन गृह्य में '**त्र्यहे**' के स्थान में '**त्रियहे**' का प्रयोग मिलता है।[5] कैवल्य उपनिषद् १।१२ में '**स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः**' प्रयोग में यण्व्यवधान देखा जाता है। प्रतीत होता है कालान्तर में लोकभाषा में से यण्व्यवधान वाले प्रयोगों

---

१. महाभाष्य। अ० १। पा १। आ० १॥

२. इकां यण्भिर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रहः। जैनेन्द्र महावृत्ति १।२।१॥

३. केचित्त्विवर्णादिभ्यः परान् यरलवानिच्छन्ति। दाधियत्र, तिरियङ्, मधुवत्र भवादयः। हैम व्याक० १।२।२१॥

४. शाकटायन व्या० १।१।७३॥ चिन्तामणिकृत लघुवृत्ति—इको यण्भिर्व्यवधानमित्येके। पृष्ठ २३।

५. त्रियहे पर्यवेतेऽथ। बौ० गृह्यशेष ५।२॥ पृष्ठ ३६२।

का लोप होजाने से पाणिनि ने यण्_व्यवधान पक्ष का साक्षात् निर्देश नहीं किया, परन्तु 'भूवादयो धातवः'[1] सूत्र में वकार-व्यवधान का प्रयोग करते हुए यण्व्यवधान पक्ष को स्वीकार अवश्य किया है।

कात्यायन के समय में यण्_व्यवधान वाले प्रयोगों का लोक में सर्वथा उच्छेद होगया। केवल प्राचीन वैदिक साहित्य में उनका प्रयोग सीमित रह गया। अतः उसने वैदिक प्रयोगों का साधुत्व दर्शाने के लिये '**इयङ्-विप्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्**'[2] वार्त्तिक बनाया, और उनमें इयङ् उवङ् की कल्पना की। परन्तु इससे 'भूवादयः' पद की निष्पत्ति नहीं हुई। अतः महाभाष्यकार को यहां अन्य क्लिष्ट कल्पनाएं करनी पड़ीं।[3]

२—'**न्यङ्कु**'[4] शब्द से विकार या अवयव अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय करने पर पाणिनि के मत में '**नैयङ्कवम्**' प्रयोग होता है, परन्तु आपिशलि के मत में '**न्याङ्कवम्**' बनता है।[5] वस्तुतः इन दोनों तद्धितप्रत्ययान्त प्रयोगों की मूल प्रकृति एक न्यङ्कु शब्द नहीं हो सकता। न्यङ्कु शब्द 'नि+अङ्कु' से बना है।[6] पूर्व प्रदर्शित नियम के अनुसार सन्धि होकर न्यङ्कु और नियङ्कु ये दो रूप बनेंगे। अतः नियङ्कु से 'नैयङ्कवम्' और न्यङ्कु से 'न्याङ्कवम्' प्रयोग उपपन्न होंगे। अर्थात् दोनों तद्धित-प्रत्ययान्तों की दो विभिन्न प्रकृतियां किसी समय भाषा में विद्यमान थीं। उन में से यण्व्यवधान वाली 'नियङ्कु' प्रकृति का [भा]षा से उच्छेद हो जाने पर उत्तरवर्ती

---

१. अष्टा० १ । ३ । १ ॥ २. महाभाष्य ६ । ४ । ७७ ॥

३. भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते । महाभाष्य १ । ३ । १ ॥ अभयनन्दी ने पूर्वोक्त (पृष्ठ २१, टि० २) संग्रह का वचन उद्धृत करके 'मङ्गलार्थः' के स्थान में 'लक्षणार्थः' पढ़ा है। जैनेन्द्र व्या० महावृत्ति १ । २ । १ ॥

४ कुरङ्गसदृशो विकटबहुविषाणः [मृगविशेषः] । अष्टाङ्गहृदय हेमाद्रिटीका सूत्रस्थान ३ । ५० ॥

५. आपिशलिस्तु—न्यङ्कोर्नैत्वभावं शास्ति, न्याङ्कवं चर्म । उज्ज्व० उणादिवृत्ति पृष्ठ ११ ॥ तुलना करो—न्यङ्कोस्तु पूर्वे अकृतैजागमस्याभ्युदयाङ्कतां स्मरन्ति । यथाहुः—न्यङ्कोः प्रतिषेधान्न्याङ्कवम् इति । वाक्यपदीय वृषभदेवटीका पृष्ठ ५५ । न्यङ्कोर्वेति केचित्, न्याङ्कवम्, नैयङ्कवम् । प्रक्रिया कौमुदी भाग १, पृष्ठ ८१५ । प्रक्रियासर्वस्व तद्धित प्रकरण पृष्ठ ७२ । देखो सरस्वतीकण्ठाभरण का "न्यङ्कोश्च" (७ । १ । २३) सूत्र ।

६. नावञ्चेः । पञ्चपादी उणादि १ । १७; दशपादी उणादि १ । १०२ ॥

वैयाकरणों ने दोनों तद्धित-प्रत्ययान्तों का संबन्ध एक न्यङ्कु शब्द से जोड़ दिया।

३—गोपथ ब्राह्मण २। १। २५ में 'त्रैयम्बक' पद का प्रयोग मिलता है। वैयाकरण इस की निष्पत्ति 'त्र्यम्बक' शब्द से मानते हैं।[1] यहां भी 'त्रि+अम्बक' में पूर्वोक्त नियमानुसार संधि होने से 'त्रियम्बक' और 'त्र्यम्बक' दो शब्द निष्पन्न होते हैं। अतः त्रैयम्बक पद की निष्पत्ति 'त्रियम्बक' शब्द से माननी चाहिये। महाभाष्यकारने 'इयङादिप्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्'[2] वार्तिक पर निम्न वैदिक उदाहरण दिये हैं—

तन्वं पुषेम, तनुवं पुषेम । विष्वं पश्य, विषुवं पश्य । स्वर्गं लोकम्, सुवर्गं लोकम् । त्र्यम्बकं यजामहे, त्रियम्बकं यजामहे ।

महाभाष्यकार ने यहां स्पष्टतया त्र्यम्बक और त्रियम्बक दोनों पदों का पृथक् पृथक् प्रयोग दर्शाया है। वैदिक वाङ्मय के उपलभ्यमान ग्रन्थों में कठ कपिष्ठल संहिता[3] और बौधायन गृह्य सूत्र[4] में त्रियम्बक पद का प्रयोग मिलता है। महाभारत में भी त्रियम्बक पद का प्रयोग उपलब्ध होता है।[5] कालिदास ने कुमारसम्भव में त्रियम्बक और त्र्यम्बक दोनों पदों का प्रयोग किया है।[6] शिवपुराण ६। ३। ७७ में भी त्रियम्बक पद प्रयुक्त है। इस प्रकार वैदिक तथा लौकिक उभयविध वाङ्मय में 'त्रियम्बक' पद का निर्बाध प्रयोग उपलब्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि 'त्रैयम्बक' की मूल प्रकृति 'त्रियम्बक' है, त्र्यम्बक नहीं।

इसी प्रकार पाणिनीय गणपाठ ७। ३। ४ में पठित 'स्वर्' शब्द के उदाहरण काशिकावृत्ति में "**स्वर्भवः सौवः। अव्ययानां भमात्रे टिलोपः। स्वर्गमनमाह सौवर्गमनिकः**" दिये हैं। तैत्तिरीय संहिता में 'स्वर्' के स्थान में सर्वत्र 'सुवर्' शब्द का प्रयोग मिलता है, अतः 'सौवः'[7] का

१. न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्। अष्टा० ७। ३। ३॥

२. महाभाष्य १। ४। ७७॥ ३. अव देवं त्रियम्बकम्, त्रियम्बकं यजामहे। कपिष्ठल ७। १०॥ सम्पादक ने हस्तलेख के मूल 'त्रियम्बक' पाठ को बदलकर 'त्र्यम्बक' छापा है। देखो पृष्ठ ८७, टि० १, ३।

४ बौ० गृह्यशेष सूत्र ३। १२, पृष्ठ २९९। ५. येन देवस्त्रियम्बकः। शान्तिपर्व १९। ३३॥ कुम्भघोण संस्क०। ६. त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श। ३। ४४॥ त्र्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले। ३। ६१॥ ७. शत० ८। १। २। ५॥

संबन्ध 'सुवर्' और 'सौवर्गमनिकः' का 'सुवर्गमन' से मानना अधिक युक्त है।

हमारा विचार है पाणिनीय व्याकरण में जहां जहां ऐच् आगम का विधान किया है वहां सर्वत्र इस प्रकार की उपपत्ति हो सकती है। हमारे इस विचार का पोषक एक प्राचीन वचन भी उपलब्ध होता है। भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य १।४।२ में पूर्वाचार्यों का एक सूत्र उद्धृत किया है—'य्वोरचि वृद्धिप्रसङ्गे इयुवौ भवतः'। इस का अभिप्राय यह है कि पूर्वाचार्य 'वि+आकरण+अण्' और 'सु+अश्व+अण्' इस अवस्था में वृद्धि की प्राप्ति में यणादेश को बाधकर 'इय्' 'उव्' आदेश करते थे। अर्थात् वृद्धि करने से पूर्व 'वियाकरण' और 'सुवश्व' प्रकृति बना लेते थे और तत्पश्चात् वृद्धि करते थे।

प्रतीत होता है जब यण्व्यवधान वाले पदों का भाषा से उच्छेद हो गया तब वैयाकरणों ने उन से निष्पन्न तद्धितप्रत्ययान्त प्रयोगों का संबन्ध तत्समानार्थक यणादेश वाले शब्दान्तरों के साथ कर दिया।

४—पाणिनि ने एक सूत्र रचा है—लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्।[1] तदनुसार लोहितादिगण पठित 'नील हरित' आदि शब्दों से 'वा क्यषः'[2] सूत्र से 'नीलायति नीलायते, हरितायति हरितायते' दो दो प्रयोग बनते हैं। इस सूत्र पर वार्तिककार कात्यायन ने लिखा है—लोहितडाज्भ्यः क्यष् वचनम्, भृशादिष्वितराणि। अर्थात् लोहितादिगण पठित शब्दों में से केवल लोहित शब्द से क्यष् कहना चाहिये, शेष नील हरित आदि शब्द भृशादिगण में पढ़ने चाहियें।

भृशादिगण में पढ़ने से नील लोहित आदि से क्यङ् प्रत्यय होकर केवल 'नीलायते लोहितायते' एक रूप ही निष्पन्न होगा। प्रतीत होता है पाणिनि के काल में नील हरित आदि शब्दों के दो दो प्रकार के प्रयोग होते थे, परन्तु वार्तिककार के समय इन के परस्मैपद के प्रयोग नष्ट हो गये। अत एव उसने लोहितादिगण में नील लोहित आदि शब्दों का पाठ व्यर्थ समझ कर भृशादि में पढ़ने का अनुरोध किया। यदि ऐसा न माना जाय तो पाणिनि का लोहितादि गण का पाठ प्रमत्तपाठ होगा।

५—महाभाष्य में अनेक स्थानों पर 'अविरविकन्याय' का उल्लेख

---

१. अष्टा० ३।१।१३॥ २. अष्टा० १।३।९०॥

करते हुए लिखा है—'अवेर्मांसम्' इस विग्रह में अवि शब्द से तद्धितोत्पत्ति न होकर 'अविक' शब्द से तद्धित प्रत्यय होता है, और 'आविक' प्रयोग बनता है।[1] यहां स्पष्ट आविक की मूल प्रकृति अविक मानी है। परन्तु वैयाकरण उसका विग्रह 'अविकस्य मांसम्' नहीं करते, 'अवेर्मांसम्' ऐसा ही करते हैं। यदि इसके मूल कारण पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होगा कि लोक में आविक की मूल प्रकृति 'अविक' का प्रयोग न रहने पर उसका विग्रह 'अविकस्य मांसम्' करना छोड़ दिया, और अवि शब्द से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया। स्त्रीलिङ्ग अविका शब्द का प्रयोग ऋग्वेद १।१२६।७; अथर्व २०।१२९।१७ और ऋग्वेद खिल ५।१५।५ में मिलता है। अतः अविक शब्द की सत्ता में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

६—कानीन पद की सिद्धि के लिये पाणिनि ने सूत्र रचा है—कन्यायाः कनीन च।[2] इसका अर्थ है—कन्या से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और कन्या को कनीन आदेश हो जाता है।

वेद में बालक अर्थ में 'कनीन' शब्द का प्रयोग असकृत् उपलब्ध होता है।[3] अवेस्ता में कन्या अर्थ में कनीना का अपभ्रंश 'कइनीन' का प्रयोग मिलता है।[4] इस से प्रतीत होता है कि जिस प्रकार 'शवति' मूल प्रकृति का आर्यावर्तीय भाषा में प्रयोग न होने पर भी उस से निष्पन्न 'शव' शब्द का प्रयोग यहां की भाषा में उपलब्ध होता है[5] उसी प्रकार कानीन की मूल प्रकृति कनीना का प्रयोग भी आर्यावर्तीय भाषा में न रहा हो, किन्तु उस से निष्पन्न कानीन का व्यवहार आर्यावर्तीय संस्कृत भाषा में होता है। अवेस्ता में 'कइनीन' का व्यवहार बता रहा है कि ईरानियों की प्राचीन भाषा में 'कनीना' पद का प्रयोग होता था। पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने यहां की भाषा में कनीना का व्यवहार न होने से उस से निष्पन्न

---

१. तत्र द्वयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहोऽपरस्मादुत्पत्तिर्भविष्यत्यविरविकन्यायेन। तद्यथा—अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकमिति। ४।१।८८॥ ४।२।६०॥ ४।२।१३१॥ ५।१।७, २८॥ इत्यादि।

२. अष्टा० ४।१।११६॥

३. पूर्व पृष्ठ ६, टि० १।

४. पूर्व पृष्ठ ६, टि० ४।

५. पूर्व पृष्ठ [illegible]

कानीन का संबन्ध तत्समानार्थक कन्या शब्द से जोड़ दिया। तदनुसार उत्तरकालीन वैयाकरण कानीन का विग्रह "कनीनाया अपत्यम्" न करके "कन्याया अपत्यम्" करने लगे और कानीन की मूल प्रकृति कनीना को सर्वथा भूल गये। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कानीन की वास्तविक मूल प्रकृति कनीना है, कन्या नहीं।

७—निरुक्त ९। २८ में लिखा है—धामानि त्रयाणि[1] भवन्ति। स्थानानि, नामानि, जन्मानीति। अनेक वैयाकरण निरुक्तकार के "त्रयाणि" पद को असाधु मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। त्रि शब्द का समानार्थक 'त्रय' स्वतन्त्र शब्द है। वैदिक ग्रन्थों में इसका प्रयोग बहुधा मिलता है।[2] लौकिक संस्कृत में त्रि शब्द के षष्ठी के बहुवचन में "त्रयाणाम्" प्रयोग होता है। पाणिनि ने त्रय आदेश का विधान किया है।[3] वेद में "त्रीणाम्, त्रयाणाम्" दोनों प्रयोग होते हैं।[4] इन में स्पष्टतया "त्रीणाम्" त्रि शब्द के षष्ठी विभक्ति का बहुवचन है और "त्रयाणाम्" त्रय शब्द का। त्रि और त्रय दोनों समानार्थक हैं। प्रतीत होता है त्रि शब्द के षष्ठी का बहुवचन "त्रीणाम्" का प्रयोग लोक में लुप्त होगया, उसके स्थान में तत्समानार्थक त्रय का "त्रयाणाम्" प्रयोग व्यवहृत होने लगा और त्रय की अन्य विभक्तियों के प्रयोग नष्ट हो गये।

८—पाणिनि ने षष्ठ्यन्त से तृच् और अक प्रत्ययान्त के समास का निषेध किया है[5]। परन्तु स्वयं 'जनिकर्तुः प्रकृतिः'[6] 'तत्प्रयोजको हेतुश्च'[7] आदि में समास का प्रयोग किया है।[8] इस विषय में दो कल्पनाएं हो सकती हैं। प्रथम—पाणिनि ने सूत्रों में जो तृच् और अक

---

१. तुलना करो—ब्रह्मणो नामानि त्रयाणि। स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत उणादि कोष १। १३२॥ २. ऋग्वेद १०। ४५। २॥ यजुर्वेद १२। १८॥

३. त्रेस्त्रयः। अष्टा ७। १। ५३॥

४. काशिका ७। १। ५३—त्रीणामित्यपि भवति।

५. काशिका २। २। १६॥ ६. अष्टा० १। ४। ३०॥

७. अष्टा० १। ४। ५५॥ ८. देखो भामह का अलंकार ३। ३६, ३७॥ कात्यायन भी ३। १। २६ के "स्वतन्त्रप्रयोजकत्वात्" इत्यादि वार्तिक में समस्त निर्देश करता है।

प्रत्ययान्त के समास का प्रयोग किया है वह अशुद्ध है।[1] दूसरा—तृच् और अक प्रत्ययान्त का षष्ठ्यन्त के साथ समास ठीक है, परन्तु पाणिनि ने अल्प प्रयोग होने से उस का समास पक्ष नहीं दर्शाया। इन में द्वितीय पक्ष ही युक्त हो सकता है। क्योंकि पाणिनीय सूत्रों में अनेक ऐसे प्रयोग हैं जो पाणिनीय शब्दानुशासन से सिद्ध नहीं होते।[2] पाणिनि जैसा शब्दशास्त्र का प्रामाणिक आचार्य अपशब्दों का प्रयोग करेगा, यह कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती। वस्तुतः ऐसे शब्द प्राचीन भाषा में प्रयुक्त थे। रामायण महाभारत आदि में तृच् और अक प्रत्ययान्तों के साथ षष्ठी का समास प्रायः देखा जाता है। अष्टाध्यायी में अनेक आपवादिक नियम छोड़ दिये हैं। अत एव महाभाष्यकार ने लिखा है—**नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति**।[3]

९—पाणिनीय व्याकरणानुसार 'वध' धातु का प्रयोग आशिषि लिङ्,[4] लुङ्,[5] और क्वुन्[6] प्रत्यय के अतिरिक्त नहीं होता। नागेश महाभाष्य २।४।४३ के विवरण में स्वतन्त्र वध धातु की सत्ता का प्रतिषेध करता है।[7] परन्तु वैशेषिक दर्शन में **'वधति'**[8] और आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा में **'वध्यन्ते'**[9] प्रयोग उपलब्ध होता है। काशिका ७।३।३५

१. सूत्रवार्तिकभाष्येषु दृश्यते चापशब्दनम् ....। तन्त्रवार्तिक, शाबरभाष्य पूना संस्क० भाग १, पृष्ठ २६०।

२. यथा—पुराण ४।३।१०५, सर्वनाम १।१।२७, ग्रन्थवाची—ब्राह्मण शब्द ४।३।१०५, इत्यादि। वैयाकरण इन्हें निपातन (पाणिनीय-व्यवहार) से साधु मानते हैं।

३. महाभाष्य ७।१।९६॥ तुलना करो—नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। महाभाष्य १।१।१२,४१॥३।१।६७॥ भर्तृहरि ने लिखा है—"संज्ञा और परिभाषा सूत्र एक प्रयोजन के लिये नहीं बनाये जाते, प्रयोगसाधकसूत्र एक प्रयोजन के लिये भी रचे जाते हैं।' (भाष्यटीका १।१।४१) यह कथन सर्वांश में ठीक नहीं। महाभाष्य ७।१।९६ के उपर्युक्त पाठ से स्पष्ट है कि एक उदाहरण के लिये प्रयोगसाधक सूत्र रचा ही जावे यह आवश्यक नहीं है। तुलना करो—नैकमुदाहरणं ह्रस्वग्रहणं प्रयोजयति। महाभाष्य ६।४।३॥

४. हनो वध लिङि। अष्टा० २।४।४२॥

५. लुङि च, आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्। अष्टा० २।४।४३,४४॥

६. हनो वध च। उणा० २।३८॥ ७. स्वतन्त्रो वधधातुस्तु नास्त्येव॥

८. न तस्य कार्यं करणं च वधति १।१।१२॥

९. प्रकरणेन विधयो वध्यन्ते १।२।२७॥

में वामन स्वतन्त्र वध धातु की सत्ता स्वीकार करता है।[१] इससे स्पष्ट है कि कभी वध धातु के प्रयोग सब लकारों तथा सब प्रक्रियाओं में होते थे।

१०—भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ १।१।२७ में लिखा है—चाक्रवर्मण आचार्य के मत में 'द्वय' शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती थी।[२] तदनुसार 'द्वये, द्वयस्मै, द्वयस्मात्, द्वयेषाम्, द्वयस्मिन्' प्रयोग भी साधु थे। परन्तु पाणिनि के व्याकरणानुसार 'द्वय' शब्द की केवल प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।[३] माघ कवि ने शिशुपालवध में 'द्वयेषाम्' पद का प्रयोग किया।[४]

११—प्राकृत भाषा में देव आदि अकारान्त पुलिङ्ग शब्द के तृतीया विभक्ति के बहुवचन में 'देवेहि' आदि प्रयोग होते हैं।[५] अर्थात् 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं होता। प्राकृत के नियमानुसार 'भिस्' के भकार को हकार होता है, और सकार का लोप हो जाता है। अपभ्रंश शब्दों की उत्पत्ति लोक प्रयुक्त शब्दों से होती है, अतः प्राकृत के 'देवेहि' आदि प्रयोगों से सिद्ध है कि कभी लौकिक संस्कृत में 'देवेभिः' आदि शब्दों का प्रयोग होता था, वेद में 'देवेभिः, कर्णेभिः' आदि प्रयोग प्रसिद्ध हैं। पाणिनीय व्याकरणानुसार लोक में 'देवेभिः' आदि प्रयोग नहीं बनते। कातन्त्र व्याकरण केवल लौकिक भाषा का व्याकरण है, परन्तु उसमें 'भिस् ऐस् वा' सूत्र उपलब्ध होता है।[६] इस के अनुसार लोक में 'देवेभिः, देवैः' आदि दोनों प्रकार के प्रयोग सिद्ध होते हैं। बौधायन धर्मसूत्र १६।२२ में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत है। उस में 'तेभिः' और 'तैः' दोनों पद एक साथ प्रयुक्त हैं।[७] कातन्त्र के टीकाकारों ने इस बात को न समझ कर 'भिस् ऐस् वा' सूत्र के अर्थ में जो क्लिष्ट कल्पना की है, वह चिन्त्य है।

---

१. वधिः प्रकृत्यन्तरं व्यञ्जनान्तोऽस्ति ॥ तुलना करो—वधिः प्रकृत्यन्तरम्। जैन शाकटायन लघुवृत्ति ४।२।१२२ ॥

२. यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मणव्याकरणे द्वयपदस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात् ... ...।

३. अष्टा० १।१।३३ ॥ ४. यथा द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्। १२।१३ ॥ हेमचन्द्र इसे अपपाठ मानता है। देखो हैमव्या० बृहद्वृत्ति पृष्ठ ७४।

५. भिसो हि। वाररुच प्राकृतप्रकाश ५।५। यथा—सिद्धेहि णाणाविधेहि, हिङ्गुविद्धेहि इत्यादि। भास नाटक-चक्र पृष्ठ १६५ ॥

६. २।१।१८॥ ७. मृगैः सह परिस्पन्दः संवासस्तेभिरेव च। तैरेव सदृशी वृत्तिः प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणम् ॥

कातन्त्र किसी अत्यन्त प्राचीन व्याकरण का संक्षिप्त संस्करण है, यह हम आगे कातन्त्र के प्रकरण में सप्रमाण दर्शाएंगे। अत: उस में कुछ प्राचीन अंश का विद्यमान रहना स्वाभाविक है।

१२—कातन्त्र व्याकरण के 'अर् ङौ' सूत्र[1] की वृत्ति में दुर्गसिंह लिखता है—योगविभागात् पितरस्तर्पयामः। अर्थात्-'अर्' का योग-विभाग करने से शस् परे रहने पर ऋकारान्त शब्द को 'अर्' आदेश होता है। यथा—पितरस्तर्पयामः। वैदिक ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं, परन्तु लौकिक भाषा के व्याकरणानुसार ऐसे प्रयोगों का साधुत्व दर्शाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दुर्गसिंह ने अवश्य यह बात प्राचीन वृत्तियों से ली होगी।

१३—पाणिनि जिन प्रयोगों को केवल छान्दस मानता है उन के लिये सूत्र में 'छन्दसि, निगमे' आदि शब्दों का प्रयोग करता है। अतः जिन सूत्रों में पाणिनि ने विशेष निर्देश नहीं किया, उन से निष्पन्न शब्द अवश्य लोक भाषा में प्रयुक्त रहे होंगे। पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में चार सूत्र पढ़ता है—

अर्वणस्त्रसावनञः।[2] मघवा बहुलम्।[3]

दीधीवेवीटाम्।[4] इन्धिभवतिभ्यां च।[5]

प्रथम दो सूत्रों से 'अर्वन्तौ अर्वन्तः, मघवन्तौ मघवन्तः' आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं। पतञ्जलि इन सूत्रों को छान्दस मानता है।[6] कातन्त्रव्याकरण में उपर्युक्त प्रयोगों के साधक 'अर्वन्नर्वन्तिरसावनञ्,[7] सौ च मघवान् मघवा'[8] सूत्र उपलब्ध होते हैं। कातन्त्र केवल लौकिक संस्कृत का व्याकरण है और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त। अतः उस में इन सूत्रों के विद्यमान होने और पाणिनीय सूत्रों में 'छन्दसि' पद का प्रयोग न होने से स्पष्ट है कि 'अर्वन्तौ' आदि प्रयोग कभी लौकिक संस्कृत में विद्यमान थे। अत एव कातन्त्र की वृत्तिटीका में दुर्गसिंह लिखता है—

---

१. २।१।६६॥ २. अष्टा० ६।४।१२७॥ ३. अष्टा० ६।४।१२८।
४. अष्टा० १।१।६॥ ५. अष्टा० १।२।६॥
६. अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्। महाभाष्य ६।४।१२७, १२८॥
७. कातन्त्र २।१।२२॥ ८. कातन्त्र २।१।२३॥

छन्दस्येतौ योगाविति भाष्यकारो भाषते। शर्ववर्मणो वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। तथा च—मघवद्वृत्रलज्जानिदाने श्लथीकृतप्रग्रहमर्वनां व्रज इति दृश्यते।[1]

अर्थात्—महाभाष्यकार इन सूत्रों को छान्दस मानता है, परन्तु शर्ववर्मा के वचन से इन शब्दों का प्रयोग भाषा में भी निश्चित होता है। जैसा कि 'मघवद्वृत्र' आदि श्लोक में इन का प्रयोग उपलब्ध होता है।

पाणिनि के अन्तिम दो सूत्रों में दीधीङ् वेवीङ् और इन्धी धातुओं का निर्देश है। महाभाष्यकार इन्हें छान्दस मानता है।[2] कातन्त्र के '**दीधीवेव्योश्च, परोक्षायामिन्धिश्रन्थिग्रन्थिदम्भीनामगुणे**'[3][4] सूत्रों में इन धातुओं का उल्लेख मिलता है। प्रथम सूत्र की वृत्ति में दुर्गसिंह ने लिखा है—**छान्दसावेतौ धातू इत्यके**[5]। इस पर त्रिलोचनदास लिखता है—

छान्दसाविति। शर्ववर्मणस्तु वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। नह्ययं छान्दसान् शब्दान् व्युत्पादयतीति।[6]

अर्थात्—भाष्यकार के मत में दीधीङ् वेवीङ् छान्दस धातुएं हैं, परन्तु शर्ववर्मा के वचन से इन का लौकिक संस्कृत में भी प्रयोग निश्चित होता है, क्योंकि शर्ववर्मा छान्दस शब्दों का व्युत्पादन नहीं करता है।

आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण के लौकिक भाग[7] में 'लिटी-

---

१. कातन्त्रवृत्ति परिशिष्ट, पृष्ठ ४९३।

२. दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात्। महाभाष्य १।१।६॥ इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद्। महाभाष्य १।२।६॥ हरदत्त भाषा में भी इन्धी का प्रयोग मानता है। वह लिखता है—एवं तर्हि ज्ञापनार्थमिन्धिग्रहणं–एतज्ज्ञापयति इन्धेर्भाषायामप्यनित्य आमिति। समीधे समीधांचक्रे इति भाषायामपि भवति। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ १५३।

३. कातन्त्र ३।५।१५॥ ४. कातन्त्र ३।६।३॥

५. कातन्त्रवृत्ति ३।५।१५॥ ६. कातन्त्रवृत्ति-परिशिष्ट पृष्ठ ५३०।

७. चान्द्र व्याकरण में स्वरप्रक्रिया भी थी। इसके अनेक प्रमाण उसकी स्वोपज्ञवृत्ति (१।१।२३, १०५, १०८ इत्यादि) में उपलब्ध होते हैं। स्वोपज्ञवृत्ति १।१।१३४ में स्वर विषयक "अनौ वसः" सूत्र भी उद्धृत है। इन स्वरविषयक प्रमाणों की उपलब्धि से अनुमान होता है कि उसने वैदिक प्रक्रिया पर भी सूत्र अवश्य रचे थे, क्योंकि स्वर प्रक्रिया का मुख्य संबन्ध वेद से है। देखो इसी ग्रन्थ का चान्द्र व्याकरण-प्रकरण और हमारे द्वारा सम्पादित चान्द्र-व्याकरण का उपोद्घात। यह संस्करण छप रहा है।

न्धिश्रन्थग्रन्थाम्'[1] सूत्र में इन्धी धातु का निर्देश किया है और स्वोपज्ञ वृत्ति में 'समीधे' आदि प्रयोग दर्शाए हैं। अतः उस के मत में 'इन्धी' का प्रयोग भाषा में अवश्य होता है।

पाल्यकीर्ति विरचित जैन शाकटायन व्याकरण केवल लौकिक संस्कृत का है, परन्तु उसमें भी इन्धी से विकल्प से आम् का विधान किया।[2]

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि संस्कृत भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं जिन का पहले लोक में निर्बाध प्रयोग होता था, परन्तु कालान्तर में उन का लोक भाषा से उच्छेद हो गया और केवल प्राचीन आर्ष वाङ्मय में उनका प्रयोग सीमित रह गया, अतः उत्तरवर्ती वैयाकरण उन्हें केवल छान्दस मानने लग गये।

१४ – पाणिनि के उत्तरवर्ती महाकवि भास के नाटकों में पचासों ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनीय-व्याकरण-सम्मत नहीं हैं।[3] उन्हें सहसा अपशब्द नहीं कह सकते। अवश्य वे प्रयोग किसी प्राचीन व्याकरणानुसार साधु रहे होंगे। यहां हम उसके केवल दो प्रयोगों का निर्देश करते हैं—

राजन्–उत्तरपद के नकारान्त के प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के अनुसार साधु नहीं हैं, परन्तु भास के नाटकों की संस्कृत और प्राकृत दोनों में इसके प्रयोग मिलते हैं। यथा—

काशिराज्ञे।[4] सर्वराज्ञः।[5] महाराजानम्।[6] महाराण्णा (= महाराज्ञा।[7]

ये प्रयोग निस्सन्देह प्राचीन हैं। महाभारत में ऐसे अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा – **सर्वराज्ञाम्**—आदिपर्व १। १०२॥ सभापर्व ४२। १२॥ **नागराज्ञा** – आदिपर्व १६।१३॥ **मत्स्यराज्ञा**—आदिपर्व १।११५॥

भास के अभिषेक नाटक में 'विंशति' के अर्थ में 'विंशत्' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[8] यह पाणिनीय व्याकरणानुसार असाधु है। पुराणों में अनेक स्थानों पर 'विंशत्' शब्द का प्रयोग मिलता है। यथा—

---

१. चान्द्र व्या० ५।३।८५॥ २. जाग्रुषसमिन्धे वा।१।४।८४॥

३. देखो भासनाटकचक्र, परिशिष्ट B. पृष्ठ ५६९–५७३।

४. भासनाटकचक्र पृष्ठ १८७। ५. भासनाटकचक्र पृष्ठ ४४५।

६. यज्ञफलनाटक पृष्ठ २८,९६। ७. यज्ञफलनाटक पृष्ठ ५०।

८. विश्वलोकविजयविख्यातविंशद्बाहुशालिनि। नाटकचक्र पृष्ठ ३५६।

ऐक्ष्वाकाश्चतुर्विंशत् पाञ्चालाः सप्तविंशतिः ।
काशेयास्तु चतुर्विंशद् अष्टाविंशतिर्हैहयः ॥[1]

नारद मनुस्मृति में भी 'चतुर्विंशत्' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है ।[2] त्रिगर्त की एक प्राचीन वंशावली का पाठ है—लक्ष्मीचन्द्रपूर्वतोऽभूत् पञ्चविंशत्तमो नृपः। यह वंशावली श्री पं० भगवद्दत्त जी को ज्वालामुखी से प्राप्त हुई थी।[3] 'पञ्चविंशत्तम' प्रयोग इसकी प्राचीनता का स्पष्ट द्योतक है ।

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि प्राचीन काल में 'त्रिंशत् चत्वारिंशत्' के समान 'विंशत्' शब्द का भी प्रयोग होता था । उसे अपशब्द समझना भूल है ।

इसी प्रकार 'त्रिंशत्' के अर्थ में 'त्रिंशति' प्रयाग भी अवश्य रहा होगा, क्योंकि पाली में 'तिंसति'[4] शब्द का व्यवहार होता है । तदनुसार चत्वारिंशति और पञ्चाशति का प्रयोग भी रहा होगा। सम्भव है प्रत्येक दशति के तकारान्त और इकारान्त दो दो प्रयोग कभी संस्कृत में रहे होंगे ।[5]

महाकवि भास के नाटकों को देखने से विदित होता है कि उसने पाणिनीय व्याकरण के नियमों का पूर्ण अनुसरण नहीं किया । अत एव महाराजाधिराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित[6] में भास के विषय में लिखा है –

---

१. पार्जिटर सम्पादित कलिराजवंश पृष्ठ २३ ।

२. दिव्य प्रकरण श्लोक १३, पृष्ठ १६५ ।

३. वैदिकवाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ २३ ।

४. देखो महावंसो "......महावंसे धातुगब्भरचनो नाम तिंसतिमो परिच्छेदो" । इसी प्रकार अन्यत्र भी ।

५. अंग्रेजी भाषा में तीस चालीस और पचास के लिये "थर्टि, फोर्टि, फिफ्टि" शब्दों का व्यवहार होता है । इनमें अन्त्य भाग 'टि' है ।

६. इस ग्रन्थ का कुछ अंश उपलब्ध हुआ है । वह गोंडल काठियावाड़ में छपा है । इस ग्रन्थ से पाश्चात्य मतानुयायियों की अनेक कल्पनाओं का उन्मूलन हो जाता है । कई विद्वान् इसे जाल रचना बतलाते हैं । श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' में इसकी प्रामाणिकता भले प्रकार दर्शाई है । देखो, द्वितीय संस्क० पृष्ठ ३५१ ।

अयं च नान्वयात् पूर्णं दाक्षिपुत्रपदक्रमम् ॥ २६ ॥

सम्भव है, भास अति प्राचीन कवि हो और उसके समय में ये शब्द लोकभाषा में प्रयुक्त होते हों, अथवा उसने किसी प्राचीन व्याकरण के अनुसार इनका प्रयोग किया हो।

१५—लौकिक संस्कृत के ऐसे अनेक प्रयोग हैं जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध होते हैं, परन्तु पतञ्जलि के काल में उनका भाषा से प्रयोग लुप्त हो गया था। यथा—

प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः[1], **पनच्छित्तकः**,[2] **कीः**,[3] **उः**,[4] **कर्तृचा कर्तृचे**,[5] **उत्पुद्**,[6] **पयसिष्ठ**[7], **द्रुः**[8] ।

इन प्रयोगों के विषय में पतञ्जलि कहता है—**यथालक्षणमप्रयुक्ते** ।[9] यदि इस वचन का यह अर्थ माना जाय कि ये शब्द भाषा में कभी प्रयुक्त नहीं रहे, तो महाभाष्यकार के पूर्वोद्धृत 'सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते' वचन से विरोध होगा। यदि ये शब्द महाभाष्यकार की दृष्टि में सर्वथा अप्रयुक्त होते तो पतञ्जलि यथालक्षण प्रयोगसिद्धि का विधान न करके 'अनभिधानान्न भवति' कहता।[10]

१६—महाभारत आदि प्राचीन आर्ष वाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं जो पाणिनीय व्याकरणानुसारी नहीं हैं। अर्वाचीन वैयाकरण 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति, छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति, आर्षत्वात् साधु,' आदि कह कर प्रकारान्तर से उन्हें अपशब्द कहने की धृष्टता करते हैं,[11] यह उनका मिथ्या ज्ञान है। शब्दप्रयोग का विषय अत्यन्त महान्

---

१. महाभाष्य १ । १ । २४ ॥ २. महाभाष्य २ । ४ । ३४ ॥

३. महाभाष्य ६ । १ । ६८ ॥ ४. महाभाष्य ६ । १ । ८६ ॥

५. महाभाष्य ६ । ४ । २ ॥ ६. महाभाष्य ६ । ४ । १९ ॥

७. महाभाष्य ६ । ४ । १६३ ॥ ८. महाभाष्य ७ । २ । १०६ ॥

९. महाभाष्य १।१।२४।।२।४।३४॥६।१।३४,८६॥६।४।२,११,१६३॥७।२।१०६॥

१०. नहि यत्र दृश्यते तेन न भवितव्यम् । अन्यथा हि यथालक्षणमप्रयुक्तेष्विस्येतद् वचनमप्रयुज्यमानं स्यात् । कैयट भी कहता है—यस्य प्रयोगो नोपलभ्यते तल्लक्षणानुसारेण संस्कर्तव्यम् । प्रदीप २ । ४ । ३४ ॥

११. सखिना, पतिना, पतौ । अत्र हरदत्तः—छन्दोवदृषयः कुर्वन्तीति । अस्यायमाशयः—असाधव एवैते त्रिशङ्कुवाधयाज्ययाजनादिवत् तपोमाहात्म्यशालिनां मुनिनामसाधु

है, अतः किसी प्रयोग को केवल अपाणिनीयता की कसौटी से अपशब्द नहीं कह सकते। महाभारत में प्रयुक्त अपाणिनीय प्रयोगों के विषय में १२ वीं शताब्दी से पूर्वभावी देवबोध महाभारत की ज्ञानदीपिका टीका के आरम्भ में लिखता है—

न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
अज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते ॥ ७ ॥
यान्युज्जहार माहेन्द्राद्[1] व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥ ८ ॥

भगवान् वेदव्यास का संस्कृतभाषा का ज्ञान अत्यन्त विस्तृत था। वायुपुराण १।१८ में लिखा है—भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी।

सोलहवीं शताब्दी के प्रक्रियासर्वस्व के कर्ता नारायण भट्ट ने अपनी 'अपाणिनीय-प्रामाणिकता' नामक पुस्तक में इस विषय पर भले प्रकार विचार किया है। यह पुस्तक ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित हुई है।

१७—हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसके विपरीत पाश्चात्य भाषाविज्ञानवादियों का कहना है कि पाणिनि के पश्चात् संस्कृत भाषा में जो परिवर्तन हुए उन को दर्शाने के लिये कात्यायन ने अपना वार्तिकपाठ रचा और तदनन्तरभावी परिवर्तनों का निर्देश पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है। हम पाश्चात्य विद्वानों के इस कथन की निस्सारता दर्शाने के लिये यहां एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

पाणिनि का एक सूत्र है—चक्षिङः ख्याञ्।[2] इस पर कात्यायन ने वार्तिक पढ़ा है—चक्षिङः क्शाञ्ख्याञौ।[3] अर्थात् ख्याञ् के साथ क्शाञ् आदेश का भी विधान करना चाहिये। पाश्चात्यों के मतानुसार

प्रयोगोऽपि नातीव बाधते। शब्दकौस्तुभ १।४।७॥ इतिहासपुराणेषु अपशब्दा अपि संभवन्ति। पदमञ्जरी भाग १ पृष्ठ ७॥ निरङ्कुशा हि कवयः। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४६० । कथं भाषायां वन्ध्या राजति? छान्दस एवायं प्रमादात् कविभिः प्रयुक्तः। काशिका ४।१।१५१॥

१. कई लोग इस श्लोक में 'माहेन्द्रात्' के स्थान में 'माहेशात्' पद पढ़ते हैं, यह ठीक नहीं है। यह श्लोक देवबोधविरचित है, और उस का पाठ 'माहेन्द्रात्' ही है। इस पद पर कोई पाठान्तर भी नहीं है।

२. अष्टा० २।४।५४॥ ३. महाभाष्य २।४।५४॥

इस का अभिप्राय यह होगा कि पाणिनि के समय केवल ख्याञ् का प्रयोग होता था, परन्तु कात्यायन के समय क्शाञ् का भी प्रयोग होने लग गया, अत एव उस ने ख्याञ् के साथ क्शाञ् आदेश का भी विधान किया।

हमें पाश्चात्य विद्वानों की ऐसी ऊटपटांग, प्रमाणशून्य कल्पनाओं पर हंसी आती है। उपर्युक्त वार्तिक के आधार पर क्शाञ् को पाणिनि के पश्चात् प्रयुक्त हुआ मानना सर्वथा मिथ्या है। पाणिनि द्वारा स्मृत आचार्य गार्ग्य क्शाञ् के प्रयोग से अभिज्ञ था। वर्णरत्नदीपिका शिक्षा का रचयिता अमरेश लिखता है—

ख्याधातोः खययोः स्यातां, कशौ गार्ग्यमते यथा।
विकश्याऽऽक्शाताम् इत्येतत् .... ॥[1]

इस गार्ग्यमत का निर्देश आचार्य कात्यायन ने वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।१६७ के "**ख्यातेः खयौ, कशौ गार्ग्यः, सक्ख्योत्क्ख्यमुक्ख्यवर्जम्**" सूत्र में किया है।

इतना ही नहीं, पाणिनि से पूर्व प्रोक्त और अद्ययावत् वर्तमान मैत्रायणीयसंहिता में "ख्या" धातु के प्रसङ्ग में सर्वत्र "क्शा" के प्रयोग मिलते हैं।[2] काठक संहिता में भी कहीं कहीं "क्शा" के प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[3] शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य का भाष्यकार उव्वट स्पष्ट लिखता है—**ख्यातेः कसापत्तिरुक्ता, एते चरकाणाम्।**[4] ऐसी अवस्था में यह कहना की पाणिनि के समय क्शा का प्रयोग विद्यमान नहीं था, अपना अज्ञान प्रदर्शित करना है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि क्शा धातु का प्रयोग पाणिनि के समय विद्यमान था तो उसने उसका निर्देश क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि पाणिनि ने प्राचीन विस्तृत व्याकरणशास्त्र का संक्षेप किया है यह हम पूर्व कह चुके हैं। इसलिये उसे कई नियम छोड़ने पड़े।[5] दूसरा कारण यह है कि पाणिनि उत्तर देश का निवासी था। अतः उस के व्याकरण में वहीं के शब्दों का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। क्शाञ् का प्रयोग दक्षिणापथ में होता था। मैत्रायणीयसंहिता का प्रचारक्षेत्र आज

---

१. श्लोक १६५। शिक्षासंग्रह काशी संस्क०।

२. अन्वभिख्यसामग्रमक्शत। मै० सं० १।८।६ इत्यादि।

३. नक्तमभिख्यस्थेयः पशूनामनुक्शात्यै। काठक ७।१०॥

४. वाज० प्राति० ४।१६७॥ ५. देखो पूर्व पृष्ठ २६, २७ प्रक० ८।

भी वही है। वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य था।[1] वह क्शाञ् के प्रयोग से विशेष परिचित था। इसलिये उसने पाणिनि से छोड़े गये क्शाञ् धातु का सन्निवेश और कर दिया। हमारी इस विवेचना से स्पष्ट है कि क्शाञ् का प्रयोग पाणिनि से पूर्व विद्यमान था। अतः कात्यायनीय वार्तिकों या पातञ्जल महाभाष्य के किन्हीं वचनों के आधार पर यह कल्पना करना कि पाणिनि के समय यह प्रयोग नहीं होता था, पीछे से परिवर्तित होकर इस प्रकार प्रयुक्त होने लगा, सर्वथा मिथ्या है।

१८—पूर्वमीमांसा (१।३।१०) के पिकनेमाधिकरण में विचार किया है वैदिकग्रन्थों में कुछ शब्द ऐसे प्रयुक्त हैं जिन का आर्य लोग प्रयोग नहीं करते, किन्तु म्लेच्छभाषा में उनका प्रयोग होता है। ऐसे शब्दों का म्लेच्छप्रसिद्ध अर्थ स्वीकार करना चाहिये अथवा निरुक्त व्याकरण आदि से उन के अर्थों की कल्पना करनी चाहिये। इस विषय में सिद्धान्त कहा है—वैदिकग्रन्थों में उपलभ्यमान शब्दों का यदि आर्यों में प्रयोग न हो तो उनका म्लेच्छप्रसिद्ध अर्थ स्वीकार कर लेना चाहिये।

मीमांसा के इस अधिकरण से स्पष्ट है कि वैदिक ग्रन्थों में अनेक पद ऐसे प्रयुक्त हैं जिनका प्रयोग जैमिनि के काल में लौकिक संस्कृत से लुप्त हो गया था, परन्तु म्लेच्छभाषा में उनका प्रयोग विद्यमान था। शबरस्वामी ने इस अधिकरण में 'पिक, नेम, अर्ध, तामरस' शब्द उदाहरण माने हैं। शबरस्वामी इन शब्दों के जिन अर्थों को म्लेच्छप्रसिद्ध मानता है उन्हीं अर्थों में इनका प्रयोग उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है। अतः प्रतीत होता है कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्राचीन काल में आर्यभाषा में प्रयोग होता था, कालान्तर में उनका आर्यभाषा से उच्छेद होगया और उत्तर काल में उनका पुनः आर्यभाषा में प्रयोग होने लगा। इसकी पुष्टि अष्टाध्यायी ७।३।९५ से भी होती है। पाणिनि से पूर्ववर्ती आपिशलि 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु च्छन्दसि'[2] सूत्र में 'छन्दः' ग्रहण करता है, अतः उसके काल में 'तवीति' आदि पद लोक में प्रयुक्त नहीं थे। परन्तु उससे उत्तरवर्ती पाणिनि 'छन्द' ग्रहण नहीं करता। इससे स्पष्ट है कि उस के काल में इन पदों का लोकभाषा में प्रयोग होता था।

---

१. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः— यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते। महाभाष्य अ० १, पाद १, आ० १।

२. काशिका ७। ३। ९५॥

मीमांसा के इस अधिकरण के आधार पर पाश्चात्य तथा तदनुयायी कतिपय भारतीय विद्वान् लिखते हैं कि वेद में विदेशी भाषाओं के अनेक शब्द सम्मिलित हैं। उन का यह कथन सर्वथा कल्पना-प्रसूत है। यह हमारे अगले विवेचन से भले प्रकार स्पष्ट हो जायगा।

लौकिक संस्कृत ग्रन्थों में अप्रयुक्त शब्दों का वर्तमान भाषाओं में प्रयोग

आज कल लोक में अनेक शब्द ऐसे व्यवहृत होते हैं जो शब्द और अर्थ की दृष्टि से विशुद्ध संस्कृत भाषा के हैं, परन्तु उनका संस्कृत भाषा में प्रयोग न होने से अपभ्रंश भाषाओं के समझे जाते हैं। यथा—

१—फारसी भाषा में पवित्र अर्थ में 'पाक' शब्द का व्यवहार होता है। परन्तु उसका पवित्र अर्थ में प्रयोग वेद के '**यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्ट अनृतेभिर्वचोभिः**'[1] आदि अनेक मन्त्रों में मिलता है।

२—हिन्दी में प्रयुक्त 'घर' शब्द संस्कृत गृहशब्द का अपभ्रंश माना जाता है, परन्तु है यह विशुद्ध संस्कृत शब्द। दशपादी-उणादि में इस के लिये विशेष सूत्र है।[2] जैन संस्कृतग्रन्थों में इसका प्रयोग उपलब्ध होता है।[3] भास के नाटकों की प्राकृत में भी इसका प्रयोग मिलता है।[4]

३—युद्ध अर्थ में प्रयुक्त फारसी का 'जङ्ग' शब्द संस्कृत की 'जजि युद्धे' धातु का घञ्-प्रत्ययान्त है। यह '**चजोः कु घिण्यतोः**'[5] सूत्र से कुत्व होकर निष्पन्न होता है। यथा भज से भाग। मैत्रेयरक्षित-विरचित धातुप्रदीप पृष्ठ २५ में इस शब्द का निर्देश मिलता है।

४—पञ्जाबी भाषा में बरात अर्थ में व्यवहृत 'जञ्ज' शब्द भी पूर्वोक्त 'जजि' धातु का घञन्तरूप है। प्राचीन काल में स्वयंवर के अवसर पर प्रायः युद्ध होते थे, अतः जञ्ज शब्द में मूल युद्ध अर्थ निहित है। इस शब्द में निपातन से कुत्व नहीं होता। यह पाणिनि के उञ्छादिगण[6] में पठित है। भट्ट यज्ञेश्वर ने गणरत्नावली में जञ्ज का अर्थ युद्ध किया है।[7]

---

१. ऋग्वेद ७।१०४।८। १। अथर्व ८। ४। ८॥

२. हन्ते रन् घ च। द० उणा० ८।१०४॥

३. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृष्ठ १३, ३२॥

४. यज्ञफलनाटक पृष्ठ १६३॥ ५. अष्टा० ७।३।५२॥

६. गणपाठ ६।१।१६०॥ ७. ६।१।१६०। हमारा हस्तलेख पृष्ठ ३५५

उसमें थोड़ी भूल है। वस्तुतः जङ्ग और जञ्ज शब्द क्रमशः युद्ध और बरात के वाचक हैं। संस्कृत में गर गल, ग्रह ग्लह आदि अनेक शब्द ऐसे हैं जो समान धातु और समान प्रत्यय से निष्पन्न होने पर भी वर्णमात्र के भेद से अर्थान्तर के वाचक होते हैं।

५—हिन्दी में 'गुड़ का क्या भाव है' इत्यादि में प्रयुक्त 'भाव' शब्द शुद्ध संस्कृत का है। यह 'भू प्राप्तावात्मनेपदी' चौरादिक धातु से अच् (पक्षान्तर में घञ्) प्रत्यय से निष्पन्न होता है। सत्तार्थक भाव शब्द इससे पृथक् है, वह 'भू सत्तायाम्' धातु से बनता है।

६—हिन्दी में प्रयुक्त 'मानता है' क्रिया की 'मान' धातु का प्रयोग जैन संस्कृत ग्रन्थों में बहुधा उपलब्ध होता है।[1]

इसी प्रकार कई धातुएं ऐसी हैं जिन का लौकिक संस्कृत भाषा में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता, परन्तु अपभ्रंश भाषाओं में उपलब्ध होता है। यथा—

७—संस्कृत भाषा में सार्वधातुक प्रत्ययों में 'गच्छ' और आर्धधातुक प्रत्ययों में 'गम' का प्रयोग मिलता है। वैयाकरण गम के मकार को सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर छकारादेश का विधान करते हैं।[2] वस्तुतः यह ठीक नहीं है। गच्छ और गम दोनों स्वतन्त्र धातुएं हैं। संस्कृत में गच्छ के आर्धधातुप्रत्ययपरक और गम के सार्वधातुप्रत्ययपरक प्रयोग नहीं मिलते। परन्तु मण्डीराज्य (पूर्वी पञ्जाब) की पहाड़ी भाषा में 'कुदर गच्छणा' तथा पश्चिमी पञ्जाब की झेहलम के आस पास की बोली में "कुद्र गच्छणा वोय" और "इदुर आगच्छणा वोय" प्रयोग होता है। यह संस्कृत के 'कुत्र गच्छनम्' का अपभ्रंश है, 'कुत्र गमनम्' का नहीं। इसी प्रकार गम धातु के सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर 'गमति' आदि प्रयोग वेद में बहुधा उपलब्ध होते हैं। पाणिनि ने जहां-जहां पा घ्रा आदि के स्थान में पिब जिघ्र आदि का आदेश किया है वहां-वहां सर्वत्र उन्हें स्वतन्त्र धातु समझना चाहिये। समानार्थक दो धातुओं में से एक का सार्वधातुक में प्रयोग नष्ट हो गया, दूसरी का आर्धधातुक में। वैयाकरणों ने नष्टाश्वदग्धरथन्याय से दोनों को एक साथ जोड़ दिया।

---

१. पुरातनप्रबन्धसंग्रह पृष्ठ १३, ३०, ५१, १०३ इत्यादि। प्रबन्धकोश पृष्ठ १०७।

२. इषुगमियमां छः। अष्टा० ७।३।७७॥

८—विक्रम की १३ वीं शताब्दी से पूर्वभावी वैयाकरण 'कृञ्' धातु का भ्वादि में पढ़ते हैं,[1] किन्तु इसके भौवादिक प्रयोग लौकिक संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। प्राकृत भाषा में प्रायः प्रयुक्त होते हैं।[2] हिन्दी में भी उसका अपभ्रंश 'करता' शब्द का प्रयोग होता है।

९—धातुपाठ में 'हन' धातु का अर्थ गति और हिंसा लिखा है। लौकिक संस्कृत वाङ्मय में इसका गत्यर्थ में प्रयोग नहीं मिलता।[3] किन्तु हिसार जिले की ग्रामीण भाषा के 'कठे हणस' आदि वाक्यों में इस के अपभ्रंश का प्रयोग पाया जाता है। सम्भवतः पञ्जाबी के 'साडा कपड़ा बहुत हंड्या' आदि वाक्यों में प्रयुक्त 'हंड्या' का संबन्ध भी हन धातु से है।

१०—संस्कृत की 'रक्ष' धातु का 'रखना' अर्थ में प्रयोग संस्कृत भाषा में नहीं मिलता। प्राकृत में इस के अपभ्रंश 'रक्ख' धातु का प्रयोग प्रायः उपलब्ध होता है। हिन्दी की 'रखता है' क्रिया प्राकृत की 'रक्ख' धातु का

---

१. क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ७८, हैमधातुपारायण, शाकटायन धातुपाठ संख्या ५७७, दैव-पुरुषकार पृष्ठ ३८, दशपादी-उणादिवृत्ति पृष्ठ १७, ५२ इत्यादि। भ्वादिगण से कृञ् धातु का पाठ सायण ने हटाया है, वह लिखता है "अनेन प्रकारेणास्माभिर्धातुवृत्तावयं धातुर्निराकृतः।" ऋग्वेदभाष्य १।८२।१॥ तथा धातुवृत्ति पृष्ठ १६३। भट्टोजिदीक्षित ने सायण का ही अनुसरण किया है। सायण ऋग्वेदभाष्य में अन्यत्र कृञ् को भ्वादि में मानता है—"कृञ् करणे भौवादिकः।" १।२३।६॥ पाणिनि ने कृञ् धातु भ्वादिगण पढ़ा था। तनादिगण में कृञ् का पाठ अपाणिनीय है। 'उ'-प्रत्यय अष्टाध्यायी ३।१।६९ के विशेष विधान से होता है। इसकी विशेष विवेचना धातुपाठ के प्रकरण में की जायगी।

२. अणुकरोदि (अनुकरोति), भासनाटकचक्र पृष्ठ २१८। करअन्तो (करन्तः कुर्वन्तः) भासनाटकचक्र पृष्ठ ३३६।

३. धातुप्रदीप के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने गत्यर्थ हन धातु का एक प्रयोग उद्धृत किया है "भूदेवेभ्यो महीं दत्वा यज्ञैरिष्ट्वा सुदक्षिणैः, अनुक्त्वा निष्ठुरं वाक्यं स्वर्गं हन्तासि सुव्रत॥" धातुप्रदीप पृष्ठ ७६, टि० २। सम्भव है यहां 'हन्तासि' के स्थान में 'गन्तासि' पाठ हो। साहित्य-विशारदों ने गत्यर्थक हन्ति के प्रयोग को दोष माना है। "तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात् को हन्ति गतिवाचिनम्"। भामहालंकार ६।२४॥ तथा—"कुञ्जं हन्ति कृशोदरी। अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम्।" साहित्य-दर्पण परि० ७, पृष्ठ ३१९ निर्णयसा० संस्क०, काव्यप्रकाश उल्लास ७। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में लिखा है—"गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते"। इससे स्पष्ट है कि बहुत काल से आर्य गम के अतिरिक्त अन्य गत्यर्थक धातु का प्रयोग नहीं करते।

अपभ्रंश है। अतः संस्कृत की 'रक्ष' धातु का मूल अर्थ 'रक्षा करना' और 'रखना' दोनों हैं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृतभाषा किसी समय अत्यन्त विस्तृत थी। उसका प्रभाव संसार की समस्त भाषाओं पर पड़ा। बहुत से शब्द अपभ्रंश भाषाओं में अभी तक मूल रूप और मूल अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कुछ अल्प विकार को प्राप्त हो गये, कुछ इतने अधिक विकृत हुए कि उनके मूल स्वरूप का निर्धारण करना भी इस समय असम्भव होगया। अतः अपभ्रंश भाषाओं में प्रयुक्त या तत्सम शब्द का संस्कृत के किसी प्राचीन ग्रन्थ में व्यवहार देख कर यह कल्पना करना नितान्त अनुचित है कि यह शब्द किसी अपभ्रंश भाषा से लिया गया है। यदि संसार की मुख्य मुख्य भाषाओं का इस दृष्टि से अध्ययन और आलोचन किया जाय तो उनसे संस्कृत के सहस्रों लुप्त शब्दों का ज्ञान हो सकता है। और उससे सब भाषाओं का संस्कृत से सम्बन्ध भी स्पष्ट ज्ञात हो सकता है।

नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत की संस्कृत छाया

यदि हमारी उपर्युक्त दृष्टि से संस्कृतनाटकान्तर्गत प्राकृत का अध्ययन किया जाय तो उस से निम्न दो बातें अत्यन्त स्पष्ट होती हैं—

१—प्राकृत के आधार पर संस्कृत के शतशः विलुप्त शब्दों का पुनरुद्धार हो सकता है।

२—नाटकान्तर्गत प्राकृत की जो संस्कृत छाया इस समय उपलब्ध होती है वह अनेक स्थानों में प्राकृत से अति दूर है। आधुनिक पण्डित प्राकृत से प्रतीयमान संस्कृत शब्दों का प्रयोग करने में हिचकिचाते हैं, अतः उन स्थानों में प्राकृत से असम्बद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं। हम उदाहरणार्थ भास के नाटकों से कुछ प्रयोग उपस्थित करते हैं—

प्राकृत	मुद्रित संस्कृत	मूल संस्कृत	नाटकचक्र पृष्ठ
अणुकरेदि	अनुकरोति	अनुकरति	२१८
करअन्तः	कुर्वन्तः	करन्तः	३३६
पेक्खामि	पश्यामि	प्रेक्षामि	३३६
पेक्खन्ती	पश्यन्ती	प्रेक्षन्ती	३५७
रोदामि	रोदिमि	रोदामि	१६८
चञ्चलाअन्ति विअ मे अक्खीणि	चञ्चलायेते इव मेऽक्षिणी	चञ्चलायन्ति इव मेऽक्षीणि	१९२

इस प्रकार हमने इस अध्याय में भारतीय इतिहास के अनुसार संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति और उसके विकास तथा ह्रास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। आधुनिक कल्पित भाषाशास्त्र का अधूरापन और उस से उत्पन्न होने वाली भ्रान्तियों का भी कुछ दिग्दर्शन कराया है। आधुनिक भाषाशास्त्र की समीक्षा एक महान् कार्य है, उसके लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। अतः हमने यहां उसकी विस्तार से विवेचना नहीं की। इसी प्रकार संस्कृतभाषा समस्त भाषाओं की प्रकृति है, उसी से समस्त अपभ्रंश भाषाएं प्रवृत्त हुई हैं। इसकी विवेचना करना भी एक स्वतन्त्र विषय है।

हमारे इस प्रकरण को लिखने का मुख्य प्रयोजन यह दर्शाना है कि संस्कृतभाषा में आदि से लेकर आज तक कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। आधुनिक पाश्चात्य भाषाशास्त्री संस्कृतभाषा में जो परिवर्तन दर्शाते हैं, वह परिवर्तन नहीं है। वह केवल प्राचीन अतिविस्तृत संस्कृतभाषा में उत्तरोत्तर शब्दों के संकोच = ह्रास के कारण प्रतीत होता है। वस्तुतः उसमें परिवर्तन कुछ भी नहीं हुआ। इसी प्रकार आधुनिक भाषाशास्त्र के आधार पर की गई संस्कृत वाङ्मय के कालविभाग की कल्पना भी सर्वथा प्रमाणशून्य है। भारतीय इतिहास में अनेक ऋषि ऐसे हैं जिन्होंने वेदों की शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, आयुर्वेद और व्याकरण आदि अनेक विषयों का प्रवचन किया। इन ग्रन्थों में जो भाषा-भेद आपाततः प्रतीत होता है वह रचनाशैली और विषय की विभिन्नता के कारण है। यह बात प्रत्यात्मवेदनीय है। अतः संस्कृतवाङ्मय में काल-विभाग और संस्कृतभाषा में परिवर्तन ये दोनों ही उपपन्न नहीं हो सकते।

अब हम अगले अध्याय में संस्कृतभाषा के व्याकरण की उत्पत्ति और उसकी प्राचीनता पर लिखेंगे।

दूसरा अध्याय

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति और प्राचीनता

ब्रह्मा से लेकर दयानन्द सरस्वती[1] पर्यन्त समस्त भारतीय विद्वानों का मत रहा है कि संसार में जितना ज्ञान प्रवृत्त हुआ उस सब का आदि-मूल वेद है। अत एव स्वायंभुव मनु ने वेद को सर्वज्ञानमय कहा है।[2] मनु आदि महर्षि उसी ज्ञान से संसार को प्रकाश दे रहे थे, अतः वे ऐसा क्यों न कहते।

व्याकरण का आदिमूल

इस सिद्धान्तानुसार व्याकरणशास्त्र का आदि मूल भी वेद है। वैदिक मन्त्रों में अनेक पदों की व्युत्पत्तियां उपलब्ध होती हैं। वे इस सिद्धान्त की पोषक हैं। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त[3] देवाः। ऋ० १।१६४।५० ॥
ये सहांसि सहसा सहन्ते[4]। ऋ० ६।६६।९ ॥
पूर्वीरश्नन्तावश्विना[5]। ऋ० ८।५।३१ ॥
स्तोतृभ्यो मंहते[6] मघम्। ऋ० १।११।३ ॥
धान्यमसि धिनुहि[7] देवान् यजु० १।२०॥

---

1. We may divide the whole of Sanskrit literature, beginning with the Rig-Veda ending with Dayananda's Introduction to his edition of the Rig-Veda India what can it teach us, Lecture III of Max mular.

२. सर्वज्ञानमयो हि सः। मनु० २।७। मेधातिथि की टीका ॥

३. यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। निरु० ३।१९॥ यजयाचयत विच्छप्रच्छरक्षो नङ्। अष्टा० ३।३।९०॥

४. सहधातोः 'असुन्' (द० उ० ९।४९॥ पं० उ० ४।१९४) इत्यसुन्।

५. अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्। निरु० १२।१॥

६. मघमिति धननामधेयम्, मंहतेर्दानकर्मणः। निरु० १।७॥

७. धिनोतेर्धान्यम्। महाभाष्य ५।२।४॥

केतपूः केतं नः पुनातु[1] । यजु० ११ । ७ ॥

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते[2] सदा । साम० उ० ५।२।८।५॥

तीर्थैस्तरन्ति[3] । अथर्व १८ । ४ । ७ ॥

यदद: सं प्रयतीरहावनदता[4] हते । तस्माद् नद्यो नाम स्थ । अथर्व० ३।१३।१॥

तदाप्नो[5]दिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठन । अथर्व० ३।१३।२॥

शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य पतञ्जलि मुनि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का वर्णन करते हुए **चत्वारि शृङ्गा,[6] चत्वारि वाक्[7] उत त्वः,[8] सक्तुमिव,[9] सुदेवोऽसि[10]** ये पांच मन्त्र उद्धृत किये हैं,[11] और उनकी व्याख्या व्याकरणशास्त्रपरक की है। पतञ्जलि से बहुत प्राचीन यास्क ने भी **चत्वारि वाक्[12]** मन्त्र की व्याख्या व्याकरणशास्त्रपरक लिखी है।[13] व्याकरण पद जिस धातु से निष्पन्न होता है उसका मूल-अर्थ में प्रयोग यजुर्वेद १९। ७७ में उपलब्ध होता है।[14]

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति कब हुई इसका उत्तर अत्यन्त दुष्कर है। हां, इतना कहा जा सकता है कि उपलब्ध वैदिक पदपाठों की रचना से पूर्व व्याकरणशास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। प्रकृति-

---

१. केतूपपदात् पुनातेः 'क्विप् च' (अष्टा० ३।२।७६) इति क्विप्।

२. पवित्रं पुनातेः। निरु० ५।६॥ पुनाते ष्ट्रन्। द्र० अष्टा० ३।२।१८५,१८६॥

३. पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्। पं० उणादि २।७॥

४. नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः। निरु० २।२४॥

५. आप आप्नोतेः। निरु० ९।२६॥ आप्नोतेर्ह्रस्वश्च। पं० उ० २।५८॥

६. ऋ० ४।५८।३॥ ७. ऋ० १।१६४।४५॥

८. ऋ० १०।७१।४॥ ९. ऋ० १०।७१।२॥

१०. ऋ० ८।६९।१२॥ ११. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥

१२. ऋ० १।१६४।४५॥

१३. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। निरु० १३।९॥

१४. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।

प्रत्यय,[१] धातु-उपसर्ग,[२] और समासघटित पूर्वोत्तरपदों[३] का विभाग पूर्णतया निर्धारित हो चुका था। वाल्मीकीय रामायण से विदित होता है कि महाराज राम के काल में व्याकरणशास्त्र का सुव्यवस्थित पठनपाठन होता था।[४] भारत-युद्ध के समकालिक यास्कीय निरुक्त में व्याकरणप्रवक्ता अनेक वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है।[५] समस्त नाम शब्दों की धातुओं से निष्पत्ति दर्शाने वाला मूर्धाभिषिक्त शाकटायन व्याकरण भी यास्क से पूर्व बन चुका था।[६] महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के लेखानुसार अत्यन्त पुराकाल में व्याकरणशास्त्र का पठनपाठन प्रचलित था।[७] इन प्रमाणों से इतना सुव्यक्त है कि व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में हो गई थी। हमारा विचार है त्रेता युग के आरम्भ में व्याकरणशास्त्र ग्रन्थ रूप में सुव्यवस्थित हो चुका था।

व्याकरण शब्द की प्राचीनता

शब्दशास्त्र के लिये व्याकरण शब्द का प्रयोग रामायण[८], गोपथ ब्राह्मण[९], मुण्डकोपनिषद्[१०] और महाभारत[११] आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

---

१. वाजिनीऽवती। ऋ० पद० १। ३। १० ॥ अस्तऽभिः। ऋ० पद० १। ८। ४ माहिऽत्वम्। ऋ० पद० १। ८। ५ ॥

२. सम्ऽजग्मानः। ऋ० पद० १। ६। ७ ॥ प्रऽतिरन्ते। ऋ० पद० १। ११३। १६ ॥ प्रतिऽहर्यते। ऋ० पद० ८। ४३। २ ॥

३. रुद्रवर्तनी इति रुद्रऽवर्तनी। ऋ० पद० १। ३। ३ ॥ पतिऽलोकम्। ऋ० पद० १०। ८५। ४३ ॥

४. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम् ॥ किष्किन्धा० ३। २९ ॥

५. न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। निरु० १। १२ ॥

६. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरु० १।१२॥

७. पुराकल्प एतदासीत्, संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १ ॥

८. रामायण किष्किन्धा० ३। २९ ॥ ९. गो० ब्रा० पू० १। २४ ॥

१०. मुण्डको० १। १ ॥ ११. सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते। तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ॥ महाभारत उद्योग० ४३। ६१ ॥

षडङ्गशब्द से व्याकरण का निर्देश

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन ६ वेदाङ्गों का षडङ्ग शब्द से निर्देश गोपथब्राह्मण[1], बौधायन आदि धर्मशास्त्र[2] और रामायण[3] आदि में प्रायः मिलता है। पतञ्जलि मुनि ने भी '**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**' यह आगमवचन[4] उद्धृत किया है।[5] ब्राह्मणग्रन्थों में षडङ्ग शब्द से कहीं कहीं आत्मा का भी ग्रहण होता है।[6]

व्याकरणान्तर्गत कतिपय संज्ञाओं की प्राचीनता

इस प्रकार न केवल व्याकरणशास्त्र की प्राचीनता सिद्ध होती है, अपितु पाणिनीयतन्त्र में स्मृत अनेक अन्वर्थ संज्ञाएं भी अति प्राचीन प्रतीत होती हैं। उन में से कुछ संज्ञाओं का निर्देश गोपथ ब्राह्मण में मिलता है। यथा—

ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः, उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्……।७

व्याकरणशास्त्र की प्राचीनता के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि मूलवेदातिरिक्त जितना भारतीय वैदिक वाङ्मय उपलब्ध है उस में व्याकरणशास्त्र का उल्लेख मिलता है। अतः यह सुव्यक्त है कि वर्तमान में

---

१. षडङ्गविदस्तत् तथाधीमहे। गो० ब्रा० पू० १। २७॥

२. बौधा० धर्म० २।१४२॥ गौतम धर्म० १५।२८॥

३. नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नाबहुश्रुतः। रामा० बाल० ७।१५॥

४. आगमो वेद इति वैयाकरणाः। शिवरामेन्द्रकृत महाभाष्यटीका पत्रा ५, सरस्वतीभवन काशी का हस्तलेख। स्मृतिरिति मीमांसकाः। तन्त्रवार्तिक पूना संस्क० पृष्ठ २६५ पं० १२। न्यायसुधा पृष्ठ २८४ पं० ६।

५. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥

६. षड्विधो वै पुरुषः षडङ्गः। ऐ० ब्रा० २।१६॥ षडङ्गोऽयमात्मा षड्विधः। शां० ब्रा० १३।१॥

७. गो० ब्रा० पू० १।२४॥

उपलब्ध समस्त आर्ष वैदिक वाङ्मय की रचना से पूर्व व्याकरणशास्त्र पूर्णतया सुव्यवस्थित बन चुका था, और वह पठन पाठन में व्यवहृत होने लग गया था।

व्याकरण का प्रथम प्रवक्ता—ब्रह्मा

भारतीय ऐतिह्य में सब विद्याओं का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा कहा गया है।[1] यह एक निश्चित सत्य तथ्य है। तदनुसार व्याकरणशास्त्र का आदि प्रवक्ता भी ब्रह्मा है। ऋक्तन्त्रकार ने लिखा है—

ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।[2]

इस वचनानुसार व्याकरण के एकदेश अक्षरसमाम्नाय का सर्वप्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा है। भारतीय ऐतिह्यानुसार ब्रह्मा इस कल्प के विगत जल-प्लावन के पश्चात् हुआ था। तत्पश्चात् यह नाम उपाधिरूप में यद्यपि अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ, तथापि सर्वविद्याओं का आदि प्रवक्ता प्रथम ब्रह्मा ही है, और वह निश्चित ऐतिहासिक व्यक्ति है।

द्वितीय प्रवक्ता—बृहस्पति

ऋक्तन्त्र के उपर्युक्त वचन के अनुसार व्याकरणशास्त्र का द्वितीय प्रवक्ता बृहस्पति है। अङ्गिरा का पुत्र होने से यह आङ्गिरस नाम से प्रसिद्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे देवों का पुरोहित लिखा है।[3] कोश ग्रन्थों में इसे सुराचार्य कहा है।

बृहस्पति ने एक अर्थशास्त्र रचा था।[4] इस के मत और वचन कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार और याज्ञवल्क्य स्मृति की बालक्रीड़ा टीका में बहुधा उद्धृत हैं। सम्प्रति उपलभ्यमान बार्हस्पत्य सूत्र किसी अन्य बृहस्पति की रचना है। वायुपुराण १०३। ५९ के अनुसार बृहस्पति ने इतिहास पुराण का प्रवचन किया था। और उसने एक अगदतन्त्र भी लिखा था।[5]

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ६ की टि० २। २. ऋक्तन्त्र १।४॥

३. बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः। ऐ० ब्रा० ८।२६॥

४. बृहस्पतिरर्थाधिकारिकम्। वात्स्या० कामसूत्र १।१७॥

५. अष्टाङ्गहृदय, निर्णयसागर मुद्रित, षष्ठावृत्ति, वाग्भट-विमर्श, पृष्ठ १८।

व्याकरण का आदि संस्कर्त्ता—इन्द्र

पातञ्जल महाभाष्य से विदित होता है कि बृहस्पति[1] ने इन्द्र के लिये प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया।[2] उस समय तक लक्षणों का निर्माण नहीं हुआ था। प्रथमतः इन्द्र ने शब्दोपदेश की प्रतिपदपाठ-रूपी प्रक्रिया की दुरूहता को समझा, और उसने पदों के प्रकृति प्रत्यय आदि विभाग-द्वारा शब्दोपदेश प्रक्रिया की कल्पना की। इसका साक्ष्य तैत्तिरीय-संहिता ६।४।७ में मिलता है—

वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति। ....तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।[3]

इस की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—

तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।[4]

अर्थात्—वाणी पुराकाल में अव्याकृत (=व्याकरण संबन्धी प्रकृति प्रत्ययादि संस्कार से रहित अखण्ड पदरूप) बोली जाती थी। देवों ने [अपने राजा] इन्द्र से कहा इस वाणी को व्याकृत (=प्रकृतिप्रत्ययादि-संस्कार से युक्त) करो। ....इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़ कर व्याकृत (=प्रकृतिप्रत्ययादिसंस्कार से युक्त) किया।

व्याकरण का बहुविध प्रवचन

पूर्व लेख से विस्पष्ट है कि व्याकरणवाङ्मय में ऐन्द्र तन्त्र सब से प्राचीन है। तदनन्तर अनेक वैयाकरणों ने व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया। उन के प्रवचनभेद से अनेक व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई।

---

१. यही बृहस्पति देवों का पुरोहित था। इसने अर्थशास्त्र की रचना की थी। यह चक्रवर्ती मरुत्त से पहले हुआ था। महाभारत शान्ति० ५७।१॥

२. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥ तुलना करो—दिव्यं वर्षसहस्रमिन्द्रो बृहस्पतेः सकाशात् प्रतिपदपाठेन शब्दान् पठन् नान्तं जगामेति। प्रक्रियाकौमुदी भाग १, पृष्ठ ७। सम्भवतः यह पाठ महाभाष्य से भिन्न ग्रन्थ से उद्धृत किया है।

३. तुलना करो—मै० सं० ४।५।८॥ का० सं० २७।३॥ कपि० सं० ४२।३॥ स (इन्द्रो) वाचैव वाचं व्यावर्तयद्। मै० सं० ४।१५।८॥

४. सायण ऋग्भाष्य उपोद्घात, पूना संस्क० भा० १, पृष्ठ २६॥

पाणिनि से प्राचीन ८० व्याकरण-प्रवक्ता

इन्द्र से लेकर आज तक कितने व्याकरण बने यह अज्ञात है। पाणिनि ने अपने शास्त्र में १० प्राचीन आचार्यों का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया है[1]। इन के अतिरिक्त पाणिनि से प्राचीन १३ आचार्यों का उल्लेख विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। ८ प्रातिशाख्य और ७ अन्य वैदिक व्याकरण उपलब्ध या ज्ञात हैं। इन प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में ५७ प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि किन्हीं प्रातिशाख्यों में शिक्षा तथा छन्द का समावेश उपलब्ध होता है, तथापि प्रातिशाख्यों को वैदिक व्याकरण कहा जा सकता है। अतः प्रातिशाख्यग्रन्थों में स्मृत आचार्य भी अवश्य ही व्याकरणप्रवक्ता रहे होंगे। उनकी व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों में गणना करने पर पुनरुक्त नामों को छोड़कर लगभग ८० अस्सी प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों के नाम हमें ज्ञात हैं। परन्तु इस ग्रन्थ में हम केवल उन्हीं आचार्यों का उल्लेख करेंगे जो पाणिनीय अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट हैं, तथा जिन के व्याकरणप्रवक्ता होने में अन्य सुदृढ़ प्रमाण मिलते हैं। प्रातिशाख्यों में निर्दिष्ट आचार्यों का केवल नामोल्लेख रहेगा, विशेष वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया जायगा।

आठ व्याकरण-प्रवक्ता

अर्वाचीन ग्रन्थकार प्रधानतया आठ शाब्दिकों का उल्लेख करते हैं।[2] वोपदेव ने अपने कविकल्पद्रुम ग्रन्थ के आरम्भ में निम्न आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है।

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

इन में शाकटायन पद से अर्वाचीन जैन शाकटायन अभिप्रेत है या प्राचीन वैदिक शाकटायन, यह अस्पष्ट है। भोजविरचित सरस्वतीकण्ठा-

१. आपिशलि (अ० ६।१।९२), काश्यप (अ० १।२।२५), गार्ग्य (अ० ८।३।२०।), गालव (अ० ७।१।७४), चाक्रवर्मण (अ० ६।१।१३०), भारद्वाज (अ० ७।२।६३), शाकटायन (अ० ३।४।१११), शाकल्य (अ० १।१।१६), सेनक (अ० ५।४।११२), स्फोटायन (अ० ६।१।१२३)।

२. व्याकरणमष्टप्रभेदम्। दुर्ग निरुक्तवृत्ति पृष्ठ ७४। व्याकरणेऽप्यष्टधा भिन्ने कस्मिन्नेकदेशो विक्षिप्तः। दुर्ग निरुक्त वृत्ति पृष्ठ ७८।

भरण की एक टीका में भी 'अष्ट व्याकरण' का उल्लेख है।[1] भास्कराचार्य प्रणीत लीलावती के किसी किसी हस्तलेख के अन्त में आठ व्याकरण पढ़ने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[2] विक्रम की षष्ठ-शताब्दी या उससे पूर्वभावी निरुक्तवृत्तिकार दुर्गाचार्य "व्याकरणमष्टप्रभेदम्"[3] इतना ही संकेत करता है। उसके मत में वे आठ व्याकरण कौन से थे यह अज्ञात है। पूर्वोक्त इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, पाणिनि, अमर और जैनेन्द्र = पूज्यपाद = देवनन्दी विरचित ये सात व्याकरण उसके मत में भी माने जा सकते हैं।[4] आठवां यदि शाकटायन को मानें तो निश्चय ही वह पाणिनि से पूर्वभावी वैदिक शाकटायन होगा, क्योंकि अर्वाचीन जैन शाकटायन का काल विक्रम की ८ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।[5]

अमर शब्द से सम्भवतः नामलिङ्गानुशासन का कर्ता अमरसिंह अभिप्रेत है। अमरसिंहकृत शब्दानुशासन का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। लौकिकी किंवदन्ती से इतना ज्ञात होता है कि अमरसिंह महाभाष्य का प्रकाण्ड पण्डित था।[6] कुछ वर्ष हुए पञ्जाब प्रान्तीय जैन पुस्तकभण्डारों का एक सूचीपत्र पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर से प्रकाशित हुआ है। उसके भाग १ पृष्ठ १३ पर अमरसिंहकृत उणादिवृत्ति का उल्लेख है। यह अमरसिंह नामलिंगानुशासनकार है या भिन्न व्यक्ति, यह अभी अज्ञात है।

नव व्याकरण

रामायण उत्तरकाण्ड ३६। ४७ में नव व्याकरण का उल्लेख

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण दूजा प्रकरण प्रारम्भ............सा च पाणिन्यादि अष्टव्याकरणोदित............। भारतीय विद्या, वर्ष ३, अंक १, पृष्ठ २३२ में उद्धृत।

२. अष्टौ व्याकरणानि षट् च भिषजां व्याचष्ट ताः संहिताः... ....।

३ पृष्ठ ७४।

४. पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे ने शतपथ भाष्यकार हरिस्वामी को वैक्रमाब्द प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालिक सिद्ध किया है। देखो ग्वालियर से प्रकाशित विक्रम-द्विसहस्राब्दी स्मारक ग्रन्थ। तदनुसार आचार्य दुर्ग को विक्रम पूर्व मानना होगा। क्योंकि हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्तटीका के प्रारम्भ में दुर्गाचार्य का आदरपूर्वक स्मरण किया है। ऐसी अवस्था में दुर्गाचार्य ने किन आठ व्याकरणों की ओर संकेत किया है यह बताना कठिन है।

५. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १६०।

६. अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्।

है।[1] महाराज राम के काल में अनेक व्याकरण विद्यमान थे, इसका निर्देश रामायण किष्किन्धा काण्ड २। २९ में मिलता है।[2] भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के संग्रह में गीतासार नामक ग्रन्थ का एक हस्तलेख है, उसमें भी नवव्याकरण का उल्लेख है।[3] इस ग्रन्थ का काल अज्ञात है। श्रीतत्त्व-विधि नामक वैष्णव ग्रन्थ में निम्न नौ वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्॥

रामायणकाल में कौन से नौ व्याकरण विद्यमान थे यह अज्ञात है।[4]

पांच व्याकरण

काशिका वृत्ति ४। २। ६० में पांच व्याकरणों का उल्लेख मिलता है[5] परन्तु उसमें अथवा उसकी टीकाओं में उनके नाम निर्दिष्ट नहीं हैं।

व्याकरण-शास्त्रों के तीन विभाग

आज तक जितने व्याकरणशास्त्र बने हैं, उनको हम तीन विभागों में बांट सकते हैं। यथा—

१. छान्दसमात्र—प्रातिशाख्यादि।
२. लौकिकमात्र— कातन्त्रादि।
३. लौकिक वैदिक उभयविध—आपिशल, पाणिनीयादि।

इन में लौकिक व्याकरण के जितने ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे सब पाणिनि से अर्वाचीन हैं।

व्याकरणप्रवक्ताओं के दो विभाग

इस समय हमें जितने व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों का ज्ञान है, उन्हें हम दो भागों में बांट सकते हैं।

१. पाणिनि से प्राचीन। २. पाणिनि से अर्वाचीन।

---

१. सोऽयं नवव्याकरणार्थवेत्ता। मद्रास ला जर्नल प्रेस १९३३ का संस्क०।

२. देखो पूर्व पृष्ठ ४४ टिप्पणी ४।

३. गीतासारमिदं शास्त्रं गीतासारसमुद्भवम्। अत्र स्थितं ब्रह्मज्ञानं वेदशास्त्र-समुच्चयम्॥ ५५॥ अष्टादश पुराणानि नव व्याकरणानि च। निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारतं कृतम्॥ ५७॥ हस्तलेख नं० १६४, सन् १८८३—८४

४. व्याक० द० इ० पृष्ठ ४३७।

५. पञ्चव्याकरणः।

पाणिनि से प्राचीन आचार्य

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन इन दश शाब्दिकों का उल्लेख किया है।[1] इन से अतिरिक्त इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, काशकृत्स्न, रौढि, चारायण, माध्यन्दिनि, वैयाघ्रपद्य, शौनकि, गौतम और व्याडि इन तेरह आचार्यों का उल्लेख अन्यत्र मिलता है।

प्रातिशाख्य आदि वैदिक व्याकरणप्रवक्ता

प्रातिशाख्य—यद्यपि प्रातिशाख्य तत् तत् चरणों के व्याकरण हैं[2] तथापि उन में मन्त्रों के संहिता पाठ में होने वाले विकारों का प्रधानतया उल्लेख है। प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा पद साधुत्व का अनुशासन उन में नहीं है। अतः उनकी गणना प्रधानतया शब्दानुशासन ग्रन्थों में नहीं की जासकती। इस समय निम्न प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

१. ऋक्प्रातिशाख्य—शौनककृत।

२. वाजसनेय प्रातिशाख्य—कात्यायनकृत।

३. सामप्रातिशाख्य (पुष्प या फुल्ल सूत्र)—वररुचिकृत[3] ?

४. अथर्वप्रातिशाख्य—........।

५. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य—........।

६. मैत्रायणीयप्रातिशाख्य........।

इन के अतिरिक्त दो प्रातिशाख्यों के नाम प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं—

७. आश्वलायनप्रातिशाख्य[4]........।

८. चारायणप्रातिशाख्य[5] ....।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ४८ टि० १।

२. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरु० १। १७॥

३. वन्दे वररुचिं नित्यमूहाब्धेः पारदृश्वनम्। पोतो विनिर्मितो येन फुल्लसूत्रशतैरलम्। हरदत्तविरचित सामवेदसर्वानुक्रमणी, ऋक्तन्त्र के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ ७।

४. यह प्रातिशाख्य अप्राप्य है। नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यासिद्धम्। वाज० प्रा० अनन्तभाष्य, मद्रास संस्क० पृष्ठ ४।

५. यह प्रातिशाख्य अप्राप्य है। देवपालविरचित लौगाक्षिगृह्यभाष्य में यह उद्धृत है—"तथा च चारायणिसूत्रम् 'पुरुकृते च्छच्छ्योः' इति पुरुशब्दः कृतशब्दश्च

ऋक्प्रातिशाख्य निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है, अन्य प्रातिशाख्यों के विषय में हम अभी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते।

अन्य वैदिक व्याकरण—प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त तत्सदृश अन्य निम्ननिर्दिष्ट वैदिक व्याकरण उपलब्ध होते हैं—

१. ऋक्तन्त्र[1]—शाकटायन या औदव्रजि प्रणीत।[2]
२. लघु ऋक्तन्त्र ......।
३. अथर्वचतुरध्यायी—शौनक या कौत्स प्रणीत।[3]
४. प्रतिज्ञासूत्र—कात्यायनकृत।
५. भाषिकसूत्र—कात्यायनकृत।
६. सामतन्त्र—औदव्रजि या गार्ग्य कृत[4] ?
७. अक्षरतन्त्र—आपिशलि कृत।

इन में से प्रथम पांच ग्रन्थों में प्रातिशाख्यवत् प्रायः वैदिकस्वरादि कार्यों

लुप्यते यथासंख्यं छे छ् परतः। पुरु छदनं पुच्छम्, कृतस्य छामिति"। ४।१॥ पृष्ठ १०१, १०२।

१. ऋक्तन्त्र का संबन्ध सामवेदीय राणायनीय शाखा से है। "राणायनीयानामृक्तन्त्रे प्रसिद्धा विसर्जनीयस्य अभिनिष्ठानाख्या इति। गोभिलगृह्य भट्ट नारायणभाष्य २।८।४॥

२. ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि—इदमक्षरं छन्दो....। नागेश, लघुशब्देन्दुशेखर, भाग १, पृष्ठ ७। ऋचां तन्त्रव्याकरणे पञ्च संख्याप्रपाठकम्। शाकटायनदेवेन द्वात्रिंशत खण्डकाः स्मृताः। हरदत्तकृत साममर्वानुक्रमणी, ऋक्तन्त्र के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ ३। तथा ऋक्तन्त्रव्याकरणस्य छान्दोग्यलक्षणस्य प्रणेता औदव्रजिरप्यसूत्रयत....। शब्दकौस्तुभ १।१।८॥ अनन्तसंयोगमध्ये यमः पूर्वगुणः (ऋक्तन्त्र १।२) इत्यौदव्रजिरपि। पाणिनीय शिक्षा की शिक्षाप्रकाश टीका, शिक्षासंग्रह पृष्ठ ३८८ इत्यादि।

३. ह्विटनी के हस्तलेख के अन्त में शौनक का नाम है। बालशास्त्री गदरे ग्वालियर के संग्रह से प्राप्त चतुरध्यायी के हस्तलेख के प्रत्येक अध्याय के अन्त में—"इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां......." पाठ उपलब्ध होता है। यह हस्तलेख अब ओरियण्टल मैनस्क्रुप्ट्स लायब्रेरी उज्जैन में सुरक्षित है। देखो—न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, सितम्बर १९३८ में पं० सदाशिव एल० कात्रे का लेख।

४. सामतन्त्रं प्रवक्ष्यामि सुखार्थं सामवेदिनाम्। औदव्रजिकृतं सूक्ष्मं सामगानां सुखावहम्॥ हरदत्तविरचित सामवेदसर्वानुक्रमणी पृष्ठ ४। सामतन्त्रं तु गार्ग्येणेत्येव वयमुपदिष्टा प्रामाणिकैरिति सत्यव्रतः। अक्षरतन्त्र पृ० २।

का उल्लेख है। अन्तिम दो ग्रन्थों में सामगान के नियमों का वर्णन है। अतः इन्हें भी मुख्यतया व्याकरण ग्रन्थ नहीं कह सकते।

प्रातिशाख्य आदि में उद्धृत आचार्य

इन प्रातिशाख्य आदि वैदिक ग्रन्थों में निम्न आचार्यों का उल्लेख मिलता है—

१. अग्निवेश्य[1]—तै० प्रा० ९।४॥ मै० प्रा० ९।४॥
२. अग्निवेश्यायन—तै० प्रा० १४।३२॥ मै० प्रा० २।१४।३२॥
३. अन्यतरेय—ऋ० प्रा० ३।२२॥
४. आगस्त्य—ऋ० प्रा० वर्ग १।२॥
५. आत्रेय—तै० प्रा० ५।३१॥१७।८॥ मै० प्रा० ५।३३॥२।५॥६।८॥
६. इन्द्र—ऋक्तन्त्र १।४॥
७. उख्य—तै० प्रा० ८।२२॥ १०।२०॥ १६।२३॥ मै० प्रा० ८।२१॥ १०।२१॥२। ४।२५॥
८. उत्तमोत्तरीय—तै० प्रा० ८।२०॥
९. औदव्रजि[2]—ऋक्तन्त्र २।६।१०॥
१०. औपशवि—वाज० प्रा० ३।१३१॥ भाषिकसूत्र २।२०,२२ ॥
११. काण्डमायन—तै० प्रा० ९।१॥ १५।७॥ मै० प्रा० ९।१॥ २।३।७॥
१२. कात्यायन—वाज० प्रा० ८।५३॥
१३. काण्व—वाज० प्रा० १।१२३,१४९ ॥
१४. काश्यप—वाज० प्रा० ४।५॥ ८।५०॥
१५. कौण्डिन्य[3]—तै० प्रा० ५।३८॥ १८।३॥१९।२॥ मै० प्रा० ५।४०॥ २।५।४॥ २।६।३॥ २।६।९॥
१६. कौहलीपुत्र—तै० प्रा० १७।२॥ मै० प्रा० २।५।२॥
१७. गार्ग्य—ऋ० प्रा० १।१५॥ ६।३६॥ ११।१७,२६॥ १३।३१॥ वाज० प्रा० ४।१६७॥
१८. गौतम—तै० प्रा० ५।३८॥ मै० प्रा० ५।४०॥
१९. जातूकर्ण्य—वाज० प्रा० ४।१२५, १६०॥ ५।२२॥

---

१. अग्निवेश्य का गृह्यसूत्र छप गया है।

२. नारदीय शिक्षा में "प्राचीनौदव्रजि" का उल्लेख मिलता है। देखो शिक्षासंग्रह पृष्ठ ४४३।

३. देखो स्थविर कौण्डिन्य नाम।

२०. दाल्भ्य—वाज० प्रा० ४।१६॥
२१. नैगी—ऋक्तन्त्र २।६।९॥ ४।३।२॥
२२. पश्चाल—ऋ० प्रा० २।३३॥
२३. पाणिनि—लघु ऋक्तन्त्र, पृष्ठ ४६॥
२४. पौष्करसादि—तै० प्रा० ५।३७, ३८॥ १३।१६॥ १४।२॥ १७।६॥ मै० प्रा० ५।३९,४०॥ २।१।१६॥ २।५।६॥
२५. प्राच्यपश्चाल—ऋ० प्रा० २।३३,८१॥
२६. प्लाक्षायण—तै० प्रा० ९।६॥ १४।११,१७॥ १८।५॥ मै० प्रा० ९।६॥ २।६।२,३॥
२७. प्लाक्षि—तै० प्रा० ५।३८॥ ९।६॥१४।१०,१७॥ १८।५॥ मै० प्रा० ५।४०॥ ९।६॥२।६॥
२८. बाभ्रव्य—ऋ० प्रा० ११।६५॥
२९. बृहस्पति—ऋक्तन्त्र १।४॥
३०. ब्र[illegible]ग—ऋक्तन्त्र १।४॥
३१. भरद्वा[illegible]—ऋक्तन्त्र १।४॥
३२. भारद्वाज—तै० प्रा० १७।३॥ मै० प्रा० २।५।२॥ भाषिकसूत्र २।१९॥ ३।९॥
३३. मा[illegible]व्य—ऋ० प्रा० वर्ग १।२॥
३४. म[illegible]चाकीय—तै० प्रा० १०।२२॥
३५. माण्डूकेय—ऋ० प्रा० वर्ग १।२॥ ३।१४॥
३६. माध्यन्दिन—वा० प्रा० ८।३५॥
३७. मीमांसक—तै० प्रा० ५।४१॥
३८. यास्क—ऋ० प्रा० १७।४२॥
३९. वाडवीकर—तै० प्रा० १४।१३॥
४०. वात्सप्र—तै० प्रा० १०।२३॥ मै० प्रा० १०।२३ ॥
४१. वाल्मीकि—तै० प्रा० ५।३६॥ १८।६॥ मै० प्रा० ५।३८॥ २।६॥ २।३०॥ ९।४॥
४२. वेदमित्र—ऋ० प्रा० १।५१॥
४३. व्याडि—ऋ० प्रा० ३।२३, २८॥ ६।४३॥ १३।३१, ३७॥
४४. शाकटायन—ऋ० प्रा० १।१६॥ १३।३९॥ वाज० प्रा० ३।९, १२,८८॥ ४।५,१२९,१९१॥ शौ० च० २।२४॥ ऋक्तन्त्र १।१॥

४५. शाकल (= शाकल्य के अनुयायी)—ऋ० प्रा० १।६४॥ ११। १९, ६२॥
४६. शाकल्य—ऋ० प्रा० ३।१३,२२॥ ४।१३॥ १३।३१॥ वाज० प्रा० ३।१०॥
४७. शाकल्यपिता—ऋ० प्रा० ४।४॥
४८. शाङ्खमित्रि—शौ० च० ३।७४॥
४९. शाङ्खायन—तै० प्रा० १५।७॥ मै० प्रा० २।३।७॥
५०. शूरवीर—ऋ० प्रा० वर्ग १।३॥
५१. शूरवीर-सुत—ऋ० प्रा० वर्ग १।३॥
५२. शैत्यायन—तै० प्रा० ५।४०॥१७।१,८॥१८।२॥ मै० प्रा० २।५।१॥ २।५।६॥२।६।२,३॥
५३. शौनक—ऋ० प्रा० वर्ग १।१॥ वा० प्रा० ४।१२२॥ अथ० प्रा० १।२॥ शौ० च० १।८॥ २।२४॥
५४. स्थविर कौण्डिन्य—तै० प्रा० १७।४॥[1]
५५. स्थविर शाकल्य—ऋ० प्रा० २।८१॥
५६. सांकृत्य—तै० प्रा० ८।२०॥ १०।२१॥ १५।१६॥ मै० प्रा० ८।२०॥ १०।२०॥ २।४।१७॥
५७. हारीत—तै० प्रा० १४।१८॥

इन ५७ आचार्यों में अनेक आचार्य व्याकरण शास्त्र के प्रवक्ता रहे होंगे। इस ग्रन्थ में इन में से केवल १० आचार्यों का उल्लेख किया है। शेष आचार्यों के विषय में अन्य सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध न होने से कुछ नहीं लिखा।

पाणिनि से अर्वाचीन आचार्य

पाणिनि से अर्वाचीन अनेक आचार्यों ने व्याकरणसूत्र रचे हैं। उन में से निम्न आचार्य प्रधान हैं—

१.	कातन्त्र	(१५०० वि० पू०)
२. चन्द्रगोमी	चान्द्र	(१००० वि० पू०)
३. क्षपणक	क्षपणक	(वि० १ ली शताब्दी)
४. देवनन्दी (दिग्वस्त्र)	जैनेन्द्र	(सं० ५००–५५०)

१ तै० प्रा० ५।४० के माहिषेय भाष्य में भी यह उद्धृत है।

५. वामन	विश्रान्तविद्याधर	(सं० ६०० के लगभग)
६. पाल्यकीर्ति	जैन शाकटायन	(सं० ८७१–९२४)
७. शिवस्वामी	....	(सं० ९१४–९४०)
८. भोजदेव	सरस्वतीकण्ठाभरण	(सं० १०७५–१११०)
९. बुद्धिसागर	बुद्धिसागर	(सं० १०८०)
१०. हेमचन्द्र	हैमव्याकरण	(सं० ११४५–१२२०)
११. भद्रेश्वरसूरि	दीपक	(सं० १२०० से पूर्व)
१२. अनुभूतिस्वरूप	सारस्वत	(सं० १३००)
१३. बोपदेव	मुग्धबोध	(सं० १३००–१३५०)
१४. क्रमदीश्वर	जौमार	(वि० १३ वीं शताब्दी)
१५. पद्मनाभ	सुपद्म	(वि० १४ वीं शताब्दी)

इन से अतिरिक्त भी कुछ अति अर्वाचीन व्याकरणकर्ता हुए हैं, उन के ग्रन्थ अप्रसिद्ध हैं। अतः उनका वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया जायगा।

अब अगले अध्याय में पाणिनीय-तन्त्र में अनुल्लिखित तथा पाणिनि से प्राचीन आचार्यों के विषय में लिखेंगे।

तीसरा अध्याय

पाणिनीयाष्टक में अनुल्लिखित प्राचीन आचार्य

१—इन्द्र (८५०० वि० पू०)

तैत्तिरीय संहिता ६।४।७ के प्रमाण से हम पूर्व लिख चुके हैं[1] कि देवों की प्रार्थना पर देवराज इन्द्र ने सर्वप्रथम व्याकरणशास्त्र की रचना की। उस से पूर्व संस्कृत भाषा अव्याकृत = व्याकरण-संबन्ध-रहित थी। इन्द्र ने सर्व प्रथम प्रतिपद प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की कल्पना करके शब्दोपदेश की प्रक्रिया प्रचलित की।

परिचय

वंश—इन्द्र के पिता का नाम कश्यप प्रजापति था और माता का नाम अदिति। अदिति दक्ष प्रजापति की कन्या थी। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र १।८ में बाहुदन्ती-पुत्र का मत उद्धृत किया है। प्राचीन टीकाकारों के मतानुसार बाहुदन्ती-पुत्र का अर्थ इन्द्र है। क्या अदिति का नामान्तर बाहुदन्ती भी था?

भ्राता—महाभारत[2] तथा पुराणों[3] में इन्द्र के ग्यारह सहोदर कहे हैं। वे सब अदिति की सन्तान होने से आदित्य कहाते हैं। उनके नाम हैं—धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश (अंशुमान्), भग, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा और विष्णु।[4] इनमें विष्णु सबसे कनिष्ठ है। अग्नि और सोम भी इन्द्र के भाई हैं, परन्तु सहोदर नहीं।

आचार्य—इन्द्र के चार आचार्य थे—प्रजापति, बृहस्पति, अश्विनी कुमार और मृत्यु अर्थात् यम। छान्दोग्य उपनिषद् ८।७—११ में लिखा है कि इन्द्र ने प्रजापति से आत्मज्ञान सीखा था। श्लोकवार्तिक के टीकाकार पार्थसारथिमिश्र द्वारा उद्धृत पुरातन वचन के अनुसार इन्द्र ने प्रजापति से मीमांसशास्त्र पढ़ा था।[5] गोपथ ब्राह्मण १।१।२५ में इन्द्र और

---

१. पूर्व पृष्ठ ४७। २. आदिपर्व ६६।१५, १६॥ ३. भविष्य, मा० प० ७८।५३॥

४. इन में से आठ आदित्यों के नाम ताण्ड्य ब्राह्मण २४।१२।४ में लिखे हैं।

५. तद्यथा ब्रह्मा प्रजापतये प्रोवाच, सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यादित्याय। पृष्ठ ८, काशी सं०।

प्रजापति का संवाद है। इन तीनों स्थानों में उल्लिखित प्रजापति कौन है यह अज्ञात है। बहुत सम्भव है वह कश्यप प्रजापति हो। ऋक्तन्त्र के अनुसार इन्द्र ने प्रजापति से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था।[1] बार्हस्पत्य अर्थसूत्रों में बृहस्पति से नीतिशास्त्र पढ़ने का उल्लेख है।[2] चरक और सुश्रुत में लिखा है कि इन्द्र ने अश्विनी कुमारों से आयुर्वेद पढ़ा था।[3] पिङ्गल छन्द के टीकाकार यादवप्रकाश के मत में दुश्च्यवन = इन्द्र ने बृहस्पति से छन्दःशास्त्र का अध्ययन किया था।[4] वायुपुराण १०३।६० के अनुसार मृत्यु = यम ने इन्द्र के लिये पुराण का प्रवचन किया था[5]।

शिष्य—ऋक्तन्त्र के पूर्वोद्धृत उद्धरण में लिखा है कि भरद्वाज ने इन्द्र से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था। चरक में कहा है—भरद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद पढ़ा था[6] और आत्रेय पुनर्वसु ने भरद्वाज से[7], परन्तु वा॰ भट ने आत्रेय पुनर्वसु को इन्द्र का साक्षात् शिष्य लिखा है।[8] यह भरद्वा॰ के प्र॰ र सुराचार्य बृहस्पति आङ्गिरस का पुत्र है। इस का वर्णन हम अनुपद करेंगे। सुश्रुत के अनुसार धन्वन्तरि ने इन्द्र से शल्य-चिकित्सा सीखी थी।[9] आयुर्वेद की काश्यप संहिता में लिखा है—इन्द्र ने कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु को आयुर्वेद पढ़ाया था।[10] वायुपुराण १०३।६० में लिखा है इन्द्र ने वसिष्ठ को पुराणोपदेश किया था।[11] पिङ्गलछन्द के टीकाकार यादवप्रकाश के मत में इन्द्र ने असुर-गुरु = शुक्राचार्य को छन्दःशास्त्र पढ़ाया था।[12] पार्थसारथिमिश्र द्वारा उद्धृत प्राचीनवचना-

१. देखो पूर्व पृष्ठ ४

२. बृहस्पतिरथाचार्य, भ्रमा के प्रकरण में उद्धृत।

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र इम सेन्द्राय नीतिसर्वस्वमुपादिशति। ग्रन्थ के प्रारम्भ में। प्राचीन ... था।

३. अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः। ... सूत्र० १।५॥ अश्विभ्यामिन्द्रः ...

४. ... लेभे सुराणां गुरुः। तस्माद्दुश्च्यवन ... छन्द सूत्र० १।२०॥ ...का के अन्त में। उद्धृत वै० वा० इतिहास, ब्राह्मण और आरण्यक भाग।

५. मृत्युश्चेन्द्राय वै पुनः।

६. ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत्। ... सूत्र० १।५॥

७. चरक सूत्र० १।२७-३०॥

८. ... ते तौ सहस्राक्षं, सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्। अष्टाङ्गहृदय सूत्र० १।३॥ ...दहम्। सूत्र० १।२०॥

१०. इन्द्र ऋषिभ्यश्चतुर्भ्यः कश्यप-वसिष्ठ ...। पृष्ठ ४२।

११. इन्द्रश्चापि वसिष्ठाय।

१२. तस्माद्दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुः.......। छन्दःटीका के अन्त में।

नुसार इन्द्र ने आदित्य को मीमांसाशास्त्र पढ़ाया था[1]। यह आदित्य कौन है यह अज्ञात है।

देश—पुराकाल में भारतवर्ष के उत्तर हिमवत् पार्श्व में निवास करने वाली आर्यजाति "देव" कहाती थी। देवराज इन्द्र उस का अधिपति था।

विशेष घटनाएं—छान्दोग्य उपनिषद् ८।७—११ में लिखा है कि इन्द्र ने अध्यात्मज्ञान के लिये प्रजापति के समीप (३२+३२+३२+५=) १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन किया था। पुराकाल में अनेक देवासुर संग्राम हुए। वायुपुराण ९७।७२-७६ में इन की संख्या १२ लिखी है। ये सब संग्राम इन्द्र की अध्यक्षता में हुए थे।

दीर्घजीवी—इन्द्र बहुत दीर्घजीवी था। उसने केवल अध्यात्मज्ञान के लिये १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन किया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११ में लिखा है कि इन्द्र ने अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर वेद की अनन्तता का उपदेश किया था।[2] तदनुसार इन्द्र न्यूनातिन्यून ५०० वर्ष अवश्य जीवित रहा होगा। चरक चिकित्सा स्थान अ० १ में इन्द्रोक्त कई ऐसी रसायनों का उल्लेख है जिन के सेवन से एक सहस्र वर्ष की आयु होती है।

काल

इन्द्र का निश्चित काल निर्णय करना कठिन है। भारतीय प्राचीन वाङ्मय में जो वर्णन मिलता है उससे ज्ञात होता है कि यह इन्द्र त्रेतायुग के लगभग ४०० वर्ष व्यतीत होने पर अर्थात् विक्रम से ८५०० साढ़े आठ सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। हमने इस इतिहास में प्राचीन काल-गणना कृत, त्रेता, और द्वापर युगों की दिव्यवर्ष संख्या को सौर वर्ष मान कर की है। हमारा विचार है दिव्य वर्ष शब्द सौर वर्ष का पर्याय है। तदनुसार कृत युग का ४८००, त्रेता का ३६०० और द्वापर का २४०० वर्ष परिमाण है। इसी प्रकार भारत युद्ध को विक्रम से ३०४५ वर्ष पूर्व माना है। इस पर विशेष विचार इसी ग्रन्थ में अन्यत्र किया जायगा। अतः ऊपर दिया हुआ इन्द्र का काल न्यूनातिन्यून है। वह इस से अधिक प्राचीन हो सकता है, न्यून नहीं। इन्द्र बहुत दीर्घजीवी था यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

---

१. पूर्व पृष्ठ ५७, टि० ५। २. भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं जीर्णिं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम………।

ऐन्द्र व्याकरण

ऐन्द्र व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु इस का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जैन शाकटायन व्याकरण १।२।३७ में इन्द्र का मत उद्धृत है।[१] सोमेश्वरसूरि विरचित यशस्तिलक चम्पू में ऐन्द्र व्याकरण का निर्देश उपलब्ध होता है।[२] प्रसिद्ध मुसलमान यात्री अल्बेरूनी ने अपनी भारतयात्रा वर्णन में ऐन्द्र तन्त्र का उल्लेख किया है।[3] देवबोध ने महाभारतटीका के प्रारम्भ में 'माहेन्द्र' नाम से ऐन्द्र व्याकरण का निर्देश किया है।[४] वोपदेव ने कविकल्पद्रुम के प्रारम्भ में आठ वैयाकरणों में इन्द्र का नाम लिखा है[५]। कवीन्द्राचार्य सरस्वती के पुस्तकालय का जो सूचीपत्र उपलब्ध हुआ है, उसमें व्याकरण की पुस्तकों में ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख है।[६] कथासरित्सागर के अनुसार ऐन्द्र तन्त्र पुराकाल में ही नष्ट हो गया था,[७] अतः कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में निर्दिष्ट ऐन्द्र व्याकरण कदाचित् अर्वाचीन ग्रन्थ होगा।

पण्डित कृष्णमाचार्य की भूल—पं० कृष्णमाचार्य ने अपने "क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर" ग्रन्थ के पृष्ठ ८११ पर लिखा है कि भरत के नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण और यास्क का उल्लेख है। हमने भरत-नाट्य शास्त्र का भले प्रकार अनुशीलन किया है। और नाट्य शास्त्र का एक पारायण हमने केवल पं० कृष्णमाचार्य के लेख की सत्यता जांचने के लिये किया, परन्तु हमें ऐन्द्र व्याकरण और यास्क का उल्लेख नाट्य शास्त्र में कहीं नहीं मिला। हां, नाट्य शास्त्र के पन्द्रहवें अध्याय में व्याकरण का कुछ विषय निर्दिष्ट है और वह कातन्त्र व्याकरण से बहुत समानता रखता है। इस विषय में हम कातन्त्र के प्रकरण में विस्तार से लिखेंगे।

डा० वलवेल्कर की भूल—डाक्टर वेलवेल्कर का मत है-कातन्त्र ही प्राचीन ऐन्द्र तन्त्र है। उनका मत अत्यन्त भ्रमपूर्ण है, यह हम अनुपद

१. जराया डप् इन्द्रस्याचि। २. प्रथम आश्वास, पृष्ठ ९०।

३. अल्बेरूनी का भारत, भाग २, पृष्ठ ४०।

४. पूर्व पृष्ठ ३४ पर उद्धृत 'यान्युज्जहार........' श्लोक।

५. पूर्व पृष्ठ ४८ पर उद्धृत 'इन्द्रश्चन्द्रः...' श्लोक।

६. सूचीपत्र पृष्ठ ३। ७. आदि से तरङ्ग ४, श्लोक २४, २५।

दर्शाएंगे। संभव है कृष्णमाचाय ने डा० बेलवेल्कर के मत को मान कर ही भरत नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख समझा होगा।

ऐन्द्र तन्त्र का परिमाण

हम पूर्व लिख चुके हैं कि प्रत्येक विषय के आदिम ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत थे।[1] उत्तरोत्तर मनुष्यों की आयु के ह्रास और मति के मन्द होने के कारण सब ग्रन्थ क्रमशः संक्षिप्त किये गये।[1] ऐन्द्र व्याकरण अपने विषय का प्रथम ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ भी अत्यन्त विस्तृत था। १२ वीं शताब्दी मे पूर्वभावी महाभारत का टीकाकार देवबोध लिखता है—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

इस वचन से ऐन्द्र तन्त्र के विस्तार की कल्पना सहज में की जा सकती है। तिब्बतीय ग्रन्थों के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण का परिमाण २५ सहस्र श्लोक था।[2] पाणिनीय व्याकरण का परिमाण लगभग एक सहस्र श्लोक है। तदनुसार ऐन्द्र तन्त्र पाणिनीय व्याकरण से लगभग २५ गुना बड़ा रहा होगा।

कई व्यक्ति उपर्युक्त श्लोक में "**माहेन्द्रात्**" के स्थान में "**माहेशात्**" पाठ मान कर माहेश व्याकरण की कल्पना करते हैं।[3] यह ठीक नहीं है। यह श्लोक देवबोध का स्वरचित है। इस में "माहेन्द्रात्" का कोई पाठभेद उपलब्ध नहीं होता। अतः यह कल्पना हेय है। यह भी ध्यान रहे कि माहेश व्याकरण की सत्ता में कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं है। जितने प्रमाण मिलते हैं वे बहुत अर्वाचीन ग्रन्थकारों के हैं। अत एव हमने उस का वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया।

ऐन्द्र व्याकरण के सूत्र

कथासरित्सागर में लिखा है कि ऐन्द्र तन्त्र पुरा काल में ही नष्ट हो चुका था, परन्तु महान् हर्ष का विषय है कि उस के दो सूत्र प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित उपलब्ध हो गये।

---

१. पूर्व पृष्ठ ७। २. जनरल गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्युट, भाग १, संख्या ४, पृष्ठ ४१०, सन् १९४४।

३. श्री गुरुपद हालदार कृत व्याकरण दर्शनेर इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४६५। बंगला विश्वकोश—महेश्वर शब्द।

ऐन्द्र तन्त्र का प्रथम सूत्र—विक्रम की प्रथम शताब्दी में होने वाले भट्टारक हरिश्चन्द्र ने अपनी चरकव्याख्या में लिखा है—

शास्त्रेष्वपि—"अथ वर्णसमूहः" इति ऐन्द्रव्याकरणस्य।[1]

तदनुसार ऐन्द्र व्याकरण का प्रथम सूत्र "**अथ वर्णसमूहः**" था। इससे स्पष्ट है कि उसमें भी पाणिनीय अष्टक के समान प्रारम्भ में अक्षर-समाम्नाय का उपदेश था। ऋक्तन्त्र[2] तथा ऋक्प्रातिशाख्य[3] आदि में भी अक्षरसमाम्नाय का उल्लेख मिलता है। लाघव के लिये व्याकरण-ग्रन्थों के प्रारम्भ में अक्षरसमाम्नाय के उपदेश की शैली अत्यन्त प्राचीन है। इसलिये आधुनिक वैयाकरणों का अष्टाध्यायी के प्रारम्भिक अक्षरसमाम्नाय के सूत्रों को अपाणिनीय मानना महती भूल है। इस पर विशेष विचार "पाणिनि और उस का शब्दानुशासन" प्रकरण में करेंगे।

अन्य सूत्र—दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्तवृत्ति के प्रारम्भ में ऐन्द्र व्याकरण का एक सूत्र उद्धृत किया है—

नैकं पद जातम, यथा "अर्थः पदम्" इत्यैन्द्राणाम्।[4]

अर्थात् ऐन्द्र व्याकरण में सब अर्थवान् वर्णसमुदायों की पद संज्ञा होती है। उन के यहां नैरुक्तों तथा अन्य वैयाकरणों के सदृश नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार विभाग नहीं हैं। सुषेण विद्याभूषण ने भी '**अर्थः पदम्**' को ऐन्द्र के नाम से उद्धृत किया है।[5]

अन्यमत—पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों पर नन्दिकेश्वर विरचित काशिका (श्लोक २) की उपमन्युकृत तत्त्वविमर्शिनी टीका में लिखा है—

तथा चोक्तमिन्द्रेण—अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः प्रकीर्तिताः।

---

१. चरक न्यास पृष्ठ ५८। स्वर्गीय पं० मस्तराम शर्मा मुद्रापित। शब्दभेदप्रकाश के टीकाकार ज्ञानविमलगणि ने "सिद्धिरनुक्तानां रूढेः" सूत्र की टीका में इस "सिद्धि..." सूत्र को ऐन्द्रव्याकरण का प्रथम सूत्र लिखा है (व्याक० द० इ० पृष्ठ ४६४)। यह ठीक नहीं। २. प्रपाठक १ खण्ड ४। ३. देखो विष्णुमित्र कृत वर्गद्वय वृत्ति।

४. निरुक्तवृत्ति पृष्ठ १०, पंक्ति ११। दुर्गवृत्ति में "यथार्थः पदमैन्द्रणामिति" पाठ है। प्रकरणानुसार इति पद 'ऐन्द्राणाम्' से पूर्व होना चाहिये। तुलना करो—"अर्थः पदम्" वाज० प्राति० ३।२॥ ५. कलापचन्द्रे सुषेण विद्याभूषण लिखिया छेन—'अर्थः पदमाहु' रैन्द्राः, 'विभक्त्यन्तं पदमाहु' रापिशलीयाः, 'सुप्तिङन्तं पदं' पाणिनीयाः (सन्धि २०)। व्याक० द० इ० पृष्ठ ४०।

ऐन्द्र और कातन्त्र का भेद

हम पूर्व लिख चुके हैं कि डा० बेलवेल्कर कातन्त्र को ऐन्द्र तन्त्र मानते हैं। उनका यह मत सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि भट्टारक हरिश्चन्द्र और दुर्गाचार्य ने ऐन्द्र व्याकरण के जो सूत्र उद्धृत किये हैं वे कातन्त्र व्याकरण में उपलब्ध नहीं होते। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार ऐन्द्र तन्त्र पाणिनीय तन्त्र से कई गुना विस्तृत था, परन्तु कातन्त्र पाणिनीय तन्त्र का चतुर्थांश भी नहीं है।

ऐन्द्र व्याकरण और जैन ग्रन्थकार

हेमचन्द्र आदि जैन ग्रन्थकारों का मत है कि भगवान् महावीर स्वामी ने इन्द्र के लिये जिस व्याकरण का उपदेश किया वही लोक में ऐन्द्र व्याकरण नाम से प्रसिद्ध हुआ। कई जैन ग्रन्थकार जैनेन्द्र व्याकरण को महावीर स्वामी-प्रोक्त मानते हैं।[1] वस्तुत: ये दोनों मत अयुक्त हैं।

अति प्राचीन वैदिक ग्रन्थकारों के मतानुसार इन्द्र ने बृहस्पति से शब्द शास्त्र का अध्ययन किया था, महावीर स्वामी से नहीं। महावीर स्वामी तथागत बुद्ध के समकालीन हैं, इन्द्र उन से कई सहस्र वर्ष पूर्व अपना व्याकरण लिख चुका था। जैनेन्द्र व्याकरण आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दी विरचित है। यह हम "पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरणकार" प्रकरण में लिखेंगे।

अन्य कृतियां

१, आयुर्वेद—चरक में लिखा है इन्द्र ने भरद्वाज को आयुर्वेद पढ़ाया था।[2] इन्द्र ने भरद्वाज को सम्पूर्ण आयुर्वेद = आठों तन्त्र पढ़ाए थे या केवल कायतन्त्र, यह अज्ञात है। वायुपुराण ९१।२२ में लिखा है कि भरद्वाज ने आयुर्वेद संहिता की रचना की और उसके आठ विभाग करके शिष्यों को पढ़ाया।[3] इस से प्रतीत होता है कि इन्द्र ने भरद्वाज के लिये सम्पूर्ण आयुर्वेद (आठों तन्त्रों) का प्रवचन किया था।

सुश्रुत के प्रारम्भ में आचार्य-परम्परा का निर्देश करते हुए लिखा है कि भगवान् धन्वन्तरि ने इन्द्र से शल्य तन्त्र का अध्ययन किया था।[4]

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ९३—९५। २. पूर्व पृष्ठ २, टि० ५।

३. आयुर्वेदं भरद्वाजश्चकार सभिषक्क्रियम्। तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत्॥

४. पूर्व पृष्ठ ५८, टि० ६।

२. **अर्थशास्त्र**—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बाहुदन्ती-पुत्र का मत उद्धृत किया है।[1] प्राचीन टीकाकारों के अनुसार बाहुदन्ती-पुत्र इन्द्र है।

३. **मीमांसाशास्त्र**—श्लोकवार्तिक की टीका में पार्थसारथिमिश्र किसी पुरातन ग्रन्थ का एक वचन उद्धृत करता है। उस में इन्द्र को मीमांसाशास्त्र का प्रवक्ता कहा है।[2]

४. **पुराण**—वायु पुराण १०३।६० में लिखा है कि इन्द्र ने पुराण विद्या का प्रवचन किया था।

५. **गाथाएं**—महाभारत वनपर्व ८८।५ में इन्द्रगीत गाथाओं का उल्लेख मिलता है।

२—वायु (८५०० वि० पू०)

तैत्तिरीय संहिता ६।४।७ में लिखा है इन्द्र ने वाणी को व्याकृत करने में वायु से सहायता ली थी।[3] तैत्तिरीय संहिता का यह स्थल विशुद्ध ऐतिहासिक है, आलङ्कारिक नहीं है। अतः स्पष्ट है कि इन्द्र को व्याकरण की रचना में सहयोग देने वाला वायु भी निस्सन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति है। इन्द्र और वायु के सहयोग से देववाणी के व्याकरण की सर्वप्रथम रचना हुई। इसलिये कई स्थानों में वाणी के लिये "**वाग् वा ऐन्द्रवायवः**" आदि प्रयोग मिलते हैं।[4] वायु पुराण २।४४ में वायु को "**शब्दशास्त्र-विशारद**" कहा है। कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में एक 'वायु व्याकरण' का उल्लेख है।[5] हमें उसकी प्राचीनता में सन्देह है।

आचार्य—वायु पुराण १०३।५८ के अनुसार ब्रह्मा ने मातरिश्वा = वायु के लिये पुराण का प्रवचन किया था।[6]

---

१. नेति बाहुदन्तीपुत्रः—शास्त्रविददृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत्। अभिजनप्रज्ञा-शौचशौर्यानुरागयुक्तानमात्यान् कुर्वीत गुणप्राधान्यादिति। १।८॥

२. पूर्व पृष्ठ ५७, टि० ५।

३. वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति सोऽब्रवीद्वरं वृणै, मह्यं चैव वायवे च सह गृह्याता इति।

४. मै० सं० ४।५।८॥ कपि० ४२।३॥ ५. सूचीपत्र पृष्ठ ३।

६. ब्रह्मा ददौ शास्त्रमिदं पुराणं मातरिश्वने।

शिष्य—वायुपुराण १०३।५९ में लिखा है, वायु से उशना कवि ने पुराणज्ञान प्राप्त किया था।[1]

वायु पुराण १।४७ के अनुसार मातरिश्वा = वायु ने वायुपुराण का प्रवचन किया था।[2]

हम इससे अधिक वायु के विषय में नहीं जानते।

३—भरद्वाज (८३०० वि० पू०)

व्याकरणशास्त्र का तृतीय आचार्य बार्हस्पत्य भरद्वाज है। यद्यपि भरद्वाजतन्त्र इस समय उपलब्ध नहीं है तथापि ऋक्तन्त्र के पूर्वोक्त[3] प्रमाण से स्पष्ट है कि भरद्वाज व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता था।

परिचय

वंश—भरद्वाज बृहस्पति का पुत्र है। ब्राह्मणग्रन्थों में बृहस्पति को देवों का पुरोहित कहा है।[4] कोशग्रन्थों में बृहस्पति का पर्याय 'सुराचार्य' लिखा है। यह[5] बृहस्पति अङ्गिरा का पुत्र है।

सन्तति—काशिका वृत्ति २।१।१९ तथा २।४।८४ में भरद्वाज के २१ अपत्यों का निर्देश है।[6] ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में भरद्वाज के ऋजिश्वा, गर्ग, नर, पायु, वसु, शास, शिरिम्बिठ, शुनहोत्र, सप्रथ और सुहोत्र इन दश मन्त्रद्रष्टा पुत्रों और रात्रि नाम्नी मन्त्रद्रष्ट्री पुत्री का उल्लेख मिलता है। यजुःसर्वानुक्रमणी में यजुर्वेद ३४।३२ की ऋषिका कशिपा भरद्वाजदुहिता लिखी है। महाभारत आदिपर्व की दूसरी वंशावली के अनुसार गर्ग और नर भरद्वाज के साक्षात् पुत्र नहीं हैं, अपि तु महाराज भरत की सुनन्दा रानी में भरद्वाज द्वारा नियोग से उत्पन्न महाराज भुमन्यु (भुवमन्यु) के पुत्र हैं। ये दोनों ब्राह्मण हो गये थे। इसी गर्ग के कुल

---

१. तस्माच्चोशनसा प्राप्तम्।

२. पुराणं संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना।

३. पूर्व पृष्ठ ४६ पर उद्धृत ४. बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः। ऐ० ब्रा० ८।२६॥

५. अमरकोश १।२।२४॥

६. एकविंशतिभरद्वाजम्। यह उदाहरण जैन शाकटायन की लघुवृत्ति १।२।१६० में भी है।

में किसी गार्ग्य ने व्याकरण, निरुक्त, सामवेदीय पदपाठ और उपनिदान सूत्र का प्रवचन किया था। इनका उल्लेख पाणिनीय अष्टाध्यायी और यास्कीय निरुक्त में मिलता है।

आचार्य—ऋक्तन्त्र के अनुसार भरद्वाज ने इन्द्र से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[१] ऐतरेय आरण्यक २।२।४ में लिखा है—इन्द्र ने भरद्वाज के लिये घोषवत् और ऊष्म वर्णों का उपदेश किया था।[२] चरक संहिता सूत्रस्थान १।२३ से विदित होता है कि भरद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद पढ़ा था।[३] वायु पुराण १०३।६३ के अनुसार तृणंजय ने भरद्वाज के लिये पुराण का प्रवचन किया था।[४]

शिष्य—ऋक्तन्त्र के अनुसार भरद्वाज ने अनेक ऋषियों को व्याकरण पढ़ाया था।[५] चरक सूत्रस्थान में अनेक ऋषियों को आयुर्वेद पढ़ाने का उल्लेख है। उन में से एक आत्रेय पुनर्वसु है।[६] वायु पुराण १०३।६३ में लिखा है कि भरद्वाज ने गौतम को पुराण पढ़ाया था।[७] भरद्वाज ने किसी अर्थशास्त्र का भी प्रवचन किया था।

देश—रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ५४ के अनुसार भरद्वाज का आश्रम प्रयाग के निकट गंगा यमुना के संगम पर था।

मन्त्रद्रष्टा—ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में बार्हस्पत्य भरद्वाज को अनेक सूक्तों का द्रष्टा लिखा है।

दीर्घजीवी—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११ के अनुसार इन्द्र ने तृतीय-पुरुषायुष की समाप्ति पर भरद्वाज को वेद की अनन्तता का उपदेश किया था।[८] चरक संहिता के प्रारम्भ में भरद्वाज को अमितायु कहा है।[९]

---

१. इन्द्रो भरद्वाजाय।१।४॥ २. तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राण.......एतद्ध स्मैवेन्द्रो भरद्वाजाय प्रोवाच।

३. तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः। ४. तृणञ्जयो भरद्वाजाय।

५. भरद्वाज ऋषिभ्यः।१।४॥ ६. ऋषयश्च भरद्वाजात्.......। अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः।१।२७,३०॥ ७. गौतमाय भरद्वाजः।

८. भरद्वाजो ह वा त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं जीर्णिं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम किं तेन कुर्याः.......।

९. तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितः। सूत्र० १।२६॥ अपरिमित-शब्दः सर्वत्रोक्तात् प्रमाणादाधिकविषयः इति न्यायविदः। कात्यायनश्चाह अपरिमितश्च प्रमाणाद् भूयः। आप० श्रौत २।१।१ रुद्रवृत्ति में उद्धृत।

ऐतरेय आरण्यक १।२।२ में भरद्वाज को अनूचानतम और दीर्घजीवितम लिखा है।[1] ताण्ड्य ब्राह्मण १५।३।१७ के अनुसार यह काशिराज दिवोदास का पुरोहित था।[2] मैत्रायणी संहिता ३।३।७ और गोपथ ब्राह्मण २।१।१८ में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का पुरोहित कहा है।[3] जैमिनीय ब्राह्मण ३।२।४४ में दिवादास के पौत्र क्षत्र का पुरोहित लिखा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११ से व्यक्त है कि दीर्घजीवी भरद्वाज के साथ इन्द्र का विशेष संबन्ध था। अतः यही दीर्घजीवी भरद्वाज व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता है, यह निश्चित है।

काल

हम ऊपर कह चुके हैं कि भरद्वाज काशिपति दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का पुरोहित था। रामायण उत्तरकाण्ड ३८।१५ के अनुसार काशिपति प्रतर्दन दाशरथि राम का समकालिक था।[4] रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ५४ के अनुसार राम आदि वन जाते हुए भरद्वाज के आश्रम में ठहरे थे। सीता-स्वयंवर के अनन्तर दाशरथि राम का जामदग्न्य राम से साक्षात्कार हुआ था। महाभारत के अनुसार जामदग्न्य राम त्रेता और द्वापर की सन्धि में हुआ था।[5] इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि दीर्घजीवी भरद्वाज मर्यादापुरुषोत्तम राम के समय विद्यमान था। दाशरथि राम का काल त्रेता के सन्ध्यंश का अन्तिम चरण है। अतः भरद्वाज का काल विक्रम से न्यूनाति न्यून ७५०० साढे सात सहस्र वर्ष पूर्व है। महाभारत में लिखा है कि भरद्वाज ने महाराज भरत की सुनन्दा रानी में नियोग से सन्तान उत्पन्न किया था।[6] ऐतरेय ब्राह्मण १५।५ में प्रयुक्त "आस" क्रिया[7] से व्यक्त होता है कि महीदास ऐतरेय से पूर्व भरद्वाज की मृत्यु हो चुकी थी। यह भरद्वाज की

---

१. भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीवितमस्तपस्वितम आस। तुलना करो—भरद्वाजो ह वै कृशो दीर्घः पलित आस। ऐ० ब्रा० १५।५॥

२. दिवोदासं वै भरद्वाजपुरोहितं नाना जनाः पर्ययन्त।

३. तेन वै भरद्वाजः प्रतर्दनं दैवोदासिं समनयत्। मै० सं०। एतेन ह वै भरद्वाजः प्रतर्दनं समनयत। गो० ब्रा०।

४. तं विसृज्य ततो रामो वयस्यमकुतोभयम्। प्रतर्दनं काशिपतिं परिष्वज्येदमब्रवीत्॥

५. त्रेताद्वापरयोः सन्धौ रामः शस्त्रभृतांवरः। असकृत् पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः। आदि० २।३॥

६. आदिपर्व, द्वितीय वंशावली।

७. पूर्व पृष्ठ ११, टि० ११।

उत्तर सीमा है। भरद्वाज भारतीय इतिहास में वर्णित उन कतिपय दीर्घ-जीवितम ऋषियों में से एक है जिनकी आयु लगभग एक सहस्र वर्ष की थी। चरक चिकित्सास्थान अध्याय १ में लिखा है भरद्वाज ने रसायन के द्वारा दीर्घायुष्ट्व प्राप्त किया था।[१] चरक के इसी प्रकरण में सहस्रवार्षिक कई रसायनों का उल्लेख है।

व्याकरण का स्वरूप

भरद्वाज का व्याकरण अनुपलब्ध है। उसका एक भी वचन या मत हमें किसी प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ। कात्यायन ने यजुः प्रातिशाख्य में आख्यात = क्रिया को भरद्वाजदृष्ट कहा है।[२] उस से व्यक्त होता है कि भरद्वाज ने अपने व्याकरण में आख्यात पर विशेष रूप से लिखा होगा। इस से अधिक हम इस विषय में कुछ नहीं जानते।

अन्य कृतियां

इस अनूचानतम और दीर्घजीवितम भरद्वाज ने अपने सुदीर्घ जीवन में किन-किन विषयों का प्रवचन किया यह अज्ञात है। प्राचीन ग्रन्थों में इस भरद्वाज को निम्न विषयों का प्रवक्ता या शास्त्रकर्त्ता कहा है—

आयुर्वेद—वायु पुराण १९।३२ में लिखा है—भरद्वाज ने आयुर्वेद की संहिता रची थी।[३] चरक सूत्र स्थान १।२६-२८ के अनुसार भरद्वाज ने आत्रेय पुनर्वसु प्रभृति शिष्यों को कायचिकित्सा पढ़ाई थी।

धनुर्वेद—महाभारत शान्तिपर्व २१०।२१ के अनुसार भरद्वाज ने धनुर्वेद का प्रवचन किया था।[४]

राजशास्त्र—महाभारत शान्तिपर्व ५८।३ में लिखा है—भरद्वाज ने राजशास्त्र का प्रणयन किया था।[५]

---

१. एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः। जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः ॥४॥ प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात्। यावदैच्छंस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः ॥ ५ ॥ २. भारद्वाजकमाख्यातम्। अ० ८ पृष्ठ, ३२७ मद्रास संस्क०। उवट—भरद्वाजेन दृष्टमाख्यातम्। सम्पादक ने भ्रम से इस प्रकरण के अनेक सूत्र टीका में मिला दिये हैं। ३. पूर्व पृष्ठ ६३, टि० ३॥

४. भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।

५. भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः। राजशास्त्रप्रणेतारो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः॥

अर्थशास्त्र—कौटिल्य अर्थशास्त्र में भरद्वाज का एक वचन उद्धृत है।[1] उससे विदित होता है कि भरद्वाज ने अर्थशास्त्र की रचना की थी। भरद्वाज के पिता बृहस्पति का अर्थशास्त्र प्रसिद्ध है।

यन्त्रसर्वस्व—महर्षि भरद्वाज ने "यन्त्रसर्वस्व" नामक कला-कौशल का बृहद् ग्रन्थ लिखा था। उसका कुछ भाग बड़ोदा के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसका विमान विषय से संबन्धित उपलब्ध स्वल्पतम भाग श्री पं० प्रियरत्नजी आर्ष (स्वामी ब्रह्ममुनिजी) ने विमानशास्त्र के नाम से प्रकाशित किया है।[2] इस ग्रन्थ के अन्वेषण का श्रेय उन्हीं को है।

पुराण—वायु पुराण १०३।६२ में भरद्वाज को पुराण का प्रवक्ता कहा है।[3]

शिक्षा—भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से एक भारद्वाजशिक्षा प्रकाशित हुई है। उसके अन्तिम श्लोक[4] तथा टीकाकार नागेश्वर भट्ट[5] के मतानुसार यह शिक्षा भरद्वाजप्रणीत है। हमारे विचार में यह शिक्षा अर्वाचीन है। हां, हो सकता है कि इस का कोई मूल ग्रन्थ भरद्वाज प्रणीत हो। विशेष शिक्षाशास्त्र के इतिहास प्रकरण में देखें।

४—भागुरि (३१०० वि० पू०)

यद्यपि आचार्य भागुरि का उल्लेख पाणिनीय अष्टक में उपलब्ध नहीं होता, तथापि भागुरि-व्याकरणविषयक मतप्रदर्शक निम्न श्लोक वैयाकरणनिकाय में अत्यन्त प्रसिद्ध है—

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥[6]

---

१. इन्द्रस्य हि स प्रणमति यो बलीयसो नमतीति भरद्वाजः। अधि० १२, अ० १। तुलना करो—इन्द्रमेव प्रणमते यद्राजानामिति श्रुतिः। महाभारत शान्ति० ६४।४॥

२. यह भाग 'विमानशास्त्र' के नाम से आर्यसार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा देहली से प्रकाशित है।

३. गौतमाय भरद्वाजः।

४. यो जानाति भरद्वाजशिक्षामर्थसमान्विताम्। पृष्ठ ६६।

५. ....प्रवक्ष्यामि इति भरद्वाजमुनिनोक्तम्। पृष्ठ १।

६. न्यास ६।२।३७, पृष्ठ ३४६। धातुवृत्ति, इण धातु, पृष्ठ २४७। प्रक्रिया-

अर्थात्—भागुरि आचार्य के मत में "अव" और "अपि" उपसर्ग के अकार का लोप होता है। यथा-अवगाह = वगाह, अपिधान = पिधान, तथा हलन्त शब्दों से आप (टाप्) प्रत्यय होता है। यथा—वाक् = वाचा, निश् = निशा, दिश् = दिशा।

पातञ्जल महाभाष्य ४।१।१ से भी विदित होता है कि कई आचार्य हलन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय मानते थे।[1]

भागुरि के व्याकरणविषयक कुछ वचन जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्द-शक्तिप्रकाशिका में उद्धृत किये हैं। उन्हें हम आगे लिखेंगे।

परिचय

भागुरि में श्रूयमाण तद्धितप्रत्यय के अनुसार भागुरि के पिता का नाम 'भगुर' प्रतीत होता है। महाभाष्य ७।३।४५ में किसी भागुरी का नामोल्लेख है। संभव है यह भागुरि की स्वसा हो। इस पण्डिता देवी ने किसी लोकायत शास्त्र की व्याख्या की थी।[2] यह लोकायतशास्त्र अर्थशास्त्रवत् कोई ग्रन्थ प्रतीत होता है।[3]

बृहत्संहिता पृष्ठ ५८१ के अनुसार भागुरि बृहद्गर्ग का शिष्य था। भागुरि का मेरु के परिमाण विषय में मत वायु पुराण ३४।६२ में उपलब्ध होता है।[4]

कौमुदी भाग १, पृष्ठ १८२। अमर टीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ ५३ में इस प्रकार पाठ-भेद है—टापं चापि हलन्तानां दिशा वाचा गिरा क्षुधा। वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्यो-रुपसर्गयोः।

१. यस्तर्ह्यनकारान्तात् क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा इति।

२. वर्णिका भागुरी लोकायतस्य। वर्तिका भागुरी लोकायतस्य। कैयट—वर्णिकेति व्याख्यानीत्यर्थः, भागुरी टीकाविशेषः।

३. वात्स्यायन के 'अर्थश्च राज्ञः, तन्मूलत्वाल्लोकयात्रायाः' (१।२।१५) तथा 'वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापण इति लौकायतिकाः' (१।२।२८) इन दोनों सूत्रों को मिलाकर पढ़ने से प्रतीत होता है कि लोकायत शास्त्र भी अर्थशास्त्र के समान कोई अर्थप्रधान शास्त्र था। हमारे मित्र श्री पं० ईश्वरचन्द्रजी ने कहीं का "ब्रह्मगार्ग्यप्रणीतं लोकायतशास्त्रम्" पाठ बताया था। अतः प्राचीन लोकायत शास्त्र नास्तिकतापरक नहीं था।

४. चतुरस्रं तु भागुरिः।

काल

हम आगे प्रतिपादन करेंगे कि भागुरि आचार्य ने सामवेद की संहिता शाखा और ब्राह्मण का प्रवचन किया था। शाखाओं का प्रवचन भारत युद्ध से पूर्व हो चुका था। अतः भागुरि का काल विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व अवश्य है।

भागुरि का व्याकरण

भागुरि के व्याकरणसंबन्धी जितने वचन या मत उद्धृत मिलते हैं उन से प्रतीत होता है कि भागुरि का व्याकरण भलीप्रकार परिष्कृत था और वह पाणिनीय व्याकरण से कुछ विस्तृत था। यदि जगदीश तर्कालङ्कार द्वारा उद्धृत श्लोक इसी रूप में भागुरि के हों तो सम्भव है भागुरि का व्याकरण श्लोकबद्ध हो।

भागुरि-व्याकरण के उद्धरण

भागुरि आचार्य प्रोक्त व्याकरण के निम्न मत या वचन उपलब्ध होते हैं—

जगदीश तर्कालंकार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में भागुरि के निम्न मत या वचन उद्धृत किये हैं—

१. **मुण्डादेस्तत् करोत्यर्थे गृह्णात्यर्थे कृतादितः। वक्तीत्यर्थे च सत्यादेरङ्गादेस्तान्निरस्यति॥ इति भागुरिस्मृतेः।**[1]

२. **तूस्ताद्विघाते संछादे वस्त्रात् पुच्छादितस्तथा। उत्प्रेक्षादौ कर्मणो णितत्तदव्ययपूर्वतः॥ इति भागुरिस्मृतेः।**[2]

३. **वीणात उपगाने स्याद्धस्तितोऽतिक्रमे तथा। सेनातश्चाभियाने णिः श्लोकादेरप्युपस्तुतौ॥ इति भागुरिस्मृतेः।**[3]

४. **गुपूधूपविच्छिपणिपनेरायः कमेस्तु णिङ्। ऋतेरियङ् चतुर्ष्वेषु नित्यं स्वार्थे परत्र वा॥ इति भागुरिस्मृतेः।**[4]

५. **गुपो वधेश्च निन्दायां क्षमायां तथा तिजः। प्रतीकारादयर्थकाच्च कितः स्वार्थे सनो विधिः॥ इति भागुरिस्मृतेः।**[5]

हमारा विचार है ये पांच श्लोक भागुरि के स्ववचन हैं। सम्भव है भागुरि ने ऋक्प्रातिशाख्यवत् छन्दोबद्ध सूत्र रचना की हो।

---

१. पृष्ठ ४४४, काशी संस्क०।

२. पृष्ठ ४४५। ३. पृष्ठ ४४६।

४. पृष्ठ ४४७। ५. पृष्ठ ४४७।

भागुरि के व्याकरणविषयक मतनिदर्शक निम्न दो वचन उपलब्ध होते हैं—

६. वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥[1]

७. हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमीम् ।
चतुर्थीं बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरिवाग्भटाः ॥[2]

भागुरि के अन्य ग्रन्थ

१. संहिता—प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूहटीका, जैमिनीय गृह्य और गोभिलगृह्यप्रकाशिका आदि अनेक ग्रन्थों से विदित होता है कि आचार्य भागुरि ने किसी सामशाखा का प्रवचन किया था।[3] कश्मीर के छपे लौगाक्षि गृह्य की अंग्रेजी भाषानिबद्ध भूमिका में अगस्त्य के श्लोकतर्पण का एक वचन उद्धृत है[4] उसके अनुसार भागुरि याजुष आचार्य है। सम्भव है भागुरि ने साम और यजुः दोनों की शाखाओं का प्रवचन किया हो।

२. ब्राह्मण—संक्षिप्तसार के "अयाज्ञवल्क्यादेर्ब्राह्मणे"[5] सूत्र की टीका में औथासनिक गोपीचन्द्र उदाहरण देते हैं—

शाट्यायनी, भागुरी, ऐतरेयी

इस से प्रतीत होता है कि भागुरि ने किसी ब्राह्मण का भी प्रवचन किया था। वह किस संहिता का था यह अज्ञात है।

३. अलङ्कार शास्त्र—सोमेश्वर कवि ने अपने साहित्यकल्पद्रुम ग्रन्थ के यथासंख्यालंकार प्रकरण में भागुरि का निम्न मत उद्धृत किया है—

भागुरिस्तु प्रथमं निर्दिष्टानां प्रश्नपूर्वकाणामर्थान्तरविषये निषेधोऽप्यनुनिर्दिष्टश्चेत् सोऽपि यथासंख्यालंकार इति।[6]

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ६६, टि० ६। २. शब्दशक्तिप्रकाशिका पृष्ठ ३६६ में इसे भर्तृहरि का वचन लिखा है। यह ठीक नहीं। वाक्यपदीय के कारक प्रकरण में यह वचन नहीं मिलता। भर्तृहरि वाग्भट से प्राचीन है, यह हम भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका के प्रकरण में लिखेंगे। इस श्लोक में वाग्भट का निर्देश है।

३. देखो श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २०३—२०५। ४. लौगाक्षिश्च तथा काण्वस्तथा भागुरिरेव च। एते......। पृष्ठ ६।

५. तद्धित ४५४। ६. मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग १, खण्ड १ A, पृष्ठ २८९५, ग्रन्थाङ्क २१२९।

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचना टीका में भागुरि का निम्न मत उद्धृत किया है—

तथा च भागुरिरपि—किं रसानामपि स्थायिसंचारिताऽस्तीत्याक्षिप्य अभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद् बाढमस्तीति।[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भागुरि का कोई अलङ्कारशास्त्र भी था।

४. कोष—अमरकोष आदि की टीकाओं में भागुरिकृत कोष के अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं।[2] सायण ने धातुवृत्ति में भागुरि के कोष का एक श्लोक उद्धृत किया है।[3] पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति, सृष्टिधरकृत भाषावृत्तिटीका और प्रभावृत्ति से विदित होता है कि भागुरिकृत कोष का नाम "त्रिकाण्ड" था।[4] अमरकोष की सर्वानन्दविरचित टीकासर्वस्व में त्रिकाण्ड के अनेक वचन उद्धृत हैं।

५. सांख्यदर्शनभाष्य—विक्रम की बीसवीं शताब्दी पूर्वार्ध के महाविद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (सं० १९३२ वि०) में लिखा है—"उस के पीछे सांख्यदर्शन जो कि कपिल मुनि के किये सूत्र उनके ऊपर भागुरि मुनि का किया भाष्य, इस को १ मास में पढ़ लेगा।[5] संस्कारविधि के संशोधित अर्थात् द्वितीय संस्करण (सं०

१. तृतीय उद्योत, पृष्ठ ३८६।   २. अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ १११, १२५, १९३ इत्यादि। अमर-क्षीरटीका, पृष्ठ ५, ६, १२ इत्यादि। हैम अभिधानचिन्तामणि स्वोपज्ञटीका।

३. तथा भागुरिरपि ह्रस्वान्तं मन्यते। यथाह च—भार्या भेकस्य वर्षाभ्वी शृङ्गी स्यान्मद्गुरस्य च। शिली गण्डूपदस्यापि कच्छपस्य डुलिः स्मृता॥ धातुवृत्ति, भूधातु, पृष्ठ ३०॥ यह श्लोक अमर टीकासर्वस्व भाग १ पृष्ठ १९३ में भी उद्धृत है।

४. भाषावृत्ति—शिवतातिः शंतातिः अरिष्टतातिः, अमी शब्दाश्छान्दसा अपि कदाचिद् भाषायां प्रयुज्यन्ते इति त्रिकाण्डे भागुरिनिबन्धनाद्वाऽव्युत्पन्नसंज्ञाशब्दत्वाद्वा सर्वथा भाषायां साधु॥ ४।४।१४३॥

भाषावृत्तिटीका—त्रिकाण्डे कोशविशेषे भागुरेराचार्यस्य यदेषां निबन्धनं तस्माच्च। ४।४।१४३॥   प्रभावृत्ति—एभिर्नवभिः सूत्रैर्निष्पन्नाश्छान्दसा अपि शब्दा भाषायां साधवो भवन्ति ...... त्रिकाण्डे भागुरिनिबन्धनात्। पं० गुरुपद हालदार कृत व्याकरणदर्शनेर इतिहास पृष्ठ ४९६ में उद्धृत

५. पृष्ठ ७८, सन् १८७५ का छपा।

१९४१ वि०) में भी सांख्यदर्शन भागुरिकृत भाष्य पढ़ने का विधान किया है।[1]

६. दैवत ग्रन्थ—गृहपति शौनक ने बृहद्देवता में भागुरि आचार्य के देवताविषयक अनेक मत उद्धृत किये हैं।[2] इन से प्रतीत होता है कि भागुरि ने कोई अनुक्रमणिका ग्रन्थ भी अवश्य लिखा था।

व्याकरण, संहिता, ब्राह्मण, अलङ्कार, कोष, सांख्यभाष्य और अनुक्रमणिका आदि सब ग्रन्थों का प्रवक्ता एक ही भागुरि है या भिन्न भिन्न, यह अज्ञात है।

५—पौष्करसादि (३१०० वि० पू०)

पौष्करसादि आचार्य का नाम पाणिनीय सूत्रपाठ में उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य ८।४।४८ के एक वार्तिक में इस का उल्लेख है।[3] तैत्तिरीय और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में पौष्करसादि के अनेक मत उद्धृत हैं।[4] उन से पौष्करसादि आचार्य का व्याकरणप्रवक्तृत्व विस्पष्ट है।

परिचय

वंश—पौष्करसादि में श्रूयमाण तद्धित प्रत्यय के अनुसार इसके पिता का नाम "पुष्करसत्" था। जयादित्य प्रभृति वैयाकरणों का भी यही मत है।[5]

सन्तति—पौष्करसादि के अपत्य पौष्करसादायन कहाते हैं। पाणिनि ने तौल्वल्यादि[6] गण में पौष्करसादि पद पढ़ कर उससे उत्पन्न युवार्थक फक् (आयन) प्रत्यय के अलुक् का विधान किया है।

देश—हरदत्त के मत में पौष्करसादि आचार्य प्राग्देशवासी हैं। वह लिखता है—पुष्करसदः प्राच्यत्वात्।[7] पाणिनीय व्याकरण से भी यही प्रतीत होता है। पौष्करसादायन में "इञः प्राचाम्"[8] सूत्र से युवा-

१. संस्कारविधि, वेदारम्भसंस्कार।

२. बृहद्देवता ३।१०॥ ५।४०॥ ६।६६, १०७॥

३. चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः। ४. तै० प्रा० ५।३७,३८॥१३।१६॥ १४॥२।१७।६॥ मै० प्रा० ५।३६,४०॥ २।१।१६॥२।५।६॥ ५. पुष्करसच्छब्दात् बाह्वादित्वादिञ्, अनुशतिकादीनां च (अष्टा० ७।३।२०) इत्युभयपदवृद्धिः। काशिका २।४।६३॥ बालमनोरमा, भा० २ पृष्ठ २८७॥ ६. अष्टा० २।४।६१॥

७. पदमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ४०१। ८. अष्टा० २।४।६०॥

र्थक प्रत्यय का लुक् प्राप्त होता है, उस का निषेध करने के लिये पाणिनि ने "तौल्वल्यादि" गण में पौष्करसादि पद पढ़ा है। बौद्ध जातकों में पोक्खरसदों का उल्लेख मिलता है वे प्राग्देशीय हैं।

यज्ञेश्वर भट्ट ने अपनी गणरत्नावली में पौष्करसादि पद का निर्वचन इस प्रकार किया है—

पुष्करे तीर्थविशेषे सीदतीति पुष्करसत्, तस्यापत्यं पौष्करसादिः।[1]

इस निर्वचन के अनुसार पुष्करसत् अजमेर समीपवर्ती पुष्कर क्षेत्रवासी प्रतीत होता है। पाणिनि के साथ विरोध होने से यज्ञेश्वर भट्ट की व्युत्पत्ति को केवल अर्थप्रदर्शनपरक समझना चाहिये। अथवा सम्भव है प्राग्देश में भी कोई पुष्कर क्षेत्र हो। वहां की साम्प्रतिक भाषा में तालाब को "पोक्खर" कहते हैं।

अन्यत्र उल्लेख।

पौष्करसादि आचार्य के मत महाभाष्य के एक वार्तिक और तैत्तिरीय तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में उद्धृत हैं, यह हम पूर्व कह चुके। इसका एक मत शांख्यायन आरण्यक ७।८ में मिलता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में दो बार "पुष्करसादि" आचार्य का उल्लेख है।[2] हरदत्त इसे पौष्करसादि आचार्य का निर्देश मानता है। उस के मत में आदिवृद्धि का अभाव छान्दस है।[3]

काल

पौष्करसादि पद तौल्वल्यादि[4] गण में पढ़ा है। पुष्करसत् पद का पाठ यस्कादि,[5] बाह्वादि[6] और अनुशतिकादि[7] गण में मिलता है। कात्यायन और पतञ्जलि दोनों ने पुष्करसत् का पाठ अनुशतिकादिगण में माना है।[8] इस से स्पष्ट है कि पाणिनीय गणपाठ में इसका प्रक्षेप नहीं हुआ।

---

१. ४।१।६६॥ हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १७५। २. शुद्धा भिक्षा भोक्तव्यैककुणिकौ काण्वकुत्सौ तथा पुष्करसादिः।१।१९।७॥ यथा कथा च परपरिग्रहणमभिमन्यते स्तेनो ह भवतीति कौत्सहारीतौ तथा कण्वपुष्करसादी। १।२८।१॥ ३. पौष्करसादिरेव पुष्करसादिः, वृद्ध्यभावश्छान्दसः। १।१९।७॥ ४. अष्टा० २।४।६१॥

५. अष्टा० २।४।६३॥ ६. अष्टा० ४।१।९६॥ ७. अष्टा० ७।३।२०॥ ८. पुष्करसद्ग्रहणाद् वा। अथवा यदयमनुशतिकादिषु पुष्करसच्छब्दं पठति। महाभाष्य ७।२।१७॥

तौल्वल्यादिगण में पौष्करसादि पद के पाठ से सिद्ध है कि पाणिनि न केवल पौष्करसादि से परिचित था अपितु उसके अपत्य पौष्करसादायन को भी जानता था। अतः पौष्करसादि आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती है यह निर्विवाद है।

पौष्करसादि-शाखा—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।४० के माहिषेय भाष्य के अनुसार पौष्करसादि ने कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का प्रवचन किया था।[1] शाखाप्रवक्ता ऋषि प्रायः कृष्ण द्वैपायन के समकालीन थे। अतः पौष्करसादि का काल भारतयुद्ध के आसपास ३१०० वि० पूर्व है।

६—चारायण (३१०० वि० पू०)

आचार्य चारायण ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था इस का स्पष्ट निर्देशक वचन कोई उपलब्ध नहीं हुआ। लौगाक्षि-गृह्य के व्याख्याता देवपाल ने ५।१ की टीका में चारायण का एक सूत्र और उसकी व्याख्या उद्धृत की है। वह इस प्रकार है—

तथा च चारायणिसूत्रम्—"पुरुकृते च्छुच्छ्रयोः" इति। "पुरु शब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छ छे परतः। पुरुच्छदनं पुच्छम्, कृतस्य छूदनं विनाशनं कृच्छम्" इति।

यदि यह सूत्र चारायणीय प्रातिशाख्य का न हो तो निश्चय ही उसके व्याकरण का होगा। महाभाष्य १।१।७३ में चारायण को वैयाकरण पाणिनि और रौढि के साथ स्मरण किया है।[2] अतः चारायण भी अवश्य व्याकरणप्रवक्ता रहा होगा।

परिचय

वंश—चारायण पद अपत्यप्रत्ययान्त है, तदनुसार इस के पिता का नाम "चर" है। पाणिनि ने नडादिगण[3] में इसका साक्षात् निर्देश किया है।

---

१. शैत्यायनादीनां कोहलीपुत्र—भारद्वाज—स्थविर—कौण्डिन्य—पौष्करसादीनां शाखिनाम्.......।

२. कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः।

३. अष्टा० ४।१।९९।

काल

चारायण कृष्ण यजुर्वेद की चारायणीय शाखा का प्रवक्ता है।[1] यह शाखा इस समय अप्राप्य है, परन्तु इसका "चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय" सम्प्रति मिलता है। यह दयानन्द वैदिक कॉलेज लाहौर से प्रकाशित हुआ है। वैदिक शाखाओं का अन्तिम प्रवचन काल भारतयुद्ध के समीप हुआ था। अतः इसका समय विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व है।

अन्यत्र उल्लेख

महाभाष्य १।१।७३ में उदाहरण दिये हैं—**कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः।** वामन काशिकावृत्ति ६।२।६९ तथा यक्षवर्मा ने शाकटायन वृत्ति २।४।२ में "**कम्बलचारायणीयाः**" उदाहरण दिया है।

कैयट की भूल—कैयट ने महाभाष्य १।१।७३ के उदाहरण की व्याख्या करते हुए लिखा है—**कम्बलप्रियस्य चारायणस्य शिष्या इत्यर्थः।**

यह व्याख्या अशुद्ध है। इस का अर्थ "**कम्बलप्रधानश्चारायणः कम्बलचारायणः, तस्य छात्राः**" करना चाहिये। अर्थात् आचार्य चारायण के पास कम्बलों का बाहुल्य था, वह अपने प्रत्येक छात्र को कम्बल प्रदान करता था। वामन काशिका ६।२।६९ में इसी उदाहरण को क्षेप अर्थ में उद्धृत करता है। उसका अभिप्राय भी यही है कि जो छात्र चारायण प्रोक्त ग्रन्थ में श्रद्धा न रख कर केवल कम्बल के लोभ से चारायण प्रोक्त ग्रन्थ को पढ़ते हैं वे "कम्बलचारायणीयाः" कहाते हैं।

किसी चारायण का मत वात्स्यायन कामसूत्र में तीन स्थानों पर उद्धृत है।[2] चारायण का एक मत कौटिल्य अर्थशास्त्र में दिया है—**तृणमतिदीर्घमिति चारायणः।**[3]

---

१. इस शाखा का वर्णन देखो श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ १९०।

२. १।१।१२॥ १।४।१४॥ १।५।२२॥

३. अधि० ५ अ० ५।

शाम शास्त्री सम्पादित मूल अर्थशास्त्र तृतीय संस्करण में 'नारायणः' पाठ है। अर्थशास्त्र के प्राचीन टीकाकार के मत में यह दीर्घ चारायण मगध के बाल (=बालक-प्रद्योत) नामक राजा का आचार्य था। अर्थशास्त्र संकेतित कथा का निर्देश नन्दिसूत्र आदि जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। देखो शाम शास्त्री सम्पादित मूल अर्थशास्त्र की भूमिका पृष्ठ २०। यह चारायण शाखाप्रवक्ता चारायण से भिन्न और अर्वाचीन है।

अन्य ग्रन्थ

चारायणीय संहिता—यह कृष्ण यजुर्वेद की शाखा थी। इसका विशेष वर्णन श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ १९०, १९१ पर देखो।

चारायणी शिक्षा—यह शिक्षा कश्मीर से प्राप्त हुई थी। उसका उल्लेख इण्डियन एण्टीक्वेरी जुलाई १८७६ में डाक्टर कीलहार्न ने किया है।

७—काशकृत्स्न (३१०० वि० पू०)

काशकृत्स्न का नाम पाणिनीय शब्दानुशासन में उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में ग्रन्थवाची पाणिनीय आपिशल और काशकृत्स्न नाम एक साथ मिलते हैं।[1] वोपदेव ने प्रसिद्ध आठ शाब्दिकों में काशकृत्स्न का उल्लेख किया है।[2] काशकृत्स्न व्याकरण के अनेक सूत्र व्याकरण के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।[3] अतः काशकृत्स्न के व्याकरणप्रवक्ता होने में कुछ सन्देह नहीं।

परिचय

पर्याय—काशिका ५।१।५८ में उदाहरण है "त्रिकं काशकृत्स्नम्"[4]। जैन शाकटायन की अमोघावृत्ति में ३।२।१६१ में इस का पाठ है—"त्रिकं काशकृत्स्नीयम्"। इन दोनों उदाहरणों की तुलना से स्पष्ट है

१. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नमिति। २. देखो पूर्व पृष्ठ ४८। ३. कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप २।१।५० ॥ ५।१।२१ ॥ भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय स्वोपज्ञटीका, काण्ड १ पृष्ठ ४०। उस पर वृषभदेव की टीका पृष्ठ ४१। ४ तुलना करो—त्रिकाः काशकृत्स्नाः। चान्द्रवृत्ति ३।१।४२ तथा काशिका और शब्दकौस्तुभ ४।२।६५ ॥

कि दोनों में निश्चय से किसी एक ग्रन्थ का संकेत है, परन्तु दोनों पदों में श्रूयमाण तद्धित प्रत्यय के नियम से एक "काशकृत्स्नि" प्रोक्त है और दूसरा "काशकृत्स्न" प्रोक्त।[1] महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में ग्रन्थवाची पाणिनीय और आपिशल के साथ 'काशकृत्स्न' पद पढ़ा है उस से व्यक्त है कि पतञ्जलि उस को काशकृत्स्नि प्रोक्त मानता है। पतञ्जलि ने काशकृत्स्नि आचार्य प्रोक्त मीमांसा का असकृत् उल्लेख किया है।[2] महाकवि भास के नाम से प्रसिद्ध यज्ञफल नाटक में भी काशकृत्स्नि प्रोक्त काशकृत्स्न मीमांसा शास्त्र का उल्लेख है।[3] कात्यायन ने भी अपने श्रौत में काशकृत्स्नि आचार्य का उल्लेख किया है।[4] अमोघावृत्ति के "काशकृत्स्नीयम्" निर्देश के अनुसार व्याकरणप्रवक्ता काशकृत्स्न है।[5] वोपदेव ने भी आठ वैयाकरणों में काशकृत्स्न नाम का उल्लेख किया है।[6] बौधायन गृह्य में याज्ञिक काशकृत्स्न का मत निर्दिष्ट है।[7] भट्टभास्कर ने अपने रुद्राध्याय के भाष्य में काशकृत्स्न का एक यजुःसम्बन्धि मत उद्धृत किया है।[8] वेदान्तसूत्र में भी काशकृत्स्न का मत उल्लिखित है।[9] इन सब निर्देशों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि सर्वत्र काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न नाम से एक ही व्यक्ति का निर्देश है।

---

१. काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नम्। इञश्च [अष्टा० ४।२।११२] से गोत्रप्रत्ययान्त से अण्प्रत्यय। आपिशलं काशकृत्स्नमिति—आपिशलिकाशकृत्स्निशब्दाभ्यामिञश्चेत्यण्। न्यास ४।३।१०१॥ काशकृत्स्नेन प्रोक्तं काशकृत्स्नीयम्। वृद्धाच्छः (अष्टा० ४।२।११४) सूत्र से युवप्रत्ययान्त से छ [= ईय] प्रत्यय। न्यासकार ने ६।२।३६ पर "काशकृत्स्नेन प्रोक्तमित्यण्" लिखा है, वह अशुद्ध है। ४।२।११४ से प्राप्त छ का निषेध कौन करेगा। अतः यहां न्यास ४।३।१०१ के सदृश 'काशकृत्स्निना प्रोक्तमित्यण्' पाठ होना चाहिये॥ २. महाभाष्य ४।१।१४,६३॥४।३।१५५॥

३. काशकृत्स्नं मीमांसाशास्त्रम्। अंक ४, पृष्ठ ११६। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता अभी परीक्षणीय है। ४. मद्यस्त्वं काशकृत्स्निः।४।३।१७॥ ५. देखो इसी पृष्ठ की टि० १। ६. पूर्व पृष्ठ ४८। ७. आधारं प्रकृतिं प्राह दर्विहोमस्य बादरिः। आग्निहोत्रिकं तथात्रेयः काशकृत्स्नस्त्वपूर्वताम्॥ ८. अष्टौ अनुवाका अष्टौ यजूंषि इति काशकृत्स्नः। पूना संस्क० पृष्ठ २६। ९. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। १।४।२२॥

काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न में गोत्र और युवप्रत्ययनिमित्तक भेद है।[1] संस्कृत वाङ्मय में गोत्र और युव प्रत्ययान्त नामों से एक ही व्यक्ति के निर्देश करने की शैली प्रायः देखी जाती है। यथा दाक्षि और दाक्षायण, पाणिन और पाणिनि, कात्य और कात्यायन।[2] अतः यहां भी काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न एक ही व्यक्ति है।

वंश—काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न में श्रूयमाण तद्धित प्रत्ययान्तों के अनुसार मूल पुरुष का नाम कशकृत्स्न था। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में कशकृत्स्न की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

कशाभिः कृन्तन्ति "कृतेः क्स्नः कृत्यार्थे च ह्रस्वश्च बहुलम्" इत्यनेन ह्रस्वत्वे कशकृत्स्नः।[3]

अर्थात्—'कशा' उपपद होने पर 'कृती छेदने' धातु से 'क्स्न' प्रत्यय होता है और उपपद के आकार को ह्रस्व हो जाता है। वर्धमान ने जो सूत्र उद्धृत किया है उसका मूल अन्वेषणीय है।

कशकृत्स्न का अपत्य काशकृत्स्नि "अत इञ्[4]" से इञ्। काशकृत्स्नि का अपत्य युवा काशकृत्स्न। यहां अष्टाध्यायी ४।१।१०१ से प्राप्त फक् को बाध कर "ऋष्यन्धक०"[5] इत्यादि से अण् होता है।

आचार्य—तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में काशकृत्स्न को बादरायण का शिष्य लिखा है।[6] बादरायण कृष्णद्वैपायन का ही नाम है ऐसा ऐतिहासिकों का मत है।[7]

देश—काशकृत्स्न आचार्य कहां का निवासी था यह अज्ञात है। पाणिनि के अरीहणादि गण में काशकृत्स्न पद पढ़ा है। वर्धमान यहां कशकृत्स्न पद पढ़ता है।[8] तदनुसार काशकृत्स्न या कशकृत्स्न से निर्मित

---

१. कशकृत्स्न का अपत्य 'अत इञ्' [४।१।९५] से इञ्। काशकृत्स्नि का अपत्य युवा 'ऋष्यन्धक०' [४।१।११४] से अण्।

२. इन के उद्धरण अपने अपने प्रकरण में देख, वहां देखो।

३. पृष्ठ ३४। ४. अष्टा० ४।१।९५॥ ५. अष्टा० ४।१।११४॥

६. ग्यारहवीं अखिल भारतीय ओरियण्टल कान्फ्रेंस हैदराबाद १९४१ के लेखों का संक्षेप, पृष्ठ ८५, ८६ ७. श्री. पं० भगवद्दत्तजी रचित वैदिकवाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण और आरण्यक भाग, पृष्ठ ८९। ८. गणरत्नमहोदधि श्लोक २८६ पृष्ठ १७५।

या इन का निवास जहां पर था वह देश (नगर आदि) काशकृत्स्नक कहाता था। काशकृत्स्नक देश कहां था यह अज्ञात है।

काल

काशकृत्स्न का नाम पाणिनीय सूत्रों में उपलब्ध नहीं होता, यह हम पूर्व लिख चुके, परन्तु पाणिनीय गणपाठ के उपकादि-गण[1] में 'कशकृत्स्न'[2] और अरीहणादिगण[3] में 'काशकृत्स्न'[4] पद का पाठ मिलता है। इस से व्यक्त है कि काशकृत्स्न आचार्य पाणिनि से प्राचीन है। क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय का विचार है कि काशकृत्स्न पाणिनि का पूर्ववर्ती नहीं है।[5] यह विचार नितान्त अशुद्ध है, यह पाणिनीय गणपाठ में कश-कृत्स्न और काशकृत्स्न पदों का उल्लेख होने से स्पष्ट है। बोधायन श्रौत में काशकृत्स्न गोत्र का उल्लेख है।[6] वेदान्तसूत्र निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन हैं। अतः उनमें स्मृत आचार्य कृष्ण द्वैपायन का समकालिक या उससे प्राचीन होगा। महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में क्रमशः पाणिनीय, आपिशल और काशकृत्स्न ग्रन्थों का नाम मिलता है। अतः कालक्रमानुसार पाणिनि से प्राचीन आपिशलि और उससे प्राचीन काशकृत्स्न प्रतीत होता है।

वामन ने काशिका ६।२।३६ पर तीन उदाहरण दिये हैं—

आपिशलपाणिनीयाः। पाणिनीयरौढीयाः। रौढीयकाशकृत्स्नाः।

इनमें आपिशलि निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है। यदि इसी प्रकार अगले उदाहरणों में व्यवस्था मानी जाय तो पाणिनि से अर्वाचीन रौढि

---

१. अष्टा० २।४।६९॥ २. काशिका, चान्द्रवृत्ति और जैनेन्द्रमहावृत्ति में 'काशकृत्स्न' पाठ मिलता है, वह अशुद्ध है। भोज और वर्धमान ने 'कशकृत्स्न' पाठ माना है। देखो क्रमशः सरस्वतीकण्ठाभरण ४।१।१९४ तथा गणरत्नमहोदधि श्लोक ३०, पृष्ठ ३३, ३४। वर्धमान ने विश्रान्तविद्याधर व्याकरण के कर्त्ता वामन के मत में 'कसकृत्स्न' पाठ दर्शाया है। ग० म० पृष्ठ ३४। वर्धमान द्वारा यहां काशकृत्स्न पाठान्तर का उल्लेख न होने से व्यक्त है कि उसके समय में काशिकादि ग्रन्थों में 'कशकृत्स्न' ही पाठ था, अतः सम्प्रति उपलभ्यमान 'काशकृत्स्न' प्रमादपाठ है।

३. अष्टा० ४।२।८०॥ ४. वर्धमान के मत में यहां भी कशकृत्स्न पाठ है। ग० म० श्लोक २८६, पृष्ठ १७५। ५. टैक्निकल टर्म्स ऑफ संस्कृत ग्रामर सन् १९४८ पृ० २। ६. प्रवराध्याय ३।

और उससे अर्वाचीन काशकृत्स्न होगा। परन्तु यह कालक्रम पूर्वोक्त प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण अनभिप्रेत है। वर्धमान के मतानुसार "पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयपाणिनीयाः" दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं।[1] अतः स्पष्ट है कि काशिका के पूर्वोक्त उदाहरणों में कालक्रम अभिप्रेत नहीं है। यदि तत्त्वरत्नाकर-ग्रन्थकार का लिखना सत्य[2] हो तो काशकृत्स्न भारतयुद्धकालीन व्यक्ति होगा अर्थात् उसका काल विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा, अन्यथा कृष्ण द्वैपायन विरचित ब्रह्मसूत्रों में काशकृत्स्न का उल्लेख होने से वह कुछ और प्राचीन होगा।

ग्रन्थ-परिचय

परिमाण—काशिका और अमोघा वृत्ति के पूर्वोद्धृत[3] "त्रिकं काशकृत्स्नम्, त्रिकं काशकृत्स्नीयम्" उदाहरणों से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न के किसी ग्रन्थ में तीन अध्याय थे। कई ग्रन्थकारों के मत में चतुरध्यायात्मक संकर्षकाण्ड अर्थात् दैवतमीमांसा काशकृत्स्न विरचित है।[4] यदि यह ठीक हो तो काशिका और अमोघा वृत्ति का संकेत निश्चय ही काशकृत्स्न के व्याकरण ग्रन्थ के लिये होगा। काशिका ५।१।५८ और अमोघावृत्ति ३।२।१६१ में इसके साथ जो "अष्टकं पाणिनीयम्" आदि उदाहरण दिये हैं वे सब व्याकरण-ग्रन्थ-परक हैं अतः साहचर्य नियम से "त्रिकं काशकृत्स्नम्" में निर्दिष्ट ग्रन्थ भी व्याकरणग्रन्थ ही प्रतीत होता है।

वैशिष्ट्य—काशिका ४।३।११५ पर निम्न उदाहरण दिये हैं—

काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्। आपिशलं पुष्करणम्।

सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२४६ की हृदयहारिणी टीका में इस प्रकार पाठ है—

चान्द्रमसंज्ञक व्याकरणम्। काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्। आपिशलमान्तःकरणम्।

१. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ९६।

२. देखो पूर्व पृष्ठ ८०। ३. देखो पूर्व पृष्ठ ७८।

४. तत्त्वरत्नाकर में बादरायण के शिष्य काशकृत्स्न को दैवतकाण्ड का कर्त्ता लिखा है। माध्वाचार्य के मतानुसार दैवमीमांसा शेष और पैल विरचित है। ये दोनों बादरायण के शिष्य थे। देखो ग्यारहवीं ओरियण्टल कान्फ्रेंस हैदराबाद सन् १९४१ के लेखों का संक्षेप, पृष्ठ ८५, ८६।

जैनशाकटायन ३।१।१८२ की चिन्तामणिवृत्ति में निम्न उदाहरण दिये हैं—

पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्। काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्।

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न व्याकरण की विशेषता "गुरुलाघव"[1] है। काशिका के टीकाकारों ने इस पद का अर्थ स्पष्ट नहीं किया, परन्तु एतादृश अन्य उदाहरणों[2] की तुलना से विदित होता है कि व्याकरणशास्त्र की सूत्ररचना में गुरुलाघव (गौरव-लाघव) का विचार सबसे प्रथम काशकृत्स्न आचार्य ने प्रारम्भ किया था। उस से पूर्व सूत्ररचना में गौरव लाघव का विचार नहीं किया जाता था।[3]

---

१. तुलना करो—गुरुलाघवचिन्तेयं प्रायेणाल्पबलान् प्रति। चरक सूत्र० २७। ३४२। आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम्। मनु० ९।२९९॥ भरतनाट्यशास्त्र ५।१८२,१८८,१९१॥ ३१।१३,४५६। भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि। शाकुन्तल नाटक ५।३१ से आगे। न प्रपञ्चे गुरुलाघवं चिन्त्यते। न्यास भाग १, पृष्ठ २८२, २८३। पर्यायशब्दानां गुरुलाघवचर्चा नाद्रियते। सीरदेव-परिभाषावृत्ति, संख्या १२५। दुर्घटवृत्तिकार शरणदेव इस परिभाषा को महाभाष्यकार का वचन मान कर 'गुरुलाघव' पद का साधुत्व मानता है। प्रक्रियासर्वस्व का कर्ता नारायण भट्ट भोज के मत में उत्तरपद-वृद्धि मानता है—गुरुलघ्वादेरुत्तरपदवृद्धिमाह भोजः (सं० क० ७।१।२१) दोषस्य गुरुलाघवम्। तद्धित प्रकरण सूत्र ७।७। नागेशभट्ट गुरुलाघव पद को अपशब्द समझता है। अतः वह पूर्वोक्त परिभाषा को "पर्यायशब्दानां गौरवलाघवचर्चा नाद्रियते" इस प्रकार पढ़ता है, परिभाषेन्दुशेखर संख्या १२४। यह उसकी भूल है। महाभाष्यकार के शब्दों में "प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः, नत्विष्टिज्ञः, इष्यत एतद् रूपम् (२।४।५६) यहां कहा जा सकता है। देखो—मयादिषु गुरुता लाघवं परीक्ष्यम्। कामसूत्र ६।१।२०॥

२. पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्। काशिका २।४।२१॥ चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्। वामनीय लिङ्गानुशासन, पृष्ठ ७। देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्। जैनेन्द्र १।४।९७ की अभयनन्दी टीका।

३. हमारा विचार है काशकृत्स्न से पूर्व सूत्ररचना सम्भवतः ऋक्प्रातिशाख्य के समान श्लोकबद्ध होती होगी। छन्दोबद्ध सूत्र रचना होने पर गौरव लाघव का विचार पूर्णतया नहीं रक्खा जा सकता। उसमें श्लोकपूर्त्यर्थ अनेक अनावश्यक पदों का समावेश करना पड़ता है। कई स्थानों में चकारादि पद अस्थान में भी पढ़ने पड़ते हैं। पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी कहीं कहीं प्राचीन छन्दोबद्ध व्याकरण की छाया उपलब्ध होती है। यथा—"पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति (अष्टा० ४।४।३५,३६)। ये दोनों सूत्र अनुष्टुप् के दो चरण हैं। सूत्र ३६ में 'च' पद श्लोकरचना के अनुरोध से ही मध्य में पढ़ा है,

काशिका ६।२।१४ में "आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्" पाठ मिलता है। हमारा विचार है यहां 'आपिशल्युपज्ञं' और "गुरुलाघवम्" के मध्य में पाठ त्रुटित है। अन्यथा पूर्वोद्धरणों से विरोध होगा।

काशकृत्स्न व्याकरण के उपलब्ध सूत्र

विविधग्रन्थों के पारायण से हमें काशकृत्स्न व्याकरण के निम्न सूत्र उपलब्ध हुए हैं—

१. धातुः साधने, दिशि पुरुषे, चिति तदाख्यातम्।[1]

२. लिङ्गं किमिति विभक्तौ एतन्नाम।[2]

३. प्रत्ययोत्तरपदयोः[3]।

४. शताच्च ठन्यतावग्रन्थे।[4]

५. आश्वस्तः—निष्ठायामिटं नेच्छन्ति काशकृत्स्ना इति स्वामि-काश्यपौ।[5]

न्यूनता—आचार्य भर्तृहरि प्रकीर्ण काण्ड के वृत्तिसमुद्देश में लिखता है—

अन्यथा 'हन्ति' अर्थ का समुच्चायक होने से 'तिष्ठति च' ऐसा निर्देश करना चाहिये। अत एव काशिकाकार लिखता है—'चकारो भिन्नक्रमः प्रत्ययार्थं समुच्चिनोति'। चन्द्रगोमी ने और उत्तरवर्ती अन्य वैयाकरणों ने 'परिपन्थं तिष्ठति च' ऐसा ही सूत्र बनाया है। देखो चान्द्र ३।४।३३, जैन शाकटायन ३।२।३३, सरस्वतीकण्ठाभरण ४।४।८८॥ श्लोकबद्ध किसी प्राचीन व्याकरण के "समानस्य तदादेश्च" इत्यादि तीन श्लोक ४।३।६० के महाभाष्य में उद्धृत हैं। टीकाकारों ने इन को वार्तिक मानकर व्याख्या में कई असंबद्ध कल्पनाएं की हैं।

१. वाक्यपदीय भर्तृहरिविरचित स्वोपज्ञ टीका, भाग १, पृष्ठ ४०। धातुरिति काशकृत्स्नानां सूत्रम्। पूर्वोक्त ग्रन्थ की वृषभदेव की टीका, भाग १, पृष्ठ ४१।

२. देखो इसी पृष्ठ की टिप्पणी १।

३. काशकृत्स्नस्य 'प्रत्ययोत्तरपदयोः" सूत्रम्, तद्विचारयति। कैयट, भाष्यप्रदीप २।१।५०॥ ४. आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थे इति वचनात्। कैयट भाष्यप्रदीप ५।१।५०॥ यहां कैयट ने पाणिनिसूत्र से जितना अंश भिन्न था उसका निर्देश किया है। शेष अंश पाणिनीयसूत्रवत् समझना चाहिये। हमने ऊपर पूरा सूत्र दिया है।

५. यह सूत्र नहीं है, काशकृत्स्न का मत उद्धृत है। धातुवृत्ति, पृष्ठ २६४।

तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे ।[1]

इसकी व्याख्या करते हुए हेलाराज ने लिखा है— "आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में "तदर्हम"[2] सूत्र नहीं था। अत एव महाभाष्यकार ने इस पाणिनीय सूत्र का प्रत्याख्यान किया है ऐसा प्रतीत होता है। महाभाष्यकार तन्त्रान्तर में निर्धारित अर्थ को अपने शब्दों में कहता है।"[3]

यहां हेलाराज का "महाभाष्यकार ने 'तदर्हम्' सूत्र का प्रत्याख्यान किया है" लिखना अयुक्त है। महाभाष्यकार ने इस सूत्र पर "**किमर्थमिदमुच्यते ? न 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' इत्येव सिद्धम्**" शंका उठाकर प्रयत्नपूर्वक 'तदर्हम्' सूत्र की सार्थकता सिद्ध की है। आपिशलि और काशकृत्स्न के प्राचीन व्याकरणों में ऐसे सूत्र के न होने से आशंका उठनी स्वाभाविक है।

महाभाष्य ५।१।११७ के परिशीलन से यह संभावना प्रतीत होती है कि पतञ्जलि ने पाणिनि के जिन सूत्रों के विषय में "**किमर्थमिदमुच्यते**" आशङ्का उठाकर प्रयत्नपूर्वक उनकी सार्थकता सिद्ध की है वे सूत्र पाणिनि के स्वोपज्ञात हैं, अर्थात् उससे पूर्व व्याकरणों में वे नहीं थे। यदि यह बात किसी अन्य सुदृढ़ प्रमाण से भी निश्चित हो जाय तो हम पाणिनि के स्वोपज्ञात सूत्रों की गणना बड़ी सरलता से कर सकते।

अन्य ग्रन्थ

हम पूर्व लिख चुके हैं कि पातञ्जल महाभाष्य में काशकृत्स्नि-प्रोक्त मीमांसा का बहुधा उल्लेख मिलता है। यज्ञफल नाटक में भी '**काशकृत्स्न मीमांसाशास्त्रम्**' निर्देश उपलब्ध होता है। कई लेखकों के मत में संकर्ष-काण्ड अर्थात् दैवत मीमांसा काशकृत्स्न प्रोक्त है। अतः यह स्पष्ट है कि काशकृत्स्न ने किसी मीमांसाशास्त्र का प्रवचन किया था। यदि वह संकर्ष-काण्डरूपी चतुरध्यायी हो तो सम्भव है वह हमें इस समय प्राप्त दैवत-काण्ड होगा। काशी से प्रकाशित संकर्षकाण्ड में सूत्र और व्याख्या का

१. वाक्यपदीय काण्ड ३ पृष्ठ ७१४, काशी संस्क० ।

२. अष्टा० ५।१।११७ ॥

३. आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते, अतोऽवसीयते प्रत्याख्यानमस्य। तथाहि भाष्यकारः तन्त्रान्तरादेवासितमर्थं स्ववचनेनोपदिदेश । वाक्यपदीयटीका, काण्ड ३, पृष्ठ ७१४, काशी संस्क० ।

भेद उपलब्ध नहीं होता। हमारा विचार है जिस हस्तलेख के आधार पर वह ग्रन्थ छपा है उसमें सूत्र की केवल प्रतीकें दी गई हैं। संकर्षकाण्ड पर भवत्रात की एक प्राचीन व्याख्या भी उपलब्ध होती है, परन्तु वह अभी प्रकाशित नहीं हुई। उसका मुद्रण अत्यन्त आवश्यक है।

८—वैयाघ्रपद्य (३१०० वि० पू०)

आचार्य वैयाघ्रपद्य का नाम पाणिनीय व्याकरण में उपलब्ध नहीं होता। काशिका ७।१।९४ में लिखा है—

गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः।[1]

इस उद्धरण से वैयाघ्रपद्य का व्याकरण प्रवक्तृत्व विस्पष्ट है।

परिचय

वैयाघ्रपद्य के गोत्र प्रत्ययान्त होने से इसके पितामह का नाम व्याघ्रपात् है।

काल

पाणिनि ने व्याघ्रपात् पद गर्गादिगण[2] में पढ़ा है। उस से यञ् प्रत्यय होकर वैयाघ्रपद्य पद निष्पन्न होता है। वैयाघ्रपद्य नाम शतपथ ब्राह्मण[3], जैमिनि ब्राह्मण, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[4] तथा शांख्यायन आरण्यक[5] आदि में उपलब्ध होता है। यदि यही वैयाघ्रपद्य व्याकरणप्रवक्ता हो तो वह अवश्य ही पाणिनि से प्राचीन होगा।

काशिका ८।२।१ में उद्धृत "शुष्किका शुष्कजङ्घा च" कारिका को भट्टोजिदीक्षित ने वैयाघ्रपद्यविरचित वार्तिक माना है।[6] अतः यदि यह वचन पाणिनीय सूत्र का प्रयोजन वार्तिक हो तो निश्चय ही वार्तिककार वैयाघ्रपद्य अन्य व्यक्ति होगा। हमारा विचार है यह कारिका वैयाघ्रपदीय व्याकरण की है। परन्तु पाणिनीय सूत्र के साथ भी संगत होने से प्राचीन वैयाकरणों ने इसका सम्बन्ध पाणिनि के 'पूर्वत्रासिद्धम्[7]' सूत्र से जोड़ दिया। महाभाष्य में यह कारिका नहीं है।

१. व्याघ्रपादपत्यानां मध्ये वरिष्ठो वैयाघ्रपद्य आचार्यः। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७३६॥ २. अष्टा० ४।१।१०५॥ ३. १०।६।१।७,८॥ ४. ३।७।३।२॥ ४।६।१।१॥ ५. ९।७॥ ६. अत एव शुष्किका..........इति वैयाघ्रपद्यवार्तिके जिशब्द एव पठ्यते। शब्दकौस्तुभ १।१।५८॥ ७. अष्टा० ८।२।१॥

वैयाघ्रपदीय व्याकरण का परिमाण

काशिका ४।२।६५ में उदाहरण दिया है—"दशकाः वैयाघ्रपदीयाः"। इसी प्रकार काशिका ५।१।५८ में पढ़ा है—"दशकं वैयाघ्रपदीयम्"। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि वैयाघ्रपद्य प्रोक्त व्याकरण में दश-अध्याय थे।

पं० गुरुपदहालदार ने इस व्याकरण का नाम वैयाघ्रपद लिखा है और इसके प्रवक्ता का नाम व्याघ्रपात् माना है।[1] यह ठीक नहीं है; यह हमारे पूर्वोद्धृत उदाहरणों से विस्पष्ट है। यदि वहां व्याघ्रपाद् प्रोक्त व्याकरण अभिप्रेत होता तो "दशकं व्याघ्रपदीयम्" प्रयोग होता है। हां महाभाष्य ६।२।३६ में एक पाठ है—आपिशलपाणिनीयव्याडीय-गौतमीयाः। इस में "व्याडीय" का एक पाठान्तर "व्याघ्रपदीय" है। यदि यह पाठ प्राचीन हो तो मानना होगा कि आचार्य व्याघ्रपात् ने भी किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था।

इस से अधिक हम इस व्याकरण के विषय में नहीं जानते।

६—माध्यन्दिनि (३००० वि० पू०)

माध्यन्दिनि आचार्य का उल्लेख पाणिनीयतन्त्र में नहीं है। काशिका ७।१।९४ में एक कारिका उद्धृत है—

संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि, गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः॥

कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका के रचयिता त्रिलोचनदास ने इस कारिका को व्याघ्रभूति के नाम से उद्धृत किया है।[2] सुपद्ममकरन्दकार ने भी इसे व्याघ्रभूति का वचन माना है।[3] न्यासकार और हरदत्त इसे आगमवचन लिखते हैं।[4]

---

१. व्याक० दर्शनेर इति० पृष्ठ ४४४।

२. कातन्त्र चतुष्टय १००। ३. सुपद्म सुबन्त २४।

४. अनन्तरोक्तमर्थमागमवचनेन द्रढयति। न्यास ७।१।९४॥ तदाप्तागमेन द्रढयति तथा चोक्तम्………। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७३६।

इस वचन में माध्यन्दिनि आचार्य के मत में "उशनस्" शब्द के संबोधन में "हे उशनः, हे उशनन्, हे उशन" ये तीन रूप दर्शाये हैं। इससे स्पष्ट है कि माध्यन्दिनि आचार्य किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता था।

परिचय

माध्यन्दिनि पद अपत्यप्रत्ययान्त है। तदनुसार इसके पिता का नाम मध्यन्दिन था।[1] पाणिनि के मत में बाह्वादि गण[2] को आकृतिगण मान कर ऋष्यण् को बाधकर 'इञ्' प्रत्यय होता है। जैन शाकटायनीय गण-पाठ के बाह्वादि गण में इसका साक्षान्निर्देश किया है।[3]

काल

पाणिनि ने माध्यन्दिनि के पिता मध्यन्दिन का निर्देश उत्सादिगण[4] में किया है। मध्यन्दिन वाजसनेय याज्ञवल्क्य का साक्षात् शिष्य है।[5] उसने याज्ञवल्क्यप्रोक्त शुक्लयजुः संहिता के पदपाठ का प्रवचन किया था। माध्यान्दिनी संहिता के अध्येता माध्यन्दिनों एक मत शुक्लयजुःप्रतिशाख्य में उद्धृत है।[6] इन प्रमाणों से व्यक्त है कि मध्यन्दिन का पुत्र माध्यन्दिनि आचार्य पाणिनि से प्राचीन है इसका काल विक्रम से लगभग ३००० वर्ष पूर्व है।

मध्यन्दिन के ग्रन्थ

शुक्लयजुःपदपाठ — माध्यन्दिनि के पिता आचार्य मध्यन्दिन ने याज्ञवल्क्य प्रोक्त प्राचीन यजुःसंहिता के पदपाठ का प्रवचन किया था (मन्त्र-पाठ में उसने कोई परिवर्तन नहीं किया)। इसीलिये इस संहिता के हस्त-लिखित ग्रन्थों में इसे बहुधा यजुर्वेद या वाजसनेय संहिता कहा गया है।

---

१. मध्यन्दिनस्यापत्यं माध्यन्दिनिराचार्यः। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७३९।

२ अष्टा० ४।१।९६॥ ३. जैन शाकटायन व्याक० परिशिष्ट पृष्ठ ८२।

४. अष्टा० ४।१।८६॥ ५. याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्व-वधेय-शालिनः। मध्यन्दिनश्च शापेयी विदग्धश्चाप्युद्दालकः। वायु पुराण ६१।२४।२५॥ यही पाठ कुछ भेद से ब्राह्मण पूर्वभाग अ० ३५ श्लो० २८ में भी मिलता है। ६. तस्मिन् ळहळाजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानां, लकारो दीर्घः, प्लुताश्चोक्तवर्जम्। ८।३५॥

अन्यत्र भी इसे शुक्लयजुः शाखाओं का मूल कहा है।[1] ग्रन्थ की आन्तरिक साक्षी भी इस की पुष्टि करती है।[2] केवल पदपाठ के प्रवचन से भी प्राचीन संहिताएं पदकार के नाम से व्यवहृत होने लगती हैं। यथा—शाकल्य के पदपाठ से मूल ऋग्वेद शाकल संहिता और आत्रेय के पदपाठ के कारण प्राचीन तैत्तिरीय संहिता आत्रेयी कहाती है।[3] इसी प्रकार मध्यन्दिन के पदपाठ के कारण प्राचीन यजुःसंहिता माध्यन्दिनी संहिता के नाम से व्यवहृत हुई।

माध्यन्दिन-शिक्षा—काशी से एक शिक्षासंग्रह छपा है। उस में दो माध्यन्दिनी शिक्षाएं छपी हैं। एक लघु और दूसरी बृहत्। इन में माध्यन्दिनसंहितासंबन्धी स्वर आदि के उच्चारण की व्यवस्था है। ये दोनों शिक्षाएं अर्वाचीन हैं। इन का मूल वाजसनेय प्रातिशाख्य है। इस विषय में विशेष "शिक्षा-शास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ में देखें।

१०—रौढि (३००० वि० पू०)

आचार्य रौढि का निर्देश पाणिनीय तन्त्र में नहीं है। वामन काशिका ६।२।३६ में उदाहरण देता है—"**आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः**"। इन में श्रुत आपिशलि, पाणिनि और काशकृत्स्न निस्सन्देह वैयाकरण हैं। अतः इनके साथ स्मृत रौढि आचार्य भी वैयाकरण होगा।

---

१. तथा चेदं होलीरभाष्यम् यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकः।........ तस्मान्माध्यन्दिनीयशाखा एव पञ्चदशसु वाजसनेयशाखासु मुख्या सर्वसाधारणी च। अत एव वसिष्ठेनोक्तम्—माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा। राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय मद्रास का सूचीपत्र भाग ३ पृष्ठ ३४२६, ग्रन्थ नं० २४०६ अनिर्ज्ञातनाम पुस्तक का मुद्रित पाठ। देखो 'माध्यन्दिनी संहिता मूल यजुर्वेद है' मेरा लेख—दयानन्दसन्देश, देहली, सन् १९४२ का फरवरी मास का अंक पृष्ठ ६२०।

२. देखो—श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १. पृष्ठ ७५, ७६। तथा इसी विषय पर मेरा लेख आर्यजगत् लाहौर, सं० २००३, चैत्र।

३. उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने। तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते॥ यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः। तै० काण्डानुक्रम, पृष्ठ ६ श्लोक २६, २७। तै० सं० भट्टभास्करभाष्य भाग १ के अन्त में मुद्रित।

परिचय

वंश—रौढि पद अपत्यप्रत्ययान्त है, तदनुसार इस के पिता का नाम नाम रूढ है।

स्वसा—वर्धमान ने क्रौड्यादिगण में रौढि पद पढ़ा है। तदनुसार रौढि की स्वसा का नाम रौढ्या था। महाभाष्य ४।१।७९ से भी इसकी पुष्टि होती है। पाणिनि के गणपाठ में रौढि पद उपलब्ध नहीं होता।

सम्पन्नता—पतञ्जलि ने महाभाष्य १।१।७३ में "**घृतरौढीयाः**" उदाहरण दिया है। जयादित्य ने इसका भाव काशिका १।१।७३ में इस प्रकार व्यक्त किया है—**घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः, तस्य छात्राः घृतरौढीयाः**। इस से व्यक्त होता है कि यह आचार्य अत्यन्त सम्पन्न था। इस ने अपने अन्तेवासियों के लिये घृत की व्यवस्था विशेष रूप से कर रक्खी थी। इसी भाव का पोषक एक उदाहरण काशिका ६।२।६९ में भी है। उसका अभिप्राय है—जो छात्र रौढिप्रोक्त शास्त्र में श्रद्धा न रख कर केवल घृतभक्षण के लिये उसके शास्त्र को पढ़ते हैं उनकी 'घृतरौढीय' इस पद से निन्दा की जाती है।

काल

रौढि पद पाणिनीय अष्टक तथा गणपाठ में उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य ४।१।७९ में लिखा है—

सिद्धन्तु रौढ्यादिषूपसंख्यानात्। सिद्धमेतत्, कथं? रौढ्यादिषूपसंख्यानात्। रौढ्यादिषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। के पुना रौढ्यादयः? ये क्रौड्यादयः।

इस पर कैयट लिखता है—"क्रौड्यादि के स्थान में वार्तिकपठित रौढ्यादि पद पूर्वाचार्यों के अनुसार है।" इसका यह अभिप्राय है कि पूर्वाचार्य पाणिनीय "क्रौड्यादिभ्यश्च"[1] सूत्र के स्थान में "**रौढ्यादिभ्यश्च**" पढ़ते थे। इस से स्पष्ट है कि रौढि आचार्य पाणिनि से पौर्वकालिक है।

११—शौनकि (३००० वि० पू०)

चरक संहिता के टीकाकार जज्झट ने चिकित्सास्थान २।२७ की व्याख्या में आचार्य शौनकि का एक मत उद्धृत किया है। पाठ इस प्रकार है—

---

१. अष्टा० ४।१।८०॥

"व्युत्पादितः करोतेरपि कर्तृत्वे दीर्घत्वं शास्ति शौनकिः।
इस प्रमाण से प्रतीत होता है आचार्य शौनकि ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था।

परिचय तथा काल

शौनकि पद अपत्यप्रत्ययान्त है, तदनुसार इसके पिता का नाम शौनक है। सम्भव है यह ब्रह्मज्ञाननिधि गृहपति शौनक का पुत्र हो। इस का काल विक्रम से ३००० तीन सहस्र वर्ष प्राचीन है। इस से अधिक हम शौनकि के विषय में नहीं जानते।

१२—गौतम (३००० वि० पू०)

गौतम का नाम पाणिनीय तन्त्र में नहीं मिलता। महाभाष्य ६।२।३६ "**आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः**" प्रयोग मिलता है। इस में स्मृत आपिशलि, पाणिनि और व्याडि ये तीन वैयाकरण हैं। अतः इन के साथ स्मृत आचार्य गौतम भी वैयाकरण प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[1] और मैत्रायणीय[2] प्रातिशाख्य से होती है। उस में आचार्य गौतम का मत उद्धृत है।

महाभाष्य के उद्धरण से इस बात की कुछ प्रतीति नहीं होती कि गौतम पाणिनि से पूर्ववर्ती है या उत्तरवर्ती। परन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्लाक्षि कौण्डिन्य और पौष्करसादि के साथ गौतम का निर्देश होने से वह पाणिनि से निस्सन्देह प्राचीन है। यह वही आचार्य प्रतीत होता है जिसने गौतम-गृह्य, गौतम धर्मशास्त्र बनाए। वह शाखाकार था। गौतमप्रोक्त गौतमी शिक्षा इस समय उपलब्ध है। यह काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रह में छपी है। इस के विषय में "शिक्षाशास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ में विस्तार से लिखेंगे।

१३–व्याडि (२८५० वि० पू०)

आचार्य व्याडि का निर्देश पाणिनीय सूत्रपाठ में नहीं मिलता। आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं।[3]

---

१. प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थं तस्य सस्थानं प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम्। ५।३८॥ २. मै० प्रा० ५।४०॥ ३. ऋक्प्राति० २।२३।२८॥ ३।१४३॥ १३।३१,३७॥

भाषावृत्ति ६।१।७० में पुरुषोत्तमदेव ने गालव के साथ व्याडि का एक मत उद्धृत किया है।[1] गालव शब्दानुशासन का कर्त्ता है और पाणिनि ने अष्टाध्यायी में उसका चार स्थानों पर उल्लेख किया है।[2] महाभाष्य ६।२।३६ में "आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः" प्रयोग मिलता है। इसमें प्रसिद्ध वैयाकरण आपिशलि और पाणिनि के अन्तेवासियों के साथ व्याडि के अन्तेवासियों का निर्देश है। ऋक्प्रातिशाख्य १३।३१ में शाकल्य और गार्ग्य के साथ व्याडि का बहुधा उल्लेख है।[3] शाकल्य[4] और गार्ग्य[5] दोनों का स्मरण पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में किया है। इनसे स्पष्ट है कि व्याडि ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था।

परिचय और काल

व्याडि का दूसरा नाम दाक्षायण है। इसे वामन ने काशिका ६।२।६९ में दाक्षि के नाम से स्मरण किया है।[6] यह दाक्षीपुत्र पाणिनि का मामा है। कई विद्वान् दाक्षायण पद से इसे पाणिनि का ममेरा भाई मानते हैं, वह ठीक नहीं। अतः व्याडि का काल पाणिनि से कुछ पूर्व अर्थात् विक्रम से लगभग २८५० वर्ष पूर्व है।

व्याडि के परिचय और काल के विषय में हम "संग्रहकार व्याडि" नामक प्रकरण में विस्तार से लिखेंगे। अतः इस विषय में यहां हम इतना ही संकेत करते हैं।

व्याकरण

जयादित्य ने काशिका २।४।४१ में उदाहरण दिया है—व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्।

न्यास में इसका पाठ 'व्याड्युपज्ञं दशदुष्करणम्' है।

पदमञ्जरी ४।३।११५ में इस उदाहरण की व्याख्या मिलती है। अतः

---

१. इकां यणभिर्व्यवधानं व्याळिगालवयोरिति वक्तव्यम्।

२ अष्टा० ६।३।६१॥ ७।१।७४॥ ७।३।९९॥ ८।४।६७॥

३. व्याडिशाकल्यगार्ग्याः।

४. अष्टा० १।१।१६॥ ६।१।१२७॥ ८।३।१९॥ ८।४।५१॥

५. अष्टा० ७।३।९९॥ ८।३।२०॥ ८।४।६७॥

६. कुमारीदाक्षाः।.......कुमार्यादिलाभकामा ये दाक्षादिभिः प्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयते तच्छिष्यतां वा प्रतिपद्यन्ते त एवं क्षिप्यन्ते। यहां "दाक्षादिभिः" पाठ अशुद्ध है, "दाक्ष्यादिभिः" पाठ होना चाहिये।

प्रतीत होता है कि उसके समय में काशिका ४।३।११५ में भी यह उदाहरण अवश्य विद्यमान था। काशिका के मुद्रित संस्करणों में ४।३।११५ का पाठ अशुद्ध है।[1] न्यासकार २।४।२१ में इस उदाहरण की व्याख्या में लिखता है—

व्याडिरप्यत्र युगपत्कालभाविनां विधीनां मध्ये दशदुष्करणानि कृत्वा परिभाषितवान् पूर्वं पूर्वं कालमिति।[2]

न्यास की व्याख्या में मैत्रेयरक्षित लिखता है—

प्रथमतरं दशदुष्करणानि कृत्वा कालमनद्यतनादिकं परिभाषितवान्।

हरदत्त पदमञ्जरी ४।३।११५ में इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है—

दुष् इत्ययं संकेतशब्दो यत्र क्रियते, यथा पाणिनीये वृदिति, तद् दुष्करणं व्याकरणं कामशास्त्रमित्यन्ये।

न्यासकार, मैत्रेयरक्षित और हरदत्त की व्याख्या अस्पष्ट है। हरदत्त 'कामशास्त्रमित्यन्ये' लिखकर स्वयं संदेह प्रकट करता है।

१ काशिका का मुद्रित पाठ इस प्रकार है—"काशकृत्स्नम्। गुरुलाघवम्। आपिशलम्। पुष्करणम्।" २. पं० गुरुपद हालदार ने लिखा है— सुतरामापिशलिसंबन्धे जयादित्येर मत बुझिते हइवे—आपिशलिस्तु युगपत्कालभाविनां विधीनां मध्ये दश दुष्करणानि कृत्वा कालमनद्यतनादिकं परिभाषितवान्। व्या० द० इ० प्राक्कथन पृष्ठ ४०।

चौथा अध्याय

पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्मृत आचार्य

(२८००-३१०० वि० पू०)

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में दश प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है। उनके पौर्वापर्य का यथार्थ निश्चय न होने से हम उनका वर्णन वर्णानुक्रम से करेंगे।

१—आपिशलि (२९०० वि० पू०)

आपिशलि आचार्य का उल्लेख पाणिनीय अष्टाध्यायी के एक सूत्र में उपलब्ध होता है।[1] महाभाष्य ४।२।४५ में आपिशलि का मत प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।[2] न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि तथा कैयट आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने आपिशल व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं।[3]

परिचय

वंश—आपिशलि शब्द तद्धितप्रत्ययान्त है। काशिका ६।२।३६ में आपिशलि पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाई है—

अपिशलस्यापत्यमापिशलिराचार्यः। अत इञ्।

गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान लिखता है—

आपिशलिः—पिंशतीत्यौणादिककलप्रत्यये पिशलः, न पिशलोऽपिशलः कुलप्रधानम्, तस्यापत्यम्।[4]

इन व्युत्पत्तियों के अनुसार वामन और वर्धमान दोनों के मत में आपिशलि के पिता का नाम "अपिशल" था।

उज्ज्वलदत्त उणादि ४।१२७ की वृत्ति में आपिशलि पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाता है—

---

१. वा सुप्यापिशलेः। अष्टा० ६।१।९२॥ २. एवं च कृत्वाऽऽपिशलेराचार्यस्य विधिरुपपन्नो भवति—धेनुरनञिकमुत्पादयति।

३. न्यास ४।२।४५॥ कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।१।२१॥

४. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १७।

शारिहिंस्रः, कपिलकादित्वाल्लत्वम् । दुःसहोऽपिशलिः । बाह्वादित्वादिञ्—आपिशलिः ।[1]

इस व्युत्पत्ति के अनुसार आपिशलि के पिता का नाम "अपिशलि" होना चाहिये, परन्तु बाह्वादिगण[2] में 'अपिशलि' पद का पाठ न होने से उज्ज्वलदत्त की व्युत्पत्ति चिन्त्य है।

अपिशल शब्द का अर्थ—पिशल का अर्थ है क्षुद्र, अतः अपिशल का अर्थ होगा महान्। वर्धमान ने अपिशल का अर्थ 'कुलप्रधान' किया है।[3] तदनुसार इसकी व्युत्पत्ति "पिश अवयवे+कल (औणादिक) प्रत्ययः, पिश्यत इति पिशलः=क्षुद्रः, न पिशलोऽपिशलः" होगी। वाचस्पत्यकोश में "अपिशलति इति अपिशलः, अच्" व्युत्पत्ति लिखी है।

स्वसा का नाम—आपिशलि पद क्रौड्यादिगण[4] में पढ़ा है। तदनुसार आपिशलि की किसी स्वसा का नाम "आपिशल्या" होगा। अभिनव शाकटायन १। ३। ५ की चिन्तामणि टीका में भी "आपिशल्या" का निर्देश मिलता है।

काल

पाणिनीय अष्टक में आपिशलि का साक्षात् उल्लेख होने से इतना निश्चित है कि यह पाणिनि से प्राचीन है। पदमञ्जरीकार हरदत्त के लेख से प्रतीत होता है कि आपिशलि पाणिनि से कुछ ही वर्ष प्राचीन है। वह लिखता है—

कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनाऽवगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन, आपिशलिना तर्हि केनावगतम् ? ततः पूर्वेण व्याकरणेन ।[5]

पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन्नापिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते, एवमापिशलिः ।[6]

---

१. तुलना करो—अपिशलिर्मुनिविशेषः, तस्यापत्यमापिशलिः, बाह्वादित्वादिञ्। उणादिकोष ४। १२८॥

२. अष्टा० ४। १। ९६॥

३. देखो पूर्व पृष्ठ ६४।

४. अष्टा० ४। १। ८०॥

५. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६।

६. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७।

पाणिनि विक्रम से लगभग २८०० सौ वर्ष प्राचीन है, यह हम पाणिनि के प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध करेंगे।

बौधायन श्रौत के प्रवराध्याय में भृगुवंश्य आपिशलि गोत्र का उल्लेख मिलता है।[1] मत्स्य पुराण १९४।४१ में भी भृगुवंश्य आपिशलि का निर्देश उपलब्ध होता है। पं० गुरुपद हालदार ने आपिशलि को याज्ञवल्क्य का श्वसुर लिखा है,[2] परन्तु कोई प्रमाण नहीं दिया। याज्ञवल्क्य ने शतपथ का प्रवचन विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व किया था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं,। आपिशलि शिक्षा में सात्यमुग्री और राणायन शाखा के अध्येताओं का उल्लेख है।[3]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आपिशलि का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून २९०० वर्ष पूर्व अवश्य है।

आपिशलि-शाला

आपिशलि पद छात्र्यादिगण[4] में पढ़ा है। तदनुसार शाला उत्तरपद होने पर "आपिशलिशाला" में आपिशलि पद को आद्युदात्त होता है।[5] इस से व्यक्त होता है कि पाणिनि के समय में आपिशलि की शाला देशदेशान्तर में अत्यन्त प्रसिद्ध थी।

शाला शब्द का अर्थ—यद्यपि शाला शब्द का मुख्यार्थ गृह है तथापि **"पदेषु पदैकदेशाः प्रयुज्यन्ते"**[6] न्याय के अनुसार यहां शाला शब्द पाठशाला के लिये प्रयुक्त होता है। महाराष्ट्र, गुजरात, पञ्जाब आदि अनेक प्रान्तों में पाठशाला के लिये केवल शाला शब्द का व्यवहार होता है। पुराण पञ्चलक्षण में रैमकशाला का वर्णन है, इस में पैप्पलाद आदि ने

---

१. भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः ...... पैङ्गलायनाः, वैहीनरयः ...... काशकृत्स्नाः ...... पाणिनिर्वाल्मीकिः ...... आपिशलयः। २. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृष्ठ ५१६। ३. छान्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति। ६।६॥ तुलना करो—छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। महाभाष्य, एओङ् सूत्र। ४. गणपाठ ६।२।८६॥ ५. छात्र्यादयः शालायाम् (अष्टा० ६।२।८६) सूत्र से।

६. तुलना करो—पदेषु पदैकदेशान्—देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति। महाभाष्य १।१।४५॥

विद्याध्ययन किया था। अतः पूर्वोक्त आपिशलिशाला का अर्थ निश्चय ही आपिशलि का विद्यालय है।

आपिशल व्याकरण का परिमाण

जैन आचार्य पाल्यकीर्ति अपने शाकटायन व्याकरण की अमोघा वृत्ति ३।२।१६१ में उदाहरण देता है—अष्टका आपिशलपाणिनीयाः। यह उदाहरण शाकटायन व्याकरण की यक्षवर्मकृत चिन्तामणिवृत्ति २।४।१८२ में भी उपलब्ध होता है। इससे विदित होता है कि आपिशल व्याकरण में आठ अध्याय थे। आपिशलिविरचित शिक्षाग्रन्थ में भी आठ ही प्रकरण हैं।

आपिशल व्याकरण की विशेषता

काशिका ४।३।११५ में उदाहरण है—काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलं पुष्करणम्। सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२४६ की हृदयहारिणी टीका में "काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलमान्तःकरणम्[1]" पाठ है। वामन ने ६।२।१४ की वृत्ति में "आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्" उदाहरण दिया है। इन में कौन सा पाठ शुद्ध है यह अभी विचारणीय है। अतः सन्दिग्ध अवस्था में नहीं कह सकते कि आपिशल व्याकरण की अपनी क्या विशेषता थी।

आपिशल व्याकरण का प्रचार

महाभाष्य ४।१।१४ से विदित होता है कि कात्यायन और पतञ्जलि के काल में आपिशल व्याकरण का महान् प्रचार था। उस काल में कन्याएं भी आपिशल व्याकरण का अध्ययन करती थीं।[2]

आपिशल व्याकरण का स्वरूप

पाणिनीय व्याकरण से प्राचीन व्याकरणों में केवल आपिशल व्याकरण ही ऐसा है जिसके सब से अधिक सूत्र उपलब्ध होते हैं। इस के उपलब्ध सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह व्याकरण पाणिनीय

---

१. निरुक्त १।१३ के "एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च" पाठ में 'अन्तकरण' पद प्रयुक्त है। स्कन्दस्वामी ने "अन्तकरण" का अर्थ "प्रत्यय" किया है। क्या सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका का पाठ "अन्तकरण" हो सकता है?

२. आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी।

व्याकरण के सदृश सर्वाङ्गपूर्ण, सुव्यवस्थित तथा उससे कुछ विस्तृत था, और इस में लौकिक वैदिक उभयविध शब्दों का अन्वाख्यान था ।

आपिशल व्याकरण के उपलब्ध सूत्र

शतशः व्याकरणग्रन्थों के पारायण से हमें आपिशल व्याकरण के निम्न सूत्र उपलब्ध हुए हैं—

१. उभस्योभयोऽद्विवचनटापोः ।[1]

२. विभक्त्यन्तं पदम् ।[2]

३. मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषा प्राणिषु ।[3]

४. धेनोरनञः ।[4]

५. शताच्च ठन्यतावग्रन्थे ।[5]

६. शब्विकरणे गुणः ।[6]

७. करोतेश्च ।[7]

८. मिदेश्च ।[8]

---

१. आपिशलिस्त्वेनमर्थं सूत्रयत्येव—"उभस्योभयोऽद्विवचनटापोः" इति । तन्त्र-प्रदीप २।३।८॥ भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९५ में प्रो० कालीचरण शास्त्री हुबली के लेख में उद्धृत ।

२. कलापचन्द्र (सन्धि २०) में सुषेण विद्याभूषण ने लिखा है—'अर्थः पदम्' आहुरैन्द्राः (देखो पूर्व पृष्ठ ६२), 'विभक्त्यन्तं पदम्' आहुरापिशलीयाः, 'सुप्तिङन्तम् पदम्' पाणिनीयाः (अष्टा० १।४ १४)। तुलना करो —ते विभक्त्यन्ताः पदम् । न्यायसूत्र २।२।५७॥

३. पदमञ्जरी २।३।१७, भाग १, पृष्ठ ४२७॥ शब्दकौस्तुभ २।३।२७॥

४. न्यास ४।२।४५, भाग १ पृष्ठ ६४२। धातुवृत्ति धेट् धातु, पृष्ठ १६७। धातु-वृत्ति का मुद्रित पाठ अशुद्ध है ।

५. महाभाष्यप्रदीप ५।१।२१॥ यहां कैयट ने जितना अंश अष्टाध्यायी से भिन्न था उतने ही का निर्देश किया है ।

६. धातुवृत्ति पृष्ठ ३५६, ३५७ । आपिशलिस्तु "शब्विकरणे गुणः" इत्यभिधाय "करोति मिदेश्च" इत्युक्तवान् । तन्त्रप्रदीप ७।३।८६॥ भारतकौमुदी भाग २ पृष्ठ ८९५ में उद्धृत । तुलना करो—अनि च विकरणे, करोतेः, मिदेः । कातन्त्र ३।७।३—५।

७. धातुवृत्ति पृष्ठ ३५६, ३५७। तन्त्रप्रदीप ७।३।८६, पूर्वोद्धृत उद्धरण । कातन्त्र ३।७।४ पूर्वोद्धरण ।

८. धातुवृत्ति पृष्ठ ३५६, ३५७ । तन्त्रप्रदीप ७।३।८६, पूर्वोद्धरण । कातन्त्र ३।७।५ पूर्वोद्धरण ।

९. तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु[1] छन्दसि ।[2]
१० ञमङणनम् (?)[3]

आपिशल व्याकरण में "तदर्हम्"[4] सूत्र नहीं था

काशकृत्स्न व्याकरण के प्रकरण में वाक्यपदीय तथा उसके टीकाकार हेलाराज का जो वचन उद्धृत किया है[5] उससे विदित होता है कि काशकृत्स्न व्याकरण के सदृश आपिशल व्याकरण में भी "तदर्हम्" सूत्र नहीं था।

आपिशल और पाणिनीय व्याकरण की समानता

आपिशलि के जो सूत्र ऊपर उद्धृत किये हैं उन से यह स्पष्ट है कि आपिशल और पाणिनीय व्याकरण दोनों परस्पर में बहुत समान हैं। यह समानता न केवल सूत्ररचना में है अपितु अनेक संज्ञा, प्रत्यय, और प्रत्याहार भी परस्पर सदृश हैं।

संज्ञाएं—उपरि निर्दिष्ट सूत्रों में द्विवचन, विभाषा, गुण और सार्वधातुका, संज्ञाओं का उल्लेख है। पाणिनीय व्याकरण में भी ये ही संज्ञाएं हैं। केवल सार्वधातुका टाबन्त के स्थान में पाणिनि ने सार्वधातुक अकारान्त संज्ञा पढ़ी है।

प्रत्यय—पूर्व उद्धृत सूत्रों में टाप्, ठन् और शप् प्रत्यय पढ़े हैं। ये ही प्रत्यय पाणिनीय व्याकरण में भी हैं।

प्रत्याहार—सृष्टिधर ने आपिशलि का डेढ़ श्लोक उद्धृत किया है।[6]

---

१. टाबन्तं संज्ञात्वेन विनियुक्तम् । पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ८३८। तुलना करो—"अथवा आर्धधातुकासु इति वक्ष्यामि । कासु आर्धधातुकासु ? उक्तिषु युक्तिषु, रूढिषु, प्रतीतिषु, श्रुतिषु, संज्ञासु ।' महाभाष्य २।४।३५॥

२. काशिका ७।३।९५॥ धातुवृत्ति पृष्ठ २४१ ।

३. पञ्चपादी उणादि आपिशलिप्रोक्त है यह हम उणादि के प्रकरण में लिखेंगे। उणादि के "ञमन्ताड्डः" (१।१०७) सूत्र में ञम् प्रत्याहार। आपिशल शिक्षा के "ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च" सूत्र में ञमङणन आनुपूर्वी-विशेष का संबन्ध आपिशल व्याकरण के प्रत्याहार सूत्र से प्रतीत होता है। पाणिनीय शिक्षा के 'ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः' सूत्र में वर्गानुक्रम से पाठ है।

४. अष्टा० ५।१।११७॥

५. देखो पूर्व पृष्ठ ८५ ।

६. देखो पृष्ठ १०१ में संख्या ४ का उद्धरण।

उसके "बहुव्यधत्रुधां न भष्" चरण में भष् प्रत्याहार का निर्देश मिलता है। पाणिनि ने भी यही प्रत्याहार बनाया है।

इन के अतिरिक्त आपिशलि के धातुपाठ और गणपाठ के जो उद्धरण उपलब्ध हुए हैं वे भी पाणिनीय धातुपाठ और गणपाठ से बहुत समानता रखते हैं। आपिशलि के व्याकरण में भी पाणिनीय व्याकरण के सदृश आठ ही अध्याय थे यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] इतना ही नहीं आपिशलशिक्षा और पाणिनीयशिक्षा के सूत्र परस्पर बहुत सदृश हैं, दोनों का प्रकरणविच्छेद सर्वथा समान है। इस अत्यन्त सादृश्य से प्रतीत होता कि पाणिनीय व्याकरण का प्रधान उपजीव्य आपिशल व्याकरण है। पदमञ्जरीकार हरदत्त इस ओर संकेत भी करता है। वह लिखता है—

कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनावगतमेते साधव इति? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन।[2]

पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन्नापिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते, एवमापिशलिरपि।[3]

आपिशलि के प्रकीर्ण उद्धरण

पूर्वोद्धृत सूत्रों के अतिरिक्त आपिशलि के नाम से अनेक वचन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यथा—

अनन्तदेव भाषिकसूत्र की व्याख्या में लिखता है—

१—यथापिशलिनोक्तम्—ऋवर्णलृवर्णयोर्दीर्घा [न] भवन्तीति।[4]

कातन्त्रवृत्ति की दुर्गविरचित टीका में आपिशलि के निम्न श्लोक उद्धृत हैं—

२—आपिशलीयमतं तु

पादस्त्वर्थसमाप्तिर्वा ज्ञेयो वृत्तस्य वा पुनः।
मात्रिकस्य चतुर्भागः पाद इत्यभिधीयते॥[5]

३—तथा चापिशलीयः श्लोकः—

आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्।
आदेशस्तु प्रसंगेन लोपः सर्वापकर्षणात्॥[6]

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ६७। २. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६।
३. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७।
४. काशी के छपे हुए यजुःप्रातिशाख्य के अन्त में, पृष्ठ ४६३।
५. कातन्त्रवृत्ति पृष्ठ ४६१। ६. कातन्त्रवृत्ति पृष्ठ ४७६।

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधर ने आपिशलि का निम्न डेढ़ श्लोक उद्धृत किया है—

४—तथा चापिशलिः—

दन्त्योष्ठ्यत्वाद् वकारस्य वहव्यधवृधां न भष् ।
उदूढौ भवता यत्र यो वः प्रत्ययसन्निधजः ।
अन्तस्थं तं विजानीयाच्छेषो वर्गीय उच्यते ॥[1]

जगदीश तर्कालंकार ने अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका में आपिशलि का निम्न मत उद्धृत किया है—

५—सदृशत्वं तृणादीनां मन्यकर्मण्यनुक्तके ।
द्वितीयावच्चतुर्थ्यापि बोध्यते बाधितं यदि ॥
इत्यापिशलेर्मतम् ॥[2]

उणादिसूत्र का वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त आपिशलि के निम्न दो वचन उद्धृत करता है—

६—आपिशलिस्तु—न्यङ्कोर्नञ्भावं शास्ति न्याङ्कवं चर्म ।[3]

७—स्वधा पितृतृप्तिरित्यापिशलिः ।[4]

भानुजी दीक्षित ने अपनी अमरकोषटीका में आपिशलि का निम्न वचन उद्धृत किया है—

८—शश्वदभीक्ष्णं नित्यं सदा सततमजस्रमिति सातत्ये इत्यव्ययप्रकरणे आपिशलिः ।[5]

इनमें प्रथम और षष्ठ उद्धरण निश्चय ही आपिशल व्याकरण से लिये गये हैं । द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम उद्धरणों का सम्बन्ध यद्यपि आपिशल व्याकरण से है तथापि इनका मूल आपिशल सूत्र नहीं हैं, सम्भव है उसकी किसी वृत्ति से ये वचन उद्धृत किये हों । सप्तम और अष्टम उद्धरण उसके किसी कोश से लिये होंगे ।

---

१. भाषावृत्ति की भूमिका पृष्ठ १७ । २. पृष्ठ ३७५, काशी सं० ।

३. उणादिवृत्ति पृष्ठ ११। तुलना करो—न्यङ्कोस्तु पूर्वे अकृतजागमस्याभ्युदयाङ्कतां स्मरन्ति । यथाहुः—न्यङ्कोः प्रतिषेधान्न्याङ्कवम् इति । वाक्यपदीय वृषभदेवटीका भाग १, पृष्ठ ५५ ॥ विशेष देखो पूर्व पृष्ठ २२ ।

४. उणादिवृत्ति पृष्ठ १६१ । ५. अमर टीका १।१।६६ पृष्ठ २७ ।

अन्य ग्रन्थ

१. धातुपाठ—इसके उद्धरण महाभाष्य, काशिका, न्यास और पदमञ्जरी आदि कई ग्रन्थों में मिलते हैं। इसका विशेष वर्णन धातुपाठ के प्रकरण में होगा।

२. गणपाठ—इसका उल्लेख भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में किया है।[1] इसका विशेष वर्णन गणपाठ के प्रकरण में करेंगे।

३. उणादिसूत्र - हमारा विचार है कि पञ्चपादी उणादिसूत्र आपिशलि विरचित हैं। इस विषय पर उणादिप्रकरण में विस्तार से लिखेंगे।

४. शिक्षा—आपिशलशिक्षा का उल्लेख राजशेखरप्रणीत काव्यमीमांसा[2] और वृषभदेवविरचित वाक्यपदीय की टीका[3] में मिलता है। इसके अष्टम प्रकरण के २३ सूत्रों का एक लम्बा उद्धरण हेमचन्द्र ने अपने हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में दिया है।[4]

इस शिक्षा के दो हस्तलेख अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में हैं। यह मेहरचन्द लक्ष्मणदास भूतपूर्व लाहौर द्वारा प्रकाशित वैदिक स्टडीज पत्रिका में छप चुकी है। इसका सम्पादन डाक्टर रघुवीरजी एम० ए० ने किया है। हमने भी पाणिनीय और चान्द्र शिक्षा के साथ आपिशलशिक्षा का मुद्रण किया है आपिशल शिक्षा के सूत्र जिन-जिन ग्रन्थों में उद्धृत हैं उनका निर्देश हमने नीचे टिप्पणी में कर दिया है।

५. कोश—यह अप्राप्य है। भानुजी दीक्षित के उपरि निर्दिष्ट आठवें उद्धरण से स्पष्ट है कि आपिशलि ने कोई कोश भी रचा था। संख्या ७ का उद्धरण भी कोश से ही लिया गया है।

६. अक्षरतन्त्र—इस ग्रन्थ में सामगान संबन्धी स्तोमों का वर्णन है। इसका प्रकाशन पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से किया था।

---

१. इह त्यदादीन्यापिशलेः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि ततः पूर्वापराधरेति............। पृष्ठ २८७। तुलना करो—"त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि"। कैयट, भाष्यप्रदीप १।१।३४॥

२. शिक्षा आपिशलीयादिका। काव्यमी० पृष्ठ ३।

३. तथेत्यापिशलीयशिक्षादर्शनम्। वाक्यपदीय वृषभदेव टीका भाग १, पृष्ठ १०५। वृषभदेव जिसे आपिशलि का सूत्र कहता है वह मुद्रित ग्रन्थ में कुछ भेद से मिलता है। सम्भव है भर्तृहरि ने उसका अर्थतः अनुवाद किया हो। ४. तथा चापिशलिः शिक्षामधीते "नाभिप्रदेशात्.......बाह्यः प्रयत्न इति" पृष्ठ ६,१०।

७. साम-प्रातिशाख्य—धातुवृत्ति (मैसूर संस्करण) के संपादक महादेव शास्त्री ने सामप्रातिशाख्य को आपिशलि—विरचित माना है।[1] पर यह विचारणीय है।

अक्षरतन्त्र और सामप्रातिशाख्य वैयाकरण आपिशलि की कृतियां हैं या अन्य की, यह अभी विचारणीय है।

२—काश्यप (२६०० वि० पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में काश्यप का मत दो स्थानों पर उद्धृत किया है।[2] वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।५ में शाकटायन के साथ काश्यप का उल्लेख मिलता है।[3] अतः अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य में उल्लिखित काश्यप एक ही व्यक्ति है, इस में कोई सन्देह नहीं।

परिचय

काश्यप शब्द गोत्रप्रत्ययान्त है। तदनुसार इस के मूल पुरुष का नाम कश्यप है।

काल

पाणिनीय शब्दानुशासन में काश्यप का उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि यह उससे पूर्ववर्ती है। वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार अष्टाध्यायी ४।३।१०३[4] में काश्यपकल्प का निर्देश है।[5] पाणिनि ने व्याकरण और कल्पप्रवक्ता का निर्देश करते हुए किसी विशेषण का प्रयोग नहीं किया, इस से प्रतीत होता है वैयाकरण और कल्पकार दोनों एक हैं। यदि यह ठीक हो तो काश्यप का काल भारतयुद्ध के लगभग मानना होगा, क्योंकि प्रायः शाखाप्रवक्ता ऋषियों ने ही कल्पसूत्रों का प्रवचन किया था, यह हम वात्स्यायन भाष्य के प्रमाण से पूर्व लिख आये हैं।[6]

---

१. धातुवृत्ति की भूमिका पृष्ठ ३।

२. तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य। अष्टा० १।२।२५। नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। अष्टा० ८।४।६७॥

३. लोपं काश्यपशाकटायनौ।

४. काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः।

५. काश्यपकौशिकग्रहणं कल्पे नियमार्थम्। महाभाष्य ४।२।६६।

६. पूर्व पृष्ठ १५—१७।

काश्यप व्याकरण

काश्यप व्याकरण का कोई सूत्र उपलब्ध नहीं हुआ । इस के मत का उल्लेख भी केवल तीन स्थानों पर उपलब्ध होता है । हम इस के व्याकरण के विषय में इस से अधिक कुछ नहीं जानते ।

अन्य ग्रन्थ

कल्प—वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार अष्टाध्यायी ४।३।१०३ में किसी काश्यपकल्प का उल्लेख है ।[1]

छन्दःशास्त्र—आचार्य पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र ७।९ में काश्यप का एक मत उद्धृत किया है ।[2] इस से विदित होता है कि काश्यप ने किसी छन्दःशास्त्र का प्रवचन किया था ।

आयुर्वेद संहिता—संवत् १९९५ में आयुर्वेद की काश्यप संहिता प्रकाशित हुई है । इस नष्टप्राय कौमारभृत्य-तन्त्र के उद्धार का श्रेय नैपाल के राजगुरु पं० हेमराज शर्मा को है । उन्हों ने महापरिश्रम करके एक मात्र त्रुटित ताडपत्रलिखित ग्रन्थ के आधार पर इस का सम्पादन किया है । ग्रन्थ की अन्तरङ्गपरीक्षा से प्रतीत होता है कि यह संहिता चरक सुश्रुत के समान प्राचीन आर्ष ग्रन्थ है ।

पुराण—चान्द्रवृत्ति ३।३।७१ तथा सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२२९ की टीका में किसी काश्यपीय पुराण का उल्लेख मिलता है ।[3] वायुपुराण ६१।५६ के अनुसार वायुपुराण के प्रवक्ता का नाम अकृतव्रण काश्यप था ।[4]

काश्यपीय सूत्र—उद्योतकर अपने न्यायवार्तिक में कणादसूत्रों को काश्यपीय सूत्र के नाम से उद्धृत करता है ।[5]

व्याकरण, कल्प, छन्दःशास्त्र, आयुर्वेद, पुराण और कणादसूत्रों का प्रवक्ता एक ही व्यक्ति है या भिन्न भिन्न यह अज्ञात है ।

---

१. पूर्व पृष्ठ १०३ टि० ५ । २. सिंहोन्नता काश्यपस्य । ३. कल्पं चेति किम् ? काश्यपीयः पुराणसंहिता । ४. आत्रेयः सुमतिर्धीमान् काश्यपो ह्यकृतव्रणः ।

५. यथा काश्यपीयम्—सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय इति । न्यायवार्तिक १।२।२३ पृष्ठ ९९ । यह वैशेषिक (२।२।१७) सूत्र है । उद्योतकर विक्रम की प्रथमशताब्दी का ग्रन्थकार है । देखो, श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० सं० पृष्ठ ३४३ ।

३—गार्ग्य (३१०० वि० पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गार्ग्य का उल्लेख तीन स्थानों पर किया है।[1] गार्ग्य के अनेक मत ऋक्प्रातिशाख्य[2] और वाजसनेय-प्रातिशाख्य[3] में उपलब्ध होते हैं। उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण से विदित होता है कि गार्ग्य का व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था।

परिचय

गार्ग्यपद गोत्रप्रत्ययान्त है, तदनुसार इसके मूल पुरुष का नाम गर्ग था। गर्ग पूर्व निर्दिष्ट वैयाकरण भरद्वाज का पुत्र था। इससे अधिक इसके विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

अन्यत्र उल्लेख—किसी नैरुक्त गार्ग्य का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त में किया है।[4] सामवेद का पदपाठ भी गार्ग्यविरचित माना जाता है।[5] बृहद्देवता १।२६ में यास्क और रथीतर के साथ गार्ग्य का मत उद्धृत है।[6] ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेय प्रातिशाख्य में गार्ग्य के अनेक मतों का निर्देश है।[7] चरक सूत्रस्थान १।१० में गार्ग्य का उल्लेख है। नैरुक्त गार्ग्य और सामवेद का पदकार एक ही व्यक्ति है यह हम अनुपद लिखेंगे। बृहद्देवता १।२६ में निर्दिष्ट गार्ग्य निश्चित ही नैरुक्त गार्ग्य है। प्रातिशाख्यों में उद्धृत मत वैयाकरण गार्ग्य के हैं, यह उन मतों के अवलोकन से निश्चित होजाता है। यद्यपि नैरुक्त गार्ग्य और वैयाकरण गार्ग्य की एकता में निश्चायक प्रमाण उपलब्ध नहीं, तथापि हमारा विचार है दोनों एक ही हैं।

एक दृप्तबालाकि गार्ग्य शतपथ १४।५।१।१ में उद्धृत है। हरि-

---

१. अङ्गार्ग्यगालवयोः। अष्टा० ७।३।९९॥ ओतो गार्ग्यस्य। ८।३।२०॥ नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। अष्टा० ८।४।६७॥ २. व्याडिशाकल्यगार्ग्याः। १३।३१॥ ३. ख्यातेः खयौ कशौ गार्ग्यः सक्ख्योक्ख्यमुक्ख्यवर्जम्।

४. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। निरु० १।१२॥ अन्यत्र निरुक्त १।३॥ १३।३१॥

५. बह्वृचानां मेहना इत्येकं पदम्, छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि म+इह+नास्ति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ। दुर्गवृत्ति ४।४॥ मेहना एकमिति शाकल्यः, त्रीणीति गार्ग्यः। स्कन्दटीका ४।३॥

६. चतुर्भ्य इति तत्राहुर्यास्कगार्ग्यरथीतराः। आशिषोऽथार्थवैरूप्याद् वाचः कर्मण एव च। ७. देखो इसी पृष्ठ की टि० २, ३।

वंश पृष्ठ ५७ के अनुसार शैशिरायण गार्ग्य त्रिगर्तों का पुरोहित था। प्रश्नोपनिषद् ४।१ में सौर्यायणि गार्ग्य का उल्लेख मिलता है। वायुपुराण ३४।६३ में ऊर्ध्ववेणीकृत गार्ग्य का निर्देश है। ये निश्चय ही विभिन्न व्यक्ति हैं यह इनके साथ प्रयुक्त विशेषणों से स्पष्ट है।

काल

अष्टाध्यायी में गार्ग्य का उल्लेख होने से यह निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है। गार्ग्य का मत यास्कीय निरुक्त में उद्धृत है। यदि नैरुक्त और वैयाकरण दोनों गार्ग्य एक ही हों तो यह यास्क से भी प्राचीन होगा। यास्क का काल भारतयुद्ध के समीप है। अतः गार्ग्य विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष प्राचीन है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने गार्ग्य को धन्वन्तरि का शिष्य लिखा है, और उसके साथ गालव का निर्देश किया है।[1] पाणिनीय व्याकरण में भी दो स्थानों पर गार्ग्य और गालव का साथ साथ निर्देश मिलता है। क्या इस साहचर्य से वैद्य गार्ग्य गालव और वैयाकरण गार्ग्य गालव एक हो सकते हैं? यदि इनकी एकता प्रमाणान्तर से पुष्ट होजाय तो गार्ग्य गालव का काल विक्रम से लगभग ५५०० वर्ष पूर्व होगा।

गार्ग्य का व्याकरण

गार्ग्य के व्याकरण का कोई सूत्र प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य में गार्ग्य के जो मत उद्धृत हैं उनसे विदित होता है कि गार्ग्य का व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था। यदि सामवेद का पदकार ही व्याकरणप्रवक्ता हो तो मानना पड़ेगा कि गार्ग्य का व्याकरण कुछ भिन्न प्रकार का था। सामपदपाठ में मित्र पुत्र[2] आदि अनेक पदों में अवग्रह करके अवान्तर दो पद दर्शाए हैं, जो पाणिनीय व्याकरणानुसार (धातु प्रत्यय के संयोग से) एक ही पद हैं। सम्भव है शाकटायन के सदृश गार्ग्य ने भी एक पद की अनेक धातुओं की कल्पना की हो।

अन्य ग्रन्थ

प्राचीन वाङ्मय में गार्ग्यविरचित निम्न ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—

१–निरुक्त—यास्क ने अपने निरुक्त में तीन स्थान पर गार्ग्य का मत उद्धृत किया है।[3] बृहद्देवता १।२६ का मत भी निरुक्तशास्त्रविषयक है।[4]

---

१. प्रभृतिग्रहणान्निमिकाङ्कायनगार्ग्यगालवाः ।१।३॥ २. मि त्रम् पृष्ठ १, मन्त्र ५। पुत् त्रस्य पृष्ठ १८८, मन्त्र २। ३. पूर्व पृष्ठ १०५ टि० ४।

४. पूर्व पृष्ठ १०५ टि० ६।

गार्ग्य के निरुक्त विषय में श्री पं० भगवद्दत्त जी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २ (संहिताओं के भाष्यकार) पृष्ठ १६८ देखें।

२–**सामवेद का पदपाठ** सामवेद का पदपाठ गार्ग्यकृत माना जाता है। निरुक्त के टीकाकार दुर्ग और स्कन्द का भी यही मत है।[1] वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।१७७ के उव्वट-भाष्य में गार्ग्यकृत पदपाठ-विषयक एक प्राचीन नियम उद्धृत है—

पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः।
अलोप इति गार्ग्यस्य काण्वस्यार्थवशादिति॥

इस नियम के अनुसार गार्ग्य के पदपाठ में पुनरुक्त पदों का लोप नहीं होता। शाकल्य और माध्यन्दिन के पदपाठ में पुनरुक्त पदों का लोप हो जाता है। हमने इस नियम के अनुसार सामवेद के पदपाठ को देखा। उस में पुनरुक्त पदों का पाठ सर्वत्र मिलता है। अतः सामवेद का पदपाठ गार्ग्यकृत ही है इस में कोई सन्देह नहीं।

श्री पं० भगवद्दत्तजी ने अपने सुप्रसिद्ध वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २, पृष्ठ १५४ में सामवेदीय पदपाठ के कुछ पदों की यास्कीय निर्वचनों से तुलना की है। तदनुसार उन्होंने नैरुक्त और पदकार दोनों के एक होने की सम्भावना प्रदर्शित की है। हमने भी वैदिक यन्त्रालय अजमेर से सं० २००६ में प्रकाशित सामवेद के षष्ठ संस्करण का संशोधन करते समय सामवेदीय पदपाठ की अन्य पदपाठों और यास्कीय निर्वचनों के साथ विशेष रूप से तुलना की। उस से हम भी इसी परिणाम पर पहुंचे कि सामवेदीय पदकार और नैरुक्त गार्ग्य एक है।

३–**शालाक्य तन्त्र**—सुश्रुत के टीकाकार डल्हण के मतानुसार गार्ग्य धन्वन्तरि का शिष्य है।[2] उसने शालाक्य तन्त्र की रचना की थी। संभवतः वैद्य गार्ग्य और वैयाकरण गार्ग्य दोनों एक व्यक्ति हैं यह हम पूर्व लिख चुके हैं। एक गार्ग्य चरक सूत्रस्थान १।१० में भी स्मृत है।

४—**तक्षशास्त्र**—आपस्तम्ब ने अपने शुल्ब सूत्र में एक श्लोक उद्धृत किया है। टीकाकार करविन्दाधिप के मत में वह श्लोक गार्ग्य के तक्षशास्त्र का है।[3]

---

१. पूर्व पृष्ठ १०५ टि० ५। २. पूर्व पृष्ठ १०६ टि० १।

३. वेदार्थावगमनस्य बहुविधान्तराश्रयत्वात् तक्षशास्त्रे गार्ग्यागस्त्यादिभिरङ्गुलिसंख्योक्तं रथपरिमाणश्लोकमुदाहरन्ति—अथापि..........। मैसूर संस्क० पृष्ठ ६६।

५—**देवर्षि-चरित्र**—महाभारत शान्तिपर्व २१०।२१ में गार्ग्य को देवर्षिचरित का कर्ता कहा है।[1]

६—**सामतन्त्र**—पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अक्षरतन्त्र की भूमिका में गार्ग्य को सामतन्त्र का प्रवक्ता लिखा है। किसी हरदत्तविरचित सर्वानुक्रमणी में सामतन्त्र को औदव्रजि प्रोक्त कहा है।[2]

इनमें से कितने ग्रन्थ वैयाकरण गार्ग्य कृत हैं यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते।

४—गालव (३१०० वि० पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गालव का उल्लेख चार स्थानों में किया है।[3] पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति ६।१।७७ में गालव का व्याकरणसंबन्धी एक मत उद्धृत किया है।[4] इनसे विस्पष्ट है कि गालव ने कोई व्याकरणशास्त्र रचा था।

परिचय

गालव का कुछ भी परिचय हमें प्राप्त नहीं होता। यदि गालव शब्द अन्य वैयाकरण नामों के सदृश तद्धितप्रत्ययान्त हो तो इसके पिता का नाम गलव या गलु होगा। महाभारत शान्तिपर्व ३४२।१०३,१०४ में पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव को क्रमपाठ और शिक्षा का प्रवक्ता कहा है।[5] शिक्षा का संबन्ध व्याकरणशास्त्र के साथ है। प्रसिद्ध वैयाकरण आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी ने शिक्षाग्रन्थों की रचना की है। तदनुसार यदि शिक्षा का प्रणेता बाभ्रव्य गालव ही व्याकरणप्रवक्ता हो तो गालव का बाभ्रव्य गोत्र होगा और पाञ्चाल उसका देश। सुश्रुत के टीकाकार

---

१. देवर्षिचरितं गार्ग्यः। चित्रशाला प्रेस पूना। २. पूर्व पृष्ठ ५२।

३. इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य। अष्टा० ६।३।६१॥ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य। अष्टा० ७।१।७४॥ अड् गार्ग्यगालवयोः। अष्टा० ७।३।९९॥ नोदात्त-स्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। अष्टा० ८।४।६७॥ ४. इकां यण्भिर्व्य-वधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्। दधियत्र, दध्यत्र। मधुवत्र, मध्वत्र।

५. पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनातनात्। बाभ्रव्यगोत्रः स बभूव प्रथमं क्रमपारगः॥ नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमुत्तमम्। क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः॥

डल्हण ने गालव को धन्वन्तरि का शिष्य कहा है।[1] यदि यही गालव व्याकरणप्रवक्ता हो (जैसा कि हम पूर्व कह चुके हैं) तो गालव का एक आचार्य धन्वन्तरि होगा।

अन्यत्र उल्लेख—निरुक्त[2] बृहद्देवता,[3] ऐतरेय आरण्यक[4] और वायुपुराण[5] में गालव के मत उद्धृत हैं। चरक संहिता के प्रारम्भ में भी गालव का उल्लेख है।[6]

काल

अष्टाध्यायी में गालव का उल्लेख होने से निश्चित है कि वह पाणिनि से प्राचीन है। यदि महाभारत में उल्लिखित पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव ही शब्दानुशासनप्रवक्ता हो तो उसका काल शौनक और महाभारत से प्राचीन होगा। बृहद्देवता १। २४ में गालव को पुराण कवि कहा है।[7] हम पूर्व गार्ग्य के प्रकरण में लिख चुके हैं कि धन्वन्तरि शिष्य गालव ही सम्भवतः शब्दानुशासनप्रवक्ता है। तदनुसार गालव का काल विक्रम से लगभग साढे पांच सहस्र वर्ष पूर्व होगा।

गालव व्याकरण

हम पूर्व (पृष्ठ १०८) गालव का एक मत उद्धृत कर चुके हैं—**इकां यणभिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्।** यह वचन पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति ६।१।७३ में उद्धृत किया है। तदनुसार लोक में 'दध्यत्र मध्वत्र' के स्थान में 'दधियत्र मधुवत्र' प्रयोग भी साधु हैं। यह यणव्यवधान पक्ष आचार्य पाणिनि से भी अनुमोदित है। पाणिनि ने "भूवादयो धातवः"[8] सूत्र में वकार का व्यवधान किया है। हम इस विषय पर पूर्व विस्तार से लिख चुके हैं।[9]

अन्य ग्रन्थ

१—**संहिता**—शैशिरि-शिक्षा के प्रारम्भ में गालव को शौनक का

---

१. पूर्व पृष्ठ १०६ टि० १। २. शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः।४।३॥

३. १।२४॥५।३६॥ ६।४३॥ ७।३८॥ ४. नेदमेकस्मिन्नहनि समापयेदिति जातूकर्ण्यः। समापयेदिति गालवः।५।३।३॥ ५. शरावं चैव गालवः।३४।६३।

६. सूत्रस्थान १। १०॥ ७. पृष्ठ ११० टि० ७॥

८. अष्टा० १। ३। १। ९. देखो पूर्व पृष्ठ २१, २२।

शिष्य और शाखा का प्रवर्तक कहा है।[1] शिक्षा का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है।

२—ब्राह्मण—देखो पं० भगवद्दत्त जी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग २ पृष्ठ ३०।

३—क्रमपाठ—महाभारत शान्तिपर्व ३४२।१०३ में पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव को क्रमपाठ का प्रवक्ता कहा है।[2] ऋक्प्रातिशाख्य ११।६५ में इसे प्रथम क्रमप्रवक्ता लिखा है।[3]

४—शिक्षा—महाभारत शान्तिपर्व ३४२।१०४ के अनुसार गालव ने शिक्षा का प्रणयन किया था।[4]

५—निरुक्त—यास्क ने अपने निरुक्त ४।३ में गालव का एक निर्वचन-संबन्धी पाठ उद्धृत किया है।[5] उससे प्रतीत होता है कि गालव ने कोई निरुक्त रचा था। इस विषय में श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २ पृष्ठ १७९-१८० देखें।

६—दैवत ग्रन्थ—बृहद्देवता में चार स्थान पर गालव का मत उद्धृत है।[6] उनमें से १।२४ में गालव को पुराण कवि कहा है।[7] शेष तीन स्थानों पर ऋचाओं के देवतासंबन्धी मतों का निर्देश है। उनसे प्रतीत होता है कि गालव ने स्वप्रोक्त संहिता का कोई अनुक्रमणी ग्रन्थ भी रचा था।

७—शालाक्य तन्त्र—धन्वन्तरि शिष्य गालव ने शालाक्यतन्त्र की रचना की थी। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने इसका निर्देश किया है।[8]

८—कामसूत्र—वात्स्यायन कामसूत्र १।१।१० में लिखा है पाञ्चाल बाभ्रव्य ने सात अधिकरणों में कामशास्त्र का संक्षेप किया था।[9]

---

१. मुद्गलो गालवो गार्ग्यः शाकल्यः शिशिरस्तथा। पञ्च शौनकशिष्यास्ते शाखाभेदप्रवर्तकाः। वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ ८३ पर उद्धृत। श्री० पं० भगवद्दत्तजी ने अनेक पुराणों के आधार पर पाठ का संशोधन करके इसे शाकल्य का शिष्य माना है। वै० वा० इ० भाग १ पृ० ८३॥ २. पूर्व पृष्ठ १०८ टि० ५।

३. इति प्र बाभ्रव्य उवाच क्रमं क्रमप्रवक्ता प्रथमं शशंस च। इसकी व्याख्या में उव्वट ने लिखा है—बाभ्रव्यो बभ्रुपुत्रो भगवान् पाञ्चाल इति। ४. पूर्व पृष्ठ १०८ टि० ५। ५. पूर्व पृष्ठ १०९ टि० २। ६. पूर्व पृष्ठ १०९ टि० ३।

७. नवभ्य इति नैरुक्ता पुराणाः कवयश्च ये। मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्यते।

८. पूर्व पृष्ठ १०३ टि० १। ९. सप्तभिरधिकरणैर्बाभ्रव्यः पाञ्चालः संचिक्षेप।

५–चाक्रवर्मण (३००० वि० पू०)

चाक्रवर्मण आचार्य का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी[१] तथा उणादि सूत्रों[२] में मिलता है। भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इस का एक मत उद्धृत किया है।[३] श्रीपतिदत्त ने कातन्त्रपरिशिष्ट के "हेतौ वा" सूत्र की वृत्ति में चाक्रवर्मण का उल्लेख किया है। इनसे इस का व्याकरण-प्रवक्तृत्व विस्पष्ट है।

परिचय

वंश—चाक्रवर्मण पद अपत्यप्रत्ययान्त है तदनुसार इस के पिता का नाम चक्रवर्मा था।[४] पं० गुरुपद हालदार ने वायुपुराण के अनुसार चक्रवर्मा को कश्यप का पौत्र लिखा है।[५]

काल

यह आचार्य पाणिनि से प्राचीन है यह निश्चित है। पञ्चपादी उणादि सूत्र आपिशलि की रचना है, यह हम उणादि-प्रकरण में लिखेंगे। हम ऊपर लिख चुके हैं कि उणादि (३।१४४) में चाक्रवर्मण का उल्लेख है। अतः इस का काल विक्रम से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व मानना उचित होगा।

चाक्रवर्मण-व्याकरण

इस व्याकरण का अभी तक कोई सूत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

द्वय की सर्वनाम संज्ञा—पाणिनीय मतानुसार 'द्वय' पद की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। भट्टोजि दीक्षित ने माघ कवि प्रयुक्त "द्वयेषाम्" पद में चाक्रवर्मण व्याकरणानुसार सर्वनामसंज्ञा का उल्लेख किया है। और 'नियतकालाः स्मृतयः' इस नियम के अनुसार उसका असाधुत्व प्रतिपादन किया है।[६] इससे प्रतीत होता है कि चाक्रवर्मण आचार्य के व्याकरणानुसार में द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा होती थी।

---

१. ई चाक्रवर्मणस्य। अष्टा० ६।१।१३०॥ २. कपश्चाक्रवर्मणस्य। पञ्च० उ० ३।१४४॥ दश० उ० ७।११॥ ३. १।१।२७, इसी पृष्ठ की टि० ५। ४. काशिका ७।४।१७०॥ ५. व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ५१६।

६. यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मणव्याकरणे द्वयपदस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात् तद्रीत्या अयं प्रयोग इति, तदपि न। मुनित्रयमतेनेदानीं साध्वसाधुविभागः। तस्यैवेदानींतन-शिष्टैर्वेदाङ्गतया परिगृहीतत्वात्। दृश्यन्ते हि नियतकालाः स्मृतयः। यथा कलौ पाराशरी स्मृतिरिति। शब्दकौ० १।१।२७॥

आधुनिक वैयाकरण 'नियतकालाः स्मृतयः' इस नियम के अनुसार पाणिनि आदि मुनित्रय के मत से शब्द के साधुत्व-असाधुत्व की व्यवस्था मानते हैं। यह मत वस्तुतः चिन्त्य है। यह हम पूर्व लिख चुके हैं[1] महाभाष्य आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में भी इस प्रकार का कोई वचन नहीं मिलता।

पाणिनीय वैयाकरण सब शब्दों को नित्य मानते हैं।[2] ऐसी अवस्था में प्राचीनकाल में साधु माने हुए शब्द को वर्तमान में असाधु मानना उपपन्न नहीं हो सकता। हां, यदि शब्दों को अनित्य मानें तो देश काल और उच्चारण भेद से शब्द के विकृत हो जाने पर ऐसी व्यवस्था मानी जा सकती है, परन्तु ऐसी कल्पना करने पर वैयाकरणों को अपने शब्द-नित्यत्वरूपी मुख्य सिद्धान्त से हाथ धोना पड़ेगा। अतः इस प्रकार के नियमों की कल्पना करने पर सब से प्रथम स्वसिद्धान्त की हानि स्वीकार करनी होगी। यदि 'नियतकालाः स्मृतयः' के नियम से प्रयोग की व्यवस्था मानी जाय अर्थात् अमुक शब्द अमुक समय में प्रयोगार्ह है अमुक समय में नहीं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस व्यवस्था के मानने पर 'अस्त्यप्रयुक्तः'[3] के उत्तर में महाभाष्यकार ने जो शब्द के महान् प्रयोग विषय का उल्लेख किया है,[4] वह उपपन्न नहीं हो सकता। अतः नवीन लोगों का इस प्रकार के नियमों का बनाना सर्वथा चिन्त्य है।

अब रही द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा। महाभाष्यकार ने 'द्वये प्रत्यया विधीयन्ते तिङः कृतश्च'[5] इस वाक्य में द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा मानी है। यद्यपि यहां द्वय पद को स्थानिवद्भाव से तयप्प्रत्ययान्त मानकर 'प्रथमचरमतयाल्पार्ध०'[6] सूत्र से जस्विषय में इस की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा मानी जा सकती है, तथापि आधुनिक वैयाकरणों के 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'[7] इस द्वितीय नियम से 'प्रथमचरम०' सूत्र

---

१. पूर्व पृष्ठ ३१, ३४। २. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १॥ सर्वे सर्वपदा देशाः दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते। महाभाष्य १।१।२०॥ ३. महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १॥

४. 'महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः' आदि ग्रन्थ। महाभाष्य अ० १ पा १ आ१।

५. महाभाष्य २।३।६५॥ ६।२।१३९॥

६. अष्टा० १।१।३३॥ ७. भाष्यप्रदीपविवरण ३।१।८०॥

से द्वय शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि महाभाष्यकार ने 'द्वय' पद में होने वाले 'अयच्' को स्वतन्त्र प्रत्यय माना है[1] न कि तयप् का आदेश। अतः यहां 'प्रथमचरम०' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। महाभाष्यकार के मत में द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा होती है यह पूर्व उद्धरण से व्यक्त है। इसलिये चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण में 'प्रथमचरम०' सूत्र में 'अय' अंश का प्रक्षेप करके 'प्रथमचरमतयायाल्पार्ध०'[2] इस प्रकार न्यासान्तर किया है।

'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस नियम में भी वे ही पूर्वोक्त दोष उपस्थित होते हैं, जो 'नियतकालाः स्मृतयः' में दर्शाए हैं। आधुनिक वैयाकरणों के उपर्युक्त दोनों नियम शास्त्रविरुद्ध होने से अशुद्ध हैं, यह स्पष्ट है। अतः किसी भी शिष्टप्रयोग को इन नियमों के अनुसार अशुद्ध बताना दुःसाहसमात्र है। नवीन वैयाकरणों के इस मत की आलोचना प्रक्रियासर्वस्व के रचयिता नारायणभट्ट ने 'अपाणिनीयप्रामाणिकता' नामक लघु ग्रन्थ में भले प्रकार की है। वैयाकरणों को यह ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिये।[3]

६—भारद्वाज (२८०० वि० पू०)

भारद्वाज का उल्लेख पाणिनीय तन्त्र में केवल एक स्थान पर मिलता है।[4] अष्टाध्यायी ४।२।१४५ में भारद्वाज शब्द पाया जाता है,[5] परन्तु काशिकाकार के मतानुसार वह भारद्वाज पद देशवाची है आचार्यवाची नहीं।[6] भारद्वाज का व्याकरणविषयक मत तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १७।३[7] और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य २।५।३ में मिलता है।

---

१. अयच् प्रत्ययान्तरम्। महाभाष्य १।१।४४, ५६॥

२. चान्द्र व्याक० २।१।१४॥ हेमचन्द्र ने भी 'अय' का पृथग्ग्रहण किया है। उदाहरण में त्रय शब्द की भी विकल्प से सर्वनाम संज्ञा मानी है। देखो हैम बृहद्वृत्ति १।४।१०॥

३. यह ग्रन्थ 'ब्रह्मविलास मठ पेरूरकाडा ट्रिवेण्ड्रम्' से प्रकाशित हुआ है।

४. ऋतो भारद्वाजस्य। अष्टा० ७।२।६३॥ ५. कृकर्णपर्णाद् भारद्वाजे।

६. भारद्वाजशब्दोऽपि देशवचन एव, न गोत्रशब्दः। काशिका ४।२।१४५॥

७. अनुस्वारेऽण्विति भारद्वाजः।

परिचय

भारद्वाज के पूर्व पुरुष का नाम भरद्वाज है। सम्भवतः यह भरद्वाज वही है जो इन्द्र का शिष्य दीर्घजीवी भरद्वाज था।

अनेक भारद्वाज—प्रश्नोपनिषद् ६।१ में सुकेशा भारद्वाज का उल्लेख है, यह हिरण्यनाभ कौसल्य का समकालिक है। बृहदारण्यक उपनिषद् ४।१।५ में गर्दभीविपीत भारद्वाज का निर्देश है, यह याज्ञवल्क्य का समकालिक है। कृष्ण भारद्वाज का उल्लेख काश्यप संहिता सूत्रस्थान २७।३ में मिलता है। द्रोण भारद्वाज द्रोणाचार्य के नाम से प्रसिद्ध ही है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी भारद्वाज के अनेक मत उद्धृत हैं।[1] टीकाकारों के मतानुसार वे मत द्रोण भारद्वाज के हैं।

भारद्वाज देश—काशिकाकार जयादित्य के मतानुसार अष्टाध्यायी ४।२।१४५ में भारद्वाज देश का उल्लेख है। वायुपुराण ४५।११९ में उदीच्य देशों में भारद्वाज की गणना की है[2]

काल

हम ऊपर अनेक भारद्वाजों का उल्लेख कर चुके हैं। अष्टाध्यायी में केवल गोत्रप्रत्ययान्त भारद्वाज शब्द से निर्देश किया है। अतः जब तक यह निर्णीत न हो कि वह कौन भारद्वाज है तब तक उसका कालज्ञान कठिन है। यदि वह दीर्घजीवी वैयाकरण का साक्षात् पुत्र हो तो निश्चय ही उसका काल विक्रम से लगभग ८००० वर्ष पूर्व होगा। हां पाणिनीय अष्टक में इस का उल्लेख होने से इतना अवश्य निश्चित है कि वह विक्रम से २८०० वर्ष प्राचीन है।

भारद्वाज व्याकरण

इस व्याकरण के केवल दो मत प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उनसे इसके स्वरूप और परिमाण आदि के विषय में कोई विशेष ज्ञान नहीं होता।

---

१. १।७॥१।१५॥१।१६॥५।६॥८।३॥

२. आत्रेयाश्च भरद्वाजाः प्रस्थलाश्च कसेरुकाः।

भारद्वाजीय वार्तिक—महाभाष्य में बहुत स्थानों पर भारद्वाजीय वार्तिकों का उल्लेख मिलता है।[1] वे प्रायः कात्यायनीय वार्तिकों से मिलते हैं और उनकी अपेक्षा विस्तृत तथा विस्पष्ट हैं। हमारा विचार है ये भारद्वाजीय वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर लिखे गये हैं। इसके कई प्रमाण वार्तिककार के प्रकरण में देंगें।

अन्य ग्रन्थ

आयुर्वेद संहिता—भारद्वाज ने कायचिकित्सा पर एक संहिता रची थी। इसके अनेक उद्धरण आयुर्वेद के टीकाग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

अर्थशास्त्र—चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में भारद्वाज के अनेक मत उद्धृत किये हैं।[2] टीकाकारों के मतानुसार वे द्रोण भारद्वाज के हैं यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

७-शाकटायन (३००० वि० पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शाकटायन का उल्लेख तीन बार किया है।[3] वाजसनेयिप्रातिशाख्य[4] तथा ऋक्प्रातिशाख्य[5] में भी इस का अनेक स्थानों में निर्देश मिलता है। यास्क ने अपने निरुक्त में वैयाकरण शाकटायन का मत उद्धृत किया है।[6] पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में शाकटायन को व्याकरण-शास्त्र का प्रवक्ता कहा है।[7]

परिचय

वंश—महाभाष्य ३।३।१ में शाकटायन के पिता का नाम शकट लिखा है।[8] पाणिनि ने शकट शब्द नडादिगण[9] में पढ़ा है, तदनुसार शकट उस के पितामह का नाम होना चाहिये। सम्भव है महाभाष्यकार ने तोक

---

१. महाभाष्य १।१।२०, ५६॥ ३।१।९९॥ इत्यादि।

२. पूर्व पृष्ठ ११४, टि० १।

३. लङः शाकटायनस्यैव। अष्टा० ३।४।१११॥ व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य। अष्टा० ८।३।१८॥ त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य। अष्टा० ८।४।५०॥ ४. ३।९,१२, ८७॥ इत्यादि॥ ५. १।१६॥१३।३९॥ ६. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरु० १।१२॥ ७. व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। महाभाष्य ३। ३। १॥ वैयाकरणानां शाकटायनो.......। महाभाष्य ३।२।११५॥

८. व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। ९. नडादिभ्यः फक्। अष्टा० ४।१।९९॥

शब्द का प्रयोग पौत्र अर्थ में किया हो निघण्टु में तोक आदि पदों को अपत्य सामान्य का वाचक माना है।[1] वर्धमान ने शकट का अर्थ "शकटमिवभारक्षमः" किया है।[2]

शाकटायन और काण्व—अनन्तदेव ने शुक्लयजुःप्रातिशाख्य ४।१२९ के भाष्य में पुराण के अनुसार शाकटायन को काण्व का शिष्य कहा है और पक्षान्तर में उसे ही काण्व बताया है।[3] पुनः शुक्लयजुःप्रातिशाख्य ४।१९१ के भाष्य में शाकटायन को काण्व का पर्यायवाची माना है।[4] संस्काररत्नमाला में भट्ट गोपीनाथ ने गोत्रप्रवर प्रकरण में दो शाकटायनों का उल्लेख किया है। एक वाध्र्यश्ववंश्य[5] और दूसरा काण्ववंश्य।[6] इन से इतना निश्चित है कि एक शाकटायन का संबन्ध काण्व के साथ अवश्य है। हमारा विचार है शुक्लयजुःप्रातिशाख्य और अष्टाध्यायी में स्मृत शाकटायन काण्ववंश का है। यदि यह बात प्रमाणान्तर से और पुष्ट हो जाय तो शाकटायन का समय निश्चित करने में बहुत सुगमता होगी।

आचार्य—हम ऊपर लिख चुके हैं कि अनन्तदेव पुराणानुसार शाकटायन को काण्व का शिष्य मानता है। परन्तु शैशिरि शिक्षा के प्रारम्भ में उसे शैशिरि का शिष्य कहा है—

शैशिरस्य तु शिष्यस्य शाकटायन एव च।[7]

यद्यपि इस श्लोकांश और एतत्सहपठित अन्य श्लोकों का पाठ बहुत अशुद्ध है तथापि इतना व्यक्त होता है कि शाकटायन शैशिरि या उस के

१. निघण्टु २। २॥

२. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १४६।

३. अमी पदस्य वकारो न लुप्यते असस्थाने स्वरे परे शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन। काण्वशिष्यः सः। पुराणे दर्शनात्। तेन शिष्याचार्ययोरेकमतत्वात् काण्वमतेनाप्ययमेव। यद्वा शाकटायन इति काण्वाचार्यस्यैव नामान्तरमुदाहरणम्।

४. यद्वा सुपदेऽशाकटायनः इति अप्रश्लेषेण सूत्रं व्याख्यायते। नेदं काण्वमतमिति कैश्चिदुक्तम्, शाकटायन इति शब्दस्य काण्वपर्यायत्वात् "परिण इति शाकटायनः" (वा० प्र० ३।८७) इत्यादौ तथा दृष्टत्वादिति निरस्तम्।

५. सं० र० पृष्ठ ४३०।

६. सं० र० पृष्ठ ४३७।

७. मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह सूचीपत्र जिल्द ४, भाग १ सी, सन् १९२८, पृष्ठ ५४६, ९७।

शिष्य का शिष्य था। इन श्लोकों की प्रामाणिकता अभी विचारणीय है। तथा इस में किस शाकटायन का उल्लेख है यह भी अज्ञात है।

पुत्र—वामन काशिका ६।२।१३३ में "शाकटायनपुत्रः" उदाहरण देता है। यही उदाहरण रामचन्द्र और भट्टोजिदीक्षित ने भी दिया है।

जीवन की एक घटना—शाकटायन के जीवन की एक घटना महाभाष्य ३।२।११५ में इस प्रकार लिखी है—

अथवा भवति वै कश्चिद् जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते। तद्यथा—वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं यन्तं नोपलेभे।

अर्थात्—जागता हुआ भी कोई पुरुष वर्तमान काल को नहीं ग्रहण करता। जैसे रथमार्ग पर बैठे हुए वैयाकरणों में श्रेष्ठ शाकटायन ने सड़क पर जाते हुए गाड़ी के सारथी को नहीं देखा।

महाभाष्य में इस घटना के उल्लेख से प्रतीत होता है कि शाकटायन के जीवन की यह कोई महत्त्वपूर्ण और लोकपरिज्ञात घटना है। अन्यथा इस का उदाहरण रूप से उल्लेख नहीं होता।

श्रेष्ठत्व—काशिका १।४।८६ में एक उदाहरण है—"**अनुशाकटायनं वैयाकरणाः**" अर्थात् सब वैयाकरण शाकटायन से हीन हैं। काशिका १।४।८७ में इसी भाव का दूसरा उदाहरण "**उपशाकटायनं वैयाकरणाः**" मिलता है।

श्रेष्ठता का कारण—निरुक्त १।१२ तथा महाभाष्य ३।३।१ से विदित होता है कि वैयाकरणों में शाकटायन आचार्य ही ऐसा था जो समस्त नाम शब्दों को आख्यातज मानता था।[1] निश्चय ही शाकटायन ने किसी ऐसे महत्त्वपूर्ण व्याकरण की रचना की थी जिस में सब शब्दों की धातु से व्युत्पत्ति दर्शाई गई थी। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के कारण ही शाकटायन को वैयाकरणों में श्रेष्ठ माना है।

शाकटायन के मत की आलोचना—गार्ग्य को छोड़कर सब नैरुक्त आचार्य समस्त नाम शब्दों को आख्यातज मानते हैं। निरुक्त १।१२ के अवलोकन से विदित होता है कि तात्कालिक वैयाकरण शाकटायन और नैरुक्तों के इस मत से असहमत थे। उन्होंने इस मत की कड़ी आलोचना की

१. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरुक्त। नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। महाभाष्य।

थी। यास्क ने इन वैयाकरणों की आलोचना को पूर्वपक्षरूप में रख कर इसका युक्तियुक्त उत्तर दिया है।[1] पूर्वपक्ष में शाकटायन के सत्य[2] शब्द के निर्वचन को व्यङ्गरूप से उद्धृत किया है।[3] इसका समुचित उत्तर देते हुए यास्क ने लिखा है—यह शाकटायन की निर्वचनपद्धति का दोष नहीं है, अपितु उस व्यक्ति का दोष है जो इस युक्तियुक्त पद्धति को भले प्रकार नहीं जानता।[4]

अन्यत्र उल्लेख—वाजसनेयिप्रातिशाख्य और ऋक्प्रातिशाख्य में शाकटायन के मत उद्धृत हैं यह हम पूर्वलिख चुके। शौनक चतुरध्यायी २।२४ और ऋक्तन्त्र १।१ में भी शाकटायन के मत निर्दिष्ट हैं। बृहद्देवता में शाकटायन के मतों का उल्लेख बहुत्र मिलता है।[5] वे प्राय: दैवत विषयक हैं। बृहद्देवता २।९५ में शाकटायन का एक उपसर्गविषयक मत उद्धृत है। बृहद्देवताकार ने कहीं कोई भेदक विशेषण नहीं दिया, अत: उसके ग्रन्थ में उद्धृत मत निश्चय ही एक शाकटायन के हैं। केशव ने अपने नामार्थार्णवसंक्षेप में शाकटायन को बहुत्र उद्धृत किया है। उसने एक स्थान पर शाकटायन का विशेषण आदिशाब्दिक दिया है।[6] हेमाद्रिकृत चतुर्वर्गचिन्तामणि में भी शाकटायन का एक वचन उद्धृत है।[7] चतुर्वर्ग चिन्तामणि के अतिरिक्त सर्वत्र निर्दिष्ट शाकटायन एक ही व्यक्ति है यह निश्चित है। बहुत सम्भव है हेमाद्रि द्वारा स्मृत शाकटायन भी भिन्न व्यक्ति न हो।

काल

यास्क ने शाकटायन का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। यास्क का काल विक्रम से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व है। यदि शाकटायन कारव का

---

१. देखो निरुक्त १।१४॥ २. दुर्गमतानुसार। ३. अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च। निरुक्त १।१३॥

४. योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः, सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा। निरुक्त १।१४। तथा इसकी दुर्ग और स्कन्दव्याख्या। ५. बृहद्देवता २।१, ९५॥ ३।१५६॥ ४।१३८॥ ६।४३॥ ७।६९॥ ८।११, ९०॥

६. शाकटायनसूरिस्तु व्याचष्टेस्मादिशाब्दिकः॥ ६२॥ भाग २, पृष्ठ ६।

७. यत्तूक्तविरुद्धार्थं शाकटायनवचनं—"जलाग्निभ्यां विपन्नानां सन्यासे वा गृहे पथि। श्राद्धं न कुर्वीत तेषां वै वर्जयित्वा चतुर्दशीम्" इति। चतुर्वर्गचिन्तामणि श्राद्धकल्प पृष्ठ २१५, एशियाटिक सो० संस्क०।

शिष्य हो या स्वयं काण्वशाखा का प्रवक्ता हो तो निश्चय ही इस का काल विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा

शाकटायन व्याकरण का स्वरूप

शाकटायन व्याकरण अनुपलब्ध है अतः वह किस प्रकार का था, यह विशेष रूप से नहीं कह सकते। इस व्याकरण के जो मत विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत हैं उन से इस विषय में जो प्रकाश पड़ता है वह इस प्रकार है—

लौकिक वैदिक पदान्वाख्यान—निरुक्त, महाभाष्य और प्रातिशाख्यों के पूर्वोक्त प्रमाणों से व्यक्त है कि इस व्याकरण में लौकिक वैदिक उभयविध पदों का अन्वाख्यान था।

नागेश की भूल—नागेश ने महाभाष्यप्रदीप-विवरण के प्रारम्भ में लिखा है—शाकटायन व्याकरण में केवल लौकिक पदों का अन्वाख्यान था।[1] प्रतीत होता है उसने अभिनव जैन शाकटायन व्याकरण को प्राचीन आर्ष शाकटायन व्याकरण मान कर यह पंक्ति लिखी है। नागेश के लेख में स्ववचनविरोध भी है। वह महाभाष्य ३।३।१ के विवरण में पञ्चपादी उणादि सूत्रों को शाकटायन प्रणीत कहता है।[2] पञ्चपादी उणादि में अनेक ऐसे सूत्र हैं जो केवल वैदिक शब्दों के व्युत्पादक हैं।[3] इतना ही नहीं, प्रातिशाख्यों में शाकटायन के व्याकरणविषयक अनेक ऐसे मतों का उल्लेख है[4] जो केवल वेदविषयक हैं। अतः शाकटायन व्याकरण में केवल लौकिकपदों का अन्वाख्यान मानना नागेश की भारी भूल है। पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायनविरचित हैं या नहीं, इस विषय में हम उणादि प्रकरण में लिखेंगे।[5]

शब्दनिर्वचनप्रकार—निरुक्त १।१३ के 'एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च' के दुर्गाचार्य कृत

---

१. किं लौकिकशब्दमात्रं शाकटायनादिशास्त्रमाधिकृतम्। नवाह्निक पृष्ठ ६, कालम १, निर्णयसागर संस्क०। २. एवं च कृत्वा 'कृवापा' इत्युणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्। ३. १।२॥ २।८०,८७,१०१,१०३,११६॥ ३।६६॥ ४।१२०,१४१,१४७,१७०,२२१॥ ४. ऋक्प्रातिशाख्य १।१६॥१३।३९॥ वाज० प्राति० ३।६,१२,८८॥ ४।५,१२६,१६१॥ ५. हमने गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस से प्रकाशित दशपादीउणादिवृत्ति के उपोद्घात में भी इस विषय पर विशेष विचार किया है।

व्याख्यान से विदित होता है कि शाकटायन ने सत्य शब्द की निरुक्ति 'इण् गतौ' तथा 'अस् भुवि' इन दो धातुओं से की थी। दुर्गाचार्य इसी प्रकरण में लिखता है—शाकटायन आचार्य ने कई पदों की सिद्धि अनेक धातुओं से की थी और कई पदों की एक धातु से।[1]

अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति—नाम पदों की अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति केवल शाकटायन आचार्य ने नहीं की, अपितु शाकपूणि आदि अनेक प्राचीन नैरुक्त आचार्य इस प्रकार की व्युत्पत्तियां करते थे।[2] ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थों में भी इस प्रकार की अनेक व्युत्पत्तियां उपलब्ध होती हैं। यथा—

हृदय—**तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृ इत्येकमक्षरम्, हरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येकमक्षरम्, ददन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गं लोकं य एवं वेद।**[3]

भर्ग—**भ इति भासयतीमाँल्लोकान्, र इति रञ्जयतीमानि भूतानि, ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजाः। तस्माद् भरगत्वाद् भर्गः।**[4]

शब्दों का त्रिविधत्व—न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि ३।३।१ में लिखता है—

तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति।

अर्थात् शाकटायन के मत में शब्द तीन प्रकार के हैं। जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द। यदृच्छा शब्द उस के मत में नहीं हैं।

२३ उपसर्ग—२० उपसर्ग प्रायः सब आचार्यों को सम्मत हैं। परन्तु शाकटायन आचार्य 'अच्छ' 'श्रद्' और 'अन्तर' इन तीन को भी उपसर्ग मानता है। इस विषय में बृहद्देवता २।९५ में शौनक लिखता है—

---

१. शाकटायनाचार्योऽनेकैश्च धातुभिरेकमभिधानमनुविहितवान् एकेन चैकम्। निरुक्त टीका १।१३॥

२. अग्निः—त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः इतादक्ताद् दग्धाद्वानीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः। निरुक्त ७। १४॥

३. शत० १४।[illegible]।१॥ ४. मैत्रायण्यारण्यक ६।७॥

अच्छ श्रदन्तरित्येतान् आचार्यः शाकटायनः ।
उपसर्गान् क्रियायोगान् मेने ते तु त्रयोऽधिकाः ॥

पाणिनि ने अच्छ श्रत् और अन्तर् की केवल गति संज्ञा मानी है। कात्यायन ने श्रत् और अन्तर् की उपसर्ग संज्ञा का भी विधान किया है।[1]

शाकटायन के अन्य ग्रन्थ

१. **दैवत ग्रन्थ**—हम पूर्व लिख चुके हैं कि शौनक ने बृहद्देवता में शाकटायन के अनेक देवताविषयक मत उद्धृत किये हैं। अतः प्रतीत होता है शाकटायन ने ऋग्वेद की किसी शाखा की देवतानुक्रमणी सदृश कोई ग्रन्थ रचा था।

२. **कोष**—केशव ने अपने नानार्थार्णवसंक्षेप में शाकटायन के कोषविषयक अनेक उद्धरण दिये हैं,[2] जिन से विदित होता है कि शाकटायन ने कोई कोष ग्रन्थ भी रचा था।

३. **ऋक्तन्त्र**—नागेशभट्ट लघुशब्देन्दुशेखर के प्रारम्भ में ऋक्तन्त्र को शाकटायन-प्रणीत कहता है।[3] सामवेदीय सर्वानुक्रमणी के रचयिता किसी हरदत्त का भी यही मत है।[3] भट्टोजि दीक्षित और अर्वाचीन पाणिनीयशिक्षा के दोनों टीकाकार ऋक्तन्त्र को आचार्य औदव्रजिविरचित मानते हैं।[3]

४. **लघु ऋक्तन्त्र**—किन्हीं के मत में यह शाकटायनप्रणीत है, परन्तु यह ठीक नहीं है। इस में पाणिनि का उल्लेख मिलता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी के अनुसार शाकटायन पाणिनि से प्राचीन है।

५. **सामतन्त्र**—कई इसे शाकटायनकृत मानते हैं,[4] कई गार्ग्यकृत[4]। सामवेदानुक्रमणी का कर्ता हरदत्त इसे औदव्रजिविरचित मानता है।[4]

६. **पञ्चपादी उणादिसूत्र**—श्वेतवनवासी[5] तथा नागेशभट्ट[6] आदि अर्वाचीन वैयाकरण पञ्चपादी उणादि को शाकटायनविरचित मानते हैं। नारायणभट्ट[7] आदि कतिपय विद्वान् इसे पाणिनीय स्वीकार करते हैं।

---

१. अच्छशब्दस्योपसंख्यानम्। महाभाष्य १।४।५।८ ॥ अन्तःशब्दास्याङ्किविधिसमासणत्वेषूपसंख्यानम्। महाभाष्य १।४।६४॥ २. श्वश्रूः श्वशुरयोषिति। पितृस्वसारस्त्वस्यार्थं व्याचष्टे शाकटायनः। भाग १, पृष्ठ १९॥ इत्यादि। ३. देखो पूर्व पृष्ठ ५२ टि० २। ४. देखो पूर्व पृष्ठ ५२ टि० ४। ५. येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी विरचिता। उणादिवृत्ति पृष्ठ १,२। ६. पूर्व पृष्ठ ११९ टि० २। ७. अकारमुकुरस्यादौ उकारं दर्दुरस्य च। बभाण पाणिनिस्तौ तु व्यत्ययेनाह भोजराट्। उणादिवृत्ति पृष्ठ १०।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि शाकटायन अनेक धातुओं से एक पद की व्युत्पत्ति दर्शाता है, परन्तु समस्त पञ्चपादी उणादि में एक भी सूत्र ऐसा नहीं है जिस की अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति दर्शाई हो। अतः ये उणादि सूत्र शाकटायनप्रणीत नहीं हैं। इस पर विशेष विचार उणादि के प्रकरण में किया जायगा।

७. श्राद्धकल्प—हेमाद्रि ने चतुर्वर्गचिन्तामणि में शाकटायन के श्राद्धकल्प का एक वचन उद्धृत किया है।[1] यह ग्रन्थ इस समय अप्राप्य है। अतः इस के विषय में हम कुछ विशेष नहीं जानते।

इन ग्रन्थों में से प्रथम दो ग्रन्थ वैयाकरण शाकटायनविरचित प्रतीत होते हैं। शेष ग्रन्थों का रचयिता सन्दिग्ध है।

८—शाकल्य (४००० वि० पू०)

पाणिनि ने शाकल्य आचार्य का मत अष्टाध्यायी में चार बार उद्धृत किया है।[2] शौनक[3] और कात्यायन[4] ने भी अपने प्रातिशाख्यों में शाकल्य के मतों का उल्लेख किया है। ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल के नाम से उद्धृत समस्त नियम शाकल्य के ही हैं।[5] महाभाष्यकार ने ६।१।१२७ में शाकल्य के नियम का शाकल नाम से उल्लेख किया है।[6]

परिचय

शाकल्य पद तद्धितप्रत्ययान्त है, तदनुसार शाकल्य के पितामह का नाम शकल था। पाणिनि ने शकल पद गर्गादिगण[7] में पढ़ा है।

---

१. पूर्व पृष्ठ ११८ टि० ७।

२. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। अष्टा० १।१।१६॥ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च। अष्टा० ६।१।१२७॥ लोपः शाकल्यस्य। अष्टा० ८।३।१९॥ सर्वत्र शाकल्यस्य। ८।४।५१॥ ३. ऋक्प्राति० ३।१३,२२॥ ४।१३॥ इत्यादि। ४. वाज० प्राति० ३।१०॥ ५. ऋक्प्राति० ३।१४,२०,२७ इत्यादि। ६. सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधो वक्तव्यः। इस वार्तिक में अष्टा० ६।१।१२७ में निर्दिष्ट शाकल्यमत का प्रतिषेध किया है। ७. गर्गादिभ्यो यञ्। अष्टा० ४।१।१०५॥

अनेक शाकल्य—संस्कृत वाङ्मय में शाकल्य,[1] स्थविर शाकल्य[2] विदग्ध शाकल्य[3] और वेदमित्र (देवमित्र) शाकल्य[4] ये चार नाम उपलब्ध होते हैं। पाणिनीय सूत्रपाठ में स्मृत शाकल्य और ऋग्वेद का पदकार वेदमित्र शाकल्य निश्चय ही एक व्यक्ति है, क्योंकि ऋक्पदपाठ में व्यवहृत कई नियम पाणिनि ने शाकल्य के नाम से उद्धृत किये हैं।[5] ऋक्प्रातिशाख्य पटल २ सूत्र ८१,८२ की उव्वटकृत व्याख्या के अनुसार शाकल्य और स्थविर शाकल्य भिन्न भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।[6] जिस विदग्ध शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य का जनकसभा में शास्त्रार्थ हुआ था वह भी भिन्न व्यक्ति है। वायु (अ० ६० । ३२) आदि पुराणों में वेदमित्र (देवमित्र) शाकल्य को याज्ञवल्क्य का प्रतिद्वन्द्वी कहा है। हमें वह ठीक प्रतीत नहीं होता। अन्यथा ऐतरेय ब्राह्मण के अगले उद्ध्रियमाण वचन से विरोध होगा।

काल

पाणिनि ने ब्रह्मज्ञाननिधि गृहपति शौनक को उद्धृत किया है।[7] शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल्य तथा उस के व्याकरण के मत उद्धृत किये हैं।[8] शौनक ने महाराज अधिसीम कृष्ण के राज्यकाल में नैमिषीयारण्य में किये गये किसी द्वादशाह सत्र में ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवचन किया था[9]। अतः उसका काल विक्रम से लगभग २८०० वर्ष पूर्व निश्चित है। तदनुसार शाकल्य उससे प्राचीन व्यक्ति है। महाभारत अनुशासनपर्व १४ में सूत्रकार शाकल्य का उल्लेख है वह वैयाकरण शाकल्य प्रतीत होता है। शाकल्य ने शाकल चरण तथा उसके पदपाठ का प्रवचन किया था।

महिदास ऐतरेय ने ऐतरेय ब्राह्मण का प्रवचन किया है। अष्टाध्यायी ४।३।१०५ के "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" सूत्र की काशिकादि

---

१. देखो पृष्ठ १२२ टि० २। २. ऋक्प्राति० २।८१ ॥ ३. शतपथ १४। ६।९।१ ॥ ४. ऋक्प्राति० १।५१ ॥ वायुपुराण ६२।६३ । पूना सं० । विष्णु पुराण ३।४।२० ॥ ब्रह्माण्ड पुराण ३५।१ । बंबई संस्क० । ५. अष्टा० १।१। १६,१७,१८ के नियम। ६. तासां शाकल्यस्य स्थविरस्य मतेन किञ्चिदुच्यते। ऋक्प्राति० टीका २।८१॥ इतराऽस्माकं शाकलानां स्थितिः। ऋक्प्राति० टीका २।८२॥ ७. शौनकादिभ्यश्छन्दसि। अष्टा० ४।३।१०६ ॥ ८. पूर्व १२२पृष्ठ, टि० ३। ९. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ २६९।

वृत्तियों के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण पाणिनि की दृष्टि में पुराणप्रोक्त है। इस की पुष्टि छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय ब्राह्मण से भी होती है। छान्दोग्य ३।१६।६ में लिखा है—"**एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः .... स ह षोडशवर्षशतमजीवत्**" जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४।२।११ में भी लिखा है—"**एतद्ध तद्विद्वान् ब्राह्मण उवाच महिदास ऐतरेयः...... स ह षोडशवर्षशतं जिजीव**"। इन उद्धरणों में "**आह**" "**उवाच**" और "**जिजीव**" परोक्षभूत की क्रियाओं का उल्लेख है। इन से प्रतीत होता है कि महिदास ऐतरेय छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण के प्रवचन से बहुत पूर्व हो चुका था। छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण का प्रवचन विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व हुआ था। अतः महिदास ऐतरेय विक्रम से ३५०० वर्ष पूर्व अवश्य हुआ होगा।

महिदास ऐतरेय ने अपने ऐतरेय ब्राह्मण १४।५ में लिखा है—"**यदस्य पूर्वमपरं तदस्य यद्वास्यापरं तद्वास्य पूर्वम्। अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न वि जानन्ति**"। यहां महिदास ऐतरेय ने प्राचीन यज्ञगाथा द्वारा शाकल चरण का उल्लेख पहेली के रूप में किया है। इससे स्पष्ट है कि शाकल्य ने शाकल चरण का प्रवचन महिदास ऐतरेय से बहुत पूर्व किया था। हमारा विचार है शाकल्य महिदास ऐतरेय से ४००, ५०० वर्ष पूर्व हुआ था। इस प्रकार शाकल्य का समय विक्रम से लगभग ४००० वर्ष पूर्व है।

ऐतरेय ब्राह्मण के वचन का अर्थ—सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण के उपर्युक्त वचन का अर्थ न समझ कर लिखा है—शाकल शब्द सर्पविशेष का वाची है। शाकलनाम के सर्प की जैसी गति है वैसे ही अग्निष्टोम की है।[1] यह अर्थ नितान्त अशुद्ध है। यहां महिदास ऐतरेय का अभिप्राय इतना ही है कि शाकल चरण के आदि और अन्त अर्थात् उपक्रम और उपसंहार के समान होने से उस की गति अर्थात् आद्यन्त की प्रतीति नहीं होती। शाकल चरण के प्रथम मण्डल में १९१ सूक्त हैं और दशम मण्डल में भी १९१ सूक्त हैं। यही उपक्रम और उपसंहार की समानता यहां अग्निष्टोम से दर्शाई है।

---

१. शाकल्यशब्दः सर्पविशेषवाची। शाकलनाम्नोऽहेः सर्पविशेषस्य यथा सर्पणं गमनं तथैवायमग्निष्टोमः।

शाकल्य का व्याकरण

पाणिनि और प्रातिशाख्यों में उद्धृत मतों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि शाकल्य के व्याकरण में लौकिक वैदिक उभयविध शब्दों का अन्वाख्यान था।

कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय का जो सूचीपत्र बड़ोदा की गायकवाड़ ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है उसमें शाकल व्याकरण का उल्लेख है।[1] सम्भव है वह कोई अर्वाचीन ग्रन्थ हो।

कई विद्वानों का मत है कि शाकल्य ने कोई व्याकरणशास्त्र नहीं रचा था। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने शाकल्यकृत ऋक्पदपाठ से उन नियमों का संग्रह किया है। यह मत अयुक्त है। पाणिनि आदि ने शाकल्य के कई ऐसे मत उद्धृत किये हैं जिनका संग्रह पदपाठ से नहीं हो सकता। तथा—**इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च**[2], **कुमारी अत्र**। यहां संहिता में प्रकृतिभाव तथा ह्रस्वत्व का विधान है। पदपाठ में संहिता का अभाव होता है। अतः ऐसे नियम उसके व्याकरण से ही संगृहीत हो सकते हैं।

अन्य ग्रन्थ

शाकल चरण—पुराणों में वेदमित्र शाकल्य को शाकल चरण की पांच शाखाओं का प्रवक्ता लिखा है।[3] ऋक्प्रातिशाख्य ४।४ में शौनक ने "**विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते**"[4] आदि में श्रूयमाण छकारादेश का विधान शाकल्य के पिता के नाम से किया है।[5] इससे स्पष्ट है कि शाकल्य ने ऋग्वेद की प्राचीन संहिता का केवल प्रवचन मात्र किया है, परिवर्तन नहीं किया। अन्यथा इस नियम का उल्लेख उसके पिता के नाम से नहीं होता।

पदपाठ—शाकल्य ने ऋग्वेद का एक पदपाठ रचा था। उस का उल्लेख निरुक्त ६।२८ में मिलता है।[6] वायुपुराण ६०।६३ में वेदमित्र शाकल्य को **पदवित्तम** कहा है।[7] इस से स्पष्ट है कि शाकल चरण प्रव-

१. पृष्ठ ३। २. अष्टा० ६।१।१२७॥

३. वेदमित्रस्तु शाकल्यो महात्मा द्विजसत्तमः। चकार संहिताः पञ्च बुद्धिमान् पदवित्तमः॥ वायुपुराण ६०।६३॥ ४. ऋ० ३।३३।१॥ ५. सर्वैः प्रथमैरुपधीयमानैः शकारः शाकल्यपितुश्छकारम्। ६. वा इति य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्। ७. इसी पृष्ठ की टि० १।

तक ने ही पदपाठ की रचना की है । ऋग्वेद के पदपाठ में व्यवहृत कुछ नियम[१] पाणिनि ने "संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे; उञः ऊँ"[२] सूत्रों में उद्धृत किये हैं। अतः वैयाकरण और शाकल चरण तथा उसके पदपाठ का प्रवक्ता निस्संदेह एक व्यक्ति है। शाकल्यकृत पदसंहिता का उल्लेख महाभाष्य १।४।८४। में मिलता है।[३] शाकल्यकृत पदपाठ का एक नियम शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य के व्याख्याकार उव्वट ने उद्धृत किया है।[४]

चरणव्यूह परिशिष्ट के व्याख्याता महिदास के मतानुसार शाकल्य ने ऋग्वेद के संहिता, पद, क्रम, जटा और दण्ड-पाठ का वात्स्यादि शिष्यों के लिये प्रवचन किया था।[५]

९—सेनक (२९०० वि० पू०)

पाणिनि ने सेनक आचार्य का उल्लेख केवल एक सूत्र में किया है।[६] अष्टाध्यायी से अतिरिक्त इस आचार्य का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अतः इसके विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

१०—स्फोटायन (२९०० वि० पू०)

आचार्य स्फोटायन का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी में एक स्थान पर उद्धृत है।[७] इसके अतिरिक्त इस का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

परिचय

पदमञ्जरीकार हरदत्त काशिका ६।१।१२३ की व्याख्या में लिखता है—

स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो

---

१. वायो इति १।२।१॥ ऊँ इति १।२४।२॥ २. अष्टा० १।१।१६-१८॥

३. शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत्।

४. देखो पूर्व पृष्ठ १०७। ५. शाकल्यः संहिता-पद-क्रम-जटा-दण्डरूपं च पञ्चधा व्यासं कृत्वा वात्स्यमुद्गलशालीयगोखल्यशिशिरेभ्यो ददौ। चौखम्बा-सीरीजमुद्रित शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के अन्त में। पृष्ठ ३। ६. गिरेश्च सेनकस्य। अष्टा० ५।४।११२॥ ७. अवङ् स्फोटायनस्य। अष्टा० ६।१।१२३॥

वैयाकरणाचार्यः । ये त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा (स्फोटशब्दस्य) पाठं मन्यन्ते ।

इस व्याख्या के अनुसार प्रथम पक्ष में यह आचार्य वैयाकरणों के महत्त्वपूर्ण स्फोट-तत्त्व का उपज्ञाता था, अत एव वह वैयाकरणनिकाय में स्फोटायन नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस का वास्तविक नाम अज्ञात है। द्वितीय पक्ष (स्फौटायन पाठ) में इस के पूर्वज का नाम स्फोट था। स्फोट या स्फौटायन का उल्लेख हमें किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता।

आचार्य हेमचन्द्र अपने अभिधानचिन्तामणि कोश में लिखता है—**स्फोटायने तु कक्षीवान्।**[२] इसी प्रकार केशव भी नानार्थार्णवसंक्षेप में—"**स्फोटायनस्तु कक्षीवान्**[३]" लिखता है। इस उद्धरणों से इतना व्यक्त होता है कि स्फोटायन कक्षीवान् का नाम था। क्या यहां कक्षीवान् पद से उशिक् पुत्र कक्षीवान् अभिप्रेत है ?

नाम का निश्चय—हेमचन्द्र और केशव के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि इस आचार्य का स्फोटायन नाम ठीक है न कि स्फौटायन।

काल

पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्फोटायन का निर्देश होने से यह आचार्य विक्रम से २८०० वर्ष प्राचीन है, यह स्पष्ट है। यदि हेमचन्द्र और केशव का लेख ठीक हो और कक्षीवान् से उशिक् पुत्र कक्षीवान् अभिप्रेत हो तो इस का काल कुछ अधिक प्राचीन होगा। भरतमिश्र ने स्फोट-तत्त्व के प्रतिपादक का नाम औदुम्बरायण लिखा है।[४] क्या कक्षीवान् और औदुम्बरायण का परस्पर कुछ संबन्ध हो सकता है ? यास्क ने अपने निरुक्त १।२ में औदुम्बरायण का मत उद्धृत किया है।[५] वहां औदुम्बरायण के मत में शब्द का अनित्यत्व दर्शाया है।

स्फोट-तत्त्व

यदि हरदत्त की प्रथम व्याख्या ठीक हो तो निश्चय ही वैयाकरणों के स्फोटतत्त्व का उपज्ञाता यही आचार्य होगा। स्फोटवाद वैयाकरणों का

---

१. पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ४८४।

२. पृष्ठ ३४०। ३. पृष्ठ ८३, श्लोक १३६।

४. भगवदौदुम्बरायणाद्यपदिष्टाखण्डभावमपि.......अपकापितम्। स्फोटसिद्धि पृष्ठ १।

५. इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।

प्रधानवाद है। उनके शब्द नित्यत्ववाद का यही आधार है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के लेखानुसार स्फोट द्रव्य है, ध्वनि उस का गुण है।[1] नैयायिक और मीमांसक स्फोटवाद का खण्डन करते हैं। स्फोटवाद अत्यन्त प्राचीन है। भागवत पुराण १७। ८५। ९ में भी स्फोट का उल्लेख मिलता है।

अध्याय का उपसंहार

इस अध्याय में पाणिनीय तन्त्र में स्मृत १० दश आचार्यों का वर्णन किया है। पूर्व अध्याय में वर्णित आचार्यों को मिलाकर पाणिनि से प्राचीन २३ तेईस वैयाकरण आचार्यों का उल्लेख प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध होता है।

अब अगले अध्याय में भारतीय वाङ्मय में सुप्रसिद्ध आचार्य पाणिनि और उस के शब्दानुशासन का वर्णन करेंगे।

१. एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः। १।१।७०॥

पांचवां अध्याय

पाणिनि और उसका शब्दानुशासन

संस्कृत भाषा के जितने प्राचीन आर्ष व्याकरण बने उनमें सम्प्रति एक-मात्र पाणिनीय व्याकरण साङ्गोपाङ्ग उपलब्ध होता है। यह प्राचीन आर्ष वाङ्मय की एक अनुपम निधि है। इससे देववाणी परम गौरवान्वित है। इसकी रचना इतनी सुन्दर और सुसम्बद्ध है कि इसको अवलोकन करने वाला प्रत्येक विद्वान् इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगता है। संसारभर में किसी भाषा का व्याकरण अभी तक इतना परिष्कृत नहीं बना।

परिचय

पाणिनि के नामान्तर—त्रिकाण्डशेषकोश में पुरुषोत्तमदेव ने पाणिनि के १ पाणिन, २ पाणिनि, ३ दाक्षीपुत्र, ४ शालङ्कि, ५ शालातुरीय और ६ आहिक ये छै पर्याय लिखे हैं।[1]

१ पाणिन—इस नाम का उल्लेख काशिका ६।२।१४ तथा चान्द्रवृत्ति २।२।६८ में मिलता है।[2] यह नाम गोत्रप्रत्ययान्त है। इसका निर्देश अष्टाध्यायी ६।४।१६५ में उपलब्ध होता है।[3] यशस्तिलक चम्पू में '**पणिपुत्र**' शब्द का प्रयोग मिलता है।[4]

२ पाणिनि—यह ग्रन्थकार का लोकविश्रुत नाम है। यह नाम युव-प्रत्ययान्त है।

एक ही व्यक्ति के गोत्र और युवप्रत्ययान्त दो दो ना अन्यत्र भी उप-लब्ध होते हैं। काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि का उल्लेख हम पूर्व कर चुके

---

१ पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालङ्किपाणिनौ। शालोत्तरीय.....................।
तुलना करो—सालातुरीयको दाक्षीपुत्रः पाणिनिराहिकः। वैजयन्ती, पृष्ठ ९५।

२. पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्। तुलना करो—पाणिनो भक्तिरस्य पाणिनीयः। काशिका ४।३।८९॥ ३. गाथिविदथिगणिपाणिनश्च। ४. पणिपुत्र इव पद-प्रयोगेषु। आश्वास २ पृष्ठ २३६।

हैं ।[1] कात्य और कात्यायन का उल्लेख हम आगे वार्तिककार के प्रकरण में करेंगे। ऐसे प्रयोगों में "वृद्धस्य च पूजायाम्"[2] नियम से पूजा अर्थ में गोत्र की युव संज्ञा होती है।

३. दाक्षीपुत्र—इस नाम का उल्लेख महाभाष्य,[3] समुद्रगुप्त-विरचित कृष्णचरित[4] और आधुनिक पाणिनीयशिक्षा[5] में मिलता है।

४. शालङ्कि—यह पितृ-व्यपदेशज नाम है ऐसा म० म० पं० शिवदत्त शर्मा का मत है।[6] पाणिनि के लिये इस पद का प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। शालङ्कि पद पैलादिगण २।४।५९ में पठित है उसका पाणिनि के साथ संबन्ध है या नहीं, यह निश्चय से नहीं कह सकते, परन्तु इतना निश्चित है कि यह प्राग्देशीय गोत्र नहीं था।[7] महाभाष्य ४।१।९०,१६५ में "शालङ्केर्यूनश्छात्राः शालङ्काः" पाठ उपलब्ध होता है। यहां शालङ्कि पद अष्टाध्यायी २।४।५९ के नियम से शालङ्कि के अपत्यों का वाचक है। शालङ्कायनों का बहुत्र उल्लेख मिलता है।[8] उनका इस शलङ्कु से या शालङ्कि से कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि उनका मूल पुरुष भी शलङ्कु है तथापि वह कौशिक गोत्र का है।[9] उससे अष्टाध्यायी ४।१।९९ से फक् प्रत्यय होता है।

५. शा(सा)लातुरीय—यह नाम वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय के सं० ३१० के ताम्रशासन[10] में भामह के काव्यालङ्कार[11] काशिका-विवरणपञ्जिका (न्यास)[12] तथा गणरत्नमहोदधि[13] में उपलब्ध होता है।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ७९,८०। २. वार्तिक ४।१।६३॥ ३. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। १।१।२०॥ ४. दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः। मुनिकविवर्णन, श्लोक १६। ५. शंकरः शांकरीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते। ५६। ६. महाभाष्य नवाह्निक निर्णयसागर संस्क० भूमिका पृष्ठ १४। ७. अन्ये पैलादय इञन्तास्तेभ्यः 'इञः प्राचाम्' इति लुकि सिद्धे प्रागर्थः पाठः। काशिका २।४।५९॥ इसीप्रकार तत्त्वबोधिनी में लिखा है। ८. काशिका ५।१।५८॥ ४।३।१२५॥ ६।२।३७॥ ९. गोत्रविशेषे कौशिके फकं स्मरन्ति। काशिका ४।१।९९॥ तुलना करो—शालङ्कायना राजन्याः। काशिका ५।३।११०॥ १०. राज्यसालातुरीयतन्त्रयोरुभयोरपि निष्णातः। ११. सालातुरीयपदमेतदनुक्रमेण। ६।६२॥ १२. शालातुरीयेण प्राक् ठञश्छ इति नोक्तम्। न्यास ५।१।१॥ भाग २, पृष्ठ ३। १३. शालातुरीयशकटाङ्गजः……… शालातुरीयस्तत्र भवान् पाणिनिः। पृष्ठ १।

वंश—हम पूर्व लिख चुके हैं कि पं० शिवदत्त शर्मा ने पाणिनि का शालङ्कि नाम पितृ-व्यपदेशज माना है। उन्होंने पाणिनि के पिता का नाम "शलङ्क" लिखा है।[1] गणरत्नावली में यज्ञेश्वर भट्ट ने भी यही लिखा है।[2] कैयट[3] हरदत्त[4] और वर्धमान[5] शालङ्कि का मूल "शलङ्कु" मानते हैं।

हरदत्त ने पाणिनि पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाई है—

पणोऽस्यास्तीति पाणी, तस्यापत्यं पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं पणिनो युवा पाणिनिः।[6]

इस व्युत्पत्ति के अनुसार पाणिनि के पिता का नाम 'पाणिन' प्रतीत होता है, परन्तु पाणिन शब्द का व्यवहार पाणिनि के लिये भी होता है यह हम पूर्व लिख चुके हैं। अतः इस व्युत्पत्ति से इतनी ही प्रतीति होती है कि पाणिनि के वंश का मूल पुरुष 'पणिन्' था।

पतञ्जलि ने महाभाष्य १।१।२० में पाणिनि को दाक्षीपुत्र नाम से स्मरण किया है।[7] दाक्षी पद गोत्रप्रत्ययान्त है। इस से व्यक्त होता है कि पाणिनि की माता दक्ष-कुल की थी। उसका निज नाम अज्ञात है।

मामा—संग्रहकार व्याडि का एक नाम दाक्षायण है। तदनुसार वह पाणिनि के मामा का पुत्र = ममेरा भाई होगा, परन्तु काशिका ६।२।६९ के "कुमारीदाक्षाः" उदाहरण में दाक्षायण को ही दाक्षि नाम से स्मरण किया है। हमारा भी यही विचार है कि जैसे पाणिनि के पाणिन और पाणिनि दो नाम थे। वैसे ही संग्रहकार के भी दाक्षि और दाक्षायण दो नाम थे। इस अवस्था में दाक्षि या दाक्षायण पाणिनि की माता का भाई और पाणिनि का मामा होगा। व्याडि पद क्रौड्यादिगण[8] में पढ़ा है, तदनुसार व्याडि की भगिनी का नाम व्याड्या होता है। पाणिनि की माता और व्याडि को भाई बहन मानने पर दाक्षी का नामान्तर 'व्याड्या' भी होना चाहिये, परन्तु इस नाम का प्रयोग हमारे देखने में नहीं आया। सम्भव है व्याड्या नाम दाक्षी की अन्य भगिनी का हो।

---

१. भूमिका महाभाष्य नवाह्निक, निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ १४। २. हमारा हस्तलेख पृष्ठ १२२। ३. महाभाष्यप्रदीप ४।१।६०॥ ४. पदमञ्जरी २।४।५६॥ ५. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १५। ६. पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ १४। बालमनोरमा में भी यही व्युत्पत्ति लिखी है। भाग २, पृष्ठ ३६२। ७. पृष्ठ १३० टि० ३। ८. अष्टा० ४।१।८०॥

अनुज = पिङ्गल—कात्यायन ऋक्सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थदीपिका में छन्दःशास्त्र के रचयिता पिङ्गल को पाणिनि का अनुज लिखा है।[1] आधुनिक पाणिनीयशिक्षा की शिक्षाप्रकाशनाम्नी टीका के रचयिता का भी यही मत है।[2]

आचार्य—पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में दो स्थानों पर बहुवचनान्त आचार्य पद का निर्देश किया है।[3] हरदत्त का मत है कि पाणिनि बहुवचनान्त आचार्य पद से अपने गुरु का उल्लेख करता है।[4] ऐतरेय आरण्यक[5] यास्कीय निरुक्त,[6] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[7] पातञ्जल महाभाष्य,[8] कौटल्य अर्थशास्त्र,[9] वात्स्यायन कामसूत्र[10] और कामन्दकीय नीतिसार[11] आदि में बहुवचनान्त आचार्य पद का व्यवहार बहुधा मिलता है, परन्तु वह अपने गुरु के लिये व्यवहृत हुआ है यह अनिश्चित है। महाभाष्य में एक स्थान पर कात्यायन के लिये और तीन स्थानों पर पाणिनि के लिये बहुवचनान्त आचार्य पद प्रयुक्त हुआ है। कथासरित्सागर आदि के अनुसार पाणिनि के गुरु का नाम 'वर्ष' था।[12] वर्ष का अनुज 'उपवर्ष' था। एक उपवर्ष जैमिनीय सूत्रों का वृत्तिकार था।[13] क्या वे दोनों एक ही

---

१. तथा च सूच्यते भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन 'क्वचिन्नवकाश्चत्वारः' (९७) इति परिभाषा। पृष्ठ ७०।

२. ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणेऽनुजस्तत्र भगवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजनाते। शिक्षासंग्रह काशी संस्क० पृष्ठ ३८५।

३. अष्टा० ७।३।४९॥ ८।४।५२॥

४. आचार्यस्य पाणिनेर्य आचार्यः स इहाचार्यः, गुरुत्वाद् बहुवचनम्। पद० भाग २, पृष्ठ ८२१।

५. ३।२।३॥

६. मध्यमामित्याचार्याः। ७।२२॥

७. आदिरस्योदात्तसमः इत्याचार्याः। १। ४६॥

८. नह्याचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति। १।१। आ० १॥ तदेतदत्यन्तं सन्दिग्धं वर्तते आचार्याणाम्। १।१। आ० २॥ इङ्गितेन चेष्टितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते। ६।१।३७॥ ८।२।३॥

९. १।४॥ २।६॥ ३।४,५,७ इत्यादि ३६ स्थानों पर।

१०. १।२।२१॥ १।३।८ इत्यादि १० स्थानों पर।

११. ८। ५८॥

१२. अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत्। तत्रैकः पाणिनिर्नाम जडबुद्धितरोऽभवत्॥ कथा० लम्बक १, तरङ्ग ४, श्लोक २०।

१३. शाबरभाष्य १।१।५॥ केशव, कौशिकसूत्र टीका पृष्ठ ३०७। सायण, अथर्वभाष्योपोद्घात पृष्ठ ३५। प्रपञ्चहृदय पृष्ठ ३९।

व्यक्ति थे ? अवन्ति-सुन्दरीकथासार में वर्ष और उपवर्ष का उल्लेख है, परन्तु उसमें पाणिनि का उल्लेख नहीं है। अर्वाचीन वैयाकरण महेश्वर को पाणिनि का गुरु मानते हैं, परन्तु इस में कोई प्रमाण नहीं। कथा-सरित्सागर की कथाएं ऐतिहासिक दृष्टि से पूरी प्रामाणिक नहीं हैं। अतः पाणिनि के आचार्य का नाम सन्दिग्ध है।

शिष्य = कौत्स—पातञ्जल महाभाष्य ३।२।१०८ में एक उदाहरण है—उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्। इसी सूत्र पर काशिका वृत्ति में दो उदाहरण और दिये हैं—अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्, उपशुश्रुषिवान् कौत्सः पाणिनिम्। इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि कोई कौत्स पाणिनि का शिष्य था। जैनेन्द्र आदि व्याकरण की वृत्तियों में भी गुरुशिष्य-सम्प्रदाय का इस प्रकार उल्लेख मिलता है।[1] एक कौत्स निरुक्त १। १५ में उद्धृत है।[2] गोभिल गृह्यसूत्र,[3] आपस्तम्ब धर्मसूत्र,[4] आयुर्वेदीय कश्यप संहिता[5] और सामवेदीय निदानसूत्र[6] में भी किसी कौत्स का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद की शौनकीय चतुरध्यायी भी कौत्सकृत मानी जाती है।[7] एक वरतन्तुशिष्य कौत्स रघुवंश ५। १ में निर्दिष्ट है।[8] रघुवंश के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में उद्धृत कौत्स एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। यदि ये कौत्स भिन्न भिन्न व्यक्ति होते तो प्राचीन ग्रन्थकार विभिन्न विशेषणों का प्रयोग अवश्य करते।

अनेक शिष्य—काशिका ६।२।१०४ में पाणिनि के शिष्यों को दो विभागों में बांटा है—पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः। महाभाष्य १।४।१ में पतञ्जलि ने भी लिखा है—उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः, केचिदाकडारादेका संज्ञा इति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति। इस से भी विदित होता है कि पाणिनि के अनेक शिष्य थे।

देश—पाणिनि का एक नाम शालातुरीय है। जैनलेखक वर्धमान गणरत्नमहोदधि में इस की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाता है—

१. जैनेन्द्र व्या० महानन्दिवृत्ति २। २। ८८, ६६॥

२. यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनायानर्थको भवतीति कौत्सः।

३. ३।१०।४॥ ४. १।१६।४॥१।२८।१॥ ५. पृष्ठ ११५।

६. २।१,१०॥३।११॥८।१०॥ ७. पूर्व पृष्ठ ५२, टि० ३।

८. कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः।

शलातुरो नाम ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः तत्र भवान् पाणिनिः।[1]

अर्थात्—शलातुर ग्राम पाणिनि का अभिजन था।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४। ३। ९३ में साक्षात् शलातुर पद पढ़ कर अभिजन अर्थ में शालातुरीय पद की सिद्धि दर्शाई है। भोजीय सरस्वती-कण्ठाभरण ४।३।२१० में 'सलातुर' पद पढ़ा है।

अभिजन और निवास में भेद—महाभाष्य ४।३।९० में अभिजन और निवास में भेद दर्शाया है—

अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्, निवासो नाम यत्र संप्रत्युष्यते।

इस लक्षण के अनुसार शलातुर पाणिनि के पूर्वजों का वासस्थान था, पाणिनि स्वयं कहीं अन्यत्र रहता था। पुरातत्त्वविदों के मतानुसार अटक समीपस्थ वर्तमान 'लाहुर' ग्राम प्राचीन शलातुर है।

अष्टाध्यायी के 'उदक् च विपाशः,'[2] वाहीकग्रामेभ्यश्च[3]' इत्यादि सूत्रों तथा इनके महाभाष्य से प्रतीत होता है कि पाणिनि का वाहीक देश से विशेष परिचय था। अतः पाणिनि वाहीकदेश या उसके अति समीप का निवासी होगा।

सम्पन्नता—पाणिनि का कुल अत्यन्त सम्पन्न था। उसने अपने शब्दानुशासन के अध्ययन करने वाले छात्र के लिये भोजन का प्रबन्ध कर रक्खा था। जहां छात्र को विद्या के साथ भोजन भी निश्शुल्क प्राप्त होता था। इसी भाव को प्रकट करने वाला "**ओदनपाणिनीयाः**" उदाहरण पतञ्जलि ने महाभाष्य १।१।७३ में दिया है। काशिका ६।२।६९ में वामन ने निन्दार्थ में यह उदाहरण दिया है। जिसका अर्थ है—"**ओदनप्रधानः पाणिनीयः**" अर्थात् जो श्रद्धा के विना केवल ओदनप्राप्ति के लिये पाणिनीय शास्त्र को पढ़ता है वह इस प्रकार निन्दावचन को प्राप्त होता है।

मृत्यु—पाणिनि के जीवन का किञ्चिन्मात्र इतिवृत्त हमें ज्ञात नहीं। पञ्चतन्त्र में प्रसङ्गवश किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें पाणिनि, जैमिनि और पिङ्गल के मृत्युकारण का उल्लेख है। वह श्लोक इस प्रकार है—

---

१. गण० महो० पृष्ठ १।   २. अष्टा० ४।२।७४॥

३. अष्टा० ४। २।११७॥

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् ।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥[1]

इससे विदित होता है कि पाणिनि को सिंह ने मारा था। वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि पाणिनि की मृत्यु त्रयोदशी को हुई थी। मास और पक्ष का निश्चय न होने से पाणिनीय वैयाकरण प्रत्येक त्रयोदशी को अनध्याय करते हैं। यह परिपाटी काशी आदि स्थानों में अभी तक वर्तमान है।

अनुज = पिङ्गल की मृत्यु—पञ्चतन्त्र के पूर्व उद्धृत श्लोक के तृतीय चरण में लिखा है पिङ्गल को समुद्रतट पर मगर ने निगल लिया था।

काल

पाणिनि के काल के विषय में अभी तक कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं हुआ। पाश्चात्य तथा तदनुगामी कतिपय भारतीय ऐतिहासिक पाणिनि के काल के लिये निम्न प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१-आर्यमञ्जुश्रीमूल कल्प में लिखा है—महापद्म का मित्र एक पाणिनि माणव था।[2]

२-कथासरित्सागर आदि में पाणिनि को महाराज नन्द का समकालिक लिखा है।[3]

३-श्रमण शब्द बौद्ध भिक्षुओं के लिये प्रयुक्त होता है। पाणिनि ने "कुमारः श्रमणादिभिः"[4] सूत्र में श्रमण शब्द पढ़ा है। अतः पाणिनि बुद्ध से उत्तरवर्ती है।

---

१. पञ्चतन्त्र, मित्रसंप्राप्ति श्लोक ३६, जीवानन्द संस्क० ; चक्रदत्तविरचित चरकव्याख्या का टीकाकार निश्चुलकर इस श्लोक को इस प्रकार पढ़ता है—तदुक्तम्—छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्, सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरपहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः। मीमांसाकृतमुन्ममाथ तरसा हस्ती वने जैमिनिम्, अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली जून १९४७ पृष्ठ १४२ में उद्धृत।

२. तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणीनिर्नाम माणवः। ४२७॥

३. कथा० लम्बक १, तरङ्ग ४।

४. अष्टा० २।१।७०॥

४-अष्टाध्यायी ४ । १ । ४९ में पठित यवन शब्द के आधार पर कीथ लिखता है—अष्टाध्यायी में यवन शब्द का उल्लेख होने से सिद्ध होता है कि पाणिनि सिकन्दर के भारत-आक्रमण के पीछे हुआ है, वह किसी प्रकार चार शताब्दी ईसा पूर्व से प्राचीन नहीं हो सकता।

वस्तुत: ये सब प्रमाण महत्त्वहीन हैं। मञ्जुश्रीमूल कल्प में पाणिनि का विशेषण माणव दिया है, वैयाकरण नहीं। यदि वैयाकरण विशेषण होता तो उसका महत्त्व हो सकता था। बौद्ध साहित्य के अवलोकन से प्रतीत होता है कि उस समय नामकरण प्राचीन गोत्रादि की परिपाटी के अनुसार किये जाते थे। अत: बुद्ध से अति प्राचीन काल में हुए ऋषि मुनि और आचार्यों के नाम बौद्ध साहित्य में भी उपलब्ध हो जाते हैं। आधुनिक ऐतिहासिकों ने इस तथ्य को न समझ कर या जानबूझ कर प्राचीन आर्षकालीन ऋषि, मुनि और आचार्यों तथा बौद्ध श्रमणों को एक बना दिया है। इसी नामैक्य के कारण कथासरित्सागर आदि के रचयिताओं को भी भ्रान्ति हुई।

आधुनिक ऐतिहासिकों ने महापद्मनन्द का काल भी बहुत अर्वाचीन माना है। भारतीय पौराणिक कालगणनानुसार जो कि उत्तरोत्तर सत्य सिद्ध हो रही है नन्द का काल विक्रम से पन्द्रह सोलह सौ वर्ष पूर्व है।[1]

यदि श्रमण शब्द का व्यवहार केवल बौद्धकाल में ही मिलता तो इस के आधार पर पाणिनि का काल निर्णय किया जा सकता था, परन्तु श्रमण शब्द बौद्ध काल से सैकड़ों वर्ष प्राचीन शतपथ ब्राह्मण १४ । ७ । १ । २२ में उपलब्ध होता है। शंकराचार्य आदि व्याख्याकारों ने इस का अर्थ 'परिव्राट्' किया है। श्रमण शब्द के समान ऐसे अनेक शब्द हैं, जिन्हें आधुनिक ऐतिहासिक बौद्धकाल के मानते हैं, परन्तु वे उस से बहुत प्राचीन वैदिक वाङ्मय में भी उपलब्ध होते हैं।

अब रहा यवन शब्द। संस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रन्थों में यवनों का उल्लेख मिलता है। भारतीय बहुत प्राचीन काल से यवनजाति से परिचित थे, क्योंकि यवन जाति अति प्राचीन काल में भारत के समीप ही बसती थी। वहीं से ये लोग वर्तमान यूनान में जाकर बसे। पाश्चात्य विद्वानों ने इस तथ्य को जानबूझ कर आंखों से ओझल कर दिया और एक मिथ्या कल्पना प्रसारित करदी कि सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व भारतीय यवनजाति से

---

१. देखो श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित भारतवर्ष का इतिहास, द्वि० सं० पृष्ठ २६० ।

अपरिचित थे। इस मिथ्या कल्पना के आधार पर पाश्चात्यों ने जिन जिन ग्रन्थों में यवन शब्द का व्यवहार देखा, उसे उसे बलात् सिकन्दर के आक्रमण से पश्चाद्भावी बना दिया। पाश्चात्य विद्वानों ने सिकन्दर के एक साधारण से आक्रमण को जिसको पञ्जाब के छोटे छोटे गणराज्यों ने ही रोककर वापिस लौट जाने पर बाध्य किया, वृथा महत्त्व दिया है। यही कारण है कि भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थों में सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख नहीं मिलता। पाश्चात्य विद्वानों के दुराग्रह का यह (यवन शब्द) एक उदाहरण है। वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों ने जान बूझकर प्राचीन आर्ष वाङ्मय के विषय में महती अनास्था उत्पन्न की है,[1] क्योंकि आर्ष वाङ्मय को प्रामाणिक मान लेने पर पाश्चात्य विद्वानों का काल्पनिक ऐतिहासिक काल-क्रम किसी प्रकार नहीं बन सकता।

हम प्राचीन आर्ष वाङ्मय के अनुशीलन से इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पाणिनि विक्रम से लगभग २८०० सौ वर्ष प्राचीन है। अब हम अपने मत की पुष्टि में प्रमाण उपस्थित करते हैं—

पाणिनि के समकालिक आचार्य—हम अपनी उपर्युक्त स्थापना की सिद्धि के लिये पहले पाणिनि के समकालिक आचार्यों का संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

१—गृहपति शौनक ऋक्प्रातिशाख्य[2] तथा बृहद्देवता[3] में यास्क को बहुधा उद्धृत करता है।

२—पाणिनि का अनुज पिङ्गल "उरोबृहती यास्कस्य"[4] सूत्र में यास्क का स्मरण करता है।

३—यास्क निरुक्त १।५ में कौत्स का उल्लेख करता है। महाभाष्य ३।२।१०८ के अनुसार कौत्स पाणिनि का शिष्य था।[5]

४—पिङ्गल का नाम पाणिनीय गणपाठ ४।१।९९,१०५ में मिलता है।

---

१. देखो, श्री पं० भगवद्दत्त जी विरचित "भारतवर्ष का बृहद् इतिहास" भाग १ पृष्ठ ३५—४२।

२. न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः। १७। ४२॥

३. बृहद्देवता १।२६॥ २।१११, १३२, १३७॥ ३।७६, [illegible], ११२ इत्यादि।

४. छन्दःशास्त्र ३। ३०॥

५. उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्।

५—पाणिनि "शौनकादिभ्यश्छन्दसि"[1] सूत्र में शाखाप्रवक्ता शौनक का उल्लेख करता है।

६—शौनक शाखा का प्रवक्ता गृहपति शौनक ऋक्प्रातिशाख्य के के अनेक सूत्रों में व्याडि का निर्देश करता है।[2] व्याडि का ही दूसरा नाम दाक्षायण है। वह पाणिनि का मामा था।

७—व्याडि का नाम पाणिनीय गणपाठ ४।१।८० में तथा दाक्षायण नाम गणपाठ ४।२।५४ में मिलता है।

८—सामवेदीय लघु-ऋक्तन्त्र व्याकरण में पाणिनि का साक्षात् उल्लेख मिलता है।[3]

९ बौधायन श्रौतसूत्र प्रवराध्याय (३) में पाणिनि का साक्षात् निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः.........पैङ्गलायनाः,[4] वैहीनरयः ....काशकृत्स्नाः.........पाणिनिर्वाल्मीकि.......आपिशलयः।

१०—मत्स्य पुराण १९७।१० में पाणिनि गोत्र का उल्लेख मिलता है।[5]

११—वायुपुराण ९१।९९ में पाणिन गोत्र का निर्देश किया है।[6] पाणिन और पाणिनि एक ही हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[7]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि यास्क, शौनक, व्याडि, पाणिनि, पिङ्गल और कौत्स आदि लगभग समकालिक हैं इन में बहुत थोड़ा पौर्वापर्य है। यदि इन में से किसी एक का भी निश्चित काल ज्ञात हो जावे तो पाणिनि का काल स्वतः ज्ञात होजायगा। अत हम प्रथम शौनक के काल पर विचार करते हैं—

---

१. अष्टा० १। ४। १०६।

२. ऋक्प्राति० २। २३, २८॥ ६। ४३॥ १३। ३१, ३७॥

३. ऐचो वृद्धिरिति प्रोक्तं पाणिनीयानुसारिभिः। पृष्ठ ४६।

४. पैङ्गलायनिप्रोक्त ब्राह्मण बौधायनश्रौत २।७ में उद्धृत है। अपीका गा दक्षिणा दद्यादिति पैङ्गलायनिब्राह्मणं भवति।

५. पाणिनिश्चैव न्यार्षेयाः सर्व एते प्रकीर्तिताः।

६. बभ्रवः पाणिनश्चैव ध्यानजप्यास्तथैव च।

७. पूर्व पृष्ठ १२६।

शौनक का काल—महाभारत आदि पर्व १।१ तथा ४।१ के अनुसार जनमेजय (तृतीय) के सर्पसत्र के समय शौनक नैमिषारण्य में द्वादश-वार्षिक सत्र कर रहा था। विष्णु पुराण ४।२१।४ में लिखा है जनमेजय के पुत्र शतानीक ने शौनक से आत्मोपदेश लिया था और मत्स्य २५।४,५ के अनुसार शौनक ने शतानीक को ययातिचरित सुनाया था। वायु पुराण १।१२,१४,२३ के अनुसार अधिसीम कृष्ण के राज्य काल में कुरुक्षेत्र में नैमिषारण्य के ऋषियों द्वारा किये गये दीर्घसत्र में सर्वशास्त्रविशारद गृह-पति शौनक विद्यामान था।[1] ऋक्प्रातिशाख्य के प्राचीन वृत्तिकार विष्णुमित्र ने शास्त्रावतार विषयक एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है। वह लिखता है—

तस्मादादौ शास्त्रावतार उच्यते—

शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितैः।
दीक्षासु चोदितः प्राह सत्रे तु द्वादशाहिके॥

इति शास्त्रावतारं स्मरन्ति।

इन प्रमाणों से विदित होता है कि गृहपति शौनक दीर्घायु था। वह न्यून से न्यून ३०० वर्ष अवश्य जीवित रहा था। अतः शौनक का काल सामान्यतया भारतयुद्ध से लेकर महाराज अधिसीम के काल तक मानना चाहिये। ऋक्प्रातिशाख्य की रचना महाराज अधिसीम के काल में भारत-युद्ध के लगभग २५० वर्ष पश्चात् अर्थात् २८०० सौ विक्रम पूर्व हुई थी। ऋक्प्रातिशाख्य में स्मृत व्याडि भी इसी काल का व्यक्ति है। व्याडि पाणिनि का मामा था, यह हम पूर्व कह चुके।[2] अतः पाणिनि का समय स्थूलतया विक्रम से २८०० वर्ष प्राचीन है।

यास्क का काल - महाभारत शान्तिपर्व अ० ३४२ श्लोक ७२, ७३ में यास्क का उल्लेख मिलता है। वह इस प्रकार है—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः॥

निरुक्त १३।१२ से विदित होता है कि यास्क के काल में ऋषियों का उच्छेद होना प्रारम्भ हो गया था।[3] पुराणों के मतानुसार ऋषियों ने

---

१. अधिसीमकृष्णे विक्रान्ते राजन्येऽनुपत्विषि। धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे दीर्घक्षेत्रे तु ईजिरे। तस्मिन् सत्रे गृहपतिः सर्वशास्त्रविशारदः।

२. पूर्व पृष्ठ १३१।

३. मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति।

अन्तिमदीर्घसत्र महाराज अधिसीम के राज्य काल में किये थे।[1] भारत युद्ध के अनन्तर शनैः शनैः ऋषियों का उच्छेद आरम्भ हो गया था। शौनक ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य और बृहद्देवता में यास्क का स्मरण किया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2] अतः महाभारत तथा निरुक्त के अन्तः-साक्ष्य से विदित होता है की यास्क का काल भारतयुद्ध के समीप था।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि यास्क, शौनक, पाणिनि, पिङ्गल और कौत्स लगभग समकालिक व्यक्ति हैं अर्थात् इनका पौर्वापर्य बहुत स्वल्प है। अतः पाणिनि का काल भारत युद्ध से लेकर अधिसीम कृष्ण के काल तक लगभग २५० वर्षों के मध्य है।

पाणिनि का साक्षान्निर्देश—ऊपर उद्धृत प्रमाण संख्या ८—११ में पाणिनि का साक्षान्निर्देश है। बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय में पाणिनि गोत्र का उल्लेख है। इस की पुष्टि मत्स्य और वायुपुराण के प्रमाणों से होती है।[3] बौधायन आदि श्रौतसूत्रों की रचना तत्तत् शाखाओं के प्रवचन के कुछ अनन्तर हुई है। श्रौत, धर्म आदि कल्पसूत्रों के रचयिता वे ही आचार्य हैं जिन्होंने शाखाओं का प्रवचन किया था, यह हम न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन और पूर्वमीमांसाकार जैमिनि के प्रमाणों से पूर्व दर्शा चुके हैं।[4] शाकल ऐतरेय आदि कुछ पुराण प्रोक्त शाखाओं के अति-रिक्त सब शाखाओं का प्रवचन-काल लगभग भारतयुद्ध से एक शताब्दी पूर्व से लेकर दो शताब्दी पश्चात् तक है। वर्तमान में उपलब्ध शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत गृह्य धर्म आदि कल्पसूत्र, दर्शन, आयुर्वेद, निरुक्त, व्याकरण आदि वैदिक आर्ष वाङ्मय अधिकतर इसी काल की रचना है।

पाणिनि की महत्ता

पाणिनीय शब्दानुशासन का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से विदित होता है कि पाणिनि न केवल शब्दशास्त्र का ज्ञाता था, अपितु समस्त प्राचीन वाङ्मय में उसकी अप्रतिहत गति थी। वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त भूगोल, इतिहास, मुद्राशास्त्र और लोकव्यवहार आदि का वह अद्वितीय विद्वान्

---

१. वायु पुराण १।१२—१४॥ ९९। २५७—२५९॥

२. पूर्व पृष्ठ १३७, टि० २, ३।

३. पूर्व पृष्ठ ११८ टि० ५, ६ में उद्धृत पाठ।

४. पूर्व पृष्ठ १५—१७।

था। उसका शब्दानुशासन न केवल शब्दज्ञान के लिये अपितु प्राचीन भूगोल, और इतिहास के ज्ञान के लिये भी एक महान् प्रकाशस्तम्भ है।[1] वह अति प्राचीन और अर्वाचीन काल का जोड़ने वाला महान् सेतु है। महाभाष्यकार पतञ्जलि पाणिनि के विषय में लिखता है—

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण।[2]

अर्थात्—दर्भपवित्रपाणि प्रामाणिक आचार्य ने शुद्ध एकान्त स्थान में प्राङ्मुख बैठकर एकाग्रचित्त होकर बहुत प्रयत्न पूर्वक सूत्रों की रचना की है। अतः उन में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, इतने बड़े सूत्र के आनर्थक्य का तो क्या कहना।

पुनः लिखा है—**सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।**[3]

अर्थात्—सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्धरूपी सामर्थ्य से इस शास्त्र में कुछ भी अनर्थक नहीं दीखता।

जयादित्य '**उदक् च विपाशः**'[4] सूत्र की वृत्ति में लिखता है—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।

अर्थात्—सूत्रकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। वह साधारण से स्वर की भी उपेक्षा नहीं करता।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग लिखता है—ऋषि ने पूर्ण मन से शब्द-भण्डार से शब्द चुनने आरम्भ किये, और १००० दोहों में सारी व्युत्पत्ति रची। प्रत्येक दोहा ३२ अक्षरों का था।[5] इसमें प्राचीन तथा नवीन सम्पूर्ण लिखित ज्ञान समाप्त हो गया। शब्द और अक्षर विषयक कोई भी बात छूटने नहीं पाई।[6]

---

१. पाणिनीय व्याकरण में उल्लिखित प्राचीन वाङ्मय का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। २. महाभाष्य १।१।१, पृष्ठ ३९। ३. ६।१।७७॥
४. अष्टा० ४।२।७४॥ ५. ह्यूनसांग के लेख से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये कि पाणिनीय ग्रन्थ पहिले छन्दोबद्ध था। ग्रन्थपरिमाण दर्शाने की यह प्राचीन शैली है। ६. ह्यूनसांग वाटर्स का अनुवाद, भाग १, पृष्ठ २२१॥

१२ वीं शताब्दी का ऋग्वेद का भाष्यकार वेङ्कटमाधव लिखता है—शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः।[1] अर्थात् ऋग्वेद के ज्ञाता तीन हैं शाकल्य, पाणिनि और यास्क। वेङ्कटमाधव का यह लेख सर्वथा सत्य है। वेदार्थ में स्वरज्ञान सब से प्रधान साधन है। पाणिनि ने स्वर-शास्त्र के सूक्ष्मविवेचन की दृष्टि से न केवल प्रत्येक प्रत्यय तथा आगम के ञित्, नित्, चित् आदि अनुबन्धों पर विशेष ध्यान रक्खा है अपितु लगभग ४०० सूत्र केवल स्वर-विशेष के परिज्ञान के लिये रचे। इससे पाणिनि की वेदज्ञता स्पष्ट है।

पाणिनीय व्याकरण और पाश्चात्य विद्वान्

अब हम पाणिनीय व्याकरण के विषय में आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों का मत दर्शाते हैं[2]—

१. प्रो० मोनियर विलियम्स कहता है—संस्कृत व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रक्खा।

२. प्रो० मैक्समूलर लिखता है—हिन्दुओं के व्याकरण अन्वय की योग्यता संसार की किसी जाति के व्याकरण साहित्य से चढ़ बढ़ कर है।

३. कोलब्रुक का मत है—व्याकरण के नियम अत्यन्त सतर्कता से बनाये गये थे, और उन की शैली अत्यन्त प्रतिभापूर्ण थी।

४. सर W. W. हण्टर कहता है—संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषा का धात्वन्वय सिद्धान्त और प्रयोगविधियां अद्वितीय एवं अपूर्व हैं।..........यह मानव मस्तिष्क का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है।

४. लेलिनग्राड के प्रो० टी० शेरवात्स्की ने पाणिनीय व्याकरण का कथन करते हुए उसे "इन्सानी दिमाग की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक" बताया है।[3]

---

१. मन्त्रार्थानुक्रमणी, ऋग्भाष्य ८,१ के प्रारम्भ में।

२. हम ने अगले ४ उद्धरण 'महान् भारत' पृष्ठ १४६, २५० से उद्धृत किये हैं,

३. पं० जवाहरलाल लिखित हिन्दुस्तान की कहानी पृष्ठ १११।

क्या पतञ्जलि पाणिनि का खण्डन करता है ?

महाभाष्यकार पतञ्जलि की पाणिनीय अष्टाध्यायी के विषय में क्या धारणा है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। महाभाष्य का यत्किंचित् अध्ययन करने वाले आधुनिक वैयाकरण कहते हैं कि पतञ्जलि ने पाणिनि के अनेक सूत्रों वा सूत्रांशों का खण्डन किया है। उन्होंने **'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'**[1] ऐसा वचन भी घड़ लिया है। वस्तुतः यह विचार सर्वथा अयुक्त है। यदि पतञ्जलि पाणिनि के ग्रन्थ में इतनी अशुद्धियां समझता तो वह उपर्युक्त वचन कदापि न लिखता। इससे मानना होगा कि पतञ्जलि उन सूत्रों वा सूत्रांशों का खण्डन नहीं करता, अपितु अपने बुद्धिचातुर्य से प्रकारान्तर से प्रयोगसिद्धि का निदर्शन कराता है। महाभाष्यकार प्रदर्शित प्रकारान्तरनिर्देशों से चन्द्राचार्य आदि अर्वाचीन वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थों की रचना में पर्याप्त सहायता ली है।

पाणिनीय तन्त्र का आदि सूत्र

कैयट आदि वैयाकरणों का कथन है कि 'अथ शब्दानुशासनम्' वचन भाष्यकार का है।[2] पाणिनीय तन्त्र का आरम्भ 'वृद्धिरादैच्' सूत्र से होता है। यह कथन सर्वथा अयुक्त है। प्राचीन सूत्रग्रन्थों की रचना-शैली के अनुसार यह वचन पाणिनीय ही प्रतीत होता है। महाभाष्य के प्रारम्भ में भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है——

अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।

इस वाक्य में 'प्रयुज्यते' क्रिया का कर्ता यदि पाणिनि माना जाय तब तो इसकी उत्तर वाक्य से संगति ठीक लगती है। अन्यथा 'प्रयुज्यते' क्रिया का कर्ता पतञ्जलि होगा और 'अधिकृतम्' का पाणिनि। क्योंकि शास्त्र का रचयिता पाणिनि ही है। विभिन्न कर्त्ता मानने पर यहां एकवाक्यता नहीं बनती।

---

१. महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।१।८०॥ तथा चाहुः—चतुष्कपञ्चकस्थानेसूत्तरोत्तरतो भाष्यकारस्यैव प्रामाण्यमिति। तन्त्रप्रदीप ७।१,१२, धातुप्रदीप भूमिका पृष्ठ २ में उद्धृत।

२. निर्णयसागर मुद्रित महाभाष्य भाग १ पृष्ठ ६। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ३।

अब हम 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र के पाणिनीय होने में प्राचीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१. अष्टाध्यायी के कई हस्तलेखों का आरम्भ इसी सूत्र से होता है।[1]

२. काशिका और भाषावृत्ति में अन्यसूत्रों के सदृश इस की भी व्याख्या की है अर्थात् उन्हों ने पाणिनीय ग्रन्थ का आरम्भ यहीं से माना है।

३. भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधराचार्य लिखता है—

व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिमुनिः प्रयोजननामनी व्याचिख्यासुः प्रतिजानीते—अथ शब्दानुशासनमिति।[2]

अर्थात्—व्याकरण शास्त्र का आरम्भ करते हुए भगवान् पाणिनि ने शास्त्र का प्रयोजन और नाम बताने के लिये 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र रचा है।

४. मनुस्मृति का व्याख्याता मेधातिथि इस को पाणिनीय सूत्र मानता है। वह लिखता है—

४. पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते। तथा हि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनम् 'अथ शब्दानुशासनम्' इति सूत्रसन्दर्भमारभते।[3]

अर्थात्—सब पौरुषेय ग्रन्थों में भी ग्रन्थ के प्रयोजन का कथन नहीं होता। भगवान् पाणिनि ने अपने शास्त्र का प्रयोजन विना कहे 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यादि सूत्रसमूह का आरम्भ किया है।

५. न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिका ३।४।२६ की व्याख्या में लिखता है—

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के संग्रह में सं० १६६२ की लिखी पुस्तक। यह इस समय श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में है। डी० ए० वी कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय का एक लिखित पुस्तक। सं० १६४४ विक्रम में प्रो० बोटलिंक द्वारा मुद्रित अष्टाध्यायी। देखो, प्रो० रघुवीर जी एम ए. द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित अष्टाध्यायी-भाष्य, भाग १ पृष्ठ १।

२. भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति के प्रारम्भ में।

३. मनुस्मृति टीका १।१, पृष्ठ १।

शब्दानुशासनप्रस्तावादेव हि शब्दस्येति सिद्धे शब्दग्रहणं यत्र शब्दपरो निर्देशस्तत्र स्वं रूपं गृह्यते, नार्थपरनिर्देश इति ज्ञापनार्थम्।[1]

अर्थात्—शब्दानुशासन के प्रस्ताव से ही शब्द का संबन्ध सिद्ध है। पुनः '**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा**'[2] सूत्र में शब्दग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि जहां शब्दप्रधान निर्देश होता है वहीं रूप ग्रहण होता है अर्थप्रधान में नहीं।

यहां न्यासकार को शब्दानुशासनप्रस्ताव से 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र अभिप्रेत है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र पाणिनीय ही है। अत एव स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य के प्रारम्भ में लिखा है—

इदं सूत्रं पाणिनीयमेव। प्राचीनलिखितपुस्तकेषु आदाविदमेवास्ति। दृश्यन्ते च सर्वेष्वार्षेषु ग्रन्थेष्वादौ प्रतिज्ञासूत्राणीदृशानि।

कैयट आदि ग्रन्थकारों को 'वृद्धिरादैच्'[3] सूत्र के 'मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' इस महाभाष्य के वचन से भ्रान्ति हुई है। और इसी के आधार पर अर्वाचीन वैयाकरण प्रत्याहारसूत्रों को भी अपाणिनीय मानते हैं।

क्या प्रत्याहारसूत्र अपाणिनीय हैं ?

भट्टोजिदीक्षित आदि आधुनिक वैयाकरणों का मत है कि प्रत्याहारसूत्र महेश्वरविरचित हैं,[4] अर्थात् अपाणिनीय हैं। यह मत सर्वथा अयुक्त है। इनको अपाणिनीय मानने में नन्दिकेश्वरकृत काशिका के अतिरिक्त कोई प्राचीन सुदृढ़ प्रमाण नहीं है। प्रत्याहारसूत्र पाणिनीय हैं, इस विषय में अनेक प्रमाण हैं। आधुनिक समय में सब में प्रथम स्वामी दया-

---

१. न्यास भाग १ पृष्ठ ७५५। २. अष्टा० १।१।६८॥

३. अष्टा० १।१।१॥ ४. इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थकानि। सिद्धान्तकौमुदी के प्रारम्भ में।

नन्द सरस्वती ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने अष्टाध्यायीभाष्य में महाभाष्य का निम्न प्रमाण उपस्थित किया है।[1]

१. हयवरट्[2] सूत्र पर महाभाष्यकार ने लिखा है—

एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते—यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति—अचोऽनु हलो हल्षु।

महाभाष्य में आचार्य पद का व्यवहार केवल पाणिनि और कात्यायन दो के लिये हुआ है। यहां आचार्य पद का निर्देश कात्यायन के लिये नहीं है, अतः प्रत्याहारसूत्रों का रचयिता पाणिनि ही है।

२. वृद्धिरादैच्[3] सूत्र के महाभाष्य में वृद्धि और आदैच् पद का साधुत्वप्रतिपादन करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—

कृतमनयोः साधुत्वम्, कथम्? वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे तस्मात् क्तिन् प्रत्ययः। आदैचोऽप्यक्षरसमाम्नाय उपादिष्टाः।

इस वाक्य में 'कृतम्' तथा 'उपादिष्टाः' दोनों क्रियाओं का प्रयोग बता रहा है कि वृध धातु, क्तिन् प्रत्यय और आदैच् प्रत्याहार इन सब का उपदेश करने वाला एक ही व्यक्ति है।

३. संवत् ६८७ के लगभग होने वाला स्कन्दस्वामी निरुक्त १।१ की टीका में प्रत्याहारसूत्रों को पाणिनीय लिखता है—

नापि 'अइउण्' इति पाणिनीयप्रत्याहारसमाम्नायवत्......।[4]

४. सं० ११०० के लगभग होने वाला[5] आश्चर्यमञ्जरी का कर्ता कुलशेखरवर्मा प्रत्याहारसूत्रों को पाणिनिविरचित मानता है—

पाणिनिप्रत्याहार इव महाप्राणझषाश्लिष्टो झषालंकृतश्च—(समुद्रः)।[6]

५–९. पुरुषोत्तमदेव, सृष्टिधराचार्य, मेधातिथि, न्यासकार और जयादित्य के मत में '**अथ शब्दानुशासनम्**' सूत्र पाणिनीय है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[7] अतः उन के मत में प्रत्याहारसूत्र भी पाणिनीय हैं, यह स्वयंसिद्ध है।

---

१. भाग १, पृष्ठ १२। २. प्रत्याहारसूत्र ५। ३. अष्टा० १।१।१॥

४. निरुक्तटीका भाग १ पृष्ठ ८। ५. सं० सा० का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठ ४०१। ६. अमरटीकासर्वस्व भाग १, पृष्ठ १८६ पर उद्धृत।

७. पूर्व पृष्ठ १४३–१४५।

१०. अष्टाध्यायी के अनेक प्राचीन हस्तलेखों में 'हल्'[1] सूत्र के अनन्तर '**इति प्रत्याहारसूत्राणि**' इतना ही निर्देश मिलता है।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रत्याहारसूत्र पाणिनीय हैं।

भ्रान्ति का कारण—इस भ्रम का कारण अत्यन्त साधारण है। महाभाष्यकार ने '**वृद्धिरादैच्**'[2] सूत्र पर लिखा है—**माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते।**

अर्थात्—आचार्य पाणिनि मङ्गल के लिये शास्त्र के प्रारम्भ में वृद्धि शब्द का प्रयोग करता है।

महाभाष्य की इस पङ्क्ति में 'आदि' पद को देख कर अर्वाचीन वैयाकरणों को भ्रम हुआ है कि पाणिनीय शास्त्र का प्रारम्भ 'वृद्धिरादैच्' से होता है अर्थात् उससे पूर्व के सूत्र पाणिनीय नहीं है।

इस पर विचार करने से पूर्व आदि मध्य और अन्त शब्दों के व्यवहार पर ध्यान देना आवश्यक है। महाभाष्यकार ने '**भूवादयो धातवः**'[3] सूत्र पर लिखा है—

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वकारागमं प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते।

इस पङ्क्ति में पाणिनीय शास्त्रान्तर्गत आदि, मध्य और अन्त के तीन मङ्गलों की ओर संकेत किया है। और 'भूवादयो धातवः' सूत्र के वकारागम को शास्त्र का मध्य मङ्गल कहा है।

काशिकाकार '**नोदात्तस्वरितोदयम्**'[4] इत्यादि सूत्र की व्याख्या में लिखता है—

उदात्तपरस्येति वक्तव्ये उदयग्रहणं मङ्गलार्थम्।

यह शास्त्र के अन्त का मङ्गल है।

इन उद्धरणों में प्रयुक्त आदि, मध्य और अन्त शब्दों पर ध्यान देने से विदित होगा कि मध्य और अन्त शब्द अपने मुख्यार्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं यह विस्पष्ट है, क्योंकि '**भूवादयो धातवः**' शास्त्र के ठीक मध्य में नहीं है। इसी प्रकार '**नोदात्तस्वरितोदयम्**' सूत्र भी सर्वान्त में नहीं है,

१. प्रत्याहारसूत्र १४।
२. अष्टा० १।१।१॥
३. अष्टा० १।३।१॥
४. अष्टा० ८।४।६७॥

अन्यथा शास्त्र के अन्तिम सूत्र 'अ अ'[1] को अपाणिनीय मानना होगा। महाभाष्यकार ने 'अइउण्'[2] सूत्र पर 'अ अ' को पाणिनीय माना है।[3] अतः महाभाष्य के उपर्युक्त उद्धरणों में आदि मध्य और अन्त शब्द सामीप्यादि सम्बन्ध द्वारा लक्षणार्थ में प्रयुक्त हुए हैं, यह स्पष्ट है।

आदि और अन्त शब्द का इस प्रकार लाक्षणिक प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः उपलब्ध होता है। नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक आचार्य वररुचि अपने निरुक्तसमुच्चय के प्रारम्भ में लिखता है—

मन्त्रार्थज्ञानस्य शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति।[4]

शास्त्रान्ते च—यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीति।[5]

इन दोनों उद्धरणों में क्रमशः निरुक्त १।१८ और १३।१३ के पाठ को निरुक्त के आदि और अन्त का पाठ लिखा है। क्या इस से आचार्य वररुचि के मत में निरुक्त का प्रारम्भ 'योऽर्थज्ञ' से माना जायगा? वररुचि ने अपने ग्रन्थ में निरुक्त १।१८ से पूर्व के अनेक पाठ उद्धृत किये हैं।[6]

अतः ऐसे वचनों के आधार पर इस प्रकार के भ्रमपूर्ण सिद्धान्तों की कल्पना करना सर्वथा अयुक्त है। इस लिये पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार पाणिनीय शास्त्र का प्रारम्भ '**अथ शब्दानुशासनम्**' से समझना चाहिये, और प्रत्याहारसूत्र भी पाणिनीय ही मानने चाहियें। यही युक्तियुक्त है।

इसी प्रकार की एक भूल कात्यायनकृत वार्तिकपाठ के सम्बन्ध में भी हुई है, उसका निर्देश हम कात्यायन के प्रकरण में करेंगे।

---

१. अष्टा० ८।४।६८॥ २. प्रत्याहारसूत्र १।

३. यदयम् 'अ अ' इत्यकारस्य विवृतस्य संवृतताप्रत्यापत्तिं शास्ति।

४. निरुक्तसमुच्चय (हमारा संस्करण) पृष्ठ १। ५. निरुक्तसमुच्चय पृष्ठ १।

६. देखो निरुक्तसमुच्चय हमारा संस्करण, पृष्ठ १,२,३ इत्यादि।

अष्टाध्यायी के पाठान्तर

पहले हमारा विचार था कि पाणिनि के खिल ग्रन्थों[1] में ही पाठान्तर अधिक हुए हैं। अष्टाध्यायी का पाठ प्रायः सुरक्षित रहा है। परन्तु अन्वेषण करने पर विदित हुआ कि सूत्रपाठ में भी पर्याप्त पाठान्तर हो चुके हैं। हां, इतना ठीक है कि अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इस में पाठान्तर स्वल्प हैं। हमने व्याकरण के सब मुद्रित ग्रन्थों और अन्य विषय के विविध ग्रन्थों का पारायण करके सूत्रपाठ के लगभग डेढ़ सौ पाठान्तर संगृहीत किये हैं।

पाठान्तरों के तीन भेद—पाणिनीय सूत्रपाठ के जितने पाठान्तर उपलब्ध हुए हैं उन्हें हम तीन भागों में बांट सकते हैं। यथा--

१—कुछ पाठान्तर ऐसे हैं जो पाणिनि के स्वकीय प्रवचनभेद से उत्पन्न हुए हैं। यथा—**उभयथा[2] ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिदाकडारादेका संज्ञा इति केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति।**[3]

शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति। ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौङ्गेय इति। द्वयमपि चैतत् प्रमाणम्—उभयथा सूत्रप्रणयनात्।[4]

२—वृत्तिकारों की व्याख्याभेद से। यथा—**जरद्भिरित्यपि पाठः केनचिदाचार्येण बोधितः।**[5]

काण्डेविद्धिभ्य इत्यन्ये पठन्ति।[6]

३—लेखक आदि के प्रमाद से। यथा—**एवं चटकादैरगित्येतत् सूत्रमासीत्। इदानीं प्रमादात् चटकाया इति पाठः।**[7]

ग्रन्थकार के प्रवचनभेद से उत्पन्न पाठान्तर अत्यन्त स्वल्प हैं। वृत्तिकारों के व्याख्याभेद और लेखकप्रमाद से हुए पाठान्तर अधिक हैं।

---

१. धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन ये अष्टाध्यायी के खिल अर्थात् परिशिष्ट माने जाते हैं। देखो काशिका १।३:२॥

२. काशिका ६।२।१०४ में उदाहरण हैं—"पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः" इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अनेक बार अष्टाध्यायी का प्रवचन किया था।

३. महाभाष्य १।४।१॥ ४. काशिका ४।१।११७॥ देखो इस सूत्र का न्यास—उभयथा ह्येतत् सूत्रमाचार्येण प्रणीतम्।

५. पदमञ्जरी २॥१६७, भाग १ पृष्ठ ३८४।

६. पदमञ्जरी ४।१।८१, भाग २ पृष्ठ ७०॥ ७. न्यास ४।१।१२८॥

क्या सूत्रों में वार्तिकांशों का प्रक्षेप काशिकाकार का है ?

कैयट[1] हरदत्त[2] आदि[3] वैयाकरणों का मत है कि जिन जिन सूत्रों में वार्त्तिकांशों का पाठ मिलता है। वह काशिकाकार का प्रक्षेप है। परन्तु हमारा विचार है कि ये प्रक्षेप काशिकाकार के नहीं हैं, अपितु उससे बहुत प्राचीन हैं। हमारे इस विचार में निम्न कारण हैं—

१—पाणिनि का सूत्र है—**अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च**।[4] इस पर महाभाष्य में वार्त्तिक पढ़ा है—**घञ्विधाववहाराधारावायानामुपसंख्यानम्**।[5] काशिकाकार ने 'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराधारावायाश्च'[6] पाठ मानकर चकार से '**अवहार**' प्रयोग का संग्रह किया है। यदि वार्तिकान्तर्गत 'आधार' और 'आवाय' पदों का सूत्रपाठ में प्रक्षेप काशिकाकार ने किया होता तो वह वार्त्तिक निर्दिष्ट तृतीय '**अवहार**' पद का भी प्रक्षेप कर सकता था। परन्तु वह उसका प्रक्षेप न करके चकार से संग्रह करता है।

२—पाणिनि के आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च[7] सूत्र के विषय में महाभाष्य में वार्त्तिक पढ़ा है—**लपिदभिभ्यां च**।[8] काशिकाकार ने '**आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च**,[9] सूत्रपाठ माना है और '**दाभ्यम्**' प्रयोग की सिद्धि चकार से दर्शाई है। यदि सूत्रपाठ में 'लपि' का प्रक्षेप काशिकाकार ने किया तो 'दभि' का क्यों नहीं किया ? अतः '**दाभ्यम्**' प्रयोग की सिद्धि के लिये सूत्रपाठ में 'दभि' का पाठ न करके चकार से संग्रह करना इस बात का ज्ञापक है कि इस प्रकार के प्रक्षेप काशिकाकार के नहीं हैं।

३—**लाक्षारोचनाट्ठक्**[10] सूत्र पर वार्त्तिक है—**ठक्प्रकरणे शकलकर्दमाभ्यामुपसंख्यानम्**। काशिकाकार ने **लाक्षारोचनाशकलकर्दमाट्ठक्**'[11] सूत्र मान कर लिखा है—'**शकलकर्दमाभ्यामणपीष्यते**'[12]

---

१. ३।३।१२१॥ २. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ २२३, ६९४। भाग २ पृष्ठ १२०, ४७३, ५८२। ३. दीक्षित, शब्दकौस्तुभ ४।४।१७, पृष्ठ २०७।
४. अष्टा० ३।३।१२२॥ ५. अ० ३।३।१२१॥
६. काशिका ३।३।१२२॥ ७. अष्टा० ३।१।१२६॥
८. अष्टा ३।१।१२४॥ ९. काशिका ३।१।१२६॥ १०. अष्टा० ४।२।२॥
११. महाभाष्य ४।२।२॥ १२. काशिका ४।२।२॥

शाकलम्, कार्दमम्। काशिकाकार से प्राचीन चान्द्र व्याकरण में "शकलकर्दमाद्वा"[1] ऐसा सूत्र पढ़ा है। यदि सूत्रपाठ में शकलकर्दम का प्रक्षेप जयादित्य ने किया होता तो वह "शकलकर्दमाभ्यामणपीष्यते" ऐसी इष्टि न पढ़ कर सीधा "शकलकर्दमाद्वा" सूत्र बनाकर प्रक्षेप करता।

४—काशिकाकार ७।२।४९ पर लिखता है—केचिदत्र भरज्ञपिसनितनिपतिदरिद्राणामिति पठन्ति।

अर्थात् कई वृत्तिकार इस सूत्र में तनि, पति, दरिद्रा ये तीन धातुएं अधिक पढ़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि किन्हीं प्राचीन वृत्तियों में इस सूत्र का बृहत् पाठ विद्यमान होने पर भी वामन ने उस पाठ को स्वीकार नहीं किया। यदि उसे प्रक्षेप करना इष्ट होता तो वह यहां भी इन धातुओं का प्रक्षेप कर सकता था। इससे यह भी स्पष्ट है कि काशिकाकार जहां जहां बृहत् पाठ को पाणिनीय मानता था वहीं वहीं उसने उसे स्वीकार किया है।

अष्टाध्यायी के लघु और बृहत् पाठ

उपर्युक्त मीमांसा से विदित होता है कि अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्तियों में दो प्रकार के पाठ थे लघुपाठ और बृहत्पाठ। काशिकाकार ने अपनी वृत्ति बृहत्पाठ पर लिखी है और कात्यायन ने अपना वार्तिकपाठ लघुपाठ पर रचा है। निघण्टु निरुक्त आदि अनेक ग्रन्थों के लघु और बृहत् दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं।[2] हमारा विचार है अष्टाध्यायी के दोनों पाठ पाणिनि के प्रवचन भेद से उत्पन्न हुए हैं, अतः किन्हीं शिष्यों की परम्परा में लघुसूत्रपाठ रहा होगा और किन्हीं की परम्परा में बृहत्सूत्रपाठ। कात्यायन और पतञ्जलि आदि लघुसूत्रपाठ की परम्परा को मानते होंगे और काशिकाकार तथा अन्य कुछ प्राचीन वृत्तिकार बृहत्सूत्रपाठ के अनुयायी रहे होंगे। यथा दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी निरुक्त के लघुपाठ के अनुयायी हैं, अर्थात् उनकी वृत्तियां लघुपाठ पर हैं, परन्तु सायण आदि अनेक ग्रन्थकार निरुक्त के बृहत्पाठ को उद्धृत करते हैं। प्रकृत में चाहे कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि सूत्रपाठ में वार्तिकांशों का प्रक्षेप काशिकाकार का नहीं है। उस पर प्रक्षेप का अभियोग लगाना सर्वथा अयुक्त है।

---

१. चान्द्र ३।१।२॥ जैनेन्द्र शब्दार्णव-चन्द्रिका ३।२।२ में भी यही पाठ है।

२. देखो डा० लक्ष्मणस्वरूप का निघण्टु निरुक्त का संस्करण और उसकी भूमिका।

पाणिनीय शास्त्र के नाम

पाणिनीय शास्त्र के चार नाम उपलब्ध होते हैं। अष्टक, अष्टाध्यायी, शब्दानुशासन और वृत्तिसूत्र।

अष्टक, अष्टाध्यायी—पाणिनीय ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, अतः उसके ये नाम प्रसिद्ध हुए। इनमें अष्टाध्यायी नाम सर्वलोकविश्रुत है।

शब्दानुशासन—यह नाम महाभाष्य के आरम्भ में मिलता है। वहां लिखा है—**अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।**[1]

वृत्तिसूत्र—पाणिनीय सूत्रपाठ के लिये 'वृत्तिसूत्र' पद का प्रयोग महाभाष्य में दो स्थानों पर उपलब्ध होता है।[2] चीनी यात्री इत्सिंग ने भी इस नाम का निर्देश किया है।[3] जयन्तभट्टकृत न्यायमञ्जरी में उद्धृत एक श्लोक में वृत्तिसूत्र का उल्लेख मिलता है।[4] नागेश ने महाभाष्य २।१।१ के प्रदीपविवरण में लिखा है—

पाणिनीयसूत्राणां वृत्तिसद्भावाद् वार्त्तिकानां तदभावाच्च तयोर्वैषम्यबोधनायेदम्।

अर्थात्—पाणिनीय सूत्र पर वृत्तियां है, वार्तिकों पर नहीं। अतः दोनों में भेद दर्शाने के लिये पाणिनीय सूत्रों के लिये वृत्तिसूत्र पद का प्रयोग किया है।

नागेश का '**वार्तिकानां तदभावात्**' हेतु सर्वथा ठीक है। भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में दो स्थानों पर वार्तिक के लिये '**भाष्यसूत्र**' पद का व्यवहार किया है।[5] इससे स्पष्ट है कि वार्तिकों पर भाष्य ग्रन्थ ही बने थे, वृत्तियां नहीं लिखी गईं। पाणिनीयसूत्रों पर वृत्तियां ही लिखी गई, उन पर सीधे भाष्य की रचना नहीं हुई।

पं० गुरुपद हालदार ने 'वृत्तिसूत्र' पद का अर्थ न समझ कर विविध कल्पनाएं की हैं[6] वे चिन्त्य हैं।

---

१. महाभाष्य की प्रथम पंक्ति। २. महाभाष्य २।१।१, पृष्ठ ३७१। २।२।२४, पृष्ठ ४२४। ३. इत्सिंग की भारतयात्रा, पृष्ठ २६८।

४. वृत्तिसूत्रं तिला माषाः कपत्री कोद्रवौदनः। अजडाय प्रदातव्यं जडीकरणमुत्तमम्॥ पृष्ठ ४१८। पं० गुरुपद हालदार ने लिखा है—भाष्य के अतिरिक्त 'वृत्तिसूत्र' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता (व्या० द० इ० पृष्ठ ३६४) यह ठीक नहीं।

५. महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २८१, २८२। ६. व्या० द० इतिहास० पृष्ठ १९४।

पाणिनीय तन्त्र की विशेषता

आचार्य चन्द्रगोमी अपने व्याकरण २।२।६८ की स्वोपज्ञ-वृत्ति में एक उदाहरण देता है—**पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्**।

काशिका,[1] सरस्वतीकण्ठाभरण[2] और वामनीय लिङ्गानुशासन[3] की वृत्तियों में '**पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्**' पाठ है।

इन उदाहरणों का भाव यह है कि कालविषयक परिभाषाओं से रहित व्याकरण सर्वप्रथम पाणिनि ने ही बनाया।[4] प्राचीन व्याकरणों में भूत भविष्यत् अनद्यतन आदि कालों की विविध परिभाषाएं लिखी थीं। पाणिनि ने लोकप्रसिद्ध होने से उन्हें छोड़ दिया।

इस के अतिरिक्त पाणिनीय तन्त्र में पूर्व व्याकरणों की अपेक्षा कई सूत्र अधिक हैं, यह हम पूर्व काशकृत्स्न के प्रकरण में लिख चुके हैं। जिन सूत्रों पर महाभाष्यकार ने आनर्थक्य की आशङ्का उठाकर उन की प्रयत्नपूर्वक आवश्यकता दर्शाई है वे सूत्र सम्भवतः पाणिनि के स्वोपज्ञ हैं उससे पूर्वकालिक तन्त्रों में वे सूत्र नहीं थे।[5]

पाणिनीय तन्त्र पूर्वतन्त्रों से संक्षिप्त है

हमारे भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक भाग में देखा जाता है कि उत्तरोत्तर ग्रन्थों की अपेक्षा पूर्व पूर्व ग्रन्थ अधिक विस्तृत थे, उनका उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ। व्याकरण के वाङ्मय में भी यही नियम उपलब्ध होता है। पाणिनीय व्याकरण के संक्षिप्त होने में निम्न प्रमाण हैं—

१—पाणिनि ने '**प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्**,[6] **कालोपसर्जने च तुल्यम्**'[7] इन सूत्रों से दर्शाया है कि उसने अपने ग्रन्थ में प्रधान, प्रत्ययार्थवचन, भूत, भविष्यत्, अनद्यतन आदि काल तथा उपसर्जन आदि अनेक विषयों की परिभाषाएं नहीं रचीं। प्राचीन व्याकरणों में इनका उल्लेख था, परन्तु पाणिनि ने इनके लोकप्रसिद्ध होने से इन्हें छोड़ दिया। यही पाणिनीय तन्त्र की पूर्वतन्त्रों से उत्कृष्टता थी, यह हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

---

१. काशिका २।४।२१॥ २. दण्डनाथ वृत्ति ३।३।१२६॥ ३. पृष्ठ ७।

४. अकालकमिति कालपरिभाषारहितमित्यर्थः। न्यास ४।३।१५५॥ पाणिनिना प्रथमं कालाधिकाररहितं व्याकरणं कर्तुं शक्यमिति परिज्ञातम्। वामनीय लिङ्गानुशासन पृष्ठ ७। ५. पूर्व पृष्ठ ६४। ६. अष्टा० १।२।५६॥ ७. अष्टा० १।२।५७॥

२—माधवीयधातुवृत्ति में 'क्षिणोति ऋणोति तृणोति' आदि प्रयोगों में धातु की उपधा को गुण का निषेध करने के लिये आपिशल व्याकरण के सूत्र उद्धृत किये हैं।[1] पाणिनीय व्याकरण में ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं होता।

अर्वाचीन वैयाकरण 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'[2] इस कल्पित नियम के अनुसार 'क्षेणोति अर्णोति तर्णोति' प्रयोगों की कल्पना करते हैं जो सर्वथा अयुक्त है। वैयाकरणों के शब्दनित्यत्व पक्ष में 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' की कल्पना उपपन्न ही नहीं हो सकती, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3] साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि 'क्षेणोति अर्णोति तर्णोति' पदों का व्यवहार संस्कृत वाङ्मय में नहीं मिलता, परन्तु 'क्षिणोति ऋणोति' आदि प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[4]

३—चाक्रवर्मण व्याकरण के अनुसार 'द्वय' पद की सर्वनाम संज्ञा होती थी, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[5] पाणिनीय व्याकरण के अनुसार केवल जस् विषय में विकल्प से इसकी सर्वनाम संज्ञा होती है।

हमारे विचार में पाणिनीय व्याकरण के संक्षिप्त होने के कारण उसमें कुछ नियम छूट गये हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—

नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति।[6]

अर्थात् एक उदाहरण के लिये सूत्र नहीं रचे।

४—महाभारत का टीकाकार देवबोध माहेन्द्र = ऐन्द्र व्याकरण को समुद्र से उपमा देता है, और पाणिनीय तन्त्र को गोष्पद से।[7] अर्थात् ऐन्द्र तन्त्र की अपेक्षा पाणिनीय तन्त्र अत्यन्त संक्षिप्त है।

५. पाणिनि के सूत्रों में भी अनेक ऐसे प्रयोग हैं जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते। यथा—'जनिकर्तुः' 'तत्प्रयोजकः'[8] पुराण, सर्वनाम और ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द[9]। महाभाष्यकार ने पाणिनि के अनेक सूत्रों में छान्दस या सौत्र कार्य माना है।[10] इसी प्रकार पाणिनि के जाम्ब-

---

१. धातुवृत्ति, पृष्ठ ३५६, ३५७। २. महाभाष्यप्रदीपविवरण ३।१।८०॥

३. देखो पृष्ठ ११३। ४. क्षिणोति, रघुवंश २।४०॥ क्षिणामि, यजुः ११।८२॥ ऋणोति, यजुः ३४।२५॥ ऋ० १।३५।६॥ ५. पूर्व पृष्ठ १११—११२।

६. महाभाष्य ७।१।६६॥ तुलना करो—नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति; महाभाष्य १।१।१२, ४१॥ ३।१।६७॥ ७. अगले पृष्ठ में उद्ध्रियमाण श्लोक।

८. पूर्व पृष्ठ २६, प्रकरण ८। ९. पूर्व पृष्ठ २७ की टि० २।

१०. महाभाष्य १।१।१॥ १।४।३॥ ३।४।६०॥, ६४॥

वतीविजय काव्य में भी बहुत से प्रयोग ऐसे हैं जो उसके व्याकरण के अनुसार नहीं हैं। इनका कारण केवल यही है कि पाणिनि ने इन ग्रन्थों में उस समय की व्यवहृत भाषा का प्रयोग किया है, परन्तु उस का व्याकरण तात्कालिक भाषा का संक्षिप्त व्याकरण है। इसीलिये ये प्रयोग उसके व्याकरण से सिद्ध नहीं होते।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि पाणिनि ने केवल प्राचीन व्याकरणों का संक्षेप किया है, उसमें उसकी अपनी ऊहा कुछ नहीं। हम पूर्व लिख चुके हैं कि पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनेक नये सूत्र रचे हैं जो प्राचीन व्याकरणों में नहीं थे। वे उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-बुद्धि के द्योतक हैं। लाघव करने के कारण कुछ नियमों का उल्लेख न होना कोई महान् दोष नहीं है।

इस से यह भी सिद्ध है कि जो पद पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते उन्हें केवल अपाणिनीय होने के कारण अपशब्द नहीं कह सकते। प्राचीन आर्ष वाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग हैं जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते।[1] अत एव महाभाष्य के टीकाकार देवबोध ने लिखा है—

न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते ॥७॥
यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥८॥[2]

अष्टाध्यायी संहिता पाठ में रची थी

पाणिनि ने संपूर्ण अष्टाध्यायी संहितापाठ में रची थी। महाभाष्य १।१।५० में लिखा है—

यथा पुनरियमन्तरतमानिर्वृत्तिः, सा किं प्रकृतितो भवति—स्थानिन्यन्तरतमे षष्ठीति। आहोस्विदादेशतः—स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति। कुतः पुनरियं विचारणा? उभयथा हि तुल्या संहिता "स्थानेन्तरतम उरण् रपरः" इति।

महाभाष्यकार ने अन्यत्र कई स्थानों में प्राचीन वृत्तिकारों के सूत्रविच्छेद को प्रमाणिक न मानकर नये नये सूत्रविच्छेद दर्शाये हैं। यथा—

नैवं विज्ञायते—कञ्करपो यञश्चेति। कथं तर्हि? कञ्क्वरपोऽयञश्चेति।[3]

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ १६—२६। २. महाभारत टीका के प्रारम्भ में।

३. महाभाष्य ४।१।१६॥

इन प्रमाणों से विस्पष्ट है कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी संहितापाठ में रची थी। यद्यपि पाणिनि ने प्रवचनकाल में सूत्रों का विच्छेद अवश्य किया होगा (क्योंकि उसके विना प्रवचन सम्भव नहीं) तथापि महाभाष्यकार ने उसके संहितापाठ को ही प्रामाणिक माना है।

सूत्रपाठ एकश्रुति स्वर में था

महाभाष्य के अध्ययन से विदित होता है कि पाणिनि ने समस्त सूत्रपाठ एकश्रुतिस्वर में पढ़ा था।[1] टीकाकार कहीं कहीं स्वरविशेष की सिद्धि के लिय विशिष्टस्वर-युक्त पाठ मानते हैं। कैयट ने कुछ प्राचीन वैयाकरणों के मत में अष्टाध्यायी में एक श्रुतिस्वर ही माना है।[2]

नागेशभट्ट सूत्रपाठ को एक श्रुतिस्वर में नहीं मानता। वह अपने पक्ष की सिद्धि में "चतुरः शसि"[3] सूत्रस्थ महाभाष्य की "आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते" पङ्क्ति को उद्धृत करता है।[4] परन्तु यह पंक्ति ही स्पष्ट बता रही है कि सूत्रपाठ सस्वर नहीं था, एकश्रुति में था। अन्यथा महाभाष्यकार 'करिष्यते' न लिख कर 'कृतम्' पद का प्रयोग करता। अतः सूत्रपाठ की रचना एकश्रुतिस्वर में मानना युक्त है।

सस्वरपाठ का एक हस्तलेख

भूतपूर्व डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में अष्टाध्यायी का नं० ३१११ का हस्तलेख था। उस हस्तलेख में अष्टाध्यायी के केवल प्रथमपाद पर स्वर के चिह्न हैं। वे चिह्न स्वरशास्त्र के नियमों के अनुसार शत प्रति शत अशुद्ध हैं। हमारे पास भी अष्टाध्यायी के कुछ

---

१. अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत्? यदयम् 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्युदात्तग्रहणं करोति तत् ज्ञापयत्याचार्योऽभेदका गुणा इति। यदि हि भेदका गुणाः स्युः, उदात्तमेवोच्चारयेत्। महाभाष्य १।१।१॥ एकश्रुतिनिर्देशात् सिद्धम्। महाभाष्य। ६।४।१७२॥

२. अन्ये त्वाहुः—एकश्रुत्या सूत्राणि पठ्यन्ते इति। भाष्यप्रदीपोद्योत १।१।१ पृष्ठ १५३, निर्णयसागर संस्क०।

३. अष्टा० ६।१।१६८॥

४. नन्वेवमपि चतसर्याद्युदात्तनिपातनसामर्थ्याच्चतस्र इत्यत्र 'चतुरः शसि' इत्यस्याप्रवृत्तिरिति भाष्योक्तमनुपपन्नम् ……। सम्पूर्णाष्टाध्यायी आचार्येणैकश्रुत्या पठितेत्यत्र न मानम्। क्वचित्कस्यचित् पदस्यैकश्रुत्या पाठो यथा दाण्डिनायनादिसूत्रे ऐक्ष्वाकेति,। एतावदेव भाष्याल्लभ्यते। भाष्यप्रदीपोद्योत १।१।१, पृष्ठ १५३, निर्णयसागर संस्क०।

हस्तलिखित पत्रे हैं । इन्हें हमने काशी में अध्ययन करते हुए संवत् १९९१ में गंगा के जलप्रवाह से प्राप्त किया था । उनके साथ कुछ अन्य ग्रंथों के पत्रे भी थे । अष्टाध्यायी के उन पत्रों में सूत्रपाठ के किसी किसी अक्षर पर खड़ी रेखा अङ्कित है । हमने अपने कई मित्रों को वे पत्रे दिखाए, परन्तु उस चिह्न का अभिप्राय समझ में नहीं आया । प्रतीत होता है नागेश आदि के उपर्युक्त कथन को ध्यान में रखते हुए किसी स्वर प्रक्रियानभिज्ञ लेखक ने मनमाने स्वर चिह्न लगाने की धृष्टता की है, अन्यथा ये चिह्न सर्वथा अशुद्ध न होते ।

अष्टाध्यायी में प्राचीन सूत्रों का उद्धार

पाणिनि ने अपनी रचना सूत्रों में की है । कई आचार्य सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति, "सूचनात् सूत्रम्"[1] अर्थात् संकेत करने वाला संक्षिप्त वचन करते हैं । पाणिनि ने कई स्थानों पर बहुत लाघव से काम लिया है । उसी के आधार पर अर्वाचीन वैयाकरणों में प्रसिद्धि है—**अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः** ।[2] सूत्ररचना में गुरुलाघवविचार का प्रारम्भ काशकृत्स्न आचार्य से हुआ था । संभवतः उससे पूर्व के व्याकरणग्रन्थ ऋक्प्रातिशाख्य के सदृश छन्दोबद्ध थे ।[3] पाणिनि ने शाब्दिक लाघव का ध्यान रखते हुए अर्थकृत लाघव को प्रधानता दी है ।[4] अत एव उस के व्याकरण में 'टि, घु' आदि अल्पाक्षर संज्ञाओं के साथ सर्वनाम और सर्वनामस्थान जैसी महती संज्ञाएं भी उपलब्ध होती हैं । ये सब महती संज्ञाएं उसने प्राचीन ग्रन्थों से ली हैं, क्योंकि वे लोकप्रसिद्ध हो चुकी थीं । स्वशास्त्रीय विभाषा संज्ञा होने पर भी उसने कई सूत्रों में **'उभयथा, अन्यतरस्याम्'** आदि शब्दों से व्यवहार

---

१. सूचनात् सूत्रणाच्चैव ... सूत्रस्थानं प्रचक्षते । सुश्रुत सूत्रस्थान ३।१२॥ सूचयति सूते सूत्रयति वा सूत्रम् । दुर्गसिंह, कातन्त्रवृत्तिटीका, परिशिष्ट पृ० ४०६ ॥ सूत्रं सूचनकृत्, सूच्यते ग्रथ्यते इति सूत्रम्, सूचनाद्वा । हैम अभि० चिन्ता० पृष्ठ १०८ । वायुपुराण ५९।१४२ में सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है—अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा १३३ । ३. देखो पूर्व पृष्ठ ८३, टि० ३ ।

४. द्विविधं हि लाघवं भवति शब्दकृतमर्थकृतं च । तत्रार्थकृतमेव लाघवं प्रधानं परार्थप्रवृत्तत्वात् । त्रिलोचनटीका, कातन्त्र परिशिष्ट, पृष्ठ ४७२ ।

किया है, जो कि अर्थ-लाघव की दृष्टि से युक्त है। इसी दृष्टि से पाणिनि ने अपने शास्त्र में अनेक सूत्र अक्षरशः प्राचीन व्याकरणों के स्वीकार कर लिये हैं, कहीं कहीं उनमें स्वल्प।उचित परिवर्तन भी किया है। यही निर-भिमानता ऋषियों की महत्ता और परोपकार-बुद्धि की द्योतिका है। अन्यथा वे भी अर्वाचीन वैयाकरणों के सदृश सर्वथा नवीन शब्द रचना कर के अपने बुद्धिचातुर्य का प्रदर्शन कर सकते थे, परन्तु ऐसा करने से पाणि-नीय व्याकरण अत्यन्त क्लिष्ट हो जाता, और छात्रों को अधिक लाभ न होता।

पाणिनीय व्याकरण में कई स्थानों में स्पष्ट प्राचीन व्याकरणों के श्लोकांशों की झलक उपलब्ध होती है। यथा—

१—पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति, परिपन्थं च तिष्ठति।[1]

२—नोदात्तस्वरितोदयम्।[2]

प्रथम उद्धरण में अष्टाध्यायी के क्रमशः दो सूत्र हैं, उन्हें मिला कर पढ़ने पर वे अनुष्टुप् के दो चरण बन जाते हैं। उत्तर सूत्र में चकार से 'हन्ति' अर्थ का समुच्चय होता है। अतः सूत्र रचना 'तिष्ठति च' ऐसी होनी चाहिये। काशिकाकार ने लिखा है—**चकारो भिन्नक्रमः**[3] **प्रत्य-यार्थं समुच्चिनोति।**[4] प्रतीत होता है पाणिनि ने ये दोनों सूत्र इसी रूप में किसी प्राचीन छन्दोबद्ध व्याकरण से लिये हैं। छन्दोरचना में चकार को यहीं रखना पड़ता है, अन्यथा छन्दोभङ्ग होता है। दूसरा उद्ध-रण पाणिनीय सूत्र का एक देश है। यह अनुष्टुप् का एक चरण है। इस में उदय शब्द इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि यह अक्षररचना पाणिनि की नहीं है। अन्यथा वह '**नोदात्तस्वरितयोः**' इतना लिख कर कार्य निर्वाह कर सकता था। ऋक्प्रातिशाख्य ३।१७ में पाठ है—**स्वर्यतेऽन्त-र्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्।** सम्भव है पाणिनि ने इसी का अनुक-रण किया हो।

आपिशलि के कुछ सूत्र मिले हैं, वे पाणिनीय सूत्रों से बहुत मिलते हैं। पाणिनीय शिक्षासूत्र भी आपिशल शिक्षासूत्रों से बहुत समानता रखते हैं, प्रारम्भ के ६ प्रकरण तो प्रायः समान हैं।

---

१. अष्टा० ४।४।३५,३६॥ २. अष्टा० ८।४।६७॥

३. तुलना करो ऋक्प्रातिशाख्य १।२६। उव्वटभाष्य-चकारो भिन्नक्रमः समुच्चयार्थीयः।

४. अत एव चान्द्रव्या० ३।४।१२ में 'परिपन्थं तिष्ठति च पाठ' है। ऐसा ही जैन शाकटायन ३।२।२३ में पाठ है।

पाणिनि से प्राचीन कोई व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं। प्रातिशाख्यों और श्रौतसूत्रों के अनेक सूत्र पाणिनीय सूत्रों से समानता रखते हैं। बहुत से सूत्र अक्षरशः समान हैं। इस से प्रतीत होता है कि पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के अनेक सूत्र अपने ग्रन्थ में संगृहीत किये हैं। हमारा विचार है पाणिनि का प्रधान उपजीव्य आपिशल व्याकरण है।[1]

अष्टाध्यायी के पादों की संज्ञाएं

अष्टाध्यायी के प्रत्येक पाद की विभिन्न संज्ञाएं उस उस पाद के प्रथम सूत्र के आधार पर रक्खी हैं। विक्रम की १५ वीं शताब्दी से प्राचीन ग्रन्थों में इन संज्ञाओं का व्यवहार उपलब्ध होता है। सीरदेव की परिभाषावृत्ति से इन संज्ञाओं के कुछ उदाहरण नीचे लिखते हैं। यथा—

गाङ्कुटादिपादः	(१।२)	परिभाषावृत्ति	पृष्ठ	३३
भूपादः	(१।३)	,,	,,	४३
द्विगुपादः	(२।४)	,,	,,	७६
सम्बन्धपादः	(३।४)	,,	,,	६३
अङ्गपादः	(६।४)	,,	,,	१३५

पाणिनि के अन्य व्याकरण ग्रन्थ

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन की पूर्त्ति के लिये निम्न ग्रन्थों की रचना की है—

१. धातुपाठ
२. गणपाठ
३. उणादिसूत्र
४, लिङ्गानुशासन

ये चारों ग्रन्थ पाणिनीय शब्दानुशासन के परिशिष्ट हैं। अत एव प्राचीन ग्रन्थकार इनका 'खिल' शब्द से व्यवहार करते हैं। इन ग्रन्थों के विषय में उत्तरार्ध में लिखा जायगा।

५. **अष्टाध्यायी की वृत्ति**—पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन का स्वयं बहुधा प्रवचन किया था। प्रवचनकाल में सूत्रार्थपरिज्ञान के लिये वृत्ति का निर्देश करना आवश्यक है। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ की कोई स्वोपज्ञ वृत्ति रची थी, इसमें अनेक प्रमाण हैं। इसका विशेष वर्णन "अष्टाध्यायी के वृत्तिकार" प्रकरण में किया जायगा।

१, देखो पूर्व पृष्ठ ६५।

पाणिनि के अन्य ग्रन्थ

१. शिक्षा

पाणिनि ने शब्दोच्चारण के परिज्ञान के लिये एक छोटा सा सूत्रात्मक शिक्षा ग्रन्थ बनाया। इसके अनेक सूत्र व्याकरण के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जिस प्रकार आचार्य चन्द्रगोमी ने पाणिनीय व्याकरण के आधार पर अपने चान्द्र व्याकरण रचना की उसी प्रकार उसने पाणिनीय शिक्षासूत्रों के आधार पर अपने शिक्षासूत्र रचे। आर्वाचीन श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा का मूल ये ही शिक्षासूत्र हैं। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का विशेष प्रचार हो जाने से सूत्रात्मक ग्रन्थ लुप्त प्राय: हो चुका है।

शिक्षासूत्रों का उद्धार—पाणिनि के मूल शिक्षाग्रन्थ के पुनरुद्धार का श्रेय श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उन्होंने महान् परिश्रम से इसे उपलब्ध करके '**वर्णोच्चारणशिक्षा**' के नाम से संवत् १९३६ के अन्त में प्रकाशित किया था।[2] छोटे बालकों के लाभार्थ सूत्रों का भाषानुवाद भी साथ में दिया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के १० जनवरी सन् १८८० के पत्र से ज्ञात होता है कि उन्हें इस ग्रन्थ का हस्तलेख सन् १८७९ के अन्त में मिला था।[3] वर्णोच्चारणशिक्षा की भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वयं लिखा है—

ऐसे ऐसे भ्रमों की निवृत्ति के लिये बड़े परिश्रम से पाणिनिमुनिकृत शिक्षा का पुस्तक प्राप्त कर उन सूत्रों की सुगम भाषा में व्याख्या करके वर्णोच्चारण विद्या की शुद्ध प्रसिद्धि करता हूँ।

पाणिनि से प्राचीन आपिशलशिक्षा का वर्णन हम पृष्ठ १०२ पर कर चुके हैं। उसके साथ पाणिनीय शिक्षा की तुलना करने से प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को पाणिनीयशिक्षा-सूत्रों का जो हस्तलेख मिला था, वह अपूर्ण और अव्यवस्थित था। जैसे आपिशल व्याकरण के

---

१. उपदेशः शास्त्रवाक्यानि सूत्रपाठः, खिलपाठश्च। काशिका १।३।२।। नहि उपदिशन्ति खिलपाठे (उणादिपाठे)। भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका पृष्ठ १४९।

२. इसका विशेष वर्णन हमने 'स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक ग्रन्थ में किया है। यह ग्रन्थ छप रहा है।

३. देखो श्री पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित 'महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ १८२। यह ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर से प्रकाशित हुआ है।

सूत्र पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों से मिलते हैं, और दोनों में आठ आठ अध्याय समान हैं, उसी प्रकार आपिशलशिक्षा और पाणिनीयशिक्षा के सूत्रों में भी अत्यधिक समानता है, और दोनों में आठ आठ प्रकरण हैं। पाणिनीय शिक्षासूत्रों का एक संस्करण हमने इसी वर्ष प्रकाशित किया है। इस में आपिशल और चान्द्र शिक्षासूत्रों का भी संग्रह है।

श्लोकात्मक शिक्षा—शिक्षाप्रकाश-टीका के अनुसार श्लोकात्मक शिक्षा की रचना पाणिनि के अनुज पिङ्गल ने की है, परन्तु हमें इस लेख की प्रामाणिकता में सन्देह है। इस श्लोकात्मक शिक्षा के सम्प्रति लघु और बृहत् दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। लघुपाठ में केवल २७ श्लोक हैं। शिक्षाप्रकाश टीका इसी लघुपाठ पर है। शिक्षापञ्जिकाटीका में भी लगभग ३० श्लोकों की व्याख्या है। बृहत् पाठ में ६० श्लोक हैं।

स्वरशिक्षा—काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रह में पृष्ठ ३७८—३८४ तक श्लोकात्मक शिक्षा का सस्वर-पाठ छपा है। इसके स्वरचिह्न बहुत अशुद्ध हैं। संभव है किसी लेखक ने इस पर स्वरचिह्न लगाने की चेष्टा की हो, अथवा लेखकों की मूर्खता से उत्तरोत्तर स्वरचिह्न अव्यवस्थित होगये हों।

२ जाम्बवतीविजय

इसका दूसरा नाम पातालविजय भी है।[1] इसमें श्रीकृष्ण का पाताल में जाकर जाम्बवती के विजय और परिणय की कथा का वर्णन है।

महामुनि पतञ्जलि ने व्याकरण का लक्षण करते हुए लिखा है—**लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्**।[2] अत एव पाणिनि ने जहां लक्षण के लिये शब्दानुशासन की रचना की, वहां दूसरी ओर उसके लक्ष्यरूपी अर्धभाग को दर्शाने के लिये जाम्बवतीविजय नाम का सरस मधुर महाकाव्य रचा।

पाश्चात्यों की मिथ्या कल्पना—डाक्टर पीटर्सन आदि पाश्चात्य तथा तदनुगामी डा० भण्डारकर आदि कुछ एक भारतीय विद्वान् जाम्बवतीविजय की लालित्यपूर्ण सरस रचना देखकर कहते हैं कि यह काव्य वैयाकरण पाणिनि की कृति नहीं है। यह कल्पना सर्वथा हेय है। भारतीय

---

१. पं० सीताराम जयराम जोशी एम. ए. और विश्वनाथ शास्त्री एम. ए. ने अपने 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' ग्रन्थ में 'पातालविजय' और 'जाम्बवतीविजय' को दो पृथक् पृथक् काव्य माना है। देखो पृष्ठ ६७।

२. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १, पृष्ठ १२।

वाङ्मय में असन्दिग्ध रूप से इसे वैयाकरण पाणिनि की रचना माना है। अनेक वैयाकरण अष्टाध्यायी से अप्रसिद्ध शब्दों का साधुत्व दर्शाने के लिये इस काव्य को पाणिनीय मानकर उद्धृत करते हैं।[1]

पाश्चात्य विद्वानों ने 'इति+ह+आस' जैसे सत्य विषय में सर्वथा कल्पनाओं से कार्य लिया है। ग्रन्थनिर्माण में मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि की कल्पना करके समस्त भारतीय वाङ्मय को अव्यवस्थित कर दिया है। वे समझते हैं कि पाणिनि सूत्रकाल का व्यक्ति है, उस के समय बहुविध छन्दोगुम्फित सरस सालङ्कृत ग्रन्थ की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय सरस काव्य निर्माण का प्रारम्भ नहीं हुआ था। ऐसे ग्रन्थों का समय सूत्रकाल के अनन्तर है।

हम इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में अनेक प्राचीन प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं[2] कि भारतीय वाङ्मय में पाश्चात्यरीति पर किये कालविभाग की कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती। जिन ऋषियों ने मन्त्र और ब्राह्मणों का प्रवचन किया उन्होंने ही धर्मसूत्र, आयुर्वेद, व्याकरण और महाभारत जैसे सरस सालङ्कृत महाकाव्यों की रचनाएं कीं। विषय और रचना-भेद से भाषा में भेद होना अत्यन्त स्वाभाविक है। हर्ष ने जहां खण्डन-खाद्य जैसे नव्यन्याय-गुम्फित कर्णकटु ग्रन्थ की रचना की, वहां नैषध जैसा सरस मधुर महाकाव्य भी बनाया। क्या दोनों में भाषा का अत्यन्त पार्थक्य होने से ये दोनों ग्रन्थ एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं?

पाश्चात्य विद्वान् मन्त्रकाल को सब से प्राचीन मानते हैं। क्या उन की रचना छन्दोबद्ध और सरस सालङ्कृत नहीं है? क्या ब्राह्मणग्रन्थों में रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि जैसी भाषा और तादृश छन्दों में रची यज्ञगाथाएं नहीं पढ़ी हैं? भारतीय इतिहास के अनुसार कृष्ण द्वैपायन व्यास वैदिक शाखाओं का प्रवक्ता, ब्रह्मसूत्रों का रचयिता और महाभारत जैसे बहुनीतिगुम्फित सरस सालङ्कृत ऐतिहासिक महाकाव्य का निर्माता है। इस में किञ्चिन्मात्र सन्देह का अवसर नहीं है। कहां तक कहें, भारतीय इतिहास के अनुसार रामायण जैसे महाकाव्य का रचनाकाल वर्तमान शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के संकलन से बहुत

१. भाषावृत्ति २।४।७४, पृष्ठ १०६। दुर्घटवृत्ति ४।३।२२, पृष्ठ ८१।

२. देखो पूर्व पृष्ठ १५–१७।

प्राचीन है, मनुस्मृति (प्रक्षिप्त भाग को छोड़कर) उस से प्राचीनतर है । अतः कल्पित भाषाविज्ञान के आधार पर की गई पाश्चात्यों की काल-कल्पना सर्वथा मिथ्या और प्रमाणशून्य है । उस के आधार पर संस्कृत वाङ्मय के रचनाकाल का निर्णय करना सर्वथा अयुक्त है ।

जाम्बवतीविजय काव्य वैयाकरण पाणिनि विरचित नहीं है, इस में अनेक अल्पश्रुत यह युक्ति देते हैं कि जाम्बवतीविजय काव्य में अनेक ऐसे प्रयोग हैं, जो पाणिनीय शब्दानुशासन के अनुसार सिद्ध नहीं होते, यदि यह ग्रन्थ वैयाकरण पाणिनि की रचना होता तो इस में ऐसे अपशब्दों का व्यवहार न होता । इस का उत्तर यह है कि पाणिनि ने जो शब्दानुशासन रचा है, वह अत्यन्त संक्षिप्त है । इतना ही नहीं, पाणिनीय सूत्रों में भी अनेक ऐसे प्रयोग हैं जो पाणिनीय व्याकरणानुसार अपशब्द कहे जा सकते हैं । क्या इस युक्ति से अष्टाध्यायी भी पाणिनिविरचित नहीं है ?

अब हम उन ग्रन्थकारों के वचन उद्धृत करते हैं, जिन्होंने वैयाकरण पाणिनि को ही जाम्बवतीविजय का रचयिता माना है—

१—राजशेखर (सं० ९५०) ने पाणिनि की प्रशंसा में निम्नलिखित पद्य पढ़ा है—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह ।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीविजयम् ॥

२—श्रीधरदासकृत सदुक्तिकर्णामृत (सं० १२००) में सुबन्धु, रघुकार (द्वितीय कालिदास), हरिचन्द्र, भारवि, तथा भवभूति आदि कवियों के साथ दाक्षीपुत्र का भी नाम लिखा है । दाक्षीपुत्र वैयाकरण पाणिनि का का ही पर्याय है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं । यथा—

सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते,
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम् ।
विशुद्धोक्तिशूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥

३—क्षेमेन्द्र (वि० १२ वीं शताब्दी) ने सुवृत्ततिलक छन्दोग्रन्थ में पाणिनि के उपजाति छन्द की अत्यन्त प्रशंसा की है । वह लिखता है—

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः ।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ॥

४—महाराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित का कुछ अंश उपलब्ध हुआ है। उसके प्रारम्भ में १० मुनि कवियों का वर्णन है। आरम्भ के १२ श्लोक खण्डित हैं। अगले श्लोकों से विदित होता है कि खण्डित श्लोकों में पाणिनि का वर्णन अवश्य था। वररुचि=कात्यायन के प्रसङ्ग में लिखा है—

न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्त्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥१०॥

अर्थात् कात्यायन ने केवल वार्तिकों से पाणिनीय सूत्रों को ही पुष्ट नहीं किया, अपितु उसने पाणिनि के काव्य का भी अनुकरण किया है।

पुनः महाकवि भास के प्रकरण में लिखा है—

अयं च नान्वयात् पूर्णं दाक्षीपुत्रपदक्रमम्॥ २६॥

५—महामुनि पतञ्जलि ने १।४।५१ के महाभाष्य में पाणिनि को कवि लिखा है—

शुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना।

६—विक्रम की १२ वीं शताब्दी में होनेवाला पुरुषोत्तमदेव अपनी भाषावृत्ति में पाणिनीय सूत्र २।४।७४ की व्याख्या की पुष्टि में जाम्बवती-विजय काव्य को पाणिनीय मानकर उद्धृत करता है।[1]

७—पुरुषोत्तमदेव से कुछ परभावी शरणदेव ने भी अपनी दुर्घटवृत्ति में बहुत्र पाणिनि के जाम्बवतीविजय को सूत्रकार पाणिनि का काव्य मानकर प्रमाणरूप से उद्धृत किया है। यथा ४।३।२३, पृष्ठ ८२।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि जाम्बवतीविजय महाकाव्य और शब्दानुशासन का रचयिता पाणिनि एक ही है।

जाम्बवतीविजय का परिमाण—जाम्बवतीविजय इस समय अनुपलब्ध है। अतः उसके विषय में विशेष लिखना असम्भव है। दुर्घटवृत्तिकार शरणदेव ने जाम्बवतीविजय के अठारहवें सर्ग का एक उद्धरण दिया है।[2] उससे विदित होता है कि जाम्बवतीविजय में न्यून से न्यून १८ सर्ग अवश्य थे।

---

१. इति पाणिनेर्जाम्बवतीविजयकाव्यम्।

२. त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनं। चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतमद्य मे। इत्यष्टादशे। दुर्घटवृत्ति ४।३।२३ पृष्ठ ८२।

जाम्बवतीविजय के उद्धरण—इस महाकाव्य के उद्धरण निम्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं—

१—भाषावृत्ति ।	१०—सभ्यालकरण ।
२—दुर्घटवृत्ति ।	११—अलंकारशेखर ।
३—गणरत्नमहोदधि ।	१२—कुवलयानन्द ।
४—शार्ङ्गधरपद्धति ।	१३—अलंकारकौस्तुभ ।
५—सदुक्तिकर्णामृत ।	१४—प्रतापरुद्रयशोभूषण टीका ।
६—सुभाषितरत्नकोष ।	१५—दशरूपक ।
७—सारसंग्रह ।	१६—वाग्भटालंकार ।
८—अलंकारतिलक ।	१७—सूक्तिमुक्तावली जल्हणकृत ।
९—कवीन्द्रवचनसमुच्चय ।	१८—हैम काव्यानुशासनवृत्ति ।

१९—पद्यरचना—लक्ष्मणभट्ट आङ्कोलरकृत ।
२०—सुभाषितावली—वल्लभदेवकृत ।
२१—कातन्त्र धातुवृत्ति—रामनाथविरचित ।
२२—अमरटीका रायमुकुटकृत ।
२३—रुद्रट-काव्यलंकार की नमिसाधुकृत टीका ।
२४—ध्वन्यालोक- आनन्दवर्धनकृत ।
२५—अलंकारसर्वस्व रुय्यककृत ।
२६—सरस्वतीकण्ठाभरण की कृष्णदेव लीलाशुककवि रचित टीका ।

पं० चन्द्रधर गुलैरी ने अन्तिम ग्रन्थ के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में उद्धृत पाणिनीय काव्य के समस्त उद्धरण 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' नया संस्करण भाग १ खण्ड १ में प्रकाशित किये हैं। संख्या २६ का निर्देश श्री कृष्णमाचार्य ने अपने "हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर" ग्रन्थ के पृष्ठ ८५ पर किया है।

इन २६ ग्रन्थों में आये हुए उद्धरणों की प्रचुरता को देखने से आशा होती है कि यह महाकाव्य प्रयत्न करने पर अवश्य उपलब्ध हो सकता है।

३. द्विरूपकोश

लन्दन की इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में द्विरूपकोश का एक हस्तलेख है। उसकी संख्या ७८९० है। यह कोश छः पत्रों में पूर्ण है। ग्रन्थ के अन्त में 'इति पाणिनिमुनिना कृतं द्विरूपकोशं सम्पूर्णम्' लिखा है।

यह कोश वैयाकरण पाणिनि की कृति है या अन्य की, यह अज्ञात है।

पूर्वपाणिनीयम्

इस नाम का एक २४ सूत्रात्मक ग्रन्थ अभी काठियावाड़ से प्रकाशित हुआ है। इस के अन्वेषण और सम्पादनकर्ता पं० जीवाराम वैद्य हैं। उसके सूत्र इस प्रकार हैं—

ओम् नमः सिद्धम्।

१. अथ शब्दानुशासनम्।	२. शब्दो धर्मः।
३. धर्मार्थकामापवर्गाः।	४. शब्दार्थयोः।
५. सिद्धः।	६. संबन्धः।
७. ज्ञानं छन्दांसि।	८. ततोऽन्यत्र।
९. सर्वमार्षम्।	१०. छन्दोविरुद्धमन्यत्।
११. अदृष्टं वा।	१२. ज्ञानाधारः।
१३. सर्वः शब्दः।	१४. सर्वार्थः।
१५. नित्यः।	१६. तन्त्रः।
१७. भाषास्वेकदशी।	१८. अनित्यः।
१९. लौकिकोऽत्र विशेषेण।	२०. व्याकरणात्।
२१. तज्ज्ञाने धर्मः।	२२. अक्षराणि वर्णाः।
२३. पदानि वर्णेभ्यः।	२५. ते प्राक्।

पं० जीवाराम वैद्य ने इस ग्रन्थ को पाणिनिविरचित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उन की एक भी युक्ति इसे पाणिनीय सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। इस ग्रन्थ के उन्हें दो हस्तलेख प्राप्त हुए हैं, उन में एक हस्तलेख के प्रारम्भ में 'कात्यायनसूत्रम्' ऐसा लिखा है। हमारे विचार में ये सूत्र किसी अर्वाचीन कात्यायन विरचित हैं।

महाभाष्यस्थ पूर्वसूत्र—महाभाष्य में निम्न स्थानों पर 'पूर्वसूत्र' पद का प्रयोग मिलता है।

१—अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते।[1]

२—पूर्वसूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति संज्ञा क्रियते।[2]

---

१. अ० १, पा० १, आ० २, पृष्ठ ३६॥ २. १।२।६८, पृ० २४८।

३—पूर्वसूत्रनिर्देशो वापिशलमधीत इति । पूर्वसूत्रनिर्देशो वा पुनरयं द्रष्टव्यः । पूर्वसूत्रेऽप्रधानस्योपसर्जनमिति संज्ञा क्रियते ।[1]

४—पूर्वसूत्रनिर्देशश्च । चित्वान् चित इति ।[2]

५—अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयं, पूर्वसूत्रेषु च येऽनुबन्धा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते ।.........निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात् ।[3]

६—पूर्वसूत्रनिर्देशश्च ।[4]

महाभाष्य के इन ६ उद्धरणों में से केवल प्रथम उद्धरण पूर्वपाणिनीय के "अक्षराणि वर्णाः"[5] सूत्र के साथ मिलता है। भर्तृहरि ने महाभाष्य-दीपिका में महाभाष्योक्त पूर्वसूत्र का पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है —

पूर्व छन्दे पठन्ति—'वर्णा अक्षराणि' इति ।[6]

इस से प्रतीत होता है कि ये पूर्वपाणिनीय-सूत्र भर्तृहरि के समय विद्यमान नहीं थे। अन्यथा वह 'वर्णा अक्षराणि' के स्थान पर 'अक्षराणि वर्णाः' ऐसा पाठ उद्धृत करता।

पूर्वपाणिनीय का शब्दार्थ—पूर्वपाणिनीय के सम्पादक को भ्रांति होने का एक कारण इसके शब्दार्थ को ठीक न समझना है। उन्हों ने पूर्व-पाणिनीय नाम देख कर इसे पाणिनीय समझ लिया। वस्तुतः इस का अर्थ है—पाणिनीयस्य पूर्व एकदेशः पूर्वपाणिनीयम्' अर्थात् पाणिनीय शास्त्र का पूर्व भाग। पूर्वोत्तर भाग के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह एक व्यक्ति की रचना हो, और समान काल की हो। विभिन्न रचयिता और विभिन्न काल की रचना होने पर भी पूर्वोत्तर विभाग माने जाते हैं। जैसे—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा।

पूर्वपाणिनीय की प्राचीनता—पूर्वपाणिनीय के सम्पादक ने इस की प्राचीनता में जितने प्रमाण दिये हैं वे सब निर्मूल हैं। अब हम इस की प्राचीनता में एक प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं—

---

१. ४।१।१४, पृष्ठ २०५। २. ६।१।१६३। पृष्ठ १०४।

३. ७।१।१८, पृष्ठ २४७। ४. ८।४।७, पृष्ठ ४५५।

५. पूर्वपाणिनीय सूत्र २२।

६. महाभाष्यदीपिका पृष्ठ ११६।

काशिका ६।२।१०४ में एक प्रत्युदाहरण है—पूर्वपाणिनीयं शास्त्रम्। यहां शास्त्र पद का प्रयोग होने से स्पष्ट है कि काशिकाकार का संकेत किसी 'पूर्वपाणिनीय' ग्रन्थ की ओर है।

हरदत्त ने इस प्रत्युदाहरण की व्याख्या 'पाणनीयशास्त्रं पूर्वं चिरन्तनमित्यर्थः' की है। यह क्लिष्ट कल्पना है। सम्भव है उसे इस ग्रन्थ का ज्ञान न रहा हो।

इस अध्याय में हमने पाणिनि और उस के शब्दानुशासन तथा तद्विरचितअन्य ग्रन्थों का संक्षिप्त वर्णन किया है। अगले अध्याय में संग्रहकार व्याडि का वर्णन करेंगे।

छठा अध्याय

आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय

पाणिनीय अष्टाध्यायी से भारतीय प्राचीन वाङ्मय और इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इस अध्याय में हम पाणिनि के समय विद्यमान उसी वाङ्मय का उल्लेख करेंगे जिस पर पाणिनीय व्याकरण से प्रकाश पड़ता है। यद्यपि हमारे इस लेख का मुख्य आश्रय पाणिनीय सूत्रपाठ और गणपाठ है तथापि उसका आशय व्यक्त करने के लिये कहीं-कहीं महाभाष्य और काशिकावृत्ति का भी आश्रय लिया है। हमारा विचार है काशिका वृत्ति के जितने उदाहरण हैं वे प्रायः प्राचीन वृत्तियों के आधार पर हैं,[1] और सभी प्राचीन वृत्तियों का आधार पाणिनीयवृत्ति है। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन पर स्वयं वृत्ति लिखी थी, यह हम "अष्टाध्यायी के वृत्तिकार" प्रकरण में सिद्ध करेंगे। इस प्रकार काशिका के उदाहरण बहुत अंश तक अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक हैं।[2]

पाणिनि ने अपने समय के समस्त संस्कृत वाङ्मय को निम्न भागों में बांटा—

१. दृष्ट, २. प्रोक्त, ३. उपज्ञात, ४. कृत, ५. व्याख्यान।

हम भी इसी विभाग के अनुसार पाणिनीय व्याकरण में उल्लिखित प्राचीन वाङ्मय का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

---

१. सखिखीति ··· अपचितपरिमाणः शृगालः किखी, अप्रसिद्धोदाहरणं चिरन्तनप्रयोगात्। पदमञ्जरी २।१।६, भाग १ पृष्ठ ३५४। काशिका में 'ससखि' उदाहरण छपा है वह अशुद्ध है। अवतप्तेनकुलस्थितं तवैतदिति चिरन्तनप्रयोगः। पदमञ्जरी २।१।७, भाग १, पृष्ठ ३७१।

२. रामचन्द्र, भट्टोजि दीक्षित आदि अर्वाचीन वैयाकरणों ने उन प्राचीन उदाहरणों को जिनसे भारतीय पुरातन इतिहास और वाङ्मय पर प्रकाश पड़ता था हटाकर साम्प्रदायिक उदाहरणों का समावेश करके प्राचीन वाङ्मय और इतिहास की महती हानि की है।

१. दृष्ट

इस विभाग में पाणिनि ने केवल साम को रक्खा है। पाणिनि का सूत्र है—दृष्टं साम[1]। यहां साम शब्द सामवेद में पठित ऋचाओं के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ, अपि तु जैमिनि के "गीतिषु सामाख्या"[2] लक्षण के अनुसार ऋचाओं के गान का वाचक है। काशिका वृत्ति में "दृष्टं साम" सूत्र के उदाहरण "क्रौञ्चम्, वासिष्ठम्, वैश्वामित्रम्" दिये हैं। वाम-देव ऋषि से दृष्ट वामदेव्य साम के लिये 'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ च"[3] पृथक् सूत्र बनाया है। वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार "आग्नेय कालेय, औशनस, औशन, औपगव, सामों का और उल्लेख मिलता है।[4] दृष्ट का अर्थ है जो देखा गया हो। यह कृत और प्रोक्त से भिन्न हैं। अतः इसका अर्थ है कि जिसकी रचना में मनुष्य का कोई सम्बन्ध न हो अर्थात् जो अपौरुषेय हों। यद्यपि ऋक् और यजुः मन्त्रों के अपौरुपेयत्व के विषय में पाणिनि ने साक्षात् कुछ नहीं कहा, तथापि "ऋच्यध्यूढं साम गायति"[5] इस वचन के अनुसार सामगान ऋचा के आधार पर होता है। इसलिये यदि आध्रियमाण साम दृष्ट अर्थात् अपौरुषेय हैं तो उनके आधार पर ऋक् मन्त्रों का अपौरुपेयत्व स्वतःसिद्ध है। यजुर्मन्त्रों के अपौरुषेयत्व के विषय में साक्षात् या असाक्षात् कोई उल्लेख नहीं मिलता।

सामगान के दो भेद हैं। एक सामवेद की पूर्वार्चिक की ऋचाओं में उत्पन्न साम। इसे प्रकृति साम या योनिसाम भी कहते हैं। दूसरा—"यद् योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति"[6] वचन द्वारा उत्तरा-र्चिक की ऋचाओं में अतिदिष्ट। इसे ऊह गान भी कहते हैं। शबर स्वामी आदि मीमांसकों का सिद्धान्त है कि प्रकृति गान अपौरुषेय है (पाणिनि ने भी इसे ही दृष्ट कहा है) और ऊह गान आतिदेशिक होने से पौरुषेय है।[7]

---

१. अष्टा० ४।२।७॥ २. मीमांसा २।१।३६॥ ३. अष्टा० ४।२।८॥

४. सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढक्। दृष्टे सामनि जाते चाऽप्यण् डिद् द्विर्वा विधीयते। तीयादीकक् न विद्याया गोत्रादङ्कवदिष्यते॥ महाभाष्य ४।२।७॥

५. भाट्टदीपिका ९।२।२ पर उद्धृत। ६. भाट्टदीपिका ९।२।२ पर उद्धृत।

७. देखो शाबर भाष्य अ० २, पाद २, अधि० २।

२–प्रोक्त

प्रोक्त शब्द का अर्थ है—कहा हुआ, पढ़ाया हुआ। पढ़ाना स्वरचित ग्रन्थों का भी होता है और पररचित ग्रन्थों का भी। **"तेन प्रोक्तम्"**[1] सूत्र से दोनों प्रकार के प्रवचन में प्रत्यय होता है। यथा—**पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः।**[2] जिन्होंने अपने ग्रन्थ को स्वयं नहीं पढ़ाया उन में **"कृते ग्रन्थे"**[3] सूत्र से प्रत्यय होता है। इस प्रोक्त-विभाग में पाणिनि ने अनेक प्रकार के ग्रन्थों का निर्देश किया है। हम यहां उनका सूत्रानुसार उल्लेख न करके विषय-विभागानुसार उल्लेख करेंगे। यथा—

१—**संहिता**—संहिताएं दो प्रकार की हैं एक मूलरूप, और दूसरी व्याख्यारूप[4]। दूसरी प्रकार की संहिताओं का शाखा शब्द से व्यवहार होता है। अनेक विद्वान् संहिता के उपर्युक्त दो विभाग नहीं मानते। उनके मत में सब संहिताएं समान हैं, परन्तु यह ठीक नहीं।[5] महाभाष्यकार के मतानुसार चारों वेदों की ११३१ संहिताएं हैं।[6] पाणिनि के सूत्रों और गणों में निम्न चरणों तथा शाखा ग्रन्थों[7] का उल्लेख मिलता है—

४।३।१०२—**तैत्तिरीय, वारतन्तीय, खाण्डिकीय, औखीय**। ४।३।१०४—**हारिद्रव, तौम्बुरव, औलप, आलम्ब, पालङ्ग, कामल, आर्चाभ, आरुण, ताण्ड, श्यामायन**। गणपाठ ४।३।१०६—**शौनक, वाजसनेय,**

---

१. अष्टा० ४।३।१०१॥ २. महा० ४।३।१०१॥ ३. अष्टा० ४।३।११६॥

४. वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्; शतपथ हरिस्वामी-भाष्य प्रथम काण्ड का आरम्भ। यहां हरिस्वामी ने स्पष्टतया वेद और शाखाओं का पार्थक्य माना है। "आर्य जगत" पत्र (लाहौर) सं० २००४ ज्येष्ठ मास के अंक में मेरा "वैदिक सिद्धान्त विमर्श लेख" सं० ४। ५. देखो इसी पृष्ठ की टिप्पणी ४।

६. एक शतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधार्थवणो वेदः। १।१। आ० १॥

७. चरणों और शाखा में भेद है। शाखाएं चरणों के अवान्तर विभाग का नाम है। तुलना करो—भोजवर्मा (१२ वीं शताब्दी) का ताम्रपत्र—जमदग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकाण्वशाखाध्यायिने ......। वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ ७१ पर उद्धृत

साङ्गरव, शांर्ङ्गरव, साम्पेय, शाखेय, खाडायन, स्कन्ध, स्कन्द, देवदत्तशठ, रज्जुकठ, रज्जुभार, कठशाठ, कशाय, तलवकार, पुरुषासक, अश्वपेय । ४ । ३।१०७—**कठ, चरक** । ४।३।१०८—**कालाप** । ४।३।१०९—**छागलेय** । ४। ३ । १२८—**शाकल** । ४।३।१२९—**छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच** । गणपाठ ६।२। २७—**शाकल, आर्चाभ, मौद्गल, कठ, कलाप, कौथुम, लौगाक्ष, मौद, पैप्पलाद** । ७।४।३८—**काठक** ।

महाभाष्य ४।२।६६ में "**क्रौड**" और "**काङ्कत**" तथा पाणिनि से प्राचीन आपिशलशिक्षा के षष्ठ प्रकरण में "**सात्यमुग्रीय**" और "**राणायनीय**" का नाम मिलता है।[1]

इन नामों में जो नाम गणपाठ में आये हैं उन में कतिपय सन्दिग्ध हैं और कतिपय नामों में केवल शाब्दिक भेद है। यथा–स्कन्ध और स्कन्द तथा साङ्गरव और शार्ङ्गरव आदि।

संहिता ग्रन्थों के उपर्युक्त नाम सूत्र-क्रमानुसार लिखे हैं। इन का वेदानुसार सम्बन्ध इस प्रकार है—

ऋग्वेद—बह्वृच, शाकल, मौद्गल तथा हरदत्त के मत में काठक।[2]

इन में शाकल संहिता पाणिनि से पुराण ऐतरेय ब्राह्मण १४ । ५ में उद्धृत है। अतः यह संहिता अत्यन्त प्राचीन है।

शुक्लयजुर्वेद—वाजसनेय, शापेय।

कृष्णयजुर्वेद—तैत्तिरीय, वारतन्तीय, खाण्डिकीय, औखीय, हारिद्रव, तौम्बुरव, औलप, छागल, आलम्ब, पालङ्ग, कामल, आर्चाभ, आरुण, ताण्ड ?, श्यामायन, खाडायन, कठ, चरक, कालाप।

सामवेद—तलवकार, सात्यमुग्रीय, राणायनीय, कौथुम, लौगाक्ष, छन्दोग।

अथर्ववेद—शौनक, मौद, पैप्पलाद।

अनिश्चित वेद संबन्ध—वे शाखाएं जिन का संबन्ध हम किसी वेद के साथ नहीं कर सके—औक्थिक, याज्ञिक, साङ्गरव, शार्ङ्गरव, साम्पेय,

---

१. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति । तुलना करो—ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते । महाभाष्य एओङ् सूत्र तथा १।१।४७॥

२. पदमञ्जरी ७।४।३८ ॥

शाखेय, स्कन्ध, स्कन्द, देवदत्तशठ, रज्जुकठ, रज्जुभार, कठशाठ, कशाय, पुरुषासक, अश्वपेय क्रौड, काङ्कत ।

इन शाखाओं का विशेष वर्णन श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग में देखना चाहिये ।

२—**ब्राह्मण**—वेद की जितनी शाखाएं हैं प्रायः उन सब के ब्राह्मणग्रन्थ भी पुराकाल में विद्यमान थे । ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन भी उन्हीं ऋषियों ने किया था जिन्होंने उन की संहिताओं का । अतः पूर्वोद्धृत शाखा ग्रन्थों के साथ साथ उन के ब्राह्मणग्रन्थों का भी निर्देश समझना चाहिये । इस सामान्य निर्देश के अतिरिक्त पाणिनीय सूत्रों में निम्न ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—

पाणिनि ने "**छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि**"[1] सूत्र में ब्राह्मण ग्रन्थों का सामान्य निर्देश किया है । "**पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु**"[2] सूत्र में ब्राह्मण ग्रन्थों के प्राचीन और अर्वाचीन दो विभाग दर्शाए हैं । काशिकाकार जयादित्य ने पुराणप्रोक्त ब्राह्मणों में "**भाल्लव, शाट्यायन, ऐतरेय**" का और अर्वाचीन ब्राह्मणों में "**याज्ञवल्क्य**" अर्थात् **शतपथ** ब्राह्मण का निर्देश किया है । शतपथ ब्राह्मण का दूसरा नाम **वाजसनेय ब्राह्मण** भी है । इस का निर्देश गणपाठ ४।३।१०६ में उपलब्ध होता है । अष्टाध्यायी ४।२।६६ की काशिकावृत्ति में भाल्लव आदि प्राचीन ब्राह्मणों के साथ "**ताण्ड**" और अर्वाचीन ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य के साथ "**सौलभ**" ब्राह्मण का भी नाम मिलता है । यह सौलभ ब्राह्मण संभवतः उसी क्षत्रियकुल-संभूता ब्रह्मवादिनी सन्यासिनी सुलभा का प्रोक्त होगा जिसका विदेह जनक के साथ ब्रह्मविद्या-विषयक संवाद हुआ था ।[3] आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रों के ऋषितर्पण में सुलभा का नाम मिलता है । अतः सम्भव है सौलभ ब्राह्मण ऋग्वेद का हो ।

लाट्यायन श्रौत में एक सूत्र है—**तथा पुराणं ताण्डम्** ।[4] इस में ताण्ड का पुराण विशेषण दिया है । इस सूत्र से पाणिनि द्वारा दर्शाए गये ब्राह्मणों के पुराण और अर्वाचीन दो विभागों तथा काशिकावृत्ति ४।२।६६ में पुराण ब्राह्मणों में निर्दिष्ट **ताण्ड** नाम की पुष्टि होती है ।

---

१. अष्टा० ४।२।६६॥ २. अष्टा० ४।३।१०५॥

३. महाभारत शान्तिपर्व । ४. ला० श्रौ० ७।१०।१७॥

लाट्यायन के सूत्र से यह भी विदित होता है कि ताण्ड ब्राह्मण भी दो प्रकार का था, एक प्राचीन और दूसरा अर्वाचीन।

संक्षिप्तसार व्याकरण के कर्त्ता गोयीचन्द्र औत्थासानिक ने "अयाज्ञवल्कयादेर्ब्राह्मणे"[1] सूत्र की वृत्ति में पुराणप्रोक्त ऐतरेय और शाट्यायन ब्राह्मण के साथ "भागुरि" ब्राह्मण का उल्लेख किया है। यह ब्राह्मण भी पुराणप्रोक्त है। एक पुराणप्रोक्त पैङ्गलायनि ब्राह्मण बौधायन श्रौत २।७ में उद्धृत है।[2]

वार्तिककार कात्यायन ने "याज्ञवल्कयादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्"[3] कह कर याज्ञवल्क्य ब्राह्मण को भी प्राचीन बताया है। संभव है कात्यायन ने पाणिनि के पुराणप्रोक्त शब्द का अर्थ 'सूत्रकार से पूर्व प्रोक्त' इतना सामान्य ही स्वीकार किया हो। महाभाष्यकार ने इस वार्तिक पर आदि पद से सौलभ ब्राह्मण का निर्देश किया है। इससे इतना स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य और सौलभ ब्राह्मण का प्रवचन पाणिनि से पूर्व हो गया था।

वेद की शाखाओं का अनेक बार प्रवचन—सृष्टि की आदि से लेकर भगवान् वेदव्यास और उन के शिष्य-प्रशिष्यों पर्यन्त वेद की शाखाओं का अनेक बार प्रवचन हुआ है।[4] भगवान् वेदव्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा जो शाखाओं का प्रवचन हुआ वह अन्तिम प्रवचन है। छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण से विदित होता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के प्रवक्ता महिदास ऐतरेय की मृत्यु इन की रचना से बहुत पूर्व हो चुकी थी। अत एव इन ग्रन्थों में उसके लिये परोक्षभूत की क्रियाओं का प्रयोग हुआ है।[5] शाकल संहिता का प्रवचन ऐतरेय से भी पूर्व हो चुका था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[6] अतः हमारा विचार है पाणिनि के पुराणप्रोक्त शब्द से उन ब्राह्मण ग्रन्थों की ओर संकेत है जिनका प्रवचन भगवान् वेदव्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों के प्रवचन से पूर्व हो चुका था। यही अभिप्राय लाट्यायनश्रौत के पूर्वनिर्दिष्ट सूत्र में पुराण पद का है।

---

१. तद्धित प्रकरण ४५४। २. पूर्व पृष्ठ १३८, टी० ४। ३. महाभाष्य ४।२।६६॥
४. यानि पूर्वैर्देवार्षिभिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेय-शतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्....। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३४१, तृतीय संस्क०। ५. पूर्व पृष्ठ १२४। ६. पूर्व पृष्ठ १२४।

पाणिनि ने "त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण्"[1] सूत्र में तीस और चालीस अध्याय वाले "त्रैंश" और "चात्वारिंश" संज्ञक ब्राह्मणों का निर्देश किया है।[2] त्रैंश और चात्वारिंश नामों से किन ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख है, यह अज्ञात है। ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं। षड्गुरुशिष्य ने ऐतरेय ब्राह्मण की वृत्ति के प्रारम्भ में उसका "चात्वारिंश" नाम से उल्लेख किया है।[3] त्रैंश नाम ऐतरेय के प्रारम्भिक ३० अध्यायों का है, अन्तिम १० अध्याय अर्वाचीन हैं। पं० सत्यव्रत सामश्रमी के मत में—

पञ्चविंश	के	२५ प्रपाठक	= ४० प्रपाठक
षड्विंश	,,	५ ,,	
मन्त्र ब्राह्मण	,,	२ ,,	
छान्दोग्य उपनिषद्	,,	८ ,,	

४० प्रपाठक का कभी एक ही ताण्ड्य या छान्दोग्य ब्राह्मण था। आचार्य शंकर ने वेदान्त भाष्य में मन्त्र-ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् के वचन ताण्ड्य के नाम से उद्धृत किये हैं।[4] सायणाचार्य ताण्ड्य और षड्विंश ब्राह्मण में प्रपाठक के स्थान में अध्याय शब्द का व्यवहार करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी प्रपाठक के स्थान में अध्याय शब्द का व्यवहार उपलब्ध होता है। अतः यह भी सम्भव है-चात्वारिंश नाम से पञ्चविंश, षड्विंश, मन्त्रब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् के सम्मिलित ४० अध्याय वाले ताण्ड्य ब्राह्मण का निर्देश हो और त्रैंश नाम से पञ्चविंश

१. अष्टा० ५।१।६२॥ २. त्रिंशदध्यायाः परिमाणमेषां ब्राह्मणानां त्रैंशानि, ब्राह्मणानि, चात्वारिंशानि ब्राह्मणानि। कानिचिदेव ब्राह्मणान्युच्यन्ते। काशिका ५।१।६२॥

३. चात्वारिंशाख्यमध्यायाः चत्वारिंशदिहेति डण्। पृष्ठ २।

४. वेदान्त भाष्य ३।३।२१—ताण्डिनां .... देव सवितः .... मन्त्र ब्रा० १।१।१॥ वेदान्त भाष्य ३।३।२६—अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—अश्व इव रोमाणि .... छा० उ० ८।१३।१॥ वेदान्त भाष्य ३।३।३६—ताण्डिनामुपनिषदि—स आत्मा तत्त्वमसि .... छा० उप० ६।८।७॥ इत्यादि। शंकराचार्य ने यहां अर्वाचीन ताण्ड्य ब्राह्मण के अवयवभूत छान्दोग्य उपनिषद् और मन्त्र ब्राह्मण के लिये ताण्ड शब्द से "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (४।३।१०५) सूत्र से णिनि प्रत्यय किया है। वह चिन्त्य है। प्रतीत होता है उन्हें ताण्ड ब्राह्मण के पुराण और अर्वाचीन दो भेदों का ज्ञान नहीं था।

तथा षड्विंश के सम्मिलित ३० अध्यायों का संकेत हो। सौ अध्याय वाले शतपथ के १५, ६० और ८० अध्याय क्रमशः पञ्चदशपथ, षष्टिपथ और अशीतिपथ नाम से व्यवहृत होते हैं, यह अनुपद दर्शाएंगें।

"शतषष्टेः षिकन् पथः"[1] वार्तिक के उदाहरण में काशिकाकार ने **"शतपथ"** और **"षष्टिपथ"** का उल्लेख किया है। शतपथ का निर्देश देव पथादिगण[2] में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में १०० अध्याय हैं। षष्टिपथ शतपथ का ही एक अंश है। नवमकाण्ड पर्यन्त शतपथ ब्राह्मण में ६० अध्याय हैं। नवमकाण्ड में अग्निचयन का वर्णन है। प्रतीत होता वार्तिककार के समय में शतपथ के ६० अध्यायों का पठन पाठन विशेष रूप से होता था। काशिका २।१।६ के "साग्न्यधीते" उदाहरण से भी इसकी पुष्टि होती है, क्योंकि इस उदाहरण में अग्निचयनान्त ग्रन्थ पढ़ने का निर्देश है। शतपथ के नवम काण्ड पर्यन्त विशेष पठन पाठन होने का एक कारण यह भी है कि शतपथ के प्रथम ९ काण्डों में यजुर्वेद के प्रारम्भिक १८ अध्यायों के प्रायः सभी मन्त्र क्रमशः व्याख्यात हैं। आगे यह विशेषता नहीं है। प्रतिज्ञासूत्र-परिशिष्ट की चतुर्थ कण्डिका में शतपथ के १५ तथा ८० अध्यायात्मक **"पञ्चदशपथ"** और **"अशीतिपथ"** दो अवान्तर भेद और दर्शाये हैं।

अष्टाध्यायी के **"न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः"**[3] सूत्र में **"सुब्रह्मण्य"** निगद का उल्लेख है। सुब्रह्मण्य निगद माध्यन्दिन शतपथ में उपलब्ध होता है।[4] स्वल्प पाठभेद से काण्व शतपथ में भी मिलता है। परन्तु पाणिनि और कात्यायन प्रदर्शित स्वर माध्यन्दिन और काण्व दोनों शतपथों में नहीं मिलता। शतपथ का तीसरा भेद कात्यायन भी है।[5] सम्भव है पाणिनि और वार्तिककार प्रदर्शित स्वर उसमें हो अथवा इन दोनों का संकेत किसी अन्य ग्रन्थस्थ सुब्रह्मण्या निगद की ओर हो। सुब्रह्मण्या का व्याख्यान षड्विंश ब्राह्मण १।१।८ से १।२ के अन्त तक मिलता है। परन्तु षड्विंश में सम्प्रति स्वरनिर्देश उपलब्ध नहीं होता।

---

१. यह कात्यायन से भिन्न आचार्य विरचित श्लोकवार्तिक का एक अंश है। पूरा श्लोक काशिका में व्याख्यात है। महाभाष्य में इतना अंश ही व्याख्यात है।

२. अष्टा० ५।१।१००॥ ३. अष्टा० १।२।३७॥ ४. शत० ३।३।४।१७-२०॥ ५. देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ १७४।

३—अनुब्राह्मण—पाणिनि ने "अनुब्राह्मणादिनिः"[1] सूत्र में साक्षात् "अनुब्राह्मण" का उल्लेख किया है। काशिकाकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—ब्राह्मणसदृशोऽयं ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम्। अनुब्राह्मण शब्द से पाणिनि को कौनसा या कौन से ग्रन्थ अभिप्रेत हैं, यह कहना कठिन है। हमारा विचार है कि यहां अनुब्राह्मण शब्द आरण्यक-ग्रन्थों का वाचक, है, क्योंकि उनमें कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड दोनों का सम्मिश्रण है और उनकी रचनाशैली भी ब्राह्मणग्रन्थानुसारिणी है। आरण्यकग्रन्थों के प्रवक्ता भी प्रायः वे ही ऋषि हैं जो तत्तत् शाखा या ब्राह्मणग्रन्थों के प्रवक्ता हैं। बृहदारण्यक आदि कई आरण्यक साक्षात् ब्राह्मणग्रन्थों के अवयव हैं। अतः पाणिनि के ग्रन्थ में आरण्यक ग्रन्थों का साक्षात् निर्देश न होने पर भी वे पाणिनि द्वारा ज्ञात अवश्य थे। यह भी सम्भव है अनुब्राह्मण नामक कोई विशिष्ट रहा ग्रन्थ हो।

४—उपनिषद्—इस शब्द का अर्थ है— समीप बैठना। इसी अर्थ को लेकर पाणिनि ने 'जीविकोपनिषदावौपम्ये'[2] सूत्र में उपमार्थ में उपनिषत् शब्द का व्यवहार किया है। ग्रन्थवाची उपनिषत् शब्द का उल्लेख ऋगयनादिगण[3] में मिलता है। इस गणपाठ से यह भी व्यक्त होता है कि पाणिनि के काल में उपनिषदों पर व्याख्यान ग्रन्थों की रचना भी प्रारम्भ हो गई थी।[4] सम्प्रति उपलभ्यमान ईश आदि मुख्य १५ उपनिषदें संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों के ही विशिष्टांश हैं। अतः ये पाणिनि को अवश्य ज्ञात रही होंगी। अष्टाध्यायी ४।३।१२९ में छन्दोग शब्द से आम्नाय अर्थ में छान्दोग्य पद सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् इसी छान्दोग्य आम्नाय से संबन्ध रखती है।

५—कल्पसूत्र—इन में श्रौत, गृह्य और धर्म सम्बन्धी त्रिविध सूत्रों का समावेश होता है। शुल्बसूत्र श्रौतसूत्रों के ही परिशिष्ट हैं। अष्टाध्यायी के "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु"[5] सूत्र में साक्षात् कल्पसूत्रों का निर्देश है। पाणिनि ने इसी सूत्र से उनके प्राचीन और नवीन दो भेद भी दर्शाए हैं। काशिकाकार ने इस सूत्र पर पुराण कल्पों में "पैङ्ग" तथा "आरुणपराज" को उद्धृत किया है और अर्वाचीनों में

१. अष्टा० ४।२।६२॥ २. अष्टा० ६।२।७९॥ ३. अष्टा० ४।३।७३॥
४. यहां "तस्य व्याख्यानः" अर्थ की अनुवृत्ति है। ५. अष्टा० ४।३।१०५॥

"आश्मरथ" को। काशिका का मुद्रित 'आरुणपराज' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। सम्भव है यहां "आरुणपराशरः" पाठ हो। भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक अ० १ पाद २, अधि० ६ में लिखा है—"अरुणपराशरशाखाब्राह्मणस्य कल्परूपत्वात्"। जैन शाकटायन की चिन्तामणि वृत्ति ३।१।७५ में "पैङ्गली कल्प" का निर्देश है। बौधायन श्रौत २।७ में एक पैङ्गलायनि ब्राह्मण उद्धृत है, क्या पैङ्गलीकल्प का उसके साथ संबन्ध है या यह पैङ्गीकल्प का अपपाठ है। पाणिनि ने "काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः"[1] सूत्र में "काश्यप" और "कौशिक" ग्रन्थों का उल्लेख किया है। कात्यायन के "काश्यपकौशिकग्रहणं कल्पे नियमार्थम्"[2] वार्तिक से प्रतीत होता है कि उक्त सूत्र में काश्यप और कौशिक कल्पों का निर्देश है। कौशिक कल्प आथर्वण कौशिकसूत्र प्रतीत होता है। गृहपति शौनक पाणिनि का समकालिक या किंचित् पौर्वकालिक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3] उसका एक शिष्य आश्वलायन है।[4] उसी ने आश्वलायन श्रौत और गृह्य सूत्रों का प्रवचन किया है। शौनक का दूसरा शिष्य कात्यायन है,[5] जिसने कात्यायन श्रौत और गृह्य सूत्रों[6] की रचना की (वर्तमान में उपलब्ध कात्यायन स्मृति आधुनिक) है। अतः ये ग्रन्थ पाणिनि के काल में अवश्य विद्यमान रहे होंगे। अष्टाध्यायी के "यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु"[7] सूत्र में "न्यूङ्ख" का उल्लेख है। ये न्यूङ्ख आश्वलायन श्रौत ७।११ में मिलते हैं। महाभाष्य ४।२।६० में "विद्यालक्षणकल्पान्तादिति वक्तव्यम्" वार्तिक के उदाहरण "पाराशरकल्पिकः, मातृकल्पिकः" दिये हैं। अष्टाध्यायी ४।२।६० और ४।३।६७, ७०,७२ से विदित होता है कि पाणिनि के समय "राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, पाकयज्ञ, इष्टि" आदि विविध यज्ञों पर प्रक्रिया ग्रन्थ रचे जा चुके थे। पाणिनि के "यज्ञे सामि स्तुवः,[8] प्रे स्त्रोऽयज्ञे,[9] परौ-

१. अष्टा० ४।३।१०३॥ २. महाभाष्य ४।२।६६॥
३. पूर्व पृष्ठ १३९,१४०। ४. पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग प्रथम, पृष्ठ २६। ५. एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् आश्वलायनः। वेदार्थदीपिका पृष्ठ ५७। ६. कात्यायनगृह्य पारस्करगृह्य से भिन्न है। इसके हस्तलेख कई पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं। ७. अष्टा० १।२।३४॥
८. अष्टा० ३।३।३१॥ ९. अष्टा० ३।३।३२॥

परौ यज्ञे"[1] सूत्रों में यज्ञविषयक कई पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। अष्टाध्यायी के "**छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः**"[2] सूत्र में छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच, और नट का निर्देश है। काशिकाकार ने कात्यायन के "**चरणाद्धर्माम्नाययोः**"[3] वार्तिक का संबन्ध इस सूत्र में करके नट शब्द से भी धर्म और आम्नाय अर्थ में प्रत्यय का विधान किया किया है,[4] यह ठीक नहीं है, क्योंकि नट शब्द चरणवाची नहीं है। अत एव आचार्य चन्द्रगोमी ने "**नटाञ्ञ्यो नृत्ये**"[5] पृथक् सूत्र रचकर नट शब्द से केवल नृत्य अर्थ में प्रत्यय विधान किया है। भोजदेव ने भी चान्द्रव्याकरण का ही अनुसरण किया है।[6] इस प्रकरण में आम्नाय शब्द से किन ग्रन्थों का ग्रहण है, यह अस्पष्ट है। सम्भव है यहां शाखा, ब्राह्मण और कल्पसूत्र अभिप्रेत हों।

६—**अनुकल्प**—अष्टाध्यायी ४।२।६० के उक्थादिगण में "**अनुकल्प**" का निर्देश है। अनुकल्प से पाणिनि को क्या अभिप्रेत है, यह अज्ञात है। सम्भव है यहां अनुकल्प पद से कल्पसूत्रों के आधार पर लिखे गये याज्ञिक पद्धतिग्रन्थों का निर्देश हो। एक प्राचीन "**कल्पानुपद**" सूत्र मिलता है। वह सामवेदीय याज्ञिक ग्रन्थ है।

७—**शिक्षा**—जिन ग्रन्थों में वर्णों के स्थान प्रयत्न आदि का उल्लेख है वे ग्रन्थ "शिक्षा" कहाते हैं। पाणिनीय सूत्रपाठ में शिक्षा ग्रन्थों का साक्षात् उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु गणपाठ ४।२।६१ में शिक्षा शब्द पढ़ा है। इस से व्यक्त है कि पाणिनि के काल में शिक्षा का पठन पाठन होता था और उसके कई ग्रन्थ विद्यमान थे। काशिकाकार ने "**शौनकादिभ्यश्छन्दसि**"[7] के "छन्दसि" पद का प्रत्युदाहरण "**शौनकीया शिक्षा**" दिया है। ऋक्प्रातिशाख्य के १३,१४ वें पटल में वर्णों के स्थान प्रयत्न आदि का वर्णन होने से शिक्षापटल कहाते हैं। सम्भव है काशिका के "शौनकीया शिक्षा" प्रत्युदाहरण में इन्हीं का ग्रहण हो। एक शौनकीयशिक्षा का हस्तलेख आडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में विद्यमान

---

१. अष्टा० ३।३।३७॥ २. अष्टा० ४।३।१२९॥

३. महाभाष्य ४।३।१२०॥ ४. चरणाद्धर्माम्नाययोः, तत्साहचर्यान्नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव भवति। ५. चान्द्र व्याकरण ३।३।९१॥

६. नटाञ्ञ्यो नृत्ते। सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२९१॥ ७. अष्टा० ४।३।१०६॥

है।[1] यह प्राचीन आर्षग्रन्थ है या अर्वाचीन, यह अज्ञात है। महाभारत शान्तिपर्व ३४२। १०४ से व्यक्त है कि आचार्य गालव ने एक शिक्षाग्रन्थ रचा था।[2] पाणिनि ने अष्टाध्यायी ८।४।६७ में गालव का निर्देश किया है।[3] आचार्य आपिशलि की शिक्षा सम्प्रति उपलब्ध है। आपिशलि का उल्लेख अष्टाध्यायी ६।१।९२ में मिलता है।[4] इस का एक सुन्दर संस्करण हम ने प्रकाशित किया है। पाणिनि ने स्वयं शिक्षासूत्र रचे थे। उन्हीं के आधार पर आधुनिक पाणिनीयशिक्षा की रचना हुई। इस अर्वाचीन पाणियीयशिक्षा के अधिक प्रचार होने से मूल सूत्रग्रन्थ लुप्त हो गया। इस लुप्त सूत्रग्रन्थ के उद्धार का श्रेय स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उन्होंने महान् प्रयत्न से इस का एक हस्तलेख प्राप्त करके उसे हिन्दी व्याख्या-सहित "वर्णोच्चारणशिक्षा" के नाम से प्रकाशित किया। स्वामी दयानन्द को पाणिनीयशिक्षा का जो हस्तलेख प्राप्त हुआ था। वह अनेक स्थानों में खण्डित प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ का दूसरा हस्तलेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। पाणिनीयशिक्षा के सप्तम प्रकरण में कौशिकशिक्षा के कुछ श्लोक उद्धृत हैं। उन से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय कौशिकशिक्षा भी विद्यमान थी। **गौतमशिक्षा** नाम से एक ग्रन्थ काशी से प्रकाशित "शिक्षासंग्रह" में छपा है। वह रचनाशैली से प्राचीन ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसी शिक्षासंग्रह में नारदी और माण्डूकी शिक्षाएं भी छपी हैं। वे भी प्राचीन आर्ष ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त जितनी शिक्षाएं शिक्षासंग्रह में मुद्रित हैं वे सब अर्वाचीन हैं। **भारद्वाजशिक्षा** के नाम से एक शिक्षा छपी है। ग्रन्थ के अन्त्यलेखानुसार इस का रचयिता भरद्वाज है।[5] इस का संबन्ध तैत्तिरीय शाखा के साथ है। हमें इस के प्राचीन होने में सन्देह है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि न्यून से न्यून शौनकीया, गालवीया, आपिशली, कौशिकीया, और पाणिनीया ये पांच शिक्षाएं उस समय अवश्य विद्यमान थीं।

शिक्षा के व्याख्यान ग्रन्थ—शिक्षा पद गणपाठ ४।३।७३ में पढ़ा है, वहां "*तस्य व्याख्यानः*" का प्रकरण होने से स्पष्ट है कि पाणिनि के

१. देखो सूचीपत्र भाग, २, सन् १९२८, परिशिष्ट पृष्ठ २।

२. क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः।

३. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्।

४. वा सुप्यापिशलेः।

५. यो जानाति भरद्वाजशिक्षाम्...। पृष्ठ० ६६।

समय शिक्षा पर व्याख्यान ग्रन्थ भी रचे जा चुके थे। आपिशलशिक्षा के वृत्तिकार नामक षष्ठ प्रकरण का प्रथम सूत्र है—**वृत्तिकाराः पठन्ति—अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वात्**……। यहां वृत्तिकार पद से या तो व्याकरण के व्याख्याकारों का निर्देश है या शिक्षा के। हमारा विचार है यहां वृत्तिकार पद से शिक्षा के व्याख्याकार अभिप्रेत हैं। ऐसा ही एक प्रयोग भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में मिलता है—**बहुधा शिक्षासूत्रकारभाष्यकारमतानि दृश्यन्ते।**[1] इस पर टीकाकार-वृषभदेव लिखता है—**शिक्षाकारमतस्योक्तत्वात् शिक्षाणामेव ये भाष्यकारास्ते गृह्यन्ते।**[2] पाणिनीयशिक्षा-सूत्रों के षष्ठ प्रकरण का नाम भी वृत्तिकार ही है। इन उद्धरणों से व्यक्त है कि पाणिनि के समय शिक्षा पर अनेक वृत्तियां बन चुकी थीं।

८—व्याकरण— अष्टाध्यायी के अवलोकन से विदित होता है कि पाणिनि के काल में व्याकरणशास्त्र का वाङ्मय अत्यन्त विशाल था। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में दश प्राचीन वैयाकरणों का नामोल्लेख-पूर्वक स्मरण किया है। वे दश आचार्य ये हैं—**आपिशलि** (६।१।९२) **काश्यप** (१।२।२५), **गार्ग्य** (७।३।२०), **गालव** (७ । १ । ७४), **चाक्रवर्मण** (६।१।१३०) **भारद्वाज** (७।२।६३) **शाकटायन** (३।४।१११) **शाकल्य** (१।१।१६), **सेनक** (५।४।११२), **स्फोटायन** (६।१।१२३)। इन का वर्णन हम इस ग्रन्थ के चौथे अध्याय में कर चुके हैं। इन के अतिरिक्त "**आचार्याणाम्** (७।३।४९), **उदीचाम्** (४।१।१५३), **एकेषाम्** (८।३।१०४), **प्राचाम्** (४।१।१७) पदों द्वारा अनेक प्राचीन वैयाकरणों का निर्देश किया है। कात्यायन ने "**चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः**"[3] वार्त्तिक में पौष्करसादि आचार्य का मत उद्धृत किया है। पौष्करसादि के पिता पुष्करसत् का उल्लेख गणपाठ २।४।६३।। ४।१।९६।। ७।३। २० में तीन स्थानों पर मिलता है। पौष्करसादि पद भी तौल्वल्यादि गण में पढ़ा है। "**न तौल्वलिभ्यः**"[4] सूत्र से युव प्रत्यय के लोप का निषेध किया है। इससे व्यक्त है कि पाणिनि पौष्करसादि के पुत्र पौष्करसारयन से भी परिचित था। अतः पौष्करसादि आचार्य पाणिनि से निश्चय ही पूर्ववर्ती है। वृत्तिकार जयादित्य ने ४।३।११५ में काशकृत्स्न व्याकरण

१. पृष्ठ १०४ लाहौर संस्क०। २. वही पृष्ठ १०५।
३. महाभाष्य ८।४।४८ ।। ४. अष्टा० २।४।६१ ।।

का उल्लेख किया है।[१] पतञ्जलि ने "काशकृत्स्नी मीमांसा" का उल्लेख महाभाष्य में कई स्थानों पर किया है।[२] काशकृत्स्न के पिता कशकृत्स्न का नाम उपकादिगण[३] तथा काशकृत्स्न का नाम अर्हिणादिगण[४] में मिलता है। काशिकाकार ने ४।२।६५ में काशकृत्स्न व्याकरण का परिमाण तीन अध्याय लिखा है।[५] यही परिमाण जैन शाकटायन व्याकरण की अमोघा वृत्ति में दर्शाया है।[६] काशिका ४।२।६५ में दश अध्यायात्मक वैयाघ्रपदीय व्याकरण का उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, चारायण, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनकि, गौतम और व्याडि के व्याकरण पाणिनि से प्राचीन हैं। इन सब वैयाकरणों के विषय में हमने इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में विस्तार से लिखा है।

प्रातिशाख्य—प्रातिशाख्य वैदिक चरणों के व्याकरण ग्रन्थ हैं। प्राचीन काल में इनकी संख्या बहुत थी। इस समय ये प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं—शौनककृत ऋक्प्रातिशाख्य, कात्यायनविरचित शुक्लयजुः प्रातिशाख्य, कृष्णयजुः के तैत्तिरीय और मैत्रायणी प्रातिशाख्य, सामवेद का पुष्पसूत्र, और शौनकप्रोक्त अथर्व प्रातिशाख्य। मैत्रायणी प्रातिशाख्य इस समय हस्तलिखित ही प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद का आश्वलायन और बाष्कल प्रातिशाख्य तथा कृष्णयजुः का चारायणीय प्रातिशाख्य प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत हैं।[७] इन में से कौनसा प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन है और कौनसा अर्वाचीन यह कहना कठिन है। परन्तु शौनकीय और बाष्कलीय ऋक्प्रातिशाख्य निश्चय ही पाणिनि से पौर्वकालिक हैं। पाणिनीय गणपाठ ४।२।६२ में एक पद "छन्दोभाषा" पढ़ा है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २४।५ के माहिषेयभाष्य में उसका अर्थ प्रातिशाख्य किया है। विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य की वर्गद्वय-वृत्ति में छन्दोभाषा का अर्थ वैदिकभाषा किया है।

---

१. काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्। २. महाभाष्य ४।१।१४, ६३॥ ४।३।१५५॥ ३. अष्टा० २।४।६९॥ ४. अष्टा० ४।२।६५॥ ५. त्रिकाः काशकृत्स्नाः। काशिका ५।१।५८ में त्रिकं काशकृत्स्नम्। ६. त्रिकं काशकृत्स्नीयम्। ३।२।१६१॥

७. पूर्व पृष्ठ ५१। बाष्कल प्रातिशाख्य का उल्लेख शाङ्खायन श्रौत १२।१३।५ के आनर्तीयभाष्य में मिलता है। यह प्रमाण हमें पृष्ठ ५१ के मुद्रित होने के पश्चात् उपलब्ध हुआ, अत एव इसका वहां उल्लेख नहीं है।

९—निरुक्त—दुर्गाचार्य (विक्रम ६०० से पूर्व) ने अपनी निरुक्तवृत्ति में लिखा है—"निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्"[1] अर्थात् निरुक्त १४ प्रकार का है। यास्क ने अपने निरुक्त में १२,१३ प्राचीन नैरुक्त आचार्यों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने किसी विशेष निरुक्त या नैरुक्त आचार्य का उल्लेख नहीं किया। गणपाठ ४।२।६० में केवल "निरुक्त" पद का निर्देश मिलता है। "यास्कः, यास्कौ, यस्काः" पदों की सिद्धि के लिये पाणिनि ने "यस्कादिभ्यो गोत्रे"[2] सूत्र की रचना की है। यास्कीय निरुक्त में उद्धृत नैरुक्ताचार्यों के अनेक नाम पाणिनीय गणपाठ में मिलते हैं। यास्कीय निरुक्त में निर्दिष्ट गार्ग्य, गालव और शाकटायन के व्याकरणसंबन्धी नियम पाणिनि ने नामोल्लेखपूर्वक उद्धृत किये हैं। पतञ्जलि के काल में निरुक्त व्याख्यातव्य ग्रन्थ माना जाता था। महाभाष्य में लिखा है—निरुक्तं व्याख्यायते, व्याकरणं व्याख्यायते इत्युच्यते।[3] यास्क और उससे प्राचीन नैरुक्ताचार्यों के विषय में श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड२ अर्थात् वेदों के भाष्यकार ग्रन्थ देखना चाहिये।

१०—छन्दःशास्त्र—पाणिनि ने किसी विशेष छन्दःशास्त्र का नामोल्लेख अपने व्याकरण में नहीं किया, परन्तु गणपाठ ४।३।७३ में छन्दःशास्त्र के "छन्दोविजिनी, छन्दोविचिती, छन्दोमान, छन्दोभाषा" ये चार पर्याय पढ़े हैं। इनमें प्रथम तीन छन्दःशास्त्र के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। छन्दोभाषा पद किन्हीं के मत में प्रातिशाख्य का वाचक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] महाभाष्य १।२।३२ में छन्दःशास्त्र पद भी प्रातिशाख्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।[5]

गणपाठ ४।३।७३ में निर्दिष्ट नामों से विविध प्रकार के छन्दःशास्त्रों और उनके व्याख्यानग्रन्थों ("तस्य व्याख्यानः" का प्रकरण होने से) का सद्भाव विस्पष्ट है। अष्टाध्यायी के "छन्दोनाम्नि च"[1] सूत्र से छन्दोवाचक "विष्टार" शब्द की सिद्धि दर्शाई है। यह वैदिक छन्द है।

---

१. पृष्ठ ७४, आनन्दाश्रम पूना संस्क०।

२. अष्टा० २।४।६३॥ ३. ४।३।६६॥ ४. पूर्व पृष्ठ १२८।

५. व्याकरणनामेयमुत्तरा विद्या। सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीता उपलभ्याधिगन्तुमुत्सहते। नागेश—छन्दःशास्त्रेषु प्रातिशाख्यशिक्षादिषु।

छन्दों के विविध प्रकार के "प्रगाथ" संज्ञक समूहों के वाचक पदों की प्रसिद्धि के लिये पाणिनि ने "सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु"[1] सूत्र रचा है। प्रसिद्ध छन्दःशास्त्रकार पिङ्गल पाणिनि का अनुज था, यह हम पाणिनि के प्रकरण में लिख चुके हैं।[2] पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र में "क्रौष्टुकि (३।२९), यास्क (३।३०), ताण्डी (३।३६), सैतव (५।१८॥ ७।१०), काश्यप (७।९), रात (७।१३) माण्डव्य (७।३४)" नामक सात छन्दःसूत्रकारों के मत उद्धृत किये हैं। रात और माण्डव्य के मत भट्ट उत्पल ने बृहत्संहिता की विवृत्ति (पृष्ठ १२४८) में दिये हैं। सैतव का मत वृत्तरत्नाकर के दूसरे अध्याय में उद्धृत है। इस प्रकार पाणिनि के काल में ७ प्राचीन और १ पिङ्गलकृत = ८ छन्दःशास्त्र अवश्य विद्यमान थे।

११—ज्योतिष—पाणिनि ने उक्थादिगण[3] में एक गणसूत्र पढ़ा है—द्विपदी ज्योतिषि। इस में किसी ज्योतिश्शास्त्रसंबन्धिनी 'द्विपदी' दो पादवाली पुस्तिका का उल्लेख है। ज्योतिश्शास्त्र से संबन्ध रखने वाले "उत्पात, संवत्सर, मुहूर्त" संबन्धी ग्रन्थों का निर्देश गणपाठ ४।३।७३ में मिलता है। नक्षत्रों का वर्णन पाणिनि ने तीन प्रकरणों (४।२।३–५; २१, २२॥ ४।३।३४–३७) में किया है। इन प्रकरणों से विस्पष्ट है कि पाणिनि के काल में ज्योतिश्शास्त्र की उन्नति पराकाष्ठा पर थी।

१२—सूत्रग्रन्थ—पाणिनि के समय अनेक विषयों के सूत्र विद्यमान थे। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द आदि विषय के सूत्रग्रन्थों का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। उन से अतिरिक्त जिन सूत्रग्रन्थों का निर्देश पाणिनीय शब्दानुशासन में मिलता है वे इस प्रकार हैं—

भिक्षुसूत्र—पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।११०, १११ में पाराशर्य और कर्मन्द प्रोक्त भिक्षुसूत्रों का उल्लेख किया है।[4] भिक्षुसूत्र से यहां किस प्रकार के ग्रन्थों का ग्रहण अभिप्रेत है यह अज्ञात है। कई विद्वान् भिक्षुसूत्र का अर्थ वेदान्तविषयक सूत्र करते हैं, अन्य इस सांख्यशास्त्र के प्राचीन सूत्र मानते हैं। सांख्याचार्य पञ्चशिख आदि के लिये भिक्षु पद का व्यवहार देखा जाता है। हमारा विचार है यहां भिक्षुसूत्र से उन

---

१. अष्टा० ४।३।५५॥ २. पूर्व पृष्ठ १३२। ३. अष्टा० २।४।६०॥

४. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः, कर्मन्दकृशाश्वादिनिः।

ग्रन्थों का ग्रहण होना चाहिये जिनमें भिक्षुओं के रहन सहन व्यवहार आदि के नियमों का विधान हो। सम्भव है इन्हीं प्राचीन भिक्षुसूत्रों के आधार पर बौद्ध भिक्षुओं के नियम बने हों। भिक्षुओं की जीविका-साधन "भिक्षा" पर लिखे गये ग्रन्थ का संकेत अष्टाध्यायी ४।३।७७ के अगयनादि गण में मिलता है ।

नटसूत्र—अष्टाध्यायी ४।३।११०, १११ में शिलालि और कृशाश्व प्रोक्त नट-सूत्रों का निर्देश उपलब्ध होता है।[1] काशिका के अनुसार नटसंबन्धी किसी आगम का उल्लेख अष्टाध्यायी ४।३।११९ में मिलता है। ये नटसूत्र सम्भवतः भरतनाट्यशास्त्र जैसे नाट्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ रहे होंगे।

१३—इतिहास पुराण—पाणिनि ने प्रोक्ताधिकार के प्रकरण में इन का निर्देश नहीं किया। भोजदेवविरचित सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण ४। ३। २२९ की हृदयहारिणी टीका में "कल्पे" का प्रत्युदाहरण "काश्यपीया पुराणसंहिता" दिया है। पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट काश्यपप्रोक्त कल्प और व्याकरण का निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं।

इतिहासान्तर्गत महाभारत का साक्षात् उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी ६।२।३८ में किया है।[2] इस से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व व्यास की भारत संहिता महाभारत का रूप धारण कर चुकी थी।

महाभारत से ज्ञात होता है कि उस समय इतिहास पुराण के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। सम्प्रति उपलभ्यमान पुराण तो आधुनिक हैं, परन्तु इन की प्राचीन ऐतिह्यसंबन्धी सामग्री अवश्य प्राचीन पुराणों और इतिहासग्रन्थों से संकलित की गई है। पाणिनि के "कृत" प्रकरण से कुछ प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों का ज्ञान होता है उन का उल्लेख हम अगले प्रकरण में करेंगे।

१४—श्लोक काव्य—महाभाष्य ४। २। ६५ में तित्तिरिप्रोक्त श्लोकों का उल्लेख मिलता है—तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोका इति। तित्तिरि

---

१. पृष्ठ १८, टि० ४। २. महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभार-भारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु।

वैशम्पायन का ज्येष्ठ भ्राता और उसका शिष्य था।[1] इस का दूसरा नाम चरक था। इसी चरक द्वारा प्रोक्त चारक श्लोकों का निर्देश काशिकावृत्ति ४।३।१०७ तथा अभिनव शाकटायन व्याकरण की चिन्तामणिवृत्ति ३।१।१७१ में मिलता है। सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में उखप्रोक्त औखीय श्लोकों का उल्लेख किया है।[2] पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।१०२ में तित्तिरि और उख का साक्षात् निर्देश किया है।[3] चरक का उल्लेख अष्टाध्यायी ४।३।१०७ में मिलता है।[4] सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२२७ की हृदयहारिणी टीका में पिप्पलादप्रोक्त श्लोकों का उल्लेख है।

१५—आयुर्वेद—पाणिनि ने आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ का साक्षात् निर्देश नहीं किया, परन्तु गणपाठ ४।२।६० तथा ४।४।१०२ में आयुर्वेद पद पढ़ा है। आयुर्वेद के कौमारभृत्य तन्त्र की एकमात्र उपलब्ध काश्यपसंहिता के प्रवक्ता भगवान् काश्यप के कल्पसूत्र का उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।१०३ में किया है[5] और व्याकरण का अष्टाध्यायी १ २।२५ में। शल्यतन्त्र की सुश्रुत संहिता पाणिनि से प्राचीन है। काशिका ६।२।६१ के "भार्यासौश्रुताः" उदाहरण में सुश्रुतापत्यों का उल्लेख है। चरक की मूल अग्निवेश संहिता के प्रवक्ता अग्निवेश का नाम गर्गादिगण[6] में पढ़ा है। रसतन्त्र-प्रणेता आचार्य व्याडि[7] स्वयं पाणिनि का संबन्धी है। अनेक विद्वान् इसे पाणिनि के मामा का पुत्र = ममेरा भाई मानते हैं, परन्तु हमारा विचार है यह पाणिनि का मामा था[8], यह हम पूर्व विस्तार से लिख चुके हैं।

१६, १७—पदपाठ क्रमपाठ—पाणिनि ने उक्थादिगण[9] में तीन पद एक साथ पढ़े हैं—संहिता, पद, क्रम। इस साहचर्य से विदित होता है यहां पठित 'पद' और 'क्रम' शब्द निश्चय ही वेद के पदपाठ और क्रमपाठ के वाचक हैं। ऋग्वेद के शाकल्य-प्रोक्त पदपाठ के कुछ विशेष नियमों का निर्देश पाणिनि ने "**सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उञः ऊँ**"[10] सूत्रों

---

१. श्री. पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ १७५। २. काशी संस्क० पृष्ठ ५९। ३. तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण्। ४. कठचरकाल्लुक्। ५. पूर्व पृष्ठ १०१। ६. अष्टा० ४।१।१०५॥ ७. देखो संग्रहकार व्याडि नामक अगला अध्याय ८. पूर्व पृष्ठ १३१ ९. अष्टा० ४।२।६०॥ १०. अष्टा० १।१।१६, १७॥

में किया है। शाकल्य के पदपाठ की एक भूल यास्क ने अपने निरुक्त में दर्शाई है।[1] पतञ्जलि ने महाभाष्य १।४।८४ में शाकल्यकृत [पद] संहिता का निर्देश किया है।[2]

महाभारत शान्तिपर्व ३४२।१०३, १०४ से ज्ञात होता है कि आचार्य गालव ने वेद का सर्वप्रथम क्रमपाठ रचा था।[3] ऋक्प्रातिशाख्य ११।६५ में इसे बाभ्रव्य पाञ्चाल के नाम से स्मरण किया है।[4] वात्स्यायन कामसूत्र १।१।१० में इसे कामशास्त्र-प्रणेता कहा है।[5] गालव-प्रोक्त शिक्षा[6] व्याकरण[7] और निरुक्त[8] का निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं।

१८—२१—वास्तुविद्या, अङ्गविद्या, क्षत्रविद्या, उत्पाद (उत्पत्ति) विद्याओं के व्याख्यान ग्रन्थों का ज्ञान गणपाठ ४।३।७३ से होता है।

२२-२६—सर्पविद्या, वायसविद्या, धर्मविद्या, गोलक्षण, अश्वलक्षण—महाभाष्य ४।२।६० में सर्पविद्या, वायसविद्या, धर्मविद्या, गोलक्षण और अश्वलक्षण के अध्येता और वेत्ताओं का उल्लेख है। अतः उस समय इन विद्याओं के ग्रन्थ अवश्य विद्यमान रहे होंगे।

३—उपज्ञात

उपज्ञात वह कहाता है जो ग्रन्थकार की अपनी सूझ हो। काशिका आदि वृत्तिग्रन्थों में "उपज्ञाते"[9] के निम्न उदाहरण दिये हैं—

पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्। काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्। आपिशलं पुष्करणम्।

काशिका ६।२।१४ में—"आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्, व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्" उदाहरण दिये हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरण (४।३।२४४, २५४) की हृदयहारिणी वृत्ति में—"चान्द्रमसंज्ञकं व्याकरणम्, काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलमान्तःकरणम्" पाठ मिलता है।

---

१. वाय:-वा इति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः। ६।२८॥ २. शाकल्येन सुकृतां संहितामनु निशम्य देवः प्रावर्षत्। ३. पूर्व पृष्ठ १०७, टि० ५। ४. पूर्व पृष्ठ ११० टि० ६॥ ५. पूर्व पृष्ठ ११० टि० १। ६. पूर्व पृष्ठ ११०। ७. पूर्व पृष्ठ १०८। ८. पूर्व पृष्ठ ११०। ९. अष्टा० ४।३।११५॥

इन उदाहरणों में पाणिनि, काशकृत्स्न, आपिशलि, व्याडि और चन्द्रगोमी के व्याकरणों का उल्लेख है। चन्द्रोपज्ञ व्याकरण पाणिनि से अर्वाचीन है। उपर्युक्त उदाहरणों की पारस्परिक तुलना से व्यक्त है कि इन का पाठ अशुद्ध है। पाणिनि के विषय में सब का मत एक जैसा है। इस से स्पष्ट है कि पाणिनि ने सब से पूर्व स्वमति से कालाधिकाररहित व्याकरण रचा। इन व्याकरणों में अकालकत्व आदि अंश ही पाणिनि आदि के स्वोपज्ञ अंश हैं।

इन व्याकरणों के अतिरिक्त और भी बहुत से उपज्ञात ग्रन्थ पाणिनि के काल में विद्यमान रहे होंगे।

४—कृत

कृत ग्रन्थों का उल्लेख पाणिनि ने दो स्थानों पर किया है—"अधिकृत्य कृते ग्रन्थे"[१] और "कृते ग्रन्थे"[२]। प्रथम सूत्र के उदाहरण काशिकाकार ने "सौभद्रः, गौरिमित्रः, यायातः," दिये हैं। इनका अर्थ है–सुभद्रा गोरिमित्र और ययाति के विषय में लिखा गया ग्रन्थ। महाभाष्यकार ने 'यवक्रीत, प्रियङ्गु' और 'ययाति' के विषय में लिखे गये "यावक्रीत प्रैयङ्गव यायातिक" आख्यानग्रन्थों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने "शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः"[३] में शिशुक्रन्द = बच्चों का रोना, यमसभा, द्वन्द्वसमास = अग्निकाश्यप, श्येनकपोत और इन्द्रजनन = इन्द्र की उत्पत्ति तथा आदि शब्द से प्रद्युम्नागमन आदि विषयों के ग्रन्थों का निर्देश किया है। वार्तिककार ने "लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्"[४] और "देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः"[५] वार्तिकों से अनेक कृत ग्रन्थों की ओर संकेत किया है। पतञ्जलि ने प्रथम वार्तिक के उदाहरण "वासवदत्ता, सुमनोत्तरा" और प्रत्युदाहरण "भैमरथी" तथा द्वितीय वार्तिक के उदाहरण "दैवासुरम्, राक्षोसुरम्" दिये हैं।

श्लोक, काव्य—काशिकाकार ने "कृते ग्रन्थे"[६] सूत्र के उदाहरण "वाररुचाः श्लोकाः, हैकुपादो ग्रन्थः, भैकुराटो ग्रन्थः, जालूकः" दिये हैं। इन में कौनसा ग्रन्थ पाणिनि से प्राचीन है यह अज्ञात है। वररुचिकृत श्लोक निश्चय ही पाणिनि से अर्वाचीन हैं। यह वररुचि

१. अष्टा० ४।३।८७॥ २. अष्टा० ४।३।११६॥ ३. अष्टा० ४।३।८८॥
४. महाभाष्य ४।३।८८ ५. महाभाष्य ४।३।८८ ६. अष्टा० ४।३।११६॥

वार्तिककार कात्यायन है। पतञ्जलि ने महाभाष्य ४।३।१०१ में "वाररुच काव्य" का निर्देश किया है। जैन शाकटायन की लघुवृत्ति ३।१।१८६ में "वाररुचानि वाक्यानि" पाठ छपा है, यह पाठ अशुद्ध है। यहां शुद्ध पाठ "वाररुचानि काव्यानि" होना चाहिये। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर का निम्न श्लोक उद्धृत है—

यथार्थतां कथं नाम्नि माभूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

कृष्णचरित की प्रस्तावनान्तर्गत मुनिकविवर्णन में लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि पूर्वोद्धृत राजशेखरीय श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठ अशुद्ध है। वहां "सदारोहणप्रियः" के स्थान में स्वर्गारोहणप्रियः" पाठ होना चाहिये।

महाभाष्य के प्रथमाह्निक में पतञ्जलि ने भ्राजसंज्ञक श्लोकों का उल्लेख किया है और तदन्तर्गत निम्न श्लोक वहां पढ़ा है—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥

कैयट आदि टीकाकारों के मतानुसार भ्राजसंज्ञक श्लोक कात्यायन विरचित हैं।

पाणिनि ने स्वयं "जाम्बवतीविजय" नामक एक महाकाव्य रचा था। इसका दूसरा नाम "पातालविजय" है। इस महाकाव्य में न्यूनातिन्यून १८ सर्ग थे। पाश्चात्य तथा तदनुगामी भारतीय विद्वान् जाम्बवतीविजय को सूत्रकार पाणिनि विरचित नहीं मानते, परन्तु यह ठीक नहीं हैं। भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार यह काव्य व्याकरणप्रवक्ता महामुनि पाणिनिविरचित ही है। इस काव्य के विषय में हम पूर्व पाणिनि के प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।[1]

महाभारत जैसे बृहत्काव्य का साक्षात् निर्देश पाणिनि ने ६।२।३८ में किया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2]

१. पूर्व पृष्ठ १६१। २. पूर्व पृष्ठ १८५ टि० २।

ऋतुग्रन्थ—पाणिनि ने "वसन्तादिभ्यष्ठक्"[1] सूत्र में वसन्त आदि ऋतुओं पर लिखे गये ग्रन्थों के पठन-पाठन का उल्लेख किया है। वसन्तादि गण में "वसन्त, वर्षा, हेमन्त, शरद्, शिशिर" का पाठ है। इस से स्पष्ट है कि इन सब ऋतुओं पर ग्रन्थ लिखे गये थे। सम्भव है ये काव्य-ग्रन्थ हों। कालिदासविरचित ऋतुसंहार इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों के अनुकरण पर लिखा गया होगा।

अनुक्रमणी-ग्रन्थ—अष्टाध्यायी के "सास्य देवता" प्रकरण[2] से विदित होता है कि उस समय वैदिक मन्त्रों के देवतानिर्देशक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। शौनक-कृत ऋग्वेद की ऋषि, देवता आदि की १० अनुक्रमणियां निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं। शौनक के शिष्य आश्वलायन और कात्यायन ने ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणियां रची हैं। आश्वलायन सर्वानुक्रमणी इस समय प्राप्त नहीं है, परन्तु अथर्ववेद की सर्वानुक्रमणी में वह उद्धृत है।[3] यजुर्वेद की एक सर्वानुक्रमणी भी कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु वह अर्वाचीन अप्रामाणिक ग्रन्थ है।[4]

संग्रह—दाक्षायण की प्रसिद्ध कृति संग्रहग्रन्थ पाणिनि का समकालिक है। दाक्षायण का ही दूसरा नाम व्याडि है। दाक्षायण पाणिनि का संबन्धी है, यह पतञ्जलि के "दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः"[5] वचन से स्पष्ट है। ऐतिहासिक विद्वान् दाक्षायण को पाणिनि के मामा का पुत्र (ममेरा-भाई) मानते हैं, परन्तु हमारा विचार है कि दाक्षायण पाणिनि का मामा है। यह हम पाणिनि के प्रकरण में लिख चुके हैं।[6] संग्रह का नाम गणपाठ ४।२।६० में उपलब्ध होता है। कैयट आदि वैयाकरणों के मतानुसार संग्रह ग्रन्थ का परिमाण एकलक्ष श्लोक था। महावैयाकरण भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्य-दीपिका में लिखा है कि संग्रह में १४ सहस्र पदार्थों की परीक्षा है। भर्तृहरि के शब्द इस प्रकार है—"**चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)**।[7]

---

१. अष्टा० ४।२।६१॥ २. अष्टा० ४।२।२४–३५॥

३. ऋषिदैवतछन्दांस्याश्वलायनानुक्रमानुसारेणानुक्रमिष्यामः। पृष्ठ १७८।

४. 'दयानन्द सन्देश' मार्च सन् १९३९, पृष्ठ ३०। तथा वैदिकनिबन्धमाला। मेरा यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होगा। ५. महाभाष्य १।१।२०॥

६. पूर्व पृष्ठ १३१। ७. हमारा हस्तलेख पृष्ठ २६।

इतिहास, पुराण, आख्यान, आख्यायिका और कथा ग्रन्थों का पाणिनीय अष्टाध्यायी में साक्षात् उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु पूर्वनिर्दिष्ट "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे"[1] सूत्र तथा "लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्"[2] "देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः"[3] और "आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च"[4] वार्तिकों में इन विषयों के अनेक ग्रन्थों की ओर संकेत विद्यमान है। काश्यपप्रोक्त पुराणसंहिता का निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं।[5] "कथादिभ्यष्ठक्"[6] सूत्र में कथासंबन्धी ग्रन्थों की ओर संकेत है। उसके अनुसार कथा में चतुर के लिये "काथिक" शब्द का व्यवहार होता है। जैन कथाएं प्रायः इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों के अनुकरण पर रची गई हैं।

५—व्याख्यान

पाणिनि की अष्टाध्यायी ४।३।६६–७३ में "तस्य व्याख्यानः" का प्रकरण है। इस प्रकरण में अनेक व्याख्यानग्रन्थों का निर्देश है। हम काशिकावृत्ति में दिए गए उदाहरण नीचे उद्धृत करते हैं—

सूत्र ४।३।६६,६७—सौपः, तैङः, षात्वणत्विकम्, नातानतिकम्।

सूत्र ४।३।६८—आग्निष्टोमिकः, वाजपेयिकः, राजसूयिकः, पाकयज्ञिकः, नावयज्ञिकः, पाञ्चौदनिकः, दाशौदनिकः।

सूत्र ४।३।७०—पौरोडाशिकः, पुरोडाशिकः।

सूत्र ४।३।७१—ऐष्टिकः, पाशुकः, चातुर्होमिकः, पाञ्चहोतृकः, ब्राह्मणिकः, आर्चिकः (ब्राह्मण और ऋचाओं के व्याख्यान), प्राथमिकः, आध्वरिकः, पौरश्चरणिकः।

सूत्र ४।३।७३ में—ऋगयनादि गण पढ़ा है, उस में निम्न शब्द हैं, जिन से व्याख्यान अर्थ में प्रत्यय होता है—

ऋगयन, पदव्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय, पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, अङ्गविद्या, क्षत्रविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषद्, शिक्षा।

इस गण से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में इन विषयों के व्याख्यान ग्रन्थ अवश्य विद्यमान थे।

---

१. अष्टा० ४।३।८७।
२. महाभाष्य ४।३।८७॥
३. महाभाष्य ४।३।८७॥
४. महाभाष्य ४।२।६०॥
५. पूर्व पृष्ठ ११०।
६. अष्टा० ४।४।१०२॥

हमने इस लेख में पाणिनीय शब्दानुशासन के आधार पर जितने ग्रन्थों के नाम संकलित किए हैं, वे उस उस विषय के उदाहरणमात्र हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे ग्रन्थ भी उस समय विद्यमान रहे होंगे जिन का पाणिनीय शब्दानुशासन में उल्लेख नहीं है। इतने से अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनि के समय में संस्कृत का वाङ्मय कितना विशाल था।

प्रो० बलदेव उपाध्याय की भूलें

प्रो० बलदेव उपाध्याय एम. ए. हिन्दू विश्वविद्यालय काशी का इसी विषय का एक लेख "प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ" के पृष्ठ ३७२—३७६ तक छपा है, उस में अनेक भूलें हैं। उन में से कतिपय भूलों का दिग्दर्शन हम नीचे कराते हैं—

१—पृष्ठ ३७४ में लिखा है-"पाणिनि ने ग्रन्थ अर्थ में उपनिषद् शब्द का व्यवहार नहीं किया।"

उपनिषद् शब्द ग्रन्थविशेष के अर्थ में "ऋगयनादिभ्यश्च"[1] सूत्र के ऋगयनादि गण में पढ़ा है। वहां "तस्य व्याख्यानः" का प्रकरण होने से पाणिनि ने न केवल उपनिषद् का उल्लेख किया है, अपितु उनके व्याख्यान = टीकाग्रन्थों का भी निर्देश किया है।

२—पृष्ठ ३७५ में लिखा है—"पाणिनि के फुफेरे भाई संग्रहकार व्याडि……।"

महाभाष्य १।४।२० में पाणिनि को "दाक्षीपुत्र" कहा है अतः दाक्षायण अर्थात् व्याडि पाणिनि के मामा का पुत्र (ममेरा) हो सकता है न कि फुफेरा। वस्तुतः दाक्षायण व्याडि पाणिनि का मामा था यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

३—पृष्ठ ३७६ में लिखा है—"इन में ऋक्प्रातिशाख्य का रचयिता शाकल्य का नाम अतिप्रसिद्ध है।"

उपलब्ध ऋक्प्रातिशाख्य का रचयिता शाकल्य नहीं है, अपितु आचार्य शौनक है। शाकल्य प्रातिशाख्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में वर्णित भी नहीं है।

४-पृष्ठ ३७६ में—"सुनाग" को "शौनग" लिखा है।

---

१. अष्टा० ४।३।७३॥

५–पृष्ठ ३७६ में लिखा है—"पतञ्जलि ने ...कुणि का उल्लेख किया है।"

महाभाष्य में कुणि का नाम कहीं नहीं मिलता। हां, महाभाष्य १।१। ७५ के "एङ् प्राचां देशे शैषिकेषु" वार्त्तिक पर कैयट ने लिखा है— "भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमाशिश्रियत्।" अर्थात् भाष्यकार ने कुणि के मत का आश्रयण किया है।

६–पृष्ठ ३७६ में लिखा है—"४।२।६५ के ऊपर काशिका वृत्ति से व्याघ्रपद और काशकृत्स्न नामक व्याकरण के आचार्यों का पता चलता है।"

काशिका ४।२।६५ में उदाहरण है "दशका वैयाघ्रपदीयाः।" इस में वर्णित वैयाघ्रपदीय व्याकरण के प्रवक्ता का नाम "वैयाघ्रपद्य" था, व्याघ्रपद नहीं। व्याघ्रपद से प्रोक्त अर्थ में तद्धित प्रत्यय हो कर वैयाघ्रपदीय शब्द उपपन्न नहीं होता, व्याघ्रपदीय होगा।

प्रो० बलदेव उपाध्याय के लेख की कुछ भूलें हमने ऊपर दर्शाई हैं। इसी प्रकार की अनेक भूलें उनके लेख में विद्यमान हैं।

अगले अध्याय में हम संग्रहकार व्याडि का वर्णन करेंगे।

सातवां अध्याय

संग्रहकार व्याडि (२८०० वि० पूर्व)

आचार्य व्याडि अपर नाम दाक्षायण ने संग्रह नाम का एक ग्रन्थ रचा था।[1] वह पाणिनीय व्याकरण पर था, ऐसी पाणिनीय वैयाकरणों की धारणा है।[2] महाराज समुद्रगुप्त ने भी व्याडि को "दाक्षिपुत्रवचोव्याख्यापटुः" लिखा है।[3] संग्रहपद पाणिनीय गणपाठ ४।२।६० में उपलब्ध होता है। यदि वह प्रक्षिप्त न हो तो मानना होगा कि संग्रह पाणिनीय शब्दानुशासन पर नहीं था, अथवा सम्भव है संग्रह नाम के कई ग्रन्थ रहे हों। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में संग्रह का उल्लेख किया है,[4] और महाभाष्य २।३।६६ में संग्रह को दाक्षायण की कृति कहा है।[5]

परिचय

पर्याय—पुरुषोत्तम देव ने त्रिकाण्ड-शेष में व्याडि के विन्ध्यस्थ, नन्दिनीसुत और मेधावी तीन पर्याय लिखे हैं।

विन्ध्यस्थ—आचार्य हेमचन्द्र इस का पाठान्तर विन्ध्यवासी[6] और केशव विन्ध्यनिवासी[7] लिखता है।। अर्थ तीनों का एक है। एक विन्ध्यवासी सांख्याचार्य सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में बहुधा उद्धृत

---

१. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षसंख्यो ग्रन्थः। महाभाष्यप्रदीपोद्योत, निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ ५५। तथा इसी पृष्ठ की दूसरी टिप्पणी।

२. संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। महाभाष्यदीपिका भर्तृहरिकृत, हस्तलेख पृष्ठ ३०। इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्। पुण्यराजकृत वाक्यपदीयटीका काशी संस्क० पृष्ठ ३८३।

३. कृष्णचरित, मुनिकविवर्णन, श्लोक १६।

४. संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्।.......... संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे............। अ० १, पाद १, आ० १॥ ५. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः। ६. अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड ५१६, पृष्ठ ३४०। ७. शब्दकल्पद्रुम पृष्ठ ८३।

है।[1] किसी विन्ध्यवासी ने वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को वाद में पराजित किया था।[2] वह विन्ध्यवासी विक्रम का समकालिक था।[3]

नन्दिनीसुत—इस नाम का उल्लेख कोशग्रन्थों से अन्यत्र हमें नहीं मिला।

मेधावी—भामह अपने अलंकार शास्त्र २।४०,८८ में किसी अलंकार शास्त्र-प्रवक्ता मेधावी को उद्धृत करता है।

इन पर्यायों में व्याडि के प्रसिद्धतम दाक्षायण नाम का उल्लेख नहीं है। अतः प्रतीत होता है हेम, केशव और पुरुषोत्तमदेव के लिखे हुए पर्याय प्राचीन व्याडि के नहीं हैं। व्याडि नाम के कई व्यक्ति हुए हैं, यह हम अनुपद लिखेंगे।

व्याडि—वैयाकरण व्याडि आचार्य का उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य,[4] महाभाष्य,[5] काशिकावृत्ति[6] और भाषावृत्ति[7] आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

व्याडि पद का अर्थ—धातुवृत्तिकार सायण व्याडि पद का अर्थ इस प्रकार करता है—

अडो वृश्चिक लाङ्गूलम्, तेन च तैक्ष्ण्यं लक्ष्यते, विशिष्टोऽडस्तैक्ष्ण्यमस्य व्यडः, तस्यापत्यं व्याडिः। अत इञ्, स्वागतादीनां चेति वृद्धिप्रतिषेधैजागमयोर्निषेधः।[8]

अनेक व्याडि—व्याडि नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। प्राचीन व्याडि संग्रह ग्रन्थ का रचयिता है। इसका उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। एक व्याडि कोशकार है। इसके कोश

---

१. पृष्ठ पंक्ति—४; ७। १०८; ७, १०, ११, १२, १३। १४४; १२०। १४८; १०। २. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारत वर्ष का इतिहास, द्वि० संस्क०, पृष्ठ ३४२। ३. वही, पृष्ठ ३८२।

४. २।२३।२८॥ ६।४३॥१३।३१,३७॥ ५. आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः। ६।२।३६॥ द्रव्याभिधानं व्याडिः। १।२।६४॥ ६. पूर्व पृष्ठ १३।

७. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्। ८. धातुवृत्ति पृष्ठ ८२, काशी संस्क०। तुलना करो—काशिका ७।३।७॥ प्रक्रिया कौ० पूर्वार्ध पृष्ठ ६१४। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ३६॥

के अनेक उद्धरण कोशग्रन्थों की टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के निर्देशानुसार व्याडि के कोश में २४ बौद्ध जातकों के नाम मिलते हैं।[1] अतः यह महात्मा बुद्ध से उत्तरवर्ती है, यह स्पष्ट है। प्रसिद्ध मुसलमानयात्री अल्बेरूनी ने एक रसज्ञ व्याडि का उल्लेख किया है। वह विक्रम-समकालिक है।

दाक्षायण—इस नाम का उल्लेख महाभाष्य २।३।६६ में मिलता है।[2]

दाक्षि—वामन ने काशिका ६।२।६९ में इस नाम का उल्लेख किया है।[3] मत्स्य पुराण १९५।२१ में दाक्षि गोत्र का निर्देश उपलब्ध होता है।[4]

यद्यपि दाक्षि और दाक्षायण नामों में गोत्र और युव प्रत्यय के भेद से अर्थ की विभिन्नता प्रतीत होती है, तथापि पाणिन और पाणिनि, तथा काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि आदि के समान दोनों नाम एक व्यक्ति के हैं। इसकी पुष्टि काशिका ४।१।१७ के "तत्र भवान् दाक्षायणः दाक्षिर्वा" उदाहरण से होती है।

वंश—व्याडि नाम से इसके पिता का नाम व्यड प्रतीत होता है। माता का नाम अज्ञात है। दाक्षि और दाक्षायण नामों से इस वंश के मूल पुरुष का नाम 'दक्ष' विदित होता है। मत्स्य पुराण १९५।२५ में दाक्षि को अङ्गिरा वंश का कहा है। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के लेखानुसार व्याडि दाक्षायण का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था।[5]

स्वसा—पाणिनि ने क्रौड्यादि गण[6] में व्याडि का निर्देश किया है उसके अनुसार उसकी किसी भगिनी का नाम 'व्याड्या' प्रतीत होता है। इसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[7] दाक्षि और दाक्षायण के एक होने पर वह व्याडि की बहिन होगी और पाणिनि उसका भानजा।

आचार्य—विकृतवल्ली नाम का एक लक्षण ग्रन्थ व्याडि-विरचित माना जाता है। उसके आरम्भ में शौनक को नमस्कार किया है।[8] आर्ष ग्रन्थों

१. अभिधानचिन्तामणि, देवकाण्ड, श्लोक १४७ की टीका, पृष्ठ १००, १०१॥

२. पृष्ठ दि०४। ३. कुमारीदाक्षाः। ४. कपितरः स्वस्तितरो दाक्षिः शक्तिः पतञ्जलिः। ५. ब्राह्मणगोत्रप्रतिषेधादिह न भवति—दाक्षायण इति। न्यास २।४।५८ पृष्ठ ४७०। ६. अष्टा० ४।१।८०॥ ७ पूर्व पृष्ठ १३१।

८. नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वन्दे महामुनिम्।

में इस प्रकार नमस्कार की शैली उपलब्ध नहीं होती। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त होगा, या यह ग्रन्थ किसी अर्वाचीन व्याडि का होगा, या किसी ने व्याडि के नाम से इस ग्रन्थ की रचना की होगी। व्याडि शौनक का समकालिक है, शौनक ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि का उल्लेख किया है। अतः सम्भव हो सकता है कि व्याडि ने शौनक से विद्याध्ययन किया हो। प्राचीन आचार्य अपने ग्रन्थों में अपने शिष्य के मत उद्धृत करने में संकोच नहीं करते थे। कृष्ण द्वैपायन ने अपने शिष्य जैमिनि के अनेक मत अपने ब्रह्मसूत्र में उद्धृत किये हैं।[1]

देश—पुरुषोत्तमदेव आदि ने व्याडि का एक पर्याय विन्ध्यस्थ = विन्ध्यवासी = विन्ध्यनिवासी लिखा है। तदनुसार यह विन्ध्य पर्वत का निवासी था। काशिका २।४।६० में "प्राचामिति किम्—दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः" लिखा है। पाणिनि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश का रहने वाला था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2] अतः उसका सम्बन्धी दाक्षायण भी उसी के समीप का निवासी होगा। इस से भी प्रतीत होता है कि पुरुषोत्तमदेव के लिखे हुए व्याडि के पर्याय आर्षकालीन व्याडि के नहीं हैं। काशिका ४।१।१६० में दाक्षि को प्राग्देशीय लिखा है।[3] यह उस के पूर्वोक्त वचन से विरुद्ध है। हो सकता है दो दाक्षि रहे हों। अभिनवशाकटायन व्याकरण २।४।१७७ की चिन्तामणि वृत्ति में अंगबंग प्राग्देशवासियों के साथ दाक्षि पद पढ़ा है।[4]

दाक्षायण देश—दाक्षि या दाक्षायणों का कुल बहुत विस्तृत और समृद्ध था, वह कुल जहां बसा हुआ था, वह स्थान (देश) दाक्षक[5] और दाक्षायणभक्त[6] के नाम से प्रसिद्ध था। काशिका ४।२।१४२ में "दाक्षिपलद, दाक्षिनगर, दाक्षिग्राम,[7] दाक्षिह्रद, दाक्षिकन्था" संज्ञक ग्रामों का उल्लेख है। काशिका के अनुसार ये ग्राम वाहिक = सतलज

---

१. १।२।२८,३१॥ ३।२।४०॥ ३।४।८,४०॥ ४।३।१२॥

२. पूर्व पृष्ठ १३३। ३. क्वचिन्न भवत्येव—दाक्षिः। ४. अङ्गवङ्गदाक्षयः आङ्गवाङ्गदाक्षयः। ५. दाक्षि+अक, राजन्यादिभ्यो वुञ्। अष्टा० ४।२।५३॥

६. दाक्षि+भक्त, भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ। अष्टा० ४।२।५४॥

७. दाक्षिग्रामः········दाक्ष्यादयो निवसन्ति यस्मिन् ग्रामे स तेषामिति व्यपदिश्यते। काशिका ६।२।८४॥

और सिन्धु के मध्य थे ।[1] काशिका ६ । २ । ८६ में "दाक्षिघोष, दाक्षिकट, दाक्षिपल्वल, दाक्षिह्रद, दाक्षिबदरी, दाक्ष्यश्वत्थ, दाक्षिशाल्मली, दाक्षिपिङ्गल, दाक्षिपिशङ्ग, दाक्षिरक्त, दाक्षिशिल्पी, दाक्षिपुंस, दाक्षिकूट" का निर्देश मिलता है ।

व्याडिशाला—पाणिनि ने अष्टाध्यायी ६।२।८६ के छात्र्यादिगण में व्याडि पद का निर्देश किया है, तदनुसार शाला उत्तर पद होने पर "व्याडिशाला" पद आद्युदात्त होता है । यहां शालाशब्द पाठशाला का वाचक है, यह हम आपिशलिशाला के प्रकरण में लिख चुके हैं । इस से प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय में आचार्य व्याडि का विद्यालय अत्यन्त प्रसिद्ध होगया था ।

व्याडि का वर्णन

महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित की प्रस्तावनान्तर्गत मुनिकविवर्णन में लिखा है—

> रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः ।
> दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसाग्रणीः ॥ १६ ॥
> बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च ।
> महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव ॥ १७ ॥

इन श्लोकों से विदित होता है कि संग्रहकार व्याडि दाक्षीपुत्रवचन (अष्टाध्यायी) का व्याख्याता, रसाचार्य और श्रेष्ठ मीमांसक था । उसने बलरामचरित लिखकर व्यास और भारत को जीत लिया था, अर्थात् उसका बलचरित भारत से भी महान् था ।

रसाचार्य—कृष्णचरित के उपर्युक्त उद्धरण में व्याडि को रसाचार्य कहा है । वाग्भट्ट ने रसरत्नसमुच्चय के आरम्भ में प्राचीन रसाचार्यों में व्याडि का उल्लेख किया है ।[2] पार्वतीपुत्र नित्यनाथसिद्ध-विरचित रसरत्न के वादिखण्ड उपदेश १ श्लोक ६६-७० में २७ प्राचीन रसाचार्यों के नाम लिखे हैं,[3] उन में सब से प्रथम नाम "व्यालाचार्य" है । ड ल

---

१. पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः । वाहिका नाम ते देशाः.........। महाभारत कर्णपर्व, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १ । १ । ७५ में उद्धृत ।

२. इन्द्रदो गोमुखश्चैव कम्बलिर्व्याडिरेव च । १ । ३ ॥

३. रसरत्नसमुच्चाय में भी २७ रसाचार्यों का उल्लेख है ।

का अभेद होने से सम्भव है यहां शुद्धपाठ व्याड्याचार्य हो। रामराजा के रसरत्नप्रदीप में भी व्याडि का उल्लेख मिलता है। अत आचार्य व्याडि रस = पारद शास्त्र का विशिष्ट आचार्य था, यह निर्विवाद है।

नागार्जुन रसशास्त्र का उपज्ञाता नहीं — लोक में किंवदन्ती है कि औषध रूप में रस = पारद के व्यवहार का उपज्ञाता बौद्ध विद्वान् नागार्जुन है। वस्तुत: यह मिथ्या भ्रम है। रसचिकित्सा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी औद्भिजचिकित्सा। चरक और सुश्रुत मुख्यतया औद्भिज और शल्य चिकित्सा के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। इसलिये उन में रसचिकित्सा का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। अग्निवेश आदि रसचिकित्सा से परिचित नहीं थे, यह धारणा मिथ्या है। चरक चिकित्सास्थान अध्याय ७ में लिखा है—

श्रेष्ठं गन्धकसंयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद्वा।
सर्वव्याधिविनाशनमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम्।

चरक में इस के अतिरिक्त अन्य रसों का भी उल्लेख है। प्रो० दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी ने रसरत्नसमुच्चयटीका की भूमिका पृष्ठ २, ३ पर अन्य रसों का भी वर्णन दर्शाया है। कौटल्य अर्थशास्त्र अध्याय ३४ में सुवर्ण का एक भेद "रसविद्ध" = पारद निर्मित बताया है।

वस्तुतः प्राचीन काल में एक एक विषय पर ग्रन्थ लिखने की परिपाटी थी। प्राचीनग्रन्थकार स्वप्रतिपाद्यविषय से भिन्न विषय में हस्तक्षेप नहीं करते थे।[2] इसलिये चरक सुश्रुत में रसचिकित्सा का विधान नहीं है। सम्भव है व्याडि ने रसचिकित्सा पर कोई ग्रन्थ रचा हो।

मीमांसक व्याडि

कृष्णचरित में व्याडि को 'मीमांसकाग्रणी' लिखा है। अत: सम्भव है व्याडि ने मीमांसाशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा हो। जैमिनि आकृति को पदार्थ मानता है।[3] महाभाष्य १। २। ६४ में व्याडि को

---

१. कलायास्त्रिपुटः प्रोक्तः सतीलो वर्तुलो मतः। हरेणु कण्टका श्चेति व्याडिरिति भरतः। हिस्ट्री आफ दी इण्डियन मेडिशन, पृष्ठ ७५८, ७५९ उद्धृत।

२. तेषामभिव्यक्तिरभिप्रादिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च। पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः। चरक चिकित्सा० २६।१३०, १३१॥

३. आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्। मीमांसा १।३।३३।

द्रव्यपदार्थवादी लिखा है।[1] इससे स्पष्ट है कि व्याडि द्रव्यपदार्थवादी मीमांसक रहा होगा। महाभाष्य में काशकृत्स्निप्रोक्त मीमांसा का उल्लेख मिलता है।[2] वह द्रव्यपदार्थवादी था या आकृतिपदार्थवादी यह अज्ञात है।

काल

व्याडि का उल्लेख गृहपति शौनक ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य में अनेक स्थानों पर किया है।[3] गृहपति शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवचन भारतयुद्ध के लगभग २५० वर्ष पश्चात् महाराज अधिसीम कृष्ण के काल में किया था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] व्याडि अपर नाम दाक्षायण पाणिनि का मामा है, यह भी पूर्व लिखा जा चुका है।[5] अतः व्याडि का काल भारतयुद्ध पश्चात् २००-३०० वर्षों के मध्य है।

संग्रह का परिचय

महाभाष्य २।३।६६ में लिखा है—

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।

अर्थात् दाक्षायणविरचित संग्रह की कृति मनोहर है।

महाभाष्यकार जैसा विवेचनात्मक बुद्धि रखने वाला व्यक्ति जिस कृति को सुन्दर मानता हो, उसकी प्रामाणिकता और उत्कृष्टता में क्या सन्देह हो सकता है।

संग्रह ग्रन्थ का स्वरूप—संग्रह ग्रन्थ चिरकाल से लुप्त है। इसलिये इसका क्या स्वरूप था, यह हम नहीं कह सकते। इस के जो उद्धरण उपलब्ध हुए हैं, उनके अनुसार इसके विषय में लिखा जाता है।

संग्रह में ५ अध्याय—चान्द्र व्याकरण ४।१।६२ की वृत्ति में एक उदाहरण है—**पञ्चकः संग्रहः।** इस की **'अष्टकं पाणिनीयम्'** उदाहरण से तुलना करने पर विदित होता है कि संग्रह में पांच अध्याय थे।

संग्रह का परिमाण—वाक्यपदीय का टीकाकार पुण्यराज लिखता है—

---

१. द्रव्याभिधानं व्याडिः।

२. ४।१।१४, ६३॥४।३।१५५।

३. पूर्व पृष्ठ १०५ टि० ४।

४. पूर्वपृष्ठ १३१।

५. पूर्व पृष्ठ १३१।

इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थ-परिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत् ।[1]

नागेश भी संग्रह का परिमाण लक्ष श्लोक मानता है ।[2]

संग्रहसूत्र—महाभाष्य ४।२।६० में एक उदाहरण है—**सांग्रहसूत्रिकः** । इस से प्रतीत होता है कि संग्रहग्रन्थ सूत्रात्मक था ।

संग्रह दार्शनिक ग्रन्थ था—पतञ्जलि महाभाष्य के आरम्भ में लिखता है—

संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वा । तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि । तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्योऽथापि कार्य उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यम् ।[3]

आगे पुनः लिखता है—

संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति ।[3]

इन दोनों उद्धरणों से तथा भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय की स्वोपज्ञटीका में उद्धृत संग्रह के पाठों से विदित होता है कि संग्रह वाक्यपदीय के समान व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ था ।

नागेशकृत भाष्यप्रदीपोद्योत ४।३।३९ से प्रतीत होता है कि संग्रह में कहीं कहीं अष्टाध्यायी के सूत्रों के उदाहरण भी दिये थे ।[4]

संग्रह में १४ सहस्र पदार्थों की परीक्षा—महाभाष्य के 'संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्' इस वचन की व्याख्या में भर्तृहरि लिखता है—

चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)।[5]

अर्थात् संग्रह में १४ सहस्र पदार्थों की परीक्षा की थी । यदि भर्तृहरि का यह वचन ठीक हो तो संग्रह का एक लक्ष श्लोक परिमाण अवश्य रहा होगा ।

---

१. वाक्यपदीय टीका, काशी संस्क० पृष्ठ ३८३ ।

२. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः । नवाह्निक, निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ ५५ । ३. अ० १, पा० १, आ० १ ।

४ एवं च संग्रहादिषु तदुदाहरणदानमसंगतं स्यात् ।

५. हमारा हस्तलेख पृष्ठ २६ ।

संग्रह की प्रतिष्ठा—संग्रह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। काशिका ६।२।६९ के 'कुमारीदाक्षाः' उदाहरण से व्यक्त होता है कि अनेक व्यक्ति कुमारी की प्राप्ति (= विवाह) के लिये झूठमूठ अपने को दाक्षि-प्रोक्त ग्रन्थ के ज्ञाता बताया करते थे। काशिकाकार ने इस उदाहरण की जो व्याख्या की है, वह चिन्त्य है। प्रतीत होता है, उसने इस उदाहरण का भाव नहीं समझा। 'दाक्ष' पद की 'दाक्षादिभिः प्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयते' व्याख्या में 'दाक्षादिभिः' पाठ अशुद्ध है, वहां 'दाक्ष्यादिभिः' पाठ होना चाहिये।

संग्रह के उद्धरण—संग्रह के उद्धरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में संग्रह के १० दस वचन उद्धृत हैं। श्री पं० चारुदेव जी ने स्वसम्पादित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के अन्त में उन्हें संगृहीत कर दिया है। हम ने संग्रह के ४ चार नये वचन संगृहीत किये हैं। दशम वचन का द्वितीय उद्धरण का स्थान भी हम ने ढूंढा है। आजतक संग्रह के जितने वचन उपलब्ध हुए हैं, वे नीचे दिये जाते हैं—

१. नहि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥[1]

२. अर्थात् पदं साभिधेयं पदाद् वाक्यार्थनिर्णयः।
पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम् ॥[2]

३. शब्दार्थयोरसंभेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम् ॥[3]

४. संबन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां संबन्धः स्यात् कृतः कथम् ॥[4]

५. वाचक उपादानः स्वरूपवानव्युत्पत्तिपक्षे। व्युत्पत्तिपक्षे स्वर्थविहितं समाश्रितं निमित्तं शब्दव्युत्पत्तिकर्माणि प्रयोजकम्। उपादानो द्योतक इत्येके। सोऽयमितिव्यपदेशेन संबन्धोपयोगस्य शक्यत्वात्।[5]

---

१. वाक्यपदीय स्वोपज्ञ टीका लाहौर संस्क० पृष्ठ ४२।

२. वही, पृष्ठ ४३। ३. वही, पृष्ठ ४३।

४. वही, पृष्ठ ४३। ५. वही, पृष्ठ ५५।

६. नहि स्वरूपं शब्दानां गोपिण्डादिवत् करेण संनिविशते। तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसंनिवेशे सति तुल्यरूपत्वादसंनिविष्टमपि समुच्चार्यमाणत्वेनावसीयते।[1]

७. शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥[2]

८. असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः॥[3]

९. यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये।
संख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः॥

१०. शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः।[4]

११. शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते।
स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः॥[5]

१२. संस्त्यानं संहननं तमो निवृत्तिरशक्तिरुपरतिः प्रवृत्तिप्रतिबन्धातिरोभावः स्त्रीत्वम्, प्रसवो विष्वग्भावो वृद्धिशक्तिलाभोऽभ्युद्रेकः प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम्। अविवक्षातः साम्यस्थितिरौत्सुक्यनिवृत्तिरपरार्थत्वमङ्गाङ्गिभावनिवृत्तिः कैवल्यमिति नपुंसकत्वमिति।[7]

१३. इकां यणभिर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रहः।[8]

१४. जाज्वलीति संग्रहे।[9]

---

१. वही, पृष्ठ ६६। २. वही, पृष्ठ ७६। तथा-यदाह संग्रहकारः—शब्दस्य ग्रहणे हेतुः.........। स्याद्वादरत्नाकर भाग ३ पृष्ठ ६४५। ३. वही, पृष्ठ ८१।

४. वही, पृष्ठ, ८८। तथा-स्याद्वादरत्नाकर भाग ३, पृष्ठ ६४६।

५. वही, पृष्ठ १३४। तथा हेलाराजटीका काण्ड ३, पृष्ठ १११, काशी संस्क०।

६. एतदेव संग्रहकारोक्तश्लोकप्रदर्शनेन संवादयितुमाह। वाक्य० टीका पुण्यराज, काण्ड २ श्लोक २६७।

७, वाक्य० टीका हेलाराज, पृष्ठ ४३१, काशी संस्क०।

८. जैनेन्द्र व्या० महानन्दिटीका १।२।१, पृष्ठ ५६। तुलना करो—इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्। भाषावृत्ति ६।१।७७॥

९. श्रीकविकण्ठाहारकृत चर्करीतरहस्य। इण्डिया आफिस का हस्तलेख, सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ २०८।

संग्रह के उपर्युक्त वचनों से विदित होता है कि संग्रह में गद्य, पद्य दोनों थे।

इनके अतिरिक्त न्यास, महाभाष्यप्रदीप, पदमञ्जरी, योगव्यासभाष्य आदि में संग्रह के नाम से कुछ वचन उपलब्ध होते हैं।

न्यास और संग्रह—न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने पांच वचन संग्रह के नाम से उद्धृत किये हैं।[1] वे महाभाष्य में उपलब्ध होते हैं। न्यास के पाठ में संग्रह का अर्थ संक्षेपवचन हो सकता है।

महाभाष्यप्रदीप और संग्रह—कैयट ने महाभाष्य में पठित कई श्लोकों के विषय में **'पूर्वोक्तार्थसंग्रहश्लोकाः'**[2] लिखा है। इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं—

१. महाभाष्य में पूर्व प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि में संग्रह ग्रन्थ के श्लोक।

२. पूर्व गद्य में विस्तर से प्रतिपादित अर्थ को संग्रह = संक्षेप से कहने वाले श्लोक।

कई विद्वान् कैयट की पंक्ति का प्रथम अर्थ समझ कर महाभाष्य-निर्दिष्ट श्लोकों को संग्रह के श्लोक मानते हैं, परन्तु हमारा विचार है ये श्लोक महाभाष्यकार के हैं।

पदमञ्जरी और संग्रह—हरदत्त ने पदमञ्जरी में आठ स्थानों पर संग्रह श्लोक लिखे हैं।[3] उन में कुछ महाभाष्यपठित श्लोक हैं, और कुछ हरदत्त के स्वविरचित प्रतीत होते हैं। हरदत्त ने जिस विषय को प्रथम गद्य में विस्तर से लिखा, अन्त में उसी को संक्षेप से श्लोकों में संगृहीत कर दिया है।

प्रक्रियाकौमुदी टीका और संग्रह—विट्ठल काशिका में उद्धृत "एक-स्मान्ङञणवटा" आदि श्लोक को संग्रह के नाम से उद्धृत करता है।[4] यहां संग्रह शब्द से व्याडि का ग्रन्थ अभिप्रेत नहीं है।

---

१. ४।२।८, पृष्ठ १३०॥ ४।२।६, पृष्ठ १३१॥ ६।१।६८, पृष्ठ २४३॥ ८।१।६९, पृष्ठ ९४१॥ ८।२।१०८, पृष्ठ १०३० ॥ २. ५।२।४८ ॥

३. ४।१।७८, पृष्ठ ६८॥ ४।२।८, १ पृष्ठ १२७॥ ५।३।८३, पृष्ठ ३६२॥ ६।१।६८, पृष्ठ ४५१॥ ६।१।६९ पृष्ठ ४५३, इत्यादि।

४ संग्रहश्लोकानुसारेण कथयति—एकस्मान्……। भाग १, पृष्ठ १०। भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधर इसे भाष्यवचन कहता है, यह उस की भूल है।

व्यासभाष्य और संग्रह—योगदर्शन के व्यासभाष्य में एक संग्रह श्लोक उद्धृत है।[1] वह व्याडि का नहीं है।

चरक और संग्रह—चरक सूत्रस्थान अध्याय २९ में संग्रह शब्द का प्रयोग मिलता है—**त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य ससंग्रहव्याकरणस्य ....प्रवक्तारः।**

यज्ञफलनाटक और संग्रह—कुछ वर्ष हुए गोण्डल काठियावाड़ से भास के नाम से एक यज्ञफलनाटक प्रकाशित हुआ है। उस के पृष्ठ ११६ पर लिखा है—**ससूत्रार्थसंग्रहं व्याकरणम्।**

रामायण उत्तरकाण्ड और संग्रह—रामायण उत्तरकाण्ड में लिखा है—हनुमान् ने संग्रहसहित व्याकरण का अध्ययन किया था।[2] उत्तरकाण्ड आदि कवि वाल्मीकि की रचना नहीं है, पर है पर्याप्त प्राचीन। उस का संकेत व्याडिविरचित संग्रह ग्रन्थ की ओर मानना अनुचित है। क्या प्राचीन काल में अन्य भी संग्रह ग्रन्थ थे?

संग्रह के नाम से अन्य ग्रन्थों के उद्धरण—सायण ने अपने वेदभाष्यों में अनेक स्थानों पर स्वविरचित जैमिनीयन्यायाधिकरणमाला के श्लोक संग्रह के नाम से उद्धृत किये हैं। अतः संग्रह नाम से उद्धृत सब वचनों को व्याडिकृत संग्रह के वचन नहीं समझना चाहिये।

संग्रह का लोप—भर्तृहरि वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में लिखता है—

> **प्रायेण संक्षेपरुचीन् अल्पविद्यापरिग्रहान्।**
> **संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते॥ ४८४॥**
>
> **कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।**
> **सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥४८५॥**

इस उद्धरण से विदित होता है कि संग्रह जैसे महाकाय ग्रन्थ के पठन-पाठन का उच्छेद पतञ्जलि से पूर्व ही हो गया था, और शनैः शनैः ग्रन्थ भी नष्ट हो रहे थे। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की स्वोपज्ञटीका में संग्रह के कुछ

---

१. ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥ इति संग्रहश्लोकः। व्यास भाष्य ३।२६॥

२. ससूत्रवृत्त्यर्थपदं महार्थं ससंग्रहं सिध्यति वै कपीन्द्रः।३६।४४॥

उद्धरण दिये हैं,[1] अतः उसके काल तक संग्रह ग्रन्थ पूर्ण या खण्डित रूप में अवश्य विद्यमान था। भट्ट बाण ने भी हर्षचरित में संग्रह का उल्लेख किया है।[2] उससे बाण के काल में उसकी सत्ता अवश्य प्रमाणित होती है, परन्तु न्यासकार जैसे प्राचीन ग्रन्थकार द्वारा संग्रह का उल्लेख न होना सन्देहजनक है। बाण और न्यासकार में काल का अधिक अन्तर नहीं है। हेलाराज ने प्रकीर्णकाण्ड की टीका में संग्रह का एक लम्बा वचन उद्धृत किया है।[3] यदि उसने वह उद्धरण किसी प्राचीन टीकाग्रन्थ से उद्धृत न किया हो तो ११वीं शताब्दी तक संग्रह ग्रन्थ की सत्ता स्वीकार करनी होगी।

अन्य ग्रन्थ

१. **व्याकरण**—व्याडि ने एक व्याकरणशास्त्र रचा था, उस में दश अध्याय थे। उसका वर्णन हम "पाणिनीयाष्टक में अनुल्लिखित आचार्य" नामक प्रकरण में पूर्व कर चुके हैं।

२. **बलचरित**—महामुनि व्याडि अभी तक केवल वैयाकरण रूप में विख्यात थे, परन्तु महाराज समुद्रगुप्तकृत कृष्णचरित के कुछ अंश के उपलब्ध हो जाने से व्याडि का महाकवित्व भी व्यक्त हो गया। उसके मुनिकविवर्णन में लिखा है—

रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः।
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः॥ १६॥

बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव॥ १७॥

इन श्लोकों में व्याडि को रसतन्त्र का आचार्य, महाकवि, शब्दब्रह्मैकवाद का प्रवर्तक, पाणिनीय सूत्रों का व्याख्याता और मीमांसकों में अग्रणी लिखा है। उस ने बल=बलराम चरित लिख कर भारत और व्यास को जीत लिया था। महाकाव्य के निर्माण में व्याडि का काव्य प्रदीपभूत था।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २०२, २०३, संख्या १—१० तक उद्धरण।

२. सुकृतसंग्रहाभ्यासगुरवो लब्धसाधुशब्दा लोक इव व्याकरणेऽपि। उच्छ्वास ३, पृष्ठ ८७।

३. देखो पूर्व पृष्ठ २०३, संख्या १२ का उद्धरण।

इस वर्णन से विदित होता है कि संग्रह के रचयिता व्याडि ने भारत से भी बृहत् बलचरित रचा था।

व्याडि के काव्यनिर्माण की पुष्टि अमरकोष की एक अज्ञातकर्तृक टीका से भी होती है। यह टीका मद्रास के राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसके १८५ वें पत्रे में व्याडि का निम्न पद्यांश उद्धृत है[1]—

कमपि भूभुवनाङ्गणकोणम् इति व्याडिभाषासमावेशः।

भट्टिकाव्य के १२ वें सर्ग के सदृश व्याडि के काव्य में भी भाषा-समावेश नामक कोई भाग था, यह इस उद्धरण से व्यक्त है।

३. **परिभाषापाठ**—इण्डिया आफिस लण्डन के पुस्तकालय में परिभाषावृत्ति का एक हस्तलेख है।[2] वह भास्करभट्ट अग्निहोत्री के किसी अन्तेवासी की रचना है। उस के प्रारम्भ में लिखा है—

केचित् व्याख्यानत इति परिभाषा व्याडिमुनिविरचिता इत्याहुः।

अर्थात् किन्हीं वैयाकरणों के मत में परिभाषाएँ व्याडिविरचित हैं।

डी० ए० वी कालिज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में परिभाषा-पाठ के दो हस्तलेख विद्यमान थे।[3] उनके अन्त में लिखा है—

केचित्तु व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरित्याद्यः सर्वाः परिभाषा व्याडिमुनिना विरचिता इत्याहुः।

जम्मू के रघुनाथमन्दिर के पुस्तकालय में 'व्याडीयपरिभाषावृत्ति' नाम का एक ग्रन्थ विद्यमान है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ४७।

इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि परिभाषाओं का मूल कदाचित् व्याडिविरचित संग्रह ग्रन्थ रहा होगा। इस पर विशेष विचार आगे परिभाषा के प्रकरण में किया जायगा।

४. **लिङ्गानुशासन**—व्याडिकृत लिङ्गानुशासन का उल्लेख वामन[4] तथा हर्षवर्धन[5] के लिङ्गानुशासनों में मिलता है। सम्भव है यह कोषकार व्याडि की रचना हो। इसका विशेष वर्णन लिङ्गानुशासन के प्रकरण में किया जायगा।

---

१. देखो० मद्रास ओरियण्टल जनरल सन् १९३२, पृ४ २५३।

२. देखो, सूचीपत्र जिल्द १, भाग २, ग्रन्थ नं० ६७३।

३. देखो, संख्या ३२७०, ३२७२ के हस्तलेख।

४. यद् व्याडिप्रमुखैः, पृष्ठ १, २। व्याडिप्रणीतमथ, पृष्ठ २०।

५. व्याडेः शंकरचन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः। कारिका १७।

५. **विकृतिवल्ली**—विकृतिवल्ली संज्ञक ऋग्वेद का एक परिशिष्ट उपलब्ध होता है। वह आचार्य व्याडिकृत माना जाता है। उसके प्रारम्भिक श्लोक में आचार्य शौनक को नमस्कार किया है।[1] आर्षग्रन्थों में इस प्रकार नमस्कार की शैली उपलब्ध नहीं होती। अतः यह श्लोक या तो किसी शौनकभक्त ने मिलाया होगा या यह ग्रन्थ अर्वाचीन व्याडि कृत होगा।

६. **कोश**—व्याडि के कोश के उद्धरण कोशग्रन्थों की अनेक टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। यह कोश विक्रमसमकालिक अर्वाचीन व्याडि का बनाया हुआ है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2]

इस अध्याय में हमने महावैयाकरण व्याडि और उस के संग्रह ग्रन्थ का संक्षिप्त वर्णन किया है। अगले अध्याय में अष्टाध्यायी के वार्तिककारों के विषय में लिखा जायगा।

१ पृष्ठ १६६, टि० २। २. पृष्ठ १६६।

आठवां अध्याय

अष्टाध्यायी के वार्त्तिककार

(२७००—१५०० विक्रम-पूर्व)

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर अनेक आचार्यों ने वार्त्तिकपाठ रचे। उन के ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं। बहुत से वार्त्तिककारों के नाम भी अज्ञात हैं। महाभाष्य में अनेक अज्ञातनामा आचार्यों के वचन 'अपर आह' निर्देश पूर्वक उल्लिखित हैं। वे प्रायः पूर्वाचार्यों के वार्त्तिक हैं। पतञ्जलि ने कहीं कहीं वार्त्तिककारों के नाम निर्देश किये है, परन्तु बहुत स्वल्प। महाभाष्य में निम्न वार्त्तिककारों के नाम उपलब्ध होते हैं।

१. कात्य वा कात्यायन। २. भारद्वाज।
३. सुनाग। ४. क्रोष्टा। ५. वाडव।

इन के अतिरिक्त निम्न दो वार्त्तिककारों के नाम महाभाष्य की टीकाओं से विदित होते हैं—

६. व्याघ्रभूति। ७. वैयाघ्रपद्य।

वार्तिककार = वाक्यकार, पद्कार ?

भर्तृहरि,[1] जिनेन्द्रबुद्धि,[2] हेलाराज,[3] सायण[4] तथा नागेश[5] वार्त्तिककार को वाक्यकार नाम से स्मरण करते हैं सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका टीका में पदकार के नाम से एक वार्तिक उद्धृत किया है।[6] पदकारशब्द का प्रयोग प्रायः महाभाष्यकार के लिये होता है, यह हम महाभाष्यकार पतञ्जलि के प्रकरण में लिखेंगे।

---

१. एषा भाष्यकारस्य कल्पना न वाक्यकारस्य। महाभाष्यदीपिका पृष्ठ १६०।

२. न्यास ६।२।११॥ ३. वाक्यपदीय—टीका काण्ड ३, पृष्ठ २, १२, २७, आदि।

४. चुलुम्पादयो वाक्यकारीयाः। धातुवृत्ति पृष्ठ ४०२।

५. वाक्यकारो वार्त्तिकमारभते। भाष्यप्रदीपोद्योत ६।१।१३५॥

६. पदकारश्चाह—जातिवाचकत्वात्। पृष्ठ ७। तुलना करो—दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्। वार्तिक १।२।१०॥ न्यासकार ३।२।१२ में पदकार के नाम से एक पाठ उद्धृत करता है, वह पूर्णतया वार्तिक और उसके भाष्य से नहीं मिलता।

वार्तिक का लक्षण

पाराशर उपपुराण में वार्तिक का निम्न लक्षण लिखा है—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥[1]

अर्थात् जिस ग्रन्थ में सूत्रकार द्वारा उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयों पर विचार किया हो वह वार्तिक कहाता है।

वार्तिक के अन्य नाम

भाष्यसूत्र—भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में दो स्थानों पर वार्त्तिकों के लिये 'भाष्यसूत्र' पद का प्रयोग किया है।[2]

अनुतन्त्र—भर्तृहरि वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में वार्त्तिकों को अनुतन्त्र नाम से उद्धृत करता है।[3]

अनुस्मृति—सायण अपनी धातुवृत्ति में वार्त्तिकों के लिये अनुस्मृति शब्द का व्यवहार करता है।[4]

द्वितीय और तृतीय नाम में तन्त्र और स्मृति शब्द से पाणिनीय शास्त्र का ग्रहण होता है। अब हम उन वार्त्तिककारों का वर्णन करते हैं, जो हमें ज्ञात हैं।

१. कात्यायन

पाणिनीय व्याकरण पर जितने वार्त्तिक लिखे गये उन में कात्यायन का वार्त्तिकपाठ ही प्रसिद्ध है। महाभाष्य में मुख्यतया कात्यायन के वार्त्तिकों का व्याख्यान है। महाभाष्य ३।२।११८ में पतञ्जलि ने कात्यायन को स्पष्ट शब्दों में 'वार्त्तिककार' कहा है।[5]

---

१. तुलना करो—उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्। काव्यमीमांसा पृष्ठ ५।

२. भाष्यसूत्रे गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात्, लक्षणप्रपञ्चयोस्तु मूलसूत्रेऽप्याश्रयणाद् इहापि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां प्रवृत्तिः। पृष्ठ ४८। न च तेषु भाष्यसूत्रेषु गुरुलघुप्रयत्नः क्रियते, तथा चा [ह]—नहीदानीमाचार्याः कृत्वा सूत्राणि निवर्तयन्ति इति। भाष्यसूत्राणि हि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां समर्थतराणि। पृष्ठ २८१, २८२ ॥

३. अनुतन्त्रे खल्वपि—सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे इति। पृष्ठ १५, लाहौर संस्क०।

४. अनुस्मृतौ कारशब्दस्य स्थाने करशब्दः पठ्यते। पृष्ठ १०।

५. न स्म पुराद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह। स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण भवति, किं वार्तिककारः प्रतिषेधेन करोति—न स्म पुराद्यतन इति।

पर्याय—पुरुषोत्तमदेव ने अपने त्रिकाण्डशेष कोष में कात्यायन के १ कात्य, २ कात्यायन, ३ पुनर्वसु, ४ मेधाजित् और ५ वररुचि नामान्तर लिखे हैं।[1]

१. कात्य—यह गोत्रप्रत्ययान्त नाम है। महाभाष्य ३।२।३ में वार्त्तिककार के लिये इस नाम का उल्लेख मिलता है।[2]

२. कात्यायन—यह युवप्रत्ययान्त नाम है। पूज्य व्यक्ति के सम्मान के लिये युवप्रत्ययान्त नाम से स्मरण करते हैं।[3] महाभाष्य ३।२।११८ में इस नाम का उल्लेख है।[4]

३. पुनर्वसु—यह नाक्षत्र नाम है। भाषावृत्ति ४।३।३४ में पुनर्वसु को वररुचि का पर्याय लिखा है।[5] महाभाष्य १।२।६३ में 'पुनर्वसु माणवक' नाम मिलता है,[6] परन्तु यह कात्यायन के लिये नहीं है।

४. मेधाजित्—इसका प्रयोग अन्यत्र देखने में नहीं आया।

५. वररुचि—महाभाष्य ४।३।१०१ में वाररुच श्लोकों का वर्णन है।[7] महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित में वररुचि को स्वर्गारोहण-काव्य का कर्ता कहा है।[8] उस के अनुसार वररुचि ही वार्त्तिककार कात्यायन है।[8]

कथासरित्सागर और बृहत्कथामञ्जरी में कात्यायन का श्रुतधर नाम भी मिलता है।[9]

वंश—कात्यायन पद गोत्रप्रत्ययान्त है। इस इतना स्पष्ट है कि कि कात्यायनवंश का मूल पुरुष कत है। प्राचीन वाङ्मय में अनेक कात्यायनों का उल्लेख मिलता है। एक कात्यायन कौशिक है, दूसरा आङ्गिरस है, तीसरा भार्गव है, चौथा द्व्यामुष्यायण है। स्कन्द पुराण नागर खण्ड अ० १३० श्लोक ७१ के अनुसार एक कात्यायन याज्ञवल्क्य

---

१. मेधाजित् कात्यायनश्च सः। पुनर्वसुर्वररुचिः।

२. प्रोवाच भगवान् कात्यस्तेनासिद्धिर्यणस्तु ते।

३. वृद्धस्य च पूजायाम्। वार्तिक ४।१।१६३॥

४. देखो, पृष्ठ ८०, १३०।   ५. पुनर्वसुर्वररुचिः।

६. तिष्यश्च माणवकः पुनर्वसू च माणवकौ तिष्यपुनर्वसवः।

७. वाररुचं काव्यम्।   ८. आगे स्वर्गारोहणकाव्य के प्रसङ्ग में उद्धरिष्यमाण श्लोक।   ९. कथासरित्सागर लम्बक १, तरङ्ग २, श्लोक ६६-७०।

का पुत्र है। इसने वेदसूत्र की रचना की थी।[1] स्कन्द पुराण में ही इस कात्यायन को यज्ञविद्याविचक्षण कहा है और उसके वररुचि नामक पुत्र का उल्लेख किया है।[2] याज्ञवल्क्यपुत्र कात्यायन ने ही श्रौत, गृह्य, धर्म और शुक्लयजुःपार्षद् आदि सूत्रग्रन्थों की रचना की है। यह कात्यायन कौशिक पक्ष का है। इसने वाजसनेयों के आदित्यायन को छोड़कर आङ्गिरसायन[3] स्वीकार कर लिया था। वह स्वयं प्रतिज्ञापरिशिष्ट में लिखता है—

एवं वाजसनेयानामङ्गिरसां वर्णानां सोऽहं कौशिकपक्षः शिष्यः[4] पार्षदः पञ्चदशसु तत्तच्छाखासु साधीश्क्रमः।[5]

यही कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के अङ्गिरसायन की कात्यायन शाखा का प्रवर्तक है। कात्यायन शाखा का प्रचार विन्ध्य के दक्षिण में महाराष्ट्र आदि प्रदेश में रहा है।[6]

हमारा विचार है कि याज्ञवल्क्य का पौत्र, कात्यायन का पुत्र वररुचि कात्यायन अष्टाध्यायी का वार्तिककार है। इसमें निम्न हेतु हैं—

१—काशिकाकार ने "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु"[7] सूत्र पर आख्यानों के आधार पर शतपथ ब्राह्मण को अचिरकालकृत लिखा है।

---

१. कात्यायनसुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम्। २. कात्यायनाभिधं च यज्ञविद्याविचक्षणम्। पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः। अ० १३१, श्लोक ४८, ४९।

३ वाजसनेयों के दो अयन हैं—द्वयान्येव यजूंषि, आदित्यानामङ्गिरसानां। प्रतिज्ञासूत्र कण्डिका ६, सूत्र ४। इन दोनों का निर्देश माध्यन्दिन शतपथ, ८।४।५।१९,२० में भी मिलता है।

४. प्रतिज्ञापरिशिष्ट के व्याख्याता अण्णा शास्त्री ने 'शिष्य' पद का सबन्ध भी कौशिक के साथ लगाया है, परन्तु हमारा विचार है कि शिष्य पद का संबन्ध 'आङ्गिरसानां वर्णानां' के साथ है। उन्होंने याज्ञवल्क्यचरित (पृष्ठ ५५) में याज्ञवल्क्यपुत्र कात्यायन और शाखाप्रवर्तक कात्यायन में भिन्नता दर्शाने के लिये प्रवरभेद का निर्देश किया है, परन्तु वह ठीक नहीं। आङ्गिरसायन को स्वीकार कर लेने पर आङ्गिरस आदि भिन्न प्रवरों का निर्देश युक्त है। ५. प्रतिज्ञापरिशिष्ट, अण्णाशास्त्री द्वारा प्रकाशित, कण्डिका ३१ सूत्र ५।

६. याज्ञवल्क्यचरित पृष्ठ ८७ से आगे लगा 'शुक्ल यजुःशाखाचित्रपट।

७. अष्टा० ४।३।१०५॥

परन्तु वार्तिककार ने "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्"[1] में याज्ञवल्क्यप्रोक्त शतपथ ब्राह्मण को अन्य ब्राह्मणों का समकालिक कहा है। इस से प्रतीत होता कि वार्तिककार का याज्ञवल्क्य के साथ कोई विशेष संबन्ध था। अत एव उसने तुल्यकालत्वहेतु से शतपथ को पुराणप्रोक्त सिद्ध करने की चेष्टा की है। अन्यथा पुराणप्रोक्त होने पर भी उक्त हेतु निर्देश के विना "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः" इतने वार्तिक से ही कार्य चल सकता था।

२—महाभाष्य से विदित होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य था।[2] कात्यायन शाखा का अध्ययन भी प्रायः महाराष्ट्र में रहा है। यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

३—शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के अनेक सूत्र कात्यायनीय वार्तिकों से समानता रखते हैं। यह समानता भी इनके पारस्परिक संबन्ध को पुष्ट करती है।

देश—महाभाष्य पस्पशाह्निक में 'यथा लौकिकवैदिकेषु' वार्त्तिक की व्याख्या करते हुए लिखा है—

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे च प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेषु प्रयुञ्जते।[3]

इस से विदित होता है कि वार्त्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य था।

स्कन्द पुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य का आश्रम आनर्त = गुजरात में था।[4] संम्भव है याज्ञवल्क्य के मिथिला चले जाने पर उसका पुत्र कात्यायन महाराष्ट्र की ओर चला गया होगा।

कात्यायन की प्रामाणिकता—पतञ्जलि ने कात्य (कात्यायन) के लिये 'भगवान्' शब्द का प्रयोग किया है।[5] इससे वार्तिककार की प्रामाणिकता स्पष्ट है। न्यासकार भी लिखता है—

एतच्च कात्यायनप्रभृतीनां प्रमाणभूतानां वचनाद् विज्ञायते।[6]

---

१. महाभाष्य ४।२।६६। २. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेषु प्रयुञ्जते। अ० १, पा० १, आ० १।

३. महाभाष्य अ० १. पाद १, आ० १॥ ४. नागरखण्ड १७४।५५॥

५. प्रोवाच भगवांस्तु कात्यः।३।२।३॥ ६. न्यास ६।३।५०, भा० २ पृष्ठ ४५३, ४५४॥

कात्यायनवचनप्रामाण्याद् धातुत्वं वेदितव्यम् ।[1]

कात्यायन और शबरस्वामी—ऐसे प्रमाणभूत आचार्य के विषय में मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी लिखता है—**सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, असद्वादित्वान्न कात्यायनस्य ।**[2]

शबरस्वामी का कात्यायन के लिये 'असद्वादी' शब्द का प्रयोग करना चिन्त्य है। हमारे विचार में शबरस्वामी ने कात्यायन के वार्त्तिक का भाव भले प्रकार नहीं समझा।

काल

यदि हमारा पूर्व विचार ठीक हो अर्थात् वार्त्तिककार याज्ञवल्क्य का पौत्र हो तो वार्तिककार का काल पाणिनि के अष्टाध्यायी-प्रणयन से कुछ उत्तर होगा, क्योंकि याज्ञवल्क्य ने शुक्लयजुःशाखाओं और शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन भारतयुद्ध से कुछ पूर्व किया था। याज्ञवल्क्य दीर्घायु था, लगभग ३०० वर्ष जीवित रहा था। अतः वार्तिककार कात्यायन का काल विक्रम से लगभग २७०० सौ वर्ष पूर्व रहा होगा।

आधुनिक ऐतिहासिकों की भूल—अनेक आधुनिक ऐतिहासिक "**वहीनरस्येद् वचनम्**"[3] वार्तिक में वहीनर शब्द का प्रयोग देखकर वार्तिककार कात्यायन को उदयनपुत्र वहीनर से अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु यह मत सर्वथा अयुक्त है। वैहिनरि अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति है। इसका उल्लेख बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय (३) में मिलता है। वहां उसे भृगुवंश्य कहा है। मत्स्य पुराण १९४।१९ में भी भृगुवंश्य वैहिनरि का उल्लेख है। वहां उसका अपना नाम "विरूपाक्ष" लिखा है।[4] महाभाष्यकार ने उपर्युक्त वार्तिक की व्याख्या में लिखा है—

कुरणवाडवस्त्वाह—नैष वहीनरः, कस्तर्हि ? विहीनर एषः । विहीनो नरः कामभोगाभ्याम् । विहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः ।

अर्थात् वैहीनरि प्रयोग वहीनर से नहीं बना, इस की प्रकृति विहीनर है। कामभोग से रहित = विहीनर का पुत्र वैहीनरि है।

---

१. न्यास ३।१।३५, भाग १ पृष्ठ ५२७।

२. मीमांसाभाष्य १०।८।४॥ ३. महाभाष्य ७।३।१॥

४. देखो पूर्व पृष्ठ ११ टि० १ में उद्धृत पाठ।

५. वैहिनरिर्विरूपाक्षो रौहित्यायनिरेव च।

इस वार्तिक में उदयनपुत्र वहीनर का निर्देश नहीं हो सकता, क्योंकि उदयनपुत्र वहीनर महाभाष्यकार से कुछ शताब्दी पूर्ववर्ती है।[1] अतः निश्चय ही पतञ्जलि को उदयनपुत्र का वास्तविक नाम ज्ञात रहा होगा। ऐसी अवस्था में वह कुरणवाडव की व्युत्पत्ति को कभी स्वीकार न करता। कुरणवाडव के 'काम भोग से विहीन' अर्थ से प्रतीत होता है कि वैहीनरि का पिता ऋषि था, राजा नहीं। वैहीनरि पद की व्युत्पत्ति 'वहीनर' और 'विहीनर' दो पदोंसे दर्शाई है। इस से प्रतीत होता है कि यहां व्युत्पाद्यमान वैहीनरि प्रयोग अत्यन्त पुरा काल का है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि उक्त वार्तिक के प्रमाण से वार्त्तिककार कात्यायन और कुरणवाडव दोनों उदयनपुत्र वहीनर से अर्वाचीन नहीं हो सकते। कथासरित्सागर आदि में उल्लिखित श्रुतधर कात्यायन वार्त्तिककार कात्यायन से भिन्न व्यक्ति है।

वार्तिकपाठ

कात्यायन का वार्त्तिकपाठ पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्व पूर्ण अङ्ग है। इस के विना पाणिनीय व्याकरण अधूरा रहता है। पतञ्जलि ने कात्यायनीय वार्त्तिकों के आधार पर अपना महाभाष्य रचा है। कात्यायन का वार्तिक-पाठ स्वतन्त्ररूप में उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य से कात्यायन के वार्त्तिकों की निश्चित संख्या की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि उस में बहुत्र अन्य वार्तिककारों के वचन भी संगृहीत हैं। महाभाष्यकार ने प्रायः उनके नाम का निर्देश नहीं किया।

प्रथम वार्त्तिक—आधुनिक वैयाकरण 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'[2] को कात्यायन का प्रथम वार्तिक समझते हैं, यह उनकी भूल है। इस भूल का कारण भी वही है जो हमने पृष्ठ १४७ पर दर्शाया है। महाभाष्य में लिखा है—

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते।[3]

हमारा विचार है यहां भी 'आदि' पद मुख्यार्थ का वाचक नहीं है। कात्यायन का प्रथम वार्त्तिक 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्'[4] है। इस में निम्न प्रमाण हैं—

---

१. पाश्चात्यों के मतानुसार। २. महाभाष्य भाग १, पृष्ठ ६।

३. महाभाष्य भाग १, पृष्ठ ६, ७। ४. महाभाष्य भाग १, पृष्ठ १।

१—सायण अपने ऋग्भाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति। एतानि रक्षादीनि प्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि।[1]

अर्थात् वररुचि = कात्यायन ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन 'रक्षोहागम' आदि वार्त्तिक में दर्शाए हैं।

२—महाभाष्य के इस प्रकरण की तुलना 'क्ङिति च'[2] सूत्र के महाभाष्य से की जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि रक्षादि पांच प्रयोजन वार्तिककारकथित हैं और 'इमानि च भूयः' वाक्यनिर्दिष्ट १३ प्रयोजन भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित हैं। 'क्ङिति च' सूत्र पर प्रयोजनवार्त्तिक इस प्रकार है—क्ङितिप्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणमुपधारोरवीत्यर्थम्।

महाभाष्यकार ने इस वार्तिक में निर्दिष्ट प्रयोजनों की व्याख्या करके लिखा है—इमानि च भूयः तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि।

इन दोनों स्थलों पर 'इमानि च भूयः.......प्रयोजनानि' पद समान लेखनशैली के निर्देशक हैं, और दोनों स्थलों पर 'इमानि च भूयः' वाक्यनिर्दिष्ट प्रयोजन महाभाष्यकार प्रदर्शित हैं, यह सर्वसम्मत है। इसी प्रकार क्ङिति च सूत्र के प्रारम्भिक दो प्रयोजन वार्त्तिककारनिर्दिष्ट हैं, यह भी निर्विवाद है। अतः उसी शैली से लिखे हुए 'रक्षोहागम' आदि वाक्यनिर्दिष्ट पांच प्रयोजन निस्सन्देह कात्यायन के समझने चाहियें। इसलिये कात्यायन के वार्तिकपाठ का आरम्भ—'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' से ही होता है।

महाभाष्य में व्याख्यात वार्त्तिक अनेक आचार्यों के हैं

महाभाष्य में जितने वार्तिक व्याख्यात हैं वे सब कात्यायनविरचित नहीं हैं। पतञ्जलि ने अनेक आचार्यों के उपयोगी वचनों का संग्रह अपने ग्रन्थ में किया है। कुछ स्थानों पर पतञ्जलि ने विभिन्न वार्तिककारों के

१. षडङ्ग प्रकरण, पृष्ठ २६, पूना संस्क०। तुलना करो—कात्यायनोऽपि व्याकरणप्रयोजनान्युदाजहार—रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्। तै० सं० सायण-भाष्य, भाग १ पृष्ठ ३०।

२. अष्टा० १।१।५॥

नामों का उल्लेख किया है, परन्तु अनेक स्थानों पर नामनिर्देश किये विना ही अन्य आचार्यों के वार्तिक उद्धृत किये हैं। यथा—

१—महाभाष्य ६।१।१४४ में एक वार्तिक लिखा है—**समो हिततयोर्वा लोपः**। यहां वार्तिककार के नाम का उल्लेख न होने से यह कात्यायन का वार्तिक प्रतीत होता है, परन्तु 'सर्वादीनि सर्वनामानि'[1] सूत्र के भाष्य से विदित होता है कि यह वचन अन्य वैयाकरणों का है। वहां स्पष्ट लिखा है—**इहान्ये वैयाकरणाः समस्तते विभाषा लोपमारभन्ते— समो हिततयोर्वा इति**।

२. महाभाष्य ४।१।१५ में वार्तिक पढ़ा है—**नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्**। यहां वार्तिककार के नाम का निर्देश न होने से यह कात्यायन का वचन प्रतीत होता है, परन्तु महाभाष्य ३।२।५६ तथा ४।१।८७ में इसे सौनागों का वार्तिक कहा है।

इस विषय पर अधिक विचार हम ने इस अध्याय के अन्त में 'महाभाष्यस्थ वार्तिकों पर एक दृष्टि' प्रकरण में किया है।

अन्य ग्रन्थ

१. **स्वर्गारोहण काव्य**—महाभाष्य ४।३।१०१ में वाररुच काव्य का उल्लेख मिलता है। वररुचि कात्यायन का पर्याय है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित के मुनिकविवर्णन में लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥
न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनु चकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥

अर्थात्—जो स्वर्ग में जाकर (श्लेष से स्वर्गारोहण संज्ञक काव्य रचकर) स्वर्ग को पृथिवी पर ले आया, वह वररुचि अपने मनोहर काव्य से विख्यात है। उस महाकवि कात्यायन ने केवल पाणिनीय व्याकरण को ही अपने वार्तिकों से पुष्ट नहीं किया, अपितु काव्यरचना में भी उसी का अनुकरण किया है।

---

१. अष्टा० १।१।२७॥

कात्यायन के स्वर्गारोहण काव्य का उल्लेख जल्हणकृत सूक्तिमुक्तावली में भी मिलता है। उस में राजशेखर के नाम से निम्न श्लोक उद्धृत है—

यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

इस श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठ कुछ विकृत है। वहां 'सदारोहणप्रियः' के स्थान में 'स्वर्गारोहणप्रियः' पाठ होना चाहिये।

आचार्य वररुचि के अनेक श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति, सदुक्तिकर्णामृत और सुभाषितमुक्तावली आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

२. भ्राजसंज्ञक श्लोक—महाभाष्य अ० १, पाद १, आह्निक १ में 'भ्राज' संज्ञक श्लोकों का उल्लेख मिलता है।[1] कैयट[2], हरदत्त[3] और नागेश भट्ट[4] आदि का मत है कि भ्राजसंज्ञक श्लोक वार्तिककार कात्यायन की रचना हैं। ये श्लोक इस समय अप्राप्य हैं। इन श्लोकों में से 'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे' श्लोक पतञ्जलि ने महाभाष्य में उद्धृत किया है।[5]

३. स्मृति—षड्गुरु-शिष्य ने कात्यायन स्मृति और भ्राजसंज्ञक श्लोकों का कर्ता वार्तिककार को माना है।[6] वर्तमान में जो कात्यायन स्मृति उपलब्ध होती है, वह संभवतः अर्वाचीन है।

४. उभयसारिका-भाण—मद्रास से चतुर्भाणी प्रकाशित हुई है। उसमें वररुचिकृत 'उभयसारिका' नामक भाण छपा है। उसके अन्त में लिखा है—

इति श्रीमद्वररुचिमुनिकृतिरुभयसारिकानाम भाणः समाप्तः।

इस वाक्य में यद्यपि वररुचि का विशेषण 'मुनि' लिखा है, तथापि यह वार्तिककार वररुचिकृत प्रतीत नहीं होता। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में वार्तिककार को 'दाक्षिणात्य' लिखा है, परन्तु उभयसारिका में तद्धितप्रियता उपलब्ध नहीं होती। उसमें तद्धितप्रयोग अत्यल्प हैं, कृत् प्रयोगों का बाहुल्य है। अतः 'कृत्प्रयोगबाहुल्य दाक्षिणात्याः' इस नियम

१. कः पुनरिदं पठितम्? भ्राजा नाम श्लोकाः। २. काशिका...लोपानवस्था...भ्राजाख्यश्लोकमध्ये पठितस्य.......। महाभाष्यप्रदीप, नवाह्निक निर्णयसागर सं० पृष्ठ ३०।

३. कात्यायनप्रणीतेषु भ्राजाख्यश्लोकेषु मध्ये पठितोऽयं श्लोकः। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ २०। ४. भ्राजा नाम कात्यायनप्रणीताः श्लोकाः इत्यादि। महाभाष्यप्रदीपोद्योत, नवाह्निक, निर्णयसागर सं० पृष्ठ ३३। ५. महाभाष्य प्रथमाह्निक।

६. स्मृतेश्च कर्ता श्लोकानां भ्राजमानानां च कारकः। सिद्धान्तसूत्र की भूमिका पृष्ठ १७ पर उद्धृत। ७. काव्यमीमांसा पृष्ठ २२।

के अनुसार उपर्युक्त भाण का कर्ता कोई उदीच्य कवि है। सम्भव है यह भाण विक्रमसमकालिक वररुचि कविकृत हो।

अनेक ग्रन्थ—आफ्रेक्टकृत हस्तलेख-सूचीपत्र में कात्यायन तथा वररुचि के नाम से अनेक ग्रन्थ उद्धृत हैं। उनमें कितने ग्रन्थ वार्तिककार कात्यायन कृत हैं, यह अभी निश्चेतव्य है। हमें उनमें अधिक ग्रन्थ विक्रमकालिक वररुचिकृत प्रतीत होते हैं।

२—भारद्वाज

भगवान् पतञ्जलि ने भारद्वाजीय वार्तिकों का उल्लेख महाभाष्य में अनेक स्थानों पर किया है।[1] ये वार्तिक पाणिनीयाष्टक पर ही रचे गये थे, यह बात महाभाष्य में उद्धृत भारद्वाजीय वार्तिकों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से स्पष्ट हो जाती है।[2] भारद्वाजीय वार्तिक कात्यायनीय वार्तिकों से कुछ विस्तृत थे। यथा—

कात्या॰—घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम्।[3]

भार॰—घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।[3]

कात्या॰—यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूञामुपसंख्यानम्।[4]

भार॰—यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञामात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम्।[4]

इन भारद्वाजीय वार्तिकों का रचयिता कौन भारद्वाज है, यह अज्ञात है। यदि ये वार्तिक पाणिनीय व्याकरण पर नहीं लिखे गये हों, तो अवश्य ही पूर्वनिर्दिष्ट भारद्वाज व्याकरण पर रहे होंगे। ऐसी अवस्था में भारद्वाज व्याकरण और पाणिनीय व्याकरण में बहुत समानता माननी होगी।

---

१. महाभाष्य १।१।२०,५६॥१।२।२२॥१।३।६७॥३।१।३८,४८,८९॥४।१।७९॥६।४।४७,१५५॥ २. भारद्वाजीयाः पठन्ति—नियमनित्त्वमिडायोः, क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम्। महाभाष्य १।२।२२॥ न्यासकार लिखता है—पूङश्चेत्यत्र सूत्रे द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये ये विधयस्ते नित्या भवन्तीति मन्यमानैर्भारद्वाजीयैरिदमुक्तम्—नित्यमनित्त्वमिडायोरिति। भाग १, पृष्ठ १६२। भारद्वाजीयाः पठन्ति—भस्रो रोपधयोर्लोपः, आगमो रम् विधीयते। महाभाष्य ६।४।४७॥

३. महाभाष्य १।१।२०॥ ४. महाभाष्य ३।१।८९॥

३—सुनाग

महाभाष्य में अनेक स्थानों पर सौनाग वार्तिक उद्धृत हैं।[1] हरदत्त के लेखानुसार इन वार्तिकों के रचयिता का नाम सुनाग था।[2] कैयट-विरचित महाभाष्यप्रदीप २।२।१८ से विदित होता है कि सुनाग आचार्य कात्यायन से अर्वाचीन है।[3]

सौनाग वार्तिक अष्टाध्यायी पर थे

महाभाष्य ४।३।११५ से प्रतीत होता है कि सौनाग वार्तिक पाणिनीयाष्टक पर रचे गये थे। पतञ्जलि ने लिखा है—'**इह हि सौनागाः पठन्ति—वुञश्चाप्रकृतप्रसंगः**। इस पर कैयट लिखता है— **पाणिनीयलक्षणे दोषोद्भावनमेतत्**।

इसी प्रकार पतञ्जलि ने '**ओमाङोश्च**' सूत्रस्थ चकार का प्रत्याख्यान करके लिखा है—**एवं हि सौनागाः पठन्ति -चोऽनर्थकोऽधिकारादेङः**।[4]

श्री पं० गुरुपद हालदार ने सुनाग को पाणिनि से पूर्ववर्ती माना है।[5] उनका मत ठीक नहीं, यह उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। हालदार महोदय ने सुनाग आचार्य को नागवंशीय लिखा है।

सौनाग वार्तिकों का स्वरूप

सौनाग वार्तिक कात्यायनीय वार्तिकों की अपेक्षा बहुत विस्तृत हैं। अत एव महाभाष्य २।२।१८ में कात्यायनीय वार्तिक की व्याख्या के अनन्तर पतञ्जलि ने लिखा है—**एतदेव च सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्**।

महाभाष्य ४।१।१५ में लिखा है—*अल्पमिदमुच्यते ख्युन इति*। **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्**।

यद्यपि महाभाष्य में यहां '**नञ्स्नञ्**' आदि वार्तिक के कर्ता का नाम नहीं लिखा, तथापि महाभाष्य ३।२।५६ तथा ४।१।८७ में इसे सौनागों का वार्तिक कहा है।[6] अतः यह सौनाग वार्तिक है, यह स्पष्ट है।

---

१. महाभाष्य २।२।१८॥३।२।५६॥४।१।७४,८७।४।३।१५६॥६।१।६५॥ ६।३।४३॥ २. सुनागस्याचार्यस्य शिष्याः सौनागाः। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७६१

३. कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितु सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।

४. महाभाष्य ६।१।९५॥ ५. व्याक० दर्श० इति० ४४५।

६. एवं हि सौनागाः पठन्ति—नञ्स्नञीकक्०।

यह वार्तिक भी कात्यायनीय वार्तिक से बहुत विस्तृत है।

महाभाष्यस्थ सौनाग वार्तिकों की पहचान

पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सौनाग वार्तिक कात्यायनीय वार्तिकों से अत्यधिक विस्तृत थे। महाभाष्य ४।१।१५ में **'अत्यल्पमिदमुच्यते'** लिख कर उद्धृत किया हुआ वार्तिक सौनागों का है, यह पूर्व लेख से स्पष्ट है। महाभाष्य में अनेक स्थानों पर **'अत्यल्पमिदमुच्यते'** लिखकर कात्यायनीय वार्तिक से विस्तृत वार्तिक उधृदृत किये हैं।[1] बहुत सम्भव है वे सब सौनाग वार्तिक हों।

सौनाग मत का अन्यत्र उल्लेख

महाभाष्य के अतिरिक्त काशिका,[2] क्षीरतरङ्गिणी[3] तथा धातुवृत्ति आदि ग्रन्थों में सौनागों के अनेक मत उद्धृत हैं।

४—क्रोष्टा

इस आचार्य के वार्तिक का उल्लेख केवल महाभाष्य १।१।३ में एक स्थान पर मिलता है। पतञ्जलि लिखता है—

परिभाषान्तरमिति च कृत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति—नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन।

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि क्रोष्ट्रीय वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर ही थे। क्रोष्ट्रीय वार्तिकों का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

---

१. महाभाष्य २।४।४६॥ ३।१।१४,२२,२५,६७॥ ३।२।२६ इत्यादि॥

२. सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन, अस्यतेर्भावे। ७।२।१७॥

३. धातूनामर्थनिर्देशोऽयं प्रदर्शनार्थ इति सौनागाः। यदाहुः—क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकोऽत्रार्थः प्रदर्शितः। प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः। देखो मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र पृष्ठ १८४६। रोमनाक्षर मुद्रित जर्मन संस्करण में "धातूना....यदाहुः" पाठ नहीं है। 'क्रियावाचित्वमाख्यातुम्' श्लोक चान्द्र धातुपाठ के अन्त में भी उपलब्ध होता है।

४. शक धातु पृष्ठ २०१, अस् धातु पृष्ठ २०७, शबल धातु पृष्ठ २१६।

५—वाडव (कुरणवाडव ?)

महाभाष्य ८।२।१०६ में लिखा है—अनिष्टज्ञो वाडवः पठति। इस पर नागेश महाभाष्य प्रदीपोद्योत में लिखता है—सिद्धं त्विदितोरिति[1] वार्तिकं वाडवस्य।

इस वार्तिककार के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

क्या वाडव और कुरणवाडव एक हैं?

महाभाष्य ३।२।१४ में लिखा है—

कुरणवाडवस्त्वाह—नैषा शंकरा, शंगरैषा। गृणातिः शब्दकर्मा तस्यैष प्रयोगः।

पुनः महाभाष्य ७।३।१ में लिखा है—

कुरणवाडवस्त्वाह—नैष वहीनरः, कस्तर्हि? विहीनर एषः। विहीनो नरः कामभोगाभ्याम्। विहीनरस्यापत्यं वैहिनरिः।

महाभाष्य के इन उद्धरणों में "कुरणवाडव" आचार्य का उल्लेख मिलता है। क्या महाभाष्य ८।२।१०६ में स्मृत वाडव "पदेषु पदैकदेशान्" नियम से कुरणवाडव हो सकता है? कुरणवाडव का उल्लेख आगे किया जायगा।

६—व्याघ्रभूति

महाभाष्य में व्याघ्रभूति आचार्य का साक्षात् उल्लेख नहीं है। महाभाष्य २।४।३६ में 'जग्धविधिर्ल्यपि' इत्यादि एक श्लोकवार्तिक उद्धृत है। कैयट के मतानुसार यह श्लोकवार्तिक व्याघ्रभूति-विरचित है।[2] काशिका ७।१।९४ में एक श्लोक उद्धृत है।[3] कातन्त्रवृत्ति-पञ्जिका का कर्त्ता त्रिलोचनदास उसे व्याघ्रभूति के नाम से उद्धृत करता है। वह लिखता है—

---

१. भाष्य, कैयटकृत प्रदीप आदि ग्रन्थों के पर्यालोचन से हमें 'तत्रायमेवप्रसंगः' वार्तिक वाडव आचार्य का प्रतीत होता है।

२. अयमप्यर्थो व्याघ्रभूतिनाप्युक्त इत्याह....।

३. संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्। माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणन्त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः।

तथा च व्याघ्रभूतिः—संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तमिति ।[1]

सुपद्ममकरन्दकार ने भी इसे व्याघ्रभूति का वचन माना है ।[2] न्यासकार इसे आगम वचन लिखता है ।[3]

काशिका ७।२।१० में उद्धृत अनिट् कारिकाएं भी व्याघ्रभूतिविरचित मानी जाती हैं ।[4] पं० गुरुपद हालदार ने इसे पाणिनि का साक्षात् शिष्य लिखा है ।[5] इसमें प्रमाण अन्वेषणीय हैं ।

७—वैयाघ्रपद्य

आचार्य वैयाघ्रपद्य का नाम उदाहरणरूप में महाभाष्य में बहुधा उद्धृत है । वैयाघ्रपद्य ने एक व्याकरणशास्त्र रचा था । उसका उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं ।[6]

काशिका ८।२।१ पर "शुष्किका शुष्कजङ्घा च" एक श्लोक उद्धृत है । भट्टोजदीक्षित ने इसे वैयाघ्रपद्य-विरचित वार्तिक लिखा है ।[7] यदि भट्टोजिदीक्षित का लेख ठीक हो और उक्त श्लोक अष्टाध्यायी ८।२।१ का प्रयोजननिदर्शक वार्तिक ही हो तो निश्चय ही यह पाणिनि से अर्वाचीन होगा । हमारा विचार है, यह श्लोक वैयाघ्रपदीय व्याकरण का है, परन्तु पाणिनीय सूत्र के साथ भी संगत होने से प्राचीन वैयाकरणों ने इसका सबन्ध अष्टाध्यायी ८।२।१ से जोड़ दिया । महाभाष्य में यह श्लोक नहीं है । अथवा वैयाघ्रपद्य नाम के दो आचार्य मानने होंगे, एक व्याकरण शास्त्र का प्रवक्ता और दूसरा वार्तिककार ।

आचार्य वैयाघ्रपद्य के विषय में हम पूर्व पृष्ठ ८६ पर लिख चुके हैं ।

---

१. कातन्त्र, चतुष्टय । २. सुपद्म, सुबन्त २४ । ३. न्यास ७।१।९४ ।

४. अमिर्न्ना(?)मन्तेष्वानिडेक इष्यते इति व्याघ्रभूतिना व्याहृतस्य....। शब्दकौस्तुभ अ० १, पाद १, आ० ९, पृष्ठ ८२। तपि तिपामिति व्याघ्रभूतिवचनविरोधाच्च । धातुवृत्ति पृष्ठ ८२ । ५. व्याक० दर्श० इति० पृष्ठ ४४४ ।

६. पूर्व पृष्ठ ८६ । ७. अत एव शुष्किका.......इति वैयाघ्रपदीयवार्तिके त्रिशब्द एव पठ्यते । शब्दकौस्तुभ १।१।५६॥

महाभाष्य में स्मृत अन्य वैयाकरण

उपर्युक्त वार्तिककारों के अतिरिक्त निम्न वैयाकरणों के मत महाभाष्य में उद्धृत हैं—

१. गोनर्दीय २. गोणिकापुत्र ३. सौर्य भगवान्
४. कुणरवाडव ५. भवन्तः ?

ये आचार्य अष्टाध्यायी के वार्तिककार थे या वृत्तिकार या इनका संबन्ध किसी अन्य व्याकरण के साथ था, यह अज्ञात है।

१—गोनर्दीय

गोनर्दीय आचार्य के मत महाभाष्य में निम्न स्थानों में उद्धृत हैं—

गोनर्दीयस्त्वाह—सत्यमेतत् 'सति त्वन्यस्मिन्निति।[1]

गोनर्दीयस्त्वाह—अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ। त्वकत्पितृको मकत्पितृक इत्येव भवितव्यमिति।[2]

न तर्हि इदानीमिदं भवति—इच्छाम्यहं काशकटीकारमिति। इष्टमेवैतद् गोनर्दीयस्य।[3]

गोनर्दीयस्त्वाह—इष्टमेवैतत् संगृहीतं, भवति। अतिजरमतिजरैरिति भवितव्यम्।[4]

परिचय

गोनर्दीय नाम देशनिमित्तक है। इससे प्रतीत होता है कि गोनर्दीय आचार्य गोनर्द देश का है। इसका वास्तविक नाम अज्ञात है।

गोनर्द देश—संयुक्त प्रान्त का वर्तमान गोंडा जिला सम्भवतः प्राचीन गोनर्द है। काशिका १।१।७५ में गोनर्द को प्राच्य देश लिखा है। कई ऐतिहासिक गोनर्द को कश्मीर में मानते हैं। राजतरङ्गिणी नामक कश्मीर के ऐतिहासिक ग्रन्थ में गोनर्द नामक तीन राजाओं का उल्लेख है। सम्भव है उनके संबन्ध से कश्मीर का कोई प्रान्त भी गोनर्द नाम से प्रसिद्ध रहा हो। ऐसी अवस्था में गोनर्द नामक दो देश मानने होंगे।

गोनर्दीय शब्द में विद्यमान तद्धित प्रत्यय से स्पष्ट है कि गोनर्दीय आचार्य प्राच्य गोनर्द देश का था।

---

१. महाभाष्य १।१।२१॥ २. महाभाष्य १।१।२६॥
३. महाभाष्य ३।१।९२॥ ४. महाभाष्य ७।२।१०१॥

गोनर्दीय और पतञ्जलि

कैयट[1] राजशेखर[2] आदि ग्रन्थकार गोनर्दीय शब्द को पतञ्जलि का नामान्तर मानते हैं। वैजयन्ती-कोषकार भी इसे पतञ्जलि का पर्याय लिखता है।[3] वात्स्यायन कामसूत्र में गोनर्दीय आचार्य का उल्लेख बहुधा मिलता है।[4] कामन्दकनीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षिणी नाम्नी प्राचीन टीका का रचयिता कामसूत्र को आचार्य कौटिल्य की कृति मानता है।[5] यदि टीकाकार का लेख ठीक हो तो गोनर्दीय नाम महाभाष्यकार का नहीं हो सकता। डा० कीलहार्न का भी मत है कि गोनर्दीय आचार्य महाभाष्यकार से भिन्न व्यक्ति है।

२—गोणिकापुत्र

इस आचार्य का मत पतञ्जलि ने महाभाष्य १।४।५१ में उद्धृत किया है—उभयथा गोणिकापुत्र इति। इस पर नागेश लिखता है—गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः। 'आहुः' पद से प्रतीत होता है कि नागेश को यह मत अभीष्ट नहीं है। वात्स्यायन कामसूत्र में गोणिकापुत्र का

---

१. भाष्यकारस्त्वाह—प्रदीप १।१।२१॥ गोनर्दीयपदं व्याचष्टे—भाष्यकार इति। उद्योत १।१।२१॥ २. यस्तु प्रयुङ्क्ते.......तत्प्रमाणमेवेति गोनर्दीयः। काव्यमीमांसा पृष्ठ २६। ३. गोनर्दीयः पतञ्जलिः। पृष्ठ ६६, श्लोक १५७।

४. १।१।१५॥ १।५।२५॥ ४।२।२५॥ यह संख्या दुर्गा प्रिंटिंग प्रेस अजमेर से मुद्रित कामसूत्र हिन्दी अनुवाद के अनुसार है। यह कामसूत्र का संक्षिप्त संस्करण है।

५. न्याय-कौटिल्य-वात्स्यायन-गौतमीयस्मृतिभाष्यचतुष्टयेन प्रकाशितः, प्रकाशितपुरुषार्थचतुष्टयोपाय इति भुवि महीतले प्रख्यातः। अलवर राजकीय पुस्तकालय सूचीपत्र, परिशिष्ट पृष्ठ ११०। भाष्य शब्द का प्रत्येक के साथ संबन्ध है। न्यायभाष्य, कौटिल्यभाष्य (अर्थशास्त्र), वात्स्यायनभाष्य (कामशास्त्र) और गौतमस्मृतिभाष्य। अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का प्रथमाध्याय सूत्र ग्रन्थ है, शेष संपूर्ण ग्रन्थ उन सूत्रों का भाष्य है। कामन्दकनीतिसार १।५ में चाणक्य का विशेषण 'एकाकी' है। गौतम धर्मसूत्र के मस्करीभाष्य में असहायभाष्य बहुधा उद्धृत है। एकाकी और असहाय शब्द के पर्यायवाची होने से क्या वह कौटिल्यविरचित हो सकता है?

भी उल्लेख मिलता है।[1] कोशकार पतञ्जलि के पर्यायों में इस नाम को नहीं पढ़ते। अतः यह निश्चय ही महाभाष्यकार से भिन्न व्यक्ति है।

३—सौर्य भगवान्

पतञ्जलि महाभाष्य ८।२।१०६ में लिखता है—**तत्र सौर्यभगवता उक्तम्—अनिष्टज्ञो वाडवः पठति।**

कैयट के मतानुसार यह आचार्य 'सौर्य' नामक नगर का निवासी था।[2] सौर्य नगर का उल्लेख काशिका २।४।७ में मिलता है।[3] महाभाष्यकार ने इस आचार्य के नाम के साथ भगवान् शब्द का प्रयोग किया है। इससे इस आचार्य की महती प्रामाणिकता प्रतीत होती है। पतञ्जलि के लेख से यह भी विदित होता है कि सौर्य आचार्य वाडव आचार्य से अर्वाचीन है।

४—कुरणवाडव

कुरणवाडव आचार्य का मत महाभाष्य ३।२।१४ तथा ७।३।१ में उद्धृत है।[4] क्या यह पूर्वोक्त वार्तिककार वाडव हो सकता है?

५—भवन्तः ?

महाभाष्य ३।१।८ में लिखा है—**इह भवन्तस्त्वाहुः— न भवितव्य-**

---

१. गोणिकापुत्रः पारदारिकम्। १। १। १६॥ संबन्धिसखिश्रोत्रियराजदारवर्जमिति गोणिकापुत्रः।१।५।३१। २. सौर्यं नाम नगरं तत्रत्येनाचार्येणेदमुक्तम्। भाष्यप्रदीप ८।२।१०६॥ ३. सौर्यं च नगरं कैतवतं च ग्रामः।

४. कुरणवाडवस्त्वाह—नैषा शंकरा, शंगरैषा। कुत एतत्? गृणातिः शब्दकर्मा। तस्यैष प्रयोगः॥ कुरणवाडवस्त्वाह—नैष वहीनरः, कस्तर्हि? विहीनर एषः। विहीनो नरः कामभोगाभ्यां विहीनरः। विहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः।

मिति। पतञ्जलि ने यहां 'भवन्तः' पद से किस आचार्य या किन आचार्यों का स्मरण किया है, यह अज्ञात है।

भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्यदीपिका में चार स्थानों में 'इह भवन्तस्त्वाहुः'[1] निर्देश करके कुछ मत उद्धृत किये हैं। महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २६९ में 'इन्द्रभवन्तस्त्वाहुः' पाठ है। यह अशुद्ध प्रतीत होता है, यहां भी कदाचित् 'इह भवन्तस्त्वाहुः' पाठ हो पतञ्जलि और भर्तृहरि किसी एक ही आचार्य के मत उद्धृत करते हैं या भिन्न भिन्न के यह भी विचारणीय है।

इनके अतिरिक्त महाभाष्य में अन्य अपर आदि शब्दों से अनेक आचार्यों के मत उद्धृत हैं, परन्तु उनके नाम अज्ञात हैं।

महाभाष्यस्थ वार्तिकों पर एक दृष्टि

यद्यपि महाभाष्य में प्रधानतया कात्यायनीय वार्तिकों का उल्लेख है, तथापि उस में अन्य वार्तिककारों के वार्तिक भी उद्धृत हैं। कुछ वार्तिकों के रचयिताओं के नाम महाभाष्य से विदित हो जाते हैं, अनेक वार्तिकों के रचयिताओं के नाम महाभाष्य में नहीं लिखे, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इन सब वार्तिकों के अतिरिक्त महाभाष्य में बहुत से ऐसे वचनों का संग्रह है जो वार्तिक प्रतीत होते हैं, परन्तु वार्तिक नहीं हैं। महाभाष्यकार ने अन्य व्याकरणों से उन उन नियमों का संग्रह किया है, कहीं पूर्वाचार्यों के शब्दों में, और कहीं स्वल्प शब्दान्तर से। यथा —

१—महाभाष्य ६।१।१४४ में एक वचन है—**समो हिततयोर्वा लोपः**। यह वार्तिक प्रतीत होता है, परन्तु महाभाष्य १।१।२७ में इसे अन्य वैयाकरणों का वचन लिखा है—**इहान्ये वैयाकरणाः समस्तते विभाषा लोपमारभन्ते, समो हिततयोर्वा इति।**

महाभाष्य ६।१।१४४ में अन्य कई नियम उद्धृत हैं।[2] वे अन्य वैयाकरणों के ग्रन्थों से संगृहीत प्रतीत होते हैं। महाभाष्यकार ने इन

---

१. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ६१, १०७, १२५, २७२।

२. समो हिततयोर्वा लोपः। संतुमुनोः कामे। मनसि च। अवश्यमः कृत्ये।

नियमों का संग्रह जिस प्राचीन कारिका के आधार पर किया है, वह काशिका ६ । १ । १४४ में उद्धृत है।[1]

२—महाभाष्य ४ । ३ । ६० में लिखा है—सर्वसादेर्द्विगोश्च लः । यह वचन प्राचीन वैयाकरणों की किसी कारिका का अंश है। महाभाष्य के कई हस्तलेखों में इस सूत्र के अन्त में कारिका का पूरा पाठ मिलता है।[2] वह निम्न प्रकार है—

अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेर्द्विगोश्च लः ।
इकन् पदोत्तरात् पदात् शतषष्टेः षिकन् पथः ।

३—महाभाष्य ४ । ३ । ४७ में पढ़ा है—हायनो वयसि स्मृतः । यह पाठ भी किसी प्राचीन कारिका का एकदेश है । कारिका में ही 'स्मृतः' पद श्लोकपूर्त्यर्थ लगाया जा सकता है, अन्यथा वह व्यर्थ होगा ।

४—महाभाष्य में कहीं कहीं पूरी पूरी कारिकाएं भी प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत हैं । यथा—

इष्णुच इकारादित्वमुदात्तत्वात् कृतं भुवः ।
नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्णुचः ॥[3]

डावतावर्थवैशिष्यान्निर्देशः पृथगुच्यते ।
मात्राद्यप्रतिघाताय भावः सिद्धश्च डावतोः ॥[4]

इन कारिकाओं में 'इष्णुच्' और 'डावतु' प्रत्यय पर विचार किया है। अष्टाध्यायी में ये प्रत्यय नहीं हैं । उस में इनके स्थान में क्रमशः 'खिष्णुच्' और 'वतुप्' प्रत्यय हैं। परन्तु इन कारिकाओं में जो विचार किया है वह अष्टाध्यायी के तत् तत् प्रकरणों में भी उपयोगी है। अतः महाभाष्यकार ने वहां वहां विना किसी परिवर्तन के इन प्राचीन कारिकाओं को उद्धृत कर दिया है।

१. लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुंकाममनसोरपि । समो हिततयोर्वा मांसस्य पचि युड्घञोः ॥

२. कैयट ने पूरी कारिका की व्याख्या की है, परन्तु महाभाष्य के कई हस्तलेखों में पूरी कारिका उपलब्ध नहीं होती ।

३. महाभाष्य ३ । २ । ५७ ॥

४. महाभाष्य ५ । २ । ५९ ॥ देखो "डावताविति—पूर्वाचार्यप्रक्रियापेक्षो निर्देशः" इसी सूत्र पर कैयट ।

५—महाभाष्य ४ । ३ । ६० में किसी प्राचीन व्याकरण की निम्न-तीन कारिकाएं उद्धृत हैं—

समानस्य तदादेश्चाध्यात्मादिषु चेष्यते ।
ऊर्ध्वं दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदस्य च ॥
मुखपार्श्वतसोरीयः कुग्जनपरस्य च ।
ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ चापि प्रत्ययौ ॥
मध्यो मध्यं दिनण् चास्मात् स्थाम्नो लुगजिनात्तथा ।
बाह्यो दैव्यः पाञ्चजन्यः गम्भीराञ्ञ इष्यते

कैयट नागेश आदि टीकाकारों ने इन कारिकाओं को अष्टाध्यायी ४ । ३ । ६० पर वार्तिक समझ कर इनकी पूर्वापर संगति लगाने के लिये अत्यन्त क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं । क्लिष्ट कल्पनाएं करने पर भी इन्हें अष्टाध्यायी पर वार्तिक मानने से जो अनेक पुनरुक्ति दोष उपस्थित होते हैं, उनका वे पूर्ण परिहार नहीं कर सके । इन्हें वार्तिक मानने पर तृतीय कारिका का चतुर्थ चरण स्पष्टतया व्यर्थ है, क्योंकि अष्टाध्यायी ४ । ३ । ५८ में "गम्भीराञ्ञ्यः" सूत्र विद्यमान है । इसी प्रकार गहादि गण (४ । २ । १३८) में "मुखपार्श्वतसोर्लोपः, जनपरयोः कुक् च" गणसूत्र पढ़े हैं । अतः द्वितीय कारिका का पूर्वार्ध भी पिष्टपेषणवत् व्यर्थ है । इसलिये ये निश्चय ही किसी प्राचीन व्याकरण की कारिकाएं हैं । इनमें अपूर्व विधायक अंश की अधिकता होने से महाभाष्यकार ने इनका पूरा पाठ उद्धृत कर दिया ।

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि महाभाष्य में उद्धृत अनेक वचन वार्तिकारों के वार्तिक नहीं हैं ।

इस अध्याय में हमने पाणिनीयाष्टक पर वार्तिक रचने वाले सात वार्तिककारों और पांच अन्य वैयाकरणों (जिन के मत महाभाष्य में उद्धृत हैं) का संक्षेप से वर्णन किया है । अगले अध्याय में वार्तिकों के भाष्यकारों का वर्णन होगा ।

नवमां अध्याय

वार्तिकों के भाष्यकार

पतञ्जलि-विरचित महाभाष्य में दो स्थानों पर लिखा है—उक्तो भावभेदो भाष्ये।[1]

इस पर कैयट आदि टीकाकार लिखते हैं कि यहां 'भाष्य' पद से 'सार्वधातुके यक्'[2] सूत्र के महाभाष्य की ओर संकेत है, परन्तु हमारा विचार है कि पतञ्जलि का संकेत किसी प्राचीन भाष्यग्रन्थ की ओर है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१. महाभाष्य के 'उक्तो भावभेदो भाष्ये' वाक्य की तुलना 'संग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्'[4] 'संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे'[5] इत्यादि महाभाष्यस्थ-वचनों से की जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य में संग्रह के समान कोई प्राचीन 'भाष्य' ग्रन्थ अभिप्रेत है। अन्यथा पतञ्जलि अपनी शैली के अनुसार 'उक्तो भावभेदो भाष्ये' न लिखकर 'उक्तम्' शब्द से संकेत करता।

२. महाभाष्य शब्द में "महत्" विशेषण इस बात का द्योतक है कि उस से पूर्व कोई भाष्य ग्रन्थ विद्यमान था। अन्यथा 'महत्' विशेषण व्यर्थ है।

३. भर्तृहरि महाभाष्यदीपिका में दो स्थानों पर वार्त्तिकों के लिये "भाष्यसूत्र" पद का प्रयोग करता है।[6] पाणिनीयसूत्रों के लिये "वृत्तिसूत्र" पद का प्रयोग अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[7] भाष्यसूत्र और वृत्तिसूत्र पदों की पारस्परिक तुलना से व्यक्त होता है कि पाणिनीय सूत्रों पर केवल वृत्तियां ही लिखी गई थीं, अत एव उन का 'वृत्तिसूत्र' पद से व्यवहार होता है। वार्तिकों पर

---

१. ३। ३। १९ ॥ ३। ४। ६७ ॥ २. अष्टा० ३। १। ६७ ॥

३. सार्वधातुके भावभेदः प्रतिपादितः। ३। ३। १९ ॥ सार्वधातुके यगित्यत्र बाह्याभ्यन्तरयोर्भावयो र्विशेषो दर्शितः। ३। ४। ६७॥ ४. महाभाष्य अ० १, पा० १ आ० १, पृष्ठ ६। ५. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १, पृष्ठ ६।

६. देखो पूर्व पृष्ठ २१०, टिप्पणी २। ७. पृष्ठ १५२।

सीधे भाष्य ग्रन्थ लिखे गये, इसलिये वार्तिकों को 'भाष्यसूत्र' कहते हैं। वार्त्तिकों के लिये 'भाष्यसूत्र' नाम का व्यवहार इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि वार्तिकों पर जो व्याख्याग्रन्थ रचे गये वे 'भाष्य' कहाते थे।

अनेक भाष्यकार

महाभाष्य के अवलोकन से विदित होता है कि उस से पूर्व वार्तिकों पर अनेक भाष्य ग्रन्थ लिखे गये थे। वे इस समय अनुपलब्ध हैं। महाभाष्य में अनेक स्थानों पर 'अपर आह' लिख कर वार्त्तिकों की कई विभिन्न व्याख्याएं उद्धृत की हैं। यथा—

अभ्रकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रुकुंसः भ्रूकुंसः, भ्रुकुटिः भ्रूकुटिः।

अपर आह—अकारो भ्रूकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रकुंसः, भ्रकुटिः।[1]

यहां एक व्याख्या में वार्तिकस्थ 'अ'वर्ण निषेधात्मक है, दूसरी व्याख्या में 'अ' का विधान किया है।

इसी प्रकार महाभाष्य १।१।१० में 'सिद्धमनच्त्वाद् वाक्यापरिसमाप्तेर्वा' वार्तिक की दो व्याख्याएं उद्धृत की हैं।

महाभाष्य २।१।१ में 'समर्थतराणां वा' वार्तिक की 'अपर आह' लिखकर तीन व्याख्याएं उद्धृत की हैं।

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि महाभाष्य से पूर्व वार्तिकों की अनेक व्याख्याएं लिखी गई थीं। केवल कात्यायन के वार्तिक पाठ पर न्यूनातिन्यून तीन व्याख्याएं महाभाष्य से पूर्व अवश्य विद्यमान थीं। इसी प्रकार भारद्वाज, सौनाग आदि के वार्तिकों पर भी अनेक भाष्य ग्रन्थ लिखे गये होंगे। यह प्राचीन महती ग्रन्थराशि इस समय सर्वथा लुप्त हो चुकी है, ग्रन्थ या ग्रन्थकारों के नाम तक भी ज्ञात नहीं हैं।

अर्वाचीन वार्तिक व्याख्याकार

महाभाष्य की रचना के अनन्तर भी कई विद्वानों ने वार्तिकों पर व्याख्याएं लिखीं, परन्तु हमें उन में से केवल तीन व्याख्याकारों का ज्ञान है।

---

१. महाभाष्य ६।३।६१॥

१. हेलाराज

हेलाराजकृत वाक्यपदीय की टीका से विदित होता है कि उसने वार्तिकपाठ पर 'वार्तिकोन्मेष' नाम्नी एक व्याख्या लिखी थी। वह लिखता है—

वाक्यकारस्यापि तदेव दर्शनमिति वार्तिकोन्मेषे कथितमस्माभिः।[1]

वार्तिकोन्मेषे विस्तरेण यथातत्त्वमस्माभिर्व्याख्यातमिति तत एवावधार्यम्।[2]

वार्तिकोन्मेषे यथागमं व्याख्यातम्, तत एवावधार्यम्।[3]

वार्तिकोन्मेष ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। हेलाराज का विशेष वर्णन आगे 'व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार' नामक अध्यायान्तर्गत वाक्यपदीय के प्रकरण में किया जायगा।

---

२. राघवसूरि

राघवसूरि ने वार्तिकों की 'अर्थप्रकाशिका' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ C. पृष्ठ ५८०४ ग्रन्थाङ्क ३९१२ B.।

---

३. राजरुद्र

राजरुद्र नामक किसी पण्डित ने काशिकावृत्ति में उद्धृत श्लोकवार्तिकों की व्याख्या लिखी है। राजरुद्र के पिता का नाम 'गञ्जय' था। इसके अन्त में निम्न पाठ है—

इति राजरुद्रीये (काशिका) वृत्तिश्लोकव्याख्यानेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

---

१. तृतीयकाण्ड पृष्ठ ४४३ काशी सं०। २. तृतीयकाण्ड पृष्ठ ४४४।

३. तृतीय काण्ड पृष्ठ ४४६।

इस का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय पुस्तकालय के हस्तलेख-संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ C. पृष्ठ ५८०३, ग्रन्थाङ्क ३९१२ A. पर निर्दिष्ट है।

इन दोनों ग्रन्थकारों का काल अज्ञात है।

इस अध्याय में वार्तिकों के प्राचीन भाष्यकारों और तीन अर्वाचीन व्याख्याकारों का संक्षेप से वर्णन किया है। अगले अध्याय में महाभाष्यकार पतञ्जलि का वर्णन किया जायगा।

दसवां अध्याय

महाभाष्यकार पतञ्जलि (१५०० वि० पू०)

महामुनि पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण पर एक महती व्याख्या लिखी है। यह संस्कृत वाङ्मय में महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में भगवान् पतञ्जलि ने व्याकरण जैसे दुरूह और शुष्क विषय को जिस सरल और सरस रूप से हृदयङ्गम कराया है, वह देखते ही बनता है। ग्रन्थ की भाषा इतनी सरल और प्राञ्जल है कि जो कोई विद्वान् इसे देखता है, इसके रचना-सौष्ठव की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ न केवल व्याकरण सम्प्रदाय में अपितु सकल संस्कृत वाङ्मय में अपने ढंग का एक निराला ग्रन्थ है। महाभाष्य पाणिनीय व्याकरण का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। समस्त वैयाकरण इसके सन्मुख नतमस्तक हैं। अर्वाचीन वैयाकरण जहां सूत्र, वार्तिक और महाभाष्य में परस्पर विरोध समझते हैं, वहां वे महाभाष्य को ही प्रामाणिक मानते हैं।[1]

परिचय

नामान्तर—विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में पतञ्जलि को गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत्, चूर्णिकार और पदकार आदि नामों से स्मरण किया है।

गोनर्दीय—यादवप्रकाश आदि कोषकारों ने इस नाम को पतञ्जलि का पर्याय लिखा है।[2] महाभाष्य १।१।२१, २९॥ ३।१।९२॥ ७।२।१०१ में 'गोनर्दीय' आचार्य के मत निर्दिष्ट हैं।[3] भर्तृहरि और कैयट आदि टीकाकारों के मत में यहां गोनर्दीय का अर्थ पतञ्जलि है।[4] किसी गोनर्दीय आचार्य का मत वात्स्यायन कामसूत्र में भी मिलता है।[5] हमारा विचार है कि गोनर्दीय पतञ्जलि से भिन्न व्यक्ति है।

---

१. यथोत्तरं हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम् । कैयट, भाष्यप्रदीप १।१।२९॥ यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् । नागेश, उद्योत १।१।८७॥

२. पूर्व पृष्ठ २२५ टि० ३। ३. पूर्व पृष्ठ २२४, टि० १—४

४. पूर्व पृष्ठ २२५ टि० १। ५. पूर्व पृष्ठ २२७ टि० ४।

गोणिका-पुत्र—महाभाष्य १।४।५१ में गोणिकापुत्र का एक मत निर्दिष्ट है।[1] नागेश की व्याख्या से प्रतीत होता है कि कई प्राचीन टीकाकार गोणिकापुत्र का अर्थ यहां पतञ्जलि समझते थे।[2] वात्स्यायन कामसूत्र में भी गोणिका-पुत्र का निर्देश मिलता है।[3] हमारा विचार है कि गोणिकापुत्र भी पतञ्जलि से पृथक् व्यक्ति है।

नागनाथ—कैयट ने महाभाष्य ४।२।९३ की व्याख्या में पतञ्जलि के लिये नागनाथ नाम का प्रयोग किया है।[4]

अहिपति—चक्रपाणि ने चरकटीका के प्रारम्भ में अहिपति नाम से पतञ्जलि को नमस्कार किया है।[5]

फणिभृत्—भोजराज ने योगसूत्र वृत्ति के प्रारम्भ में फणिभृत् पद से पतञ्जलि का निर्देश किया है।[6]

चूर्णिकार—भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका में तीन बार चूर्णिकार पद से पतञ्जलि का उल्लेख मिलता है।[7] सांख्यकारिका की युक्तिदीपिकाटीका में महाभाष्य १।४।२१ का वचन चूर्णिकार के नाम से उद्धृत है।[8] स्कन्दस्वामी निरुक्त ३।१६ की व्याख्या में चूर्णिकार के नाम से महाभाष्य १।१।५७ का पाठ उद्धृत करता है।[9] स्कन्दस्वामी की निरुक्त टीका ८।२ में चूर्णिकार के नाम से एक पाठ और उद्धृत है,[10] परन्तु वह पाठ महाभाष्य का नहीं है, वह मीमांसा १।३।३० के शाबर भाष्य का पाठ है। आधुनिक पाणिनीयशिक्षा का शिक्षाप्रकाश-टीकाकार शाबरभाष्य के इस पाठ को महाभाष्य के नाम

१. उभयथा गोणिकापुत्र इति। २. गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः।

३. पूर्व पृष्ठ २२६ टि० १। ४. तत्र जात इत्यत्र तु सूत्रेऽस्य लक्षणत्वमाश्रित्यैतेषां सिद्धिमभिधास्यति नागनाथः।

५. पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः॥

६. वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतः।

७. हमारा हस्तलेख पृष्ठ १७६, १६६, २३६।

८. कदाचित् गुणो गुणिविशेषको भवति कदाचित्तु गुणिना गुणो विशेष्यते इति चूर्णिकारस्य प्रयोगः। पृष्ठ ७।

९. तथा च चूर्णिकारः पठति—वतिनिर्देशोऽयं सन्ति न सन्तीति।

१०. चूर्णिकारो मते—य एव लौकिकाः शब्दा इति।

से उद्धृत करता है।[1] बौद्ध चीनी यात्री इत्सिंग ने महाभाष्य का चूर्णि नाम से उल्लेख किया है।[2]

पद्कार—स्कन्दस्वामी ने निरुक्तटीका १।३ में पदकार के नाम से महाभाष्य ५।२।२८ का पाठ उद्धृत किया है।[3] उव्वट ने भी ऋक्प्रातिशाख्य १३।१९ की टीका में पदकार शब्द से महाभाष्य १।१।९ का पाठ उद्धृत किया है।[4] आत्मानन्द ने अस्यवामीयसूक्त के भाष्य में पदकार के नाम से महाभाष्य १।१।४७ की ओर संकेत किया है।[5] भामह ने अपने अलंकार ग्रन्थ में सूत्रकार के साथ पदकार का स्मरण किया है।[6] क्षीरस्वामी ने अमरकोश ३।१।३५ की टीका में पदकार के नाम से एक पाठ उद्धृत किया है,[7] परन्तु वह महाभाष्य में नहीं मिलता। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में पदकार के नाम से एक वार्त्तिक उद्धृत है।[8] न्यास ३।२।२१ में जिनेन्द्रबुद्धि ने एक पदकार का पाठ उद्धृत किया है[9] वह वार्तिक और उसके भाष्य से अक्षरशः नहीं मिलता।[10]

---

१. य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्था इति महाभाष्योक्तेः। शिक्षासंग्रह पृष्ठ ३८६ काशी सं०।

२. इत्सिंग की भारत यात्रा पृष्ठ २७२।

३. पदकार आह—उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मकाः……क्रियामाहुः।

४. पदकारेणाप्युक्तम्—प्रथमद्वितीयाः……महाप्राणा इति।

५. पदकारास्तु परभक्तं नुममाहुः। पृष्ठ १३। महाभाष्यकार ने सिद्धान्त पक्ष में नुम् को पूर्वभक्त माना है। कैयट लिखता है—तदत्र निर्दोषत्वात् पूर्वान्तपक्षः स्थितः।

६. सूत्रकृत्पदकारेष्टप्रयोगाद् योऽन्यथा भवेत्। ४।२२। यहां पदकार शब्द महाभाष्यकार के लिये प्रयुक्त हुआ है। मुद्रितग्रन्थ में 'पादकार' छपा है वह अशुद्ध है।

७. यजजप इत्यत्र वदेरनुपदेशः कार्य इति पदकारवाक्यादूकः।

८. पदकारस्त्वाह—जातिवाचकत्वात्। पृष्ठ ७। तुलना करो—दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्। वार्तिक १।२।१०॥

९. तथाहि पदकारः पठति—उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयतीति।

१०. उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणम्। उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं प्रयोजनम्। महाभाष्य १।१।७२॥

दुर्घटवृत्ति पृष्ठ १२९ पर अनुपदकार के एक मत का उल्लेख मिलता है।[1] मैत्रेयरक्षित ने भी तन्त्रप्रदीप ७। ४। १ में अनुपदकार का मत उद्धृत किया है।[2] ये अनुपदकार के नाम से उद्धृत मत महाभाष्य में नहीं मिलते। काशिका ७। २। ५८ में पदशेषकार का एक मत उद्धृत है वह भी महाभाष्य में नहीं मिलता।[3] पदशेषकार का एक उद्धरण पुरुषोत्तमदेव-विरचित महाभाष्य लघुवृत्ति की 'भाष्यव्याख्याप्रपञ्च' नाम्नी टीका में भी उपलब्ध होता है।[4] हमारा विचार है अनुपदकार, और पदशेषकार दोनों एक ही हैं।

महाभाष्यकार को पदकार क्यों कहते हैं, यह अज्ञात है। शिशुपाल-वध के 'अनुत्सूत्रपदन्यासा'[5] इत्यादि श्लोक की व्याख्या में वल्लभदेव लिखता है—पदं शेषाहिविरचितं भाष्यम्। वल्लभदेव ने "पद" का अर्थ 'पतञ्जलिविरचित महाभाष्य' किस आधार पर किया यह अज्ञात है। यदि यह अर्थ ठीक हो तो काशिका और भाष्यव्याख्याप्रपञ्च में निर्दिष्ट 'पदशेषकार' का अर्थ 'महाभाष्य-शेष का रचयिता' होगा। इस ग्रन्थ का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

वंश और देश—पतञ्जलि ने महाभाष्य जैसे विशालकाय ग्रन्थ में अपना किञ्चिन्मात्र परिचय नहीं दिया। अतः पतञ्जलि का इतिवृत्त सर्वथा अन्धकारावृत है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि महाभाष्य के कुछ व्याख्याकार 'गोणिका-पुत्र' शब्द का अर्थ पतञ्जलि मानते हैं, यदि वह ठीक हो तो पतञ्जलि की माता का नाम "गोणिका" होगा, परन्तु हमें ठीक प्रतीत नहीं होता।

---

१. प्रेन्वनमिति अनुपदकारेणानुम उदाहरणमुपन्यस्तम्।

२. एवं च युवानमाख्यत् अचीकलदित्यादिप्रयोगेऽनुपदकारेण नेष्यत इति लक्ष्यते। देखो, भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८६४ की टिप्पणी में उद्धृत।

३. पदशेषकारस्य पुनरिदं दर्शनम् ………… ॥ पदशेषो ग्रन्थविशेष इति पदमञ्जरी। काशिका का उद्धृत पाठ धातुवृत्ति में भी उद्धृत है। देखो गम धातु, पृष्ठ १९।

४. पदशेषकारस्तु शब्दाध्याहारं शेषमिति वदति। इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३, पृष्ठ २०७ में उद्धृत।

५. २। ११२॥

कुछ ग्रन्थकार 'गोनर्दीय' को पतञ्जलि का पर्याय मानते हैं। यदि उनका मत प्रामाणिक हो तो महाभाष्यकार की जन्मभूमि गोनर्द होगी। गोनर्द देश वर्तमान गोण्डा जिले का आसपास का प्रदेश है। एक गोनर्द देश कश्मीर में भी है। परन्तु गोनर्दीय को पतञ्जलि का पर्याय मानने पर उसे प्राग्देशवासी मानना होगा, क्योंकि गोनर्दीय पद में गोनर्द की 'एङ् प्राचां देशे'[1] से वृद्ध संज्ञा होकर छ = ईय प्रत्यय होता है। हमारा विचार है गोनर्दीय पतञ्जलि से भिन्न व्यक्ति है।

महाभाष्य ३। २। ११४ में "अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः तत्र सक्तून् पास्यामः" इत्यादि उदाहरणों में असकृत् कश्मीर गमन का उल्लेख मिलता है यह उल्लेख ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि कश्मीर जाने की बड़ी उत्कण्ठा हो रही हो। इन उदाहरणों के आधार पर कुछ एक विद्वानों का मत है कि पतञ्जलि की जन्मभूमि कश्मीर थी। महाभाष्य ३। २। १२३ से प्रतीत होता है कि पतञ्जलि अधिकतर पाटलिपुत्र में निवास करता था महाभाष्य के विविध निर्देशों से व्यक्त होता है कि पतञ्जलि मथुरा, साकेत, कौशाम्बी और पाटलिपुत्र आदि से भले प्रकार विज्ञ था। अतः पतञ्जलि की जन्मभूमि कौन सी थी, यह सन्दिग्ध है।

अनेक पतञ्जलि

पतञ्जलि-विरचित तीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं— सामवेदीय निदानसूत्र, योगसूत्र और महाभाष्य। सामवेद की एक पातञ्जलशाखा भी थी, इस का निर्देश कई ग्रन्थों में मिलता है।[2] योगसूत्र के व्यास भाष्य में किसी पतञ्जलि का एक मत उद्धृत है।[3] वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका में पतञ्जलि के किसी ग्रन्थ का एक वचन उद्धृत किया है।[4] सांख्यकारिका की युक्तिदीपिकाटीका में पतञ्जलि के

१. अष्टा० १। १। ७५॥

२. देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ २०७।

३. अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः। ३। ४४॥ तुलना करो—सेश्वरसांख्यानामाचार्यस्य पतञ्जलेरित्यर्थः। 'गुणसमूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः' इति योगभाष्ये स्पष्टम्। नागेश, उद्योत ४। १। ४॥

४. यथाहुस्तत्र भवन्तः पतञ्जलिपादाः—'को हि योगप्रभावादृते अगस्त्यइव समुद्रं पिबति स इव च दण्डकारण्यं सृजति" इति। न्या० वा० ता० टी० १।१।१।

सांख्यसिद्धान्त-विषयक अनेक मत उद्धृत हैं।[1] आयुर्वेद की चरकसंहिता भी पतञ्जलि द्वारा परिष्कृत मानी जाती है। समुद्रगुप्तविरचित कृष्ण-चरित के अनुसार पतञ्जलि ने चरक में कुछ धर्माविरुद्ध-योगों का सन्निवेश किया था।[2] चक्रपाणि,[3] पुण्यराज[4] और भोजदेव[5] आदि अनेक ग्रन्थकार महाभाष्य, योगसूत्र और चरकसंहिता इन तीनों का कर्त्ता एक मानते हैं। मैक्समूलर ने षड्गुरुशिष्य का एक पाठ उद्धृत किया है, जिसके अनुसार योगदर्शन और निदानसूत्र का कर्त्ता एक व्यक्ति है।[6]

महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित की प्रस्तावना में पतञ्जलि के लिये लिखा है—

विद्ययोद्रिक्तगुणतया भूमावमरतां गतः।
पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा॥
कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम्।
धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः कृताः॥
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्।
योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम्॥

अर्थात् महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि ने चरक में धर्मानुकूल कुछ योग सम्मिलित किये, और योग की विभूतियों का निदर्शक योगव्याख्यानभूत 'महानन्दकाव्य' रचा।

पृष्ठ ६॥ तुलना करो व्यासभाष्य ४।१०—दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शरीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत, समुद्रमगस्त्यवद् वा पिबेत्।

१. पृष्ठ ३२, १००, १३६, १४५, १४६, १७५।

२. धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः कृताः। मुनिकाविवर्णन।

३. पूर्वपृष्ठ २३५ टि० ५।

४. तदेवं ब्रह्मकाण्डे 'कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः' (कारिका १४७) इत्यादिश्लोकेन भाष्यकारप्रशंसोक्ता। वाक्यपदीयटीका काण्ड २, पृष्ठ २८४ काशी संस्क०। वस्तुतः इस कारिका में भाष्यकार की प्रशंसा का न कोई प्रसङ्ग ही है और न भर्तृहरि ने अपनी स्वोपज्ञव्याख्या में इसकी भाष्यकार की प्रशंसापरक व्याख्या ही की है। अतः पुण्यराज की यह अप्रासंगिक क्लिष्ट कल्पना है।

५. पूर्वपृष्ठ २३५ टि ६।

६. योगाचार्यः स्वयं कर्त्ता योगशास्त्रनिदानयोः। A. S. L. पृष्ठ २३९ में उद्धृत।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि का चरकसंहिता और योगदर्शन के साथ कुछ सम्बन्ध अवश्य है। चक्रपाणि आदि ग्रन्थकारों का लेख सर्वथा काल्पनिक नहीं है। हमारा विचार है पातञ्जल शाखा, निदानसूत्र और योगदर्शन का रचयिता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति है, यह अति प्राचीन ऋषि है। एक आङ्गिरस पतञ्जलि का उल्लेख मत्स्य पुराण १९५। २५ में मिलता है। पाणिनि ने २। ४। ६९ के उपकादि-गण में पतञ्जलि पद पढ़ा है। महाभाष्यकार इन से भिन्न व्यक्ति है।[1] और वह इनकी अपेक्षा अर्वाचीन है।

पतञ्जलि का काल

पतञ्जलि का इतिवृत्त अन्धकारावृत है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। पतञ्जलि के काल निर्णय में जो सहायक सामग्री महाभाष्य में उपलब्ध होती है, वह इस प्रकार है—

१. अनुशोणं पाटलिपुत्रम्। २। १। १५॥
२. जेयो वृषलः। १। १। ५०॥
३. काण्डीभूतं वृषलकुलम्। कुड्यीभूतं वृषलकुलम्। ६।३। ६१॥
४. मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। ५। ३। ९९॥
५. अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। ३। २। १११॥
६. पुष्यमित्रसभा, चन्द्रगुप्तसभा। १। १। ६८॥
७. महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः। एष प्रयोग उपपन्नो भवति। ७। २। २३॥
८. इह पुष्यमित्रं याजयामः। ३। २। १२३॥
९. पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति। ३। १। २६॥
१०. यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्। यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्। ३। ३। १४७॥

इन उद्धरणों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

१—प्रथम उद्धरण में पाटलिपुत्र का उल्लेख है। महाभाष्य में पाटलिपुत्र का नाम अनेक बार आया है। वायु पुराण ९९। ३१८ के अनुसार

---

१. कपितरः स्वस्तितरा दाक्षिः शक्तिः पतञ्जलिः।

महाराज उदयी (उदायी) ने गंगा के दक्षिण कूल पर कुसुमपुर बसाया था।[1] साम्प्रतिक ऐतिहासिकों का मत है कि कुसुमपुर पाटलिपुत्र का ही नामान्तर है। अतः उनके मत में महाभाष्यकार महाराज उदयी से अर्वाचीन है।

२—संख्या २, ३ में वृषल और वृषलकुल का निर्देश है। संख्या २ में वृषल को 'जीतने योग्य' कहा है। संख्या ३ में किसी महान् वृषल-कुल के कुड्य के सदृश अतिसंकीर्ण होने का संकेत है। यह वृषलकुल मौर्यकुल है। मुद्राराक्षस में चाणक्य चन्द्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' नाम से संबोधित करता है। महाभाष्य के इन दो उद्धरणों की ओर श्री पं० भगवद्दत्त जी ने सब से प्रथम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है।[2]

वृषल शब्द का अर्थ—सम्प्रति वृषल शब्द का अर्थ शूद्र समझा जाता है। विश्वप्रकाश-कोश में वृषल का अर्थ शूद्र, चन्द्रगुप्त और अश्व लिखा है।[3] वस्तुतः वृषलशब्द देवानांप्रियः[4] के समान द्वयर्थक है, उसका एक अर्थ है पापी और दूसरा धर्मात्मा। निरुक्त ३। १६ में वृषलशब्द का अर्थ लिखा है—

ब्राह्मणवद् वृषलवद्। ब्राह्मणा इव वृषला इव। वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा।

अर्थात्—वृषल का अर्थ वृष = धर्म[5] + शील और वृष = धर्म + अशील है। द्वितीय अर्थ में शकन्धु[6] के समान अकार का पररूप होगा।

इन्हीं दो अर्थों में वृषलशब्द की दो व्युत्पत्तियां भी उपलब्ध होती हैं। एक-**वृषं धर्मं लाति आदत्ते इति वृषलः** है। इसी अर्थ में '**वृषादिभ्यश्च**'[7]

---

१. उदायी भविता यस्मात् त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः। स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्। गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति॥

२. भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ २६३, २७४ द्वितीय संस्क०।

३. वृषलः कथितः शूद्रे चन्द्रगुप्ते च वाजिनि। पृष्ठ १५६, श्लोक ६०। 'वाजिनि' के स्थान पर 'राजनि' पाठ युक्त प्रतीत होता है। ४. देवताओं का प्यारा और मूर्ख। इस को न समझकर भट्टोजि दीक्षित ने 'देवानां प्रिय इति चोपसंख्यानम्' (महाभाष्य ६। ३। २१) वार्तिक में 'मूर्खे' पद का प्रक्षेप कर दिया। सि० कौ० सूत्रसंख्या ६७६। ५. वृषो हि भगवान् धर्मः। मनु ८। १६॥

६. शक+अन्धुः = शकन्धुः। शकन्ध्वादिषु च। वार्तिक ६। १। ९४॥

७. पं० उणा० १। १०१॥ दश० उणा० ८। १०६॥

इस वर्णन से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि का चरकसंहिता और योगदर्शन के साथ कुछ सम्बन्ध अवश्य है। चक्रपाणि आदि ग्रन्थकारों का लेख सर्वथा काल्पनिक नहीं है। हमारा विचार है पातञ्जल शाखा, निदानसूत्र और योगदर्शन का रचयिता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति है, यह अति प्राचीन ऋषि है। एक आङ्गिरस पतञ्जलि का उल्लेख मत्स्य पुराण १९५। २५ में मिलता है। पाणिनि ने २। ४। ६९ के उपकादिगण में पतञ्जलि पद पढ़ा है। महाभाष्यकार इन से भिन्न व्यक्ति है।[1] और वह इनकी अपेक्षा अर्वाचीन है।

पतञ्जलि का काल

पतञ्जलि का इतिवृत्त अन्धकारावृत है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। पतञ्जलि के काल निर्णय में जो सहायक सामग्री महाभाष्य में उपलब्ध होती है, वह इस प्रकार है—

१. अनुशोणं पाटलिपुत्रम्। २। १। १५॥
२. जेयो वृषलः। १। १। ५०॥
३. काण्डीभूतं वृषलकुलम्। कुड्यीभूतं वृषलकुलम्। ६।३। ६१॥
४. मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। ५। ३। ९९॥
५. अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। ३। २। १११॥
६. पुष्यमित्रसभा, चन्द्रगुप्तसभा। १। १। ६८॥
७. महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः। एष प्रयोग उपपन्नो भवति। ७। २। २३॥
८. इह पुष्यमित्रं याजयामः। ३। २। १२३॥
९. पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति। ३। १। २६॥
१०. यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्। यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्। ३। ३। १४७॥

इन उद्धरणों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

१—प्रथम उद्धरण में पाटलिपुत्र का उल्लेख है। महाभाष्य में पाटलिपुत्र का नाम अनेक बार आया है। वायु पुराण ९९। ३१८ के अनुसार

---

१. कपितरः स्वस्तितरो दाक्षिः शक्तिः पतञ्जलिः।

महाराज उदयी (उदायी) ने गंगा के दक्षिण कूल पर कुसुमपुर बसाया था।[1] साम्प्रतिक ऐतिहासिकों का मत है कि कुसुमपुर पाटलिपुत्र का ही नामान्तर है। अतः उनके मत में महाभाष्यकार महाराज उदयी से अर्वाचीन है।

२—संख्या २, ३ में वृषल और वृषलकुल का निर्देश है। संख्या २ में वृषल को 'जीतने योग्य' कहा है। संख्या ३ में किसी महान् वृषल-कुल के कुड्य के सदृश अतिसंकीर्ण होने का संकेत है। यह वृषलकुल मौर्यकुल है। मुद्राराक्षस में चाणक्य चन्द्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' नाम से संबोधित करता है। महाभाष्य के इन दो उद्धरणों की ओर श्री पं० भगवद्दत्त जी ने सब से प्रथम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है।[2]

वृषल शब्द का अर्थ—सम्प्रति वृषल शब्द का अर्थ शूद्र समझा जाता है। विश्वप्रकाश-कोश में वृषल का अर्थ शूद्र, चन्द्रगुप्त और अश्व लिखा है।[3] वस्तुतः वृषलशब्द 'देवानांप्रियः'[4] के समान द्व्यर्थक है, उसका एक अर्थ है पापी और दूसरा धर्मात्मा। निरुक्त ३। १६ में वृषलशब्द का अर्थ लिखा है—

ब्राह्मणवद् वृषलवद्। ब्राह्मणा इव वृषला इव। वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा।

अर्थात्—वृषल का अर्थ वृष = धर्म[5] + शील और वृष = धर्म + अशील है। द्वितीय अर्थ में शकन्धु[6] के समान अकार का पररूप होगा।

इन्हीं दो अर्थों में वृषलशब्द की दो व्युत्पत्तियां भी उपलब्ध होती हैं। एक–वृषं धर्मं लाति आदत्ते इति वृषलः है। इसी अर्थ में '**वृषादिभ्यश्च**'[7]

---

१. उदायी भविता यस्मात् त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः। स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्। गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति॥

२. भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ २९३,२७४ द्वितीय संस्क०।

३. वृषलः कथितः शूद्रे चन्द्रगुप्ते च वाजिनि। पृष्ठ १५६, श्लोक ६०। 'वाजिनि' के स्थान पर 'राजनि' पाठ युक्त प्रतीत होता है। ४. देवताओं का प्यारा और मूर्ख। इस को न समझकर भट्टोजि दीक्षित ने 'देवानां प्रिय इति चोपसंख्यानम्' (महाभाष्य ६। ३। २१) वार्तिक में 'मूर्खे' पद का प्रक्षेप कर दिया। सि० कौ० सूत्रसंख्या ९७९। ५. वृषो हि भगवान् धर्मः। मनु ८। १६॥

६. शक+अन्धुः = शकन्धुः। शकन्ध्वादिषु च। वार्तिक ६। १। ९४॥

७. पं० उणा० १। १०१॥ दश० उणा० ८।१०६॥

इस उणादि सूत्र से वृष धातु से कर्ता में कल प्रत्यय होने पर 'वर्षतीति वृषल:'[1] व्युत्पत्ति होती है। दूसरी व्युत्पत्ति मनुस्मृति में लिखी है—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥[1]

इन्हीं विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्तों को दर्शाने के लिये निरुक्तकार ने दो निर्वचन दर्शाये हैं। अर्वाचीन ग्रन्थकारों ने मौर्य चन्द्रगुप्त के लिये वृषल शब्द का प्रयोग देख कर 'मुरा' नाम्नी शूद्रा स्त्री से चन्द्रगुप्त के उत्पन्न होने की कल्पना की है। यह कल्पना ऐतिह्य-विरुद्ध है, मौर्य क्षत्रिय वंश था।[2] व्याकरणानुसार मुरा की संतति मौरेय होगी,[3] मौर्य नहीं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि महाभाष्य के संख्या २, ३ के उद्धरणों में मौर्य बृहद्रथ समकालिक मौर्यकुल की हीनता का उल्लेख है। संख्या ४ के उद्धरण में स्पष्ट मौर्यशब्द का उल्लेख है।[4] अतः महाभाष्यकार मौर्य राज्य के अनन्तर हुआ होगा।

३—संख्या ५ में अयोध्या और माध्यमिका[5] नगरी पर किसी यवन आक्रमण का उल्लेख है। गार्गीसंहिता के अनुसार इस यवनराज का नाम धर्ममीत था। व्याकरण के नियमानुसार 'अरुणत्' शब्द का प्रयोगकर्त्ता भाष्यकार यवनराज धर्ममीत का समकालिक होना चाहिये।[6]

४—संख्या ६–९ चार उद्धरणों में स्पष्ट पुष्यमित्र का उल्लेख है। कई विद्वानों का मत है कि संख्या ८ में महाभाष्यकार के पुष्यमित्रीय अश्वमेध का ऋत्विक् होने का संकेत है। संख्या १० से इसकी पुष्टि होती है। इस में क्षत्रिय को यज्ञ कराने की निन्दा की है। पतञ्जलि का यजमान पुष्यमित्र ब्राह्मण वंश का था।

---

१. मनु ८। १६।

२. चन्द्रगुप्ताय मौर्यकुलप्रसूताय। कामन्दक नीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षा टीका। अलवर राजकीय पुस्तकालय सूचीपत्र, परिशिष्ट पृष्ठ ११०। ३. अष्टा० ४। १। १२१॥ ४. नागेश इस उद्धरणान्तर्गत मौर्य पद का अर्थ 'विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवन्तः' करता है। यह ठीक नहीं। ५. यह चित्तौड़गढ़ से ६ मील पूर्वोत्तर दिशा में है। सम्प्रति 'नगरी' नाम से प्रसिद्ध है। ६. परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये। महाभाष्य ३। २। १११॥

५—महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित का जो अंश हमने पूर्व उद्धृत किया है उस से ज्ञात होता है कि महामुनि पतञ्जलि ने कोई '**महानन्दमय**' काव्य बनाया था। यदि महानन्द शब्द श्लेष से महानन्द पद्म का वाचक हो तो निश्चय ही पतञ्जलि महानन्द पद्म का उत्तरवर्त्ती होगा।

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि शुंगवंश्य महाराज पुष्यमित्र का समकालीन है। पाश्चात्य तथा तदनुयायी भारतीय ऐतिहासिक पुष्यमित्र का काल विक्रम से लगभग १५० वर्ष पूर्व मानते हैं, परन्तु अनेक प्रमाणों से यह मत युक्त प्रतीत नहीं होता। इस में संशोधनकी पर्याप्त आवश्यकता है। भारतीय पौराणिक कालगणनानुसार पुष्यमित्र विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्व ठहरता है। चीनी विद्वान् महात्मा बुद्ध का निर्वाण विक्रम से ९०० से १५०० वर्ष पूर्व विभिन्नकालों में मानते हैं। इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में महावीर स्वामी के निर्वाण की विभिन्न तिथियां दी हुई हैं। अतः विना विशेष परीक्षा किये पाश्चात्य ऐतिहासिकों द्वारा निर्धारित कालक्रम माननीय नहीं हो सकता।

अब हम महाभाष्यकार के कालनिर्णय के लिये बाह्य साक्ष्य उपस्थित करते हैं।

आचार्य भर्तृहरि और कल्हण के लेख से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने विलुप्तप्राय महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था।[1] अतः महाभाष्यकार के कालनिर्णय में चन्द्राचार्य का कालज्ञान महान् सहायक है। चन्द्राचार्य का काल भी विवादास्पद है, इसलिये हम प्रथम चन्द्राचार्य के काल के विषय में लिखते हैं—

चन्द्राचार्य का काल

कल्हण के लेखानुसार चन्द्राचार्य कश्मीराधिपति महाराज अभिमन्यु का समकालिक था।[2] उस के मतानुसार अभिमन्यु कनिष्क का उत्तरवर्ती है। कल्हण ने कनिष्क को बुद्धनिर्वाण के १५० वर्ष पश्चात् लिखा है।[3] बुद्धनिर्वाण के विषय में अनेक मत हैं। कल्हण ने बुद्धनिर्वाण की

१. पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः। स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥ वाक्यपदीय २।४८९॥ चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्। प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्। राजतरङ्गिणी, तरङ्ग १, श्लोक १७६॥

२. राजतरङ्गिणी १।१७४, १७६॥

३. राजतरङ्गिणी १।१७२॥

कौन सी तिथि मान कर कनिष्क को १५० वर्ष पश्चात् लिखा है, यह अज्ञात है। चीनी यात्री ह्यूनसांग लिखता है—"बुद्ध की मृत्यु से ठीक ४०० वर्ष पीछे कनिष्क सारे जम्बू द्वीप का सम्राट् बना।" चीनी ग्रन्थकार बुद्धनिर्वाण की विक्रम से ९००–१५०० वर्ष पूर्व अनेक विभिन्न तिथियां मानते हैं। कल्हणविरचित राजतरङ्गिणी के अनुसार अभिमन्यु से प्रतापादित्य तक २१ राजा हुए (कई प्रतापादित्य को विक्रमादित्य मानते हैं)। राजतरङ्गिणी के अनुसार इनका राज्यकाल १०१४ वर्ष ९ मास ९ दिन था। कल्हण के लेखानुसार विक्रमादित्य ने मातृगुप्त को कश्मीर का राजा बनाया था। मातृगुप्त अभिमन्यु से ३१ पीढ़ी पश्चात् हुआ है। उस का काल अभिमन्यु से १३०० वर्ष ११ मास और ९ दिन उत्तरवर्ती है। कल्हण ने प्राचीन ऐतिहासिक आधार पर प्रत्येक राजा का वर्ष, मास और दिनों तक की पूरी पूरी संख्या दी है। अतः उस के काल को सहसा अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने अभिमन्यु का काल बहुत अर्वाचीन और भिन्न भिन्न माना है। बिल्फर्ड ४२३ वर्ष ईसापूर्व, बोथलिंग १०० वर्ष ईसापूर्व, प्रिंसिप् ७३ वर्ष ईसापूर्व, लासेन ४० वर्ष ईसापश्चात् और स्टाईन ४००–५०० वर्ष ईसापश्चात् अभिमन्यु को रखते हैं।[1] पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित कालक्रम की अपेक्षा भारतीय पौराणिक और राजतरङ्गिणी की कालगणना अधिक विश्वसनीय है। राजतरङ्गिणी की कालगणना में थोड़ी सी भूल है, यदि उसे दूर कर दिया जाय तो दोनों गणनाएं लगभग समान हो जाती हैं।

चन्द्राचार्य के कालनिर्णय में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। वह है चान्द्रव्याकरण १।२।८१ का उदाहरण—अजयत् जर्त्तो हूणान्। अर्थात् जर्त ने हूणों को जीता। जर्त एक सीमान्त की पुरानी जाति है; महाभारत सभापर्व ४७।२६ में जर्तों के लिये 'लोमशाः शृङ्गिणो नराः' प्रयोग मिलता है। दुर्गसिंह ने उणादि २।६८ की वृत्ति में 'जर्तः दीर्घरोमा' लिखा है। वर्धमान गणरत्नमहोदधि कारिका २०१ में 'शक' और 'खस' के साथ 'जर्त' शब्द पढ़ता है। हेमचन्द्र उणादिवृत्ति (सूत्र २००) में जर्त का अर्थ राजा करता है। सम्भव है, हेमचन्द्र का संकेत उसी जर्त राजा की ओर होगा जिस की हूणों की विजय का उल्लेख चान्द्रव्याकरण की वृत्ति में मिलता है। रमेशचन्द्र मजुम्दार ने चान्द्रव्याकरण के 'अजयत्

१. निरुक्तालोचन पृष्ठ ६५ द्रष्टव्य।

जर्तो हूणान्' पाठ को बदल कर 'अजयद् गुप्तो हूणान्' बना दिया है।[1] यह भयङ्कर भूल है।[2] अनेक विद्वानों ने मजुम्दार महोदय का अनुकरण करके चन्द्रगोमी के आश्रयदाता अभिमन्यु का काल गुप्तकाल के अन्त में विक्रम की पांचवीं शताब्दी में माना है।[3] और उसी के आधार पर वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को भी बहुत अर्वाचीन बना दिया है।

इस प्रकार महाभाष्यकार को महाराज पुष्यमित्र का समकालिक मानने पर भी वह भारतीय गणनानुसार विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्ववर्ती अवश्य है।

महाभाष्यकार को पुष्यमित्र का समकालिक मानने में एक कठिनाई भी है। उस का यहां निर्देश करना आवश्यक है। इससे भावी इतिहास-शोधकों को विचार करने में सुगमता होगी।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि वायुपुराण ९९। ३१९ के अनुसार महाराज उदयी ने गङ्गा के दक्षिणकूल पर कुसुमपुर नगर बसाया था, वही कालान्तर में पाटलिपुत्र के नाम से विख्यात हुआ, ऐसा साम्प्रतिक ऐतिहासिकों का मत है। मुद्राराक्षस नाटक में मौर्य चन्द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र की स्थिति अनुगङ्ग कही है, और इस समय भी अनुगंग ही है। परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि पाटलिपुत्र को अनुशोण लिखता है। यदि महाभाष्यकार को शुङ्गकाल में माना जाय तो उसका पाटलिपुत्र को अनुशोण लिखना उपपन्न नहीं हो सकता।

अनेक पाटलिपुत्र

नागेश महाभाष्य २।१।१ के **'कुतो भवान् पाटलिपुत्रात्'** वचन की व्याख्या में लिखता है—**कस्मात् पाटलिपुत्राद् भवानागत इत्यर्थः, अनेकत्वात् पाटलिपुत्रस्य, तदवयवानां वा प्रश्नः।** इससे सन्देह होता है कि पाटलिपुत्र नाम कदाचित् अनेक नगरों का रहा हो।

पाटलिपुत्र का अनेक बार बसना

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने महावंश नामक बौद्धग्रन्थ के आधार पर लिखा है—'शाक्यमुनि के जीवन काल में सोन के किनारे पाटली ग्राम

१. ए न्यू हि० आफ दि० इ० पी० भाग ६, पृष्ठ १६७।

२. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३२५।

३. देखो गुप्त साम्राज्य का इतिहास द्वितीय भाग, पृष्ठ १५१।

में अजातशत्रु ने दुर्गनिर्माण किया, उसे देखकर भगवान् बुद्ध ने भविष्यवाणी की—यह भविष्य में प्रधान नगर होगा'।[1] महाराज अजातशत्रु उदयी का पूर्वज है। इस से स्पष्ट है कि उदयी के कुसुमपुर बसाने से पूर्व कोई पाटली ग्राम विद्यमान था।

हमारा विचार है पाटलिपुत्र अत्यन्त प्राचीन नगर है और वह इन्द्रप्रस्थ के समान अनेक बार उजड़ा और बसा है।

पाणिनि से पूर्व पाटलिपुत्र का उजड़ना

पाटलिपुत्र पाणिनि से बहुत प्राचीन नगर है। वह पाणिनि से पूर्व एक बार उजड़ चुका था। गणरत्नमहोदधि में वर्धमान लिखता है—

पुरगा नाम काचिद् राक्षसी तया भक्षितं पाटलिपुत्रम्, तस्या निवासः।[2]

अर्थात् किसी पुरगा नाम की राक्षसी ने पाटलिपुत्र को उजाड़ दिया था।

यह इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इस को सुरक्षित रखने का श्रेय वर्धमान सूरि को है। पाटलिपुत्र के उजड़ने की यह घटना पाणिनि से प्राचीन है, क्योंकि पाणिनि ने ८।४।४ में साक्षात् पुरगावण का उल्लेख किया है।[3] सम्भव है, इसीलिये महाभारत आदि में पाटलिपुत्र का वर्णन नहीं मिलता। इस से स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र को उदयी ने ही नहीं बसाया। वह प्राचीन नगर है और कई बार उजड़ा और कई बार बसा। भगवान् तथागत के समय पाटली ग्राम की विद्यमानता भी इसी को पुष्ट करती है। अतः महाभाष्य में पाटलिपुत्र का उल्लेख होने मात्र से वह उदयी के अनन्तर नहीं हो सकता।

पूर्व उद्धरणों पर भिन्नरूप से विचार

१—महाभाष्य में कहीं पर भी पुष्यमित्र का शुङ्ग या राजा विशेषण उपलब्ध नहीं हो सकता और न कहीं पुष्यमित्र के अश्वमेध करने का संकेत है। अतः यह नाम भी देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र आदि के तुल्य सामान्य पद नहीं है इस में कोई हेतु नहीं।

---

१. निरुक्तालोचन पृष्ठ ७१। २. पृष्ठ १७६।

३. वनं पुरगामिश्रकासिध्रकासारिकाकोटराग्रेभ्यः।

२—यदि "इह पुष्यमित्रं याजयामः" वाक्य में "इह" पद को पाटलिपुत्र का निर्देशक माना जाया तो उस से उत्तरवर्ती "इह अधीमहे" वाक्य से मानना होगा कि पतञ्जलि पुष्यमित्र के अश्वमेध के समय पाटलिपुत्र में अध्ययन कर रहा था। यह अर्थ मानने पर अश्वमेध कराना और गुरुमुख से अध्ययन करना दोनों एक साथ नहीं हो सकता। अतः इन वाक्यों का किसी अर्थविशेष में संकेत मानना अनुपन्न होगा।

३—"चन्द्रगुप्तसभा" उदाहरण अनेक हस्तलेखों में उपलब्ध नहीं होता, और जिन में मिलता है उनमें भी "पुष्यमित्रसभा" के अनन्तर उपलब्ध होता है। यह पाठक्रम ऐतिहासिक दृष्टि से अयुक्त है।

४—महाभाष्य के पूर्व उद्धृत उद्धरण में वृषल शब्द का बहुप्रसिद्ध अधमात्मा अर्थ भी हो सकता है। वृषल का केवल अर्थ चन्द्रगुप्त ही नहीं है।

५—मौर्यवंश प्राचीन है, उसका आरम्भ चन्द्रगुप्त से ही नहीं हुआ। अतः केवल मौर्यपद का उल्लेख होने से विशेष परिमाण नहीं निकाला जा सकता। महाभाष्य के टीकाकारों के मत में मौर्य शब्द शिल्पिवाचक है।[1]

६—"अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्" में किसी यवनराजविशेष का साक्षात् उल्लेख नहीं है। भारतीय आर्य बहुत प्राचीन काल से यवनों से परिचित थे। रामायण महाभारत आदि में यवनों का बहुधा उल्लेख उपलब्ध होता है। अतः केवल इतने निर्देश से कालविशेष की सिद्धि नहीं हो सकती।

७ भर्तृहरि और कल्हण के प्रमाण से हम पूर्व लिख चुके हैं कि चन्द्राचार्य ने नष्ट हुए महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था। महान् प्रयत्न करने पर उसे दक्षिण से एक मात्र प्रति उपलब्ध हुई थी। बहुत सम्भव है चन्द्राचार्य ने नष्ट हुए महाभाष्य का उसी प्रकार परिष्कार किया हो जैसे नष्ट हुई अग्निवेश संहिता का चरक और दृढ़बल ने, तथा काश्यप संहिता का जीवक ने परिष्कार किया है। यदि इस की पुष्टि प्रमाणान्तर से होजाय तो पूर्वोद्धृत उद्धरणों से कोई विशेष परिणाम नहीं निकल सकता।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पतञ्जलि पर्याप्त प्राचीन आचार्य है। यदि इसे महाराज पुष्यमित्र का समकालिक मान लें, तब भी वह ईसा से केवल १५० वर्ष प्राचीन नहीं है।

१. मौर्याः—विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवन्तः। नागेश, भाष्यप्रदीपोद्योत ।५।३।९९॥

पौराणिक कालगणना के अनुसार पुष्यमित्र विक्रम से लगभग १२०० वर्ष प्राचीन है। राजतरङ्गिणी की कालगणना भी इसी बात की पुष्टि करती है, अतः महाभाष्यकार पतञ्जलि विक्रम से *लगभग १२०० वर्ष* प्राचीन अवश्य है।

महाभाष्य की रचनाशैली

यद्यपि महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का ग्रन्थ है, तथापि वह अन्य व्याकरण ग्रन्थों के सदृश शुष्क और एकाङ्गी नहीं है। इस में व्याकरण जैसे क्लिष्ट और शुष्क विषय को अत्यन्त सरल और सरस ढंग से हृदयंगम कराया है। इसकी भाषा लम्बे लम्बे समासों से रहित, छोटे छोटे वाक्यों से युक्त, अत्यन्त सरल, परन्तु बहुत प्राञ्जल और सरस है। कोई भी असंस्कृतज्ञ व्यक्ति दो तीन मास के परिश्रम से इसे समझने योग्य संस्कृत सीख सकता है। लेखनशैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में सब से निराला है। कोई भी ग्रन्थ इसकी रचना शैली की समता नहीं कर सकता। शबरस्वामी ने महाभाष्य के आदर्श पर अपना मीमांसाभाष्य लिखने का प्रयास किया, परन्तु उसकी भाषा इतनी प्राञ्जल नहीं है, वाक्यरचना लड़खड़ाती है, और अनेक स्थानों में उस की भाषा अपने भाव को व्यक्त करने में असमर्थ है। स्वामी शंकराचार्यकृत वेदान्तभाष्य की भाषा यद्यपि प्राञ्जल और भाव व्यक्त करने में समर्थ है, तथापि महाभाष्य जैसी सरल और स्वाभाविक नहीं है। चरकसंहिता के गद्यभाग की भाषा यद्यपि महाभाष्य जैसी सरल, प्राञ्जल, और स्वाभाविक है, तथापि उसकी विषयप्रतिपादन शैली महाभाष्य जैसी उत्कृष्ट नहीं है। अतः भाषा की सरलता, प्राञ्जलता, स्वाभाविकता और विषयप्रतिपादन-शैली की उत्कृष्टता आदि की दृष्टि से यह ग्रन्थ समस्त संस्कृत वाङ्मय में आदर्शभूत है।

महाभाष्य की महत्ता

महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। क्या प्राचीन, क्या नवीन समस्त पाणिनीय वैयाकरण महाभाष्य के सन्मुख नतमस्तक हैं। महामुनि पतञ्जलि के काल में पाणिनीय और अन्य प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों की महती ग्रन्थराशि विद्यमान थी। पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण के व्याख्यानमिष से महाभाष्य में समस्त व्याकरण

ग्रन्थों का सारसंग्रह कर दिया। महाभाष्य में उल्लिखित प्राचीन आचार्यों का निर्देश हम वार्त्तिककार के प्रकरण में कर चुके हैं। इसी प्रकार महाभाष्य में अन्य प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों से उद्धृत कतिपय वचनों का उल्लेख भी पूर्व हो चुका है। महाभाष्य का सूक्ष्म पर्यालोचन करने से विदित होता है कि यह ग्रन्थ केवल व्याकरण शास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है, अपितु समस्त विद्याओं का आकर ग्रन्थ है। अत एव भर्तृहरि ने लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥[1]

महाभाष्य का अनेक बार लुप्त होना

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि पातञ्जल महाभाष्य बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। इतने सुदीर्घ काल में महाभाष्य का अनेक बार उच्छेद हुआ। इतिहास से विदित होता है कि महाभाष्य का लोप न्यूनातिन्यून तीन बार अवश्य हुआ है। यथा—

प्रथम बार—भर्तृहरि के लेख से विदित होता है कि बैजि, सौभव और हर्यक्ष आदि शुष्क तार्किकों ने महाभाष्य का प्रचार नष्ट कर दिया था। चन्द्राचार्य ने महान् परिश्रम करके दक्षिण के किसी पार्वत्य प्रदेश से एक हस्तलेख प्राप्त करके उसका पुनः प्रचार किया। भर्तृहरि का लेख इस प्रकार है—

बैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके॥
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥[2]

कल्हण ने लिखा है कि चन्द्राचार्य ने महाराज अभिमन्यु के आदेश से महाभाष्य का उद्धार किया था।[3]

---

१. वाक्यपदीय २। ४८६॥ २. वाक्यपदीय २।४८७, ४८८, ४८९॥

३. चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्। प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥ राजतरङ्गिणी १।१७६॥

द्वितीय बार—कल्हण की राजतरङ्गिणी से ज्ञात होता है कि विक्रम की ८ वीं शताब्दी में महाभाष्य का प्रचार पुनः नष्ट हो गया था। कश्मीर के महाराज जयापीड ने देशान्तर से 'क्षीर' संज्ञक शब्दविद्योपाध्याय को बुलाकर विच्छिन्न महाभाष्य का पुनः प्रचार कराया। कल्हण का लेख इस प्रकार है—

देशान्तरादागमय्याथ व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले ॥
क्षीराभिधानाच्छब्दविद्योपाध्यायात् संभृतश्रुतः।
बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीड पण्डितः ॥[1]

महाराज जयापीड का शासन काल विक्रम सं० ८०८—८३९ तक है। एक वैयाकरण क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी, अमरकोशटीका आदि अनेक ग्रन्थों का रचयिता है। कल्हण द्वारा स्मृत 'क्षीर' इस क्षीरस्वामी से भिन्न व्यक्ति है। क्षीरस्वामी अपने ग्रन्थों में महाराज भोज और उसके सरस्वतीकण्ठाभरण को बहुधा उद्धृत करता है। अतः इस क्षीरस्वामी का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

तृतीय बार—विक्रम की १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में सिद्धान्त कौमुदी और लघुशब्देन्दुशेखर आदि अवाचीन ग्रन्थों के अत्यधिक प्रचार के कारण महाभाष्य का पठन पाठन प्रायः लुप्त हो गया था। काशी के अनक वैयाकरणों की अभी तक धारणा है—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ॥

पहिले दो बार आचार्य चन्द्र और क्षीर ने महाभाष्य का उद्धार तात्कालिक सम्राटों की सहायता से किया, परन्तु इस बार महाभाष्य का उद्धार कौपीनमात्रधारी परमहंस दण्डी स्वामी विरजानन्द और उन के शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। श्री स्वामी विरजानन्द ने तात्कालिक पण्डितों की पूर्वोक्त धारणा के विपरीत घोषणा की थी—

अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
अतोऽन्यत्तु यत्किंचित् तत्सर्वं धूर्तचेष्टितम् ॥

आज भारतवर्ष में यत्र तत्र जो कुछ थोड़ा बहुत महाभाष्य का पठन पाठन उपलब्ध होता है, उसका श्रेय इन्हीं दोनों गुरु-शिष्यों को है।

---

१. राजतरङ्गिणी ४।४८८, ४८९ ॥

महाभाष्य के पाठ की अव्यवस्था

हमारे पूर्व लेख से स्पष्ट है कि महाभाष्य के पठन-पाठन का अनेक बार उच्छेद हुआ है। इस उच्छेद के कारण महाभाष्य के पाठों में बहुत अव्यवस्था उत्पन्न होगई है। भर्तृहरि, कैयट और नागेश आदि टीकाकार अनेक स्थानों पर पाठान्तरों को उद्धृत करते हैं। नागेश कई स्थानों में महाभाष्य के अपपाठों का निदर्शन कराता है। अनेक स्थानों में महाभाष्य का पाठ पूर्वापर व्यस्त हो गया है। टीकाकारों ने कहीं कहीं उसका निर्देश किया है, कई स्थान विना निर्देश किये छोड़ दिये हैं। सम्भव है टीकाकारों के समय वे पाठ ठीक रहे हों और पीछे से मूल तथा टीका का पाठ व्यस्त हो गया हो। इसी प्रकार अनेक स्थानों में महाभाष्य के पाठ नष्ट हो गये हैं। हम उनमें से कुछ स्थलों का निर्देश करते हैं—

१—अष्टाध्यायी के 'अव्ययीभावश्च'[1] सूत्र के भाष्य में लिखा है—

अस्य च्वौ- अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते, दोषाभूतमहर्दिवाभूता रात्रिरित्येवमर्थम्। स इहापि प्राप्नोति-उपकुम्भीभूतम्। उपमणिकीभूतम्।

महाभाष्यकार ने 'अस्य च्वौ' सूत्र के विषय में 'अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते' लिखा है। सम्प्रति महाभाष्य में 'अस्य च्वौ' सूत्र का भाष्य उपलब्ध नहीं होता। सम्पूर्ण महाभाष्य में कहीं अन्यत्र भी 'अस्य च्वौ' के विषय में 'अव्ययप्रतिषेध' का विधान नहीं। अतः स्पष्ट है कि महाभाष्य में 'अस्य च्वौ' सूत्र सम्बन्धी भाष्य नष्ट हो गया है।

२—महाभाष्य ४।२।६० के अन्त में निम्न कारिका उद्धृत है—

अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेर्द्विगोश्च लः।
इकन् पदोत्तरपदात् शतषष्टेः षिकन् पथः॥

महाभाष्य में इस कारिका के केवल द्वितीय चरण की व्याख्या उपलब्ध होती है। इस से प्रतीत होता है, कभी महाभाष्य में शेष तीन चरणों की व्याख्या भी अवश्य रही होगी, जो इस समय अनुपलब्ध है।

३—पतञ्जलि ने 'कृन्मेजन्तः'[2] सूत्र के भाष्य में 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' परिभाषा के कुछ दोष गिनाए हैं। कैयट इस सूत्र के प्रदीप के अन्त में उन दोषों का समाधान दर्शाता हुआ

१. अष्टा० १।१।४१॥ २. अष्टा० १।१।३९॥

सब से प्रथम 'कष्टाय' पद में दीर्घत्व की अप्राप्ति का समाधान करता है। महाभाष्य में पूर्वोक्त परिभाषा के दोष-परिगणन प्रसंग में कष्टाय पद संबन्धी 'दीर्घत्व की अप्राप्ति' दोष का निर्देश उपलब्ध नहीं होता। अतः नागेश लिखता है—

कष्टायेति यादेशो दीर्घत्वस्येति ग्रन्थो भाष्यपुस्तकेषु भ्रष्टोऽतो न दोषः।

अर्थात्—दोष-निदर्शन प्रसंग में 'कष्टायेति यादेशो दीर्घत्वस्य' इत्यादि पाठ भाष्य में खण्डित हो गया है। अतः कैयट का दोष परिहार करना अयुक्त नहीं है।

४—कैयट ८।४।४७ के महाभाष्य-प्रदीप में लिखता है—

'नायं प्रसज्यप्रतिषेधः' इति पाठोऽयं लेखकप्रमादान्नष्टः।

अर्थात् महाभाष्य में 'नायं प्रसज्यप्रतिषेधः' पाठ लेखक प्रमाद से नष्ट होगया।

इन कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि महाभाष्य का जो पाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है, वह कई स्थानों पर खण्डित है।

महाभाष्य का प्रकाशन यद्यपि कई स्थानों से हुआ है, तथापि इसका अभी तक जैसा उत्कृष्ट परिशुद्ध संस्करण चाहिये वैसा प्रकाशित नहीं हुआ। डा० कीलहार्न का संस्करण ही इस समय सर्वोत्कृष्ट है, परन्तु उस में अभी संशोधन की पर्याप्त अपेक्षा है। डा० कीलहार्न के अनन्तर महाभाष्य के अनेक प्राचीन हस्तलेख और टीकाएं उपलब्ध हो गई हैं, उनका भी पूरा पूरा उपयोग नये संस्करण में होना चाहिये।

अन्य ग्रन्थ

हम प्रारम्भ में लिख चुके हैं कि पतञ्जलि के नाम से सम्प्रति तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—निदान सूत्र, योगदर्शन और महाभाष्य। इनमें से निदानसूत्र और योगदर्शन दोनों किसी प्राचीन पतञ्जलि की रचनाएं हैं।

१—**महानन्द काव्य**—महाराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के तीन पद्य हमने ऊपर उद्धृत किये हैं। उनसे विदित होता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'महानन्द' या 'महानन्दमय' नाम का महाकाव्य रचा था। इस काव्य में पतञ्जलि ने काव्य के मिष से योग की व्याख्या की

थी। क्या इस 'महानन्द' काव्य का मगधसम्राट् महानन्द से कोई संबन्ध था ? यदि इस विषय पर किसी प्रमाणान्तर से प्रकाश पड़ जाय तो यह बड़े महत्व का होगा।

२—चरक का परिष्कार—हम पूर्व लिख चुके हैं कि चक्रपाणि, पुण्यराज और भोजदेव आदि अनेक ग्रन्थकार पतञ्जलि को चरक संहिता का प्रति संस्कारक मानते हैं। समुद्रगुप्तविरिचित कृष्णचरित के पूर्व उद्धृत श्लोकों से भी प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने चरक संहिता में कुछ धर्माविरुद्ध योगों का सन्निवेश किया था। चरक संहिता के प्रत्येक स्थान के अन्त में लिखा है—अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते। क्या चरक पतञ्जलि का ही नामान्तर है ? हमने महाभाष्य में उद्धृत कुछ वैदिक पाठों की उपलब्ध शाखाओं के पाठों से तुलना की है। उस से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि पतञ्जलि अधिकतर काठक संहिता के पाठों को उद्धृत करता है। काठक संहिता 'चरक' चरणान्तर्गत है। हम महाभाष्य में निर्दिष्ट दो पाठ उद्धृत करते हैं—

(क)—महाभाष्य २।१।४–पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुनर्निष्कृतो रथः। तुलना करो—

काठक सं०—पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुनरुत्सृष्टोऽनड्वान्, पुनर्निष्कृतो रथः। ८।१५॥

मैत्रायणी सं०—पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुनर्णवो रथः, पुनरुत्सृष्टोऽनड्वान्। १।७।२॥

तैत्तिरीय सं०—पुनर्निष्कृतो रथो दक्षिणा, पुनरुत्स्यूतं वासः। १।५।२॥

कैयट महाभाष्य में उद्धृत उद्धरण को काठक संहिता का वचन मानता है। वह लिखता है—काठकेऽन्तोदात्तः पठ्यते, तदभिप्रायेण पुनःशब्दस्य गतित्वाभावादिदमुदाहरणम्।

(ख) महाभाष्य ८।२।२५—आम्बानां चरुः, नाम्बानां चरुरिति प्राप्ते। तुलना करो—

काठक सं०—आम्बानां चरुः।१५।५॥

तैत्तिरीय सं०—आम्बानां चरुम्।१।८।१०॥

मैत्रायणी सं०—नाम्बानां चरुम्। २।६।६॥

यदि हमारा उपर्युक्त विचार ठीक हो तो पतञ्जलि का एक नाम चरक भी होगा। इस विचार की पुष्टि के लिये सब वैदिक पाठों की तुलना करना आवश्यक है।

३—कोष—कोष ग्रन्थों की अनेक टीकाओं में वासुकि, शेष, भोगीन्द्र, फणिपति आदि नामों से किसी कोष-ग्रन्थ के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। हेमचन्द्र अपने अभिधानचिन्तामणि कोष की टीका के प्रारम्भ में अन्य कोषकारों के साथ वासुकि का निर्देश करता है, परन्तु ग्रन्थ में उस के अनेक पाठ शेष के नाम से उद्धृत करता है। अतः शेष और वासुकि दोनों एक हैं। विश्वप्रकाश कोष के आरम्भ (१।१६,१९) में भोगीन्द्र और फणिपति दोनों नाम मिलते हैं। राघव नानार्थमञ्जरी के प्रारम्भ में शेष-कार का नाम उद्धृत करता है। कैयट महाभाष्य ४।२।९२ के प्रदीप में पतञ्जलि को नागनाथ के नाम से स्मरण करता है।[1] चक्रदत्त चरकटीका के आदि में पतञ्जलि का अहिपति नाम से निर्देश करता है।[2] अतः शेष, वासुकि, भोगीन्द्र, फणिपति, अहिपति और नागनाथ आदि सब नाम पर्याय हैं। अनेक ग्रन्थकार पतञ्जलि को पदकार के नाम से स्मरण करते हैं।[3] इस से प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने कोई कोष ग्रन्थ रचा था। हेमचन्द्र द्वारा अभिधानचिन्तामणि की टीका (पृष्ठ १०१) में शेष के नाम से उद्धृत पाठ में बुद्ध के पर्यायों का निर्देश उपलब्ध होता है।[4]

४—सांख्य शास्त्र—शेष ने सेश्वर सांख्य का एक कारिका ग्रन्थ रचा था। उसका नाम था "आर्यापञ्चाशीति। अभिनवगुप्त ने इसी में कुछ परिवर्तन करके इस का नाम 'परमार्थसार' रक्खा है। सांख्यकारिका की

---

१. पूर्व पृष्ठ २३५, टि० ४। २. पूर्व पृष्ठ २३५, टि० ५।

३. पूर्व पृष्ठ २३६, टि० ३-१० ॥

४. बुद्धे तु भगवान् योगी बुधो विज्ञानदेशनः। महासत्त्वो लोकनाथो बोधिरर्हन् सुमिश्चितः। गुणाब्धि विगतद्वन्द्वः·········।

युक्तिदीपिका-टीका में पतञ्जलि के सांख्य विषयक अनेक मत उद्धृत हैं।[1] पतञ्जलि का एक मत योगसूत्र के व्यासभाष्य में भी उद्धृत है।[2]

५ रसशास्त्र गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन के पृष्ठ ३७, ४७ में वासुकि विरचित किसी रसशास्त्र का उल्लेख उपलब्ध होता है।[3]

६—लोहशास्त्र—शिवदास ने चक्रदत्त की टीका में पतञ्जलिविरचित लोहशास्त्र का उल्लेख किया है।

संख्या ४,५,६ ग्रन्थों में से कौन-कौन सा ग्रन्थ महाभाष्यकार पतञ्जलि विरचित है, यह अज्ञात है।

अब हम अगले अध्याय में महाभाष्य के टीकाकारों का वर्णन करेंगे।

१. पूर्व पृष्ठ २३९, टि० १। २. पूर्व पृष्ठ २३८, टि० ३।

३. उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता। नानाद्रव्यौषधैः पाकैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा॥ एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह। इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः॥

ग्यारहवां अध्याय

महाभाष्य के टीकाकार

महाभाष्य पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं। उन में से अनेक टीकाएं संप्रति अनुपलब्ध है। बहुत से टीकाकारों के नाम भी अज्ञात हैं। महाभाष्य पर रची गई जितनी टीकाओं का हमें ज्ञान हो सका, उनका संक्षिप्त वर्णन हम आगे करते हैं।

भर्तृहरि से प्राचीन टीकाएं

भर्तृहरिविरचित महाभाष्य की टीका का जितना भाग इस समय उपलब्ध है उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस से पूर्व भी महाभाष्य पर अनेक टीकाएं लिखी गई थीं। भर्तृहरि ने अपनी टीका में 'अन्ये अपरे, केचित्' आदि शब्दों द्वारा अनेक प्राचीन टीकाओं के पाठ उद्धृत किये हैं।[1] परन्तु टीकाकारों के नाम अज्ञात होने से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। भर्तृहरि विरचित भाष्यटीका के अवलोकन से हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि उस से पूर्व महाभाष्य पर न्यूनातिन्यून तीन टीकाएं अवश्य लिखी गई थीं। यदि महाभाष्य की ये प्राचीन टीकाएं उपलब्ध होती तो अनेक ऐतिहासिक भ्रम अनायास दूर हो जाते।

१—भर्तृहरि (सं० ४५० से पूर्व)

महाभाष्य की उपलब्ध तथा ज्ञात टीकाओं में भर्तृहरि की टीका सब से प्राचीन और प्रामाणिक है। वैयाकरण निकाय में पतञ्जलि के अनन्तर भर्तृहरि ही ऐसा व्यक्ति है, जिसे सब वैयाकरण प्रमाण मानते हैं।

परिचय

भर्तृहरि ने अपने किसी ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः भर्तृहरि के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है।

गुरु—भर्तृहरि ने अपने गुरु का साक्षात् निर्देश नहीं किया। पुण्यराज ने भर्तृहरि के गुरु का नाम वसुरात लिखा है। वह लिखता है—

---

१. अन्ये ४, ५७, ७०, १५४ इत्यादि। अपरे ७०, ७६, १६४, १७६ इत्यादि। केचित ४, ६१, १६७, १७६ इत्यादि।

न तेनास्मद् गुरोस्तत्र भवतो वसुरातादन्यः। पृष्ठ २८४।

पुनः '**प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रह**' श्लोक की अवतरणिका में लिखता है—**तत्र भगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीतः।** पृष्ठ २८६।

पुनः पृष्ठ २९० पर लिखता है—

आचार्यवसुरातेन न्यायमार्गान् विचिन्त्य सः।
प्रणीतो विधिवच्चायं मम व्याकरणागमः॥

क्या भर्तृहरि बौद्ध था ?

चीनी यात्री इत्सिग लिखता है कि "वाक्यपदीय और महाभाष्य-व्याख्या का रचयिता आचार्य भर्तृहरि बौद्धमतानुयायी था, उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी।"[1]

इत्सिग की भूल—वाक्यपदीय और महाभाष्य टीका के पर्यनुशीलन से विदित होता है कि भर्तृहरि वैदिकधर्मी था। वह वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में लिखता है -

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।

वेद के विषय में ऐसा उद्गार वेदविरोधी बौद्ध विद्वान् कभी व्यक्त नहीं कर सकता। जैन विद्वान् वर्धमानसूरि भर्तृहरिकृत महाभाष्यटीका का एक उद्धरण देकर लिखता है—

यस्त्वयं वेदविदामलंकारभूतो वेदाङ्गत्वात् प्रमाणितशब्दशास्त्रः सर्वज्ञंमन्य उपमीयते तेन कथमेतत् प्रयुक्तम्।[2]

उत्पल ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में '**तत्र भवद्भर्तृहरिणाऽपि—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके**.......' इत्यादि वाक्यपदीय की ३ कारिकाएं उद्धृत करके लिखता है—

बौद्धैरपि अध्यवसायापेक्षं प्रकाशस्य प्रामाण्यं वद्भिरुपगतप्राय एवायमर्थः।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि भर्तृहरि बौद्धमतावलम्बी नहीं था। इत्सिग को यह भ्रान्ति क्यों हुई, इसका निरूपण हम आगे करेंगे।

---

१. इत्सिग की भारतयात्रा पृष्ठ २७४। २. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२१।

काल

भर्तृहरि का काल अभी तक विवादास्पद है। कई विद्वान् इत्सिंग के लेखानुसार भर्तृहरि का काल विक्रम की सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध मानते हैं। अब अनेक विद्वान् इत्सिंग के लेख को भ्रमपूर्ण मानने लगे हैं। भारतीय जनश्रुति के अनुसार भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य का सहोदर भ्राता है। इसमें कोई विशिष्ट साधक बाधक प्रमाण नहीं है। अतः हम ग्रन्थान्तरों में उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर भर्तृहरि के काल-निर्णय का प्रयत्न करते हैं—

१—प्रसिद्ध बौद्ध चीनीयात्री इत्सिंग लिखता है—'उस (भर्तृहरि) की मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए।'[1] ऐतिहासिकों के मतानुसार इत्सिंग ने अपना भारतयात्रा वृत्तान्त विक्रम संवत् ७४९ के लगभग लिखा था। तदनुसार भर्तृहरि की मृत्यु संवत् ७०८,७०९ के लगभग माननी होगी।

२—काशिका ४।३।८८ के उदाहरणों में भर्तृहरिकृत 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ का उल्लेख है। काशिका की रचना सं० ६८०—७०१ के मध्य में हुई थी, यह हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में सप्रमाण लिखेंगे। इस से स्पष्ट है कि वाक्यपदीय ग्रन्थ काशिका से पूर्व लिखा गया है।

३—कातन्त्र व्याकरण की दुर्गसिंहकृत वृत्ति काशिका से प्राचीन है। धातुवृत्तिकार सायण के मतानुसार वामन ने काशिका ७।४।९३ में दुर्ग-वृत्ति का प्रत्याख्यान किया है।[2] दुर्गसिंह कातन्त्र १।१।९ की वृत्ति में लिखता है—

तथा चोक्तम्—यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन प्रतीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ॥

यह कारिका वाक्यपदीय की है।[3] दुर्गसिंह पुनः ३।२।४१ की वृत्ति में वाक्यपदीय की एक कारिका उद्धृत करता है।[4] अतः भर्तृहरि

१. इत्सिंग की भारतयात्रा पृष्ठ २७५। २. यत्तु कातन्त्रे मतान्तरेणोक्तम्—ह्रस्वदीर्घयोः अजीजागर इति भवतीति, तदप्येवं प्रत्युक्तम्। वृत्तिकारोऽत्रयवर्धमानादिभिरप्येतद्दूषितम्। पृष्ठ २६५। ३. काण्ड ३, क्रियासमुद्देश कारिका १। वाक्यपदीय में द्वितीय चरण का 'साध्यत्वेनाभिधीयते' और चतुर्थ चरण का 'सा क्रियेति प्रतीयते' पाठ है। ४. क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिद्ध्यति। सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः कर्मकर्तेति तद्विदुः॥

काशिका से पूर्वभावी दुर्गसिंह से भी पूर्ववर्ती है।

४—शतपथ ब्राह्मण का व्याख्याता हरिस्वामी प्रथम काण्ड की व्याख्या में वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध के एक देश को उद्धृत करता है—अन्ये तु शब्दब्रह्मैवेदं 'विवर्तते अर्थभावेन प्रक्रिया'[1] इत्यत आहुः।

हरिस्वामी अपनी शतपथ-व्याख्या के प्रथम काण्ड के अन्त में लिखता है—

> श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
> धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम्॥
> यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
> चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

द्वितीय श्लोक के अनुसार कलि संवत् ३७४० अर्थात् वि० सं० ६९५ में हरिस्वामी ने शतपथ प्रथम काण्ड की रचना की। अभी अभी ग्वालियर से प्रकाशित विक्रम द्विसहस्राब्दी स्मारक ग्रन्थ में पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे का एक लेख मुद्रित हुआ है, उस में पूर्वोक्त दोनों श्लोकों का सामञ्जस्य करने के लिये द्वितीय श्लोक का अर्थ "कलि संवत् ३०४७" किया है। उन्होंने 'सप्त' को पृथक् पद माना है। 'वै' पद का प्रयोग होने से इस प्रकार कालनिर्देश हो सकता है। यदि यह व्याख्या ठीक हो तो द्वितीय श्लोक की पूर्व श्लोक के साथ संगति ठीक बैठ जाती है। विक्रम संवत् का आरम्भ कलि संवत् ३०४५ से होता है। ३७४० कल्यब्द अर्थ करने में सब से बड़ी आपत्ति यह है कि उस काल अर्थात् संवत् ६९५ में अवन्ति = उज्जैन में कोई विक्रम था, इसकी अभी तक इतिहास से सिद्धि नहीं हुई। यदि ३०४७ अर्थ को ठीक न मानें तब भी इतना स्पष्ट है कि भर्तृहरि हरिस्वामी से पूर्ववर्ती है।

५—हरिस्वामी ने शतपथ की व्याख्या में प्रभाकर को उद्धृत किया है।[2] प्रभाकर भट्ट कुमारिल का शिष्य माना जाता है। कुमारिल तन्त्रवार्तिक अ० १ पा० ३ अ० ८ में वाक्यपदीय १।१३ के वचन को उद्धृत

---

१. विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। यह उत्तरार्ध का पूरा पाठ है।

२. अथवा सूत्राणि यथा विध्युद्देश इति प्राभाकराः—अपः प्रणयतीति यथा। हमारा हस्तलेख पृष्ठ ५।

करके उसका खण्डन करता है।[1] इससे विस्पष्ट है कि हरिस्वामी से पूर्ववर्ती प्रभाकर, उससे पूर्ववर्ती कुमारिल और उससे प्राचीन भर्तृहरि है।

६—हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने निरुक्त टीका १।२ में वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड का "पूर्वामवस्थामजहत्" इत्यादि पूर्ण श्लोक उद्धृत किया है। इसी प्रकार निरुक्त टीका भाग १ पृष्ठ १० पर क्रिया के विषय में जितने पक्षान्तर दर्शाये हैं, वे सब वाक्यपदीय के क्रियासमुद्देश के आधार पर लिखे हैं। निरुक्त टीका ५।१६ में उद्धृत "साहचर्यं विरोधिना" पाठ भी वाक्यपदीय २।३१७ का है। यहाँ 'साहचर्यं विरोधिता' पाठ होना चाहिये। अतः वाक्यपदीय की रचना स्कन्द के निरुक्तभाष्य से पूर्व हो चुकी थी, यह स्पष्ट है।

७—स्कन्द का सहयोगी महेश्वर निरुक्त टीका ८।२ में एक वचन उद्धृत करता है—

तथा चोक्तम् भट्टारकेणापि—

पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्यवमादिवचः श्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते॥

यह श्लोक भट्ट कुमारिल कृत श्लोकवार्तिक का है।[2] निरुक्त टीका का मुद्रित पाठ अशुद्ध है। भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में वाक्यपदीय का श्लोक उद्धृत करके उस का खण्डन किया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3] इससे भी स्पष्ट है कि भर्तृहरि संवत् ६९५ से बहुत पूर्ववर्ती है। आधुनिक ऐतिहासिक भट्ट कुमारिल का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी मानते हैं, वह अशुद्ध है, यह भी प्रमाण संख्या ५,७ से स्पष्ट है।

८—इत्सिंग अपनी भारत यात्रा में लिखता है—"इस के अनन्तर 'पेइ-न' है, इस में ३००० श्लोक हैं और इस का टीका भाग १४००० श्लोकों में है। श्लोक भाग भर्तृहरि की रचना है और टीका भाग शास्त्र के उपाध्याय धर्मपाल का माना जाता है।"[4]

---

१. यदपि केनचिदुक्तम्—तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते वा०। तद्परसगन्ध्वपि वक्तव्यमासीत् इत्यादि। पूना संस्क० भा० १ पृष्ठ २६१॥

२. काशी संस्क० पृष्ठ ४६३। ३. यही पृष्ठ, टि० १।

४. इत्सिंग की भारतयात्रा पृष्ठ २७४।

कई ऐतिहासिक 'पेइ-न' को वाक्यपदीय का तृतीय 'प्रकीर्ण' काण्ड मानते हैं। यदि यह ठीक हो तो वाक्यपदीय की रचना धर्मपाल से पूर्व माननी होगी। धर्मपाल की मृत्यु संवत् ६२७ वि० (सन् ५७०) में हो गई थी।[1] अतः वाक्यपदीय की रचना निश्चय ही संवत् ६०० से पूर्व हुई होगी।

९—अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार वाग्भट्ट का साक्षात् शिष्य इन्दु उत्तरतन्त्र अ० ५० की टीका में लिखता है—

पदार्थयोजनास्तु व्युत्पन्नानां प्रसिद्धा एवेत्यत आचार्येण नोक्ताः। तासु च तत्र भवतो हरेः श्लोकौ—

> संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
> अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
> सामर्थ्यमौचितिर्देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ अनयोरर्थः····।

इन में प्रथम कारिका भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय २।३१७ में उपलब्ध होती है। दूसरी कारिका यद्यपि काशीसंस्करण में उपलब्ध नहीं होती, तथापि प्रथम कारिका की पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१६ पङ्क्ति १६ से द्वितीय कारिका की व्याख्या छपी हुई है। इस से प्रतीत होता है कि द्वितीय कारिका मुद्रित ग्रन्थ में टूट गई है। वाक्यपदीय के कई हस्तलेखों में द्वितीय कारिका उपलब्ध होती है।

वाग्भट्ट का काल प्रायः निश्चित सा है। अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतंत्र अ० ४९ के पलाण्डु-रसायन प्रकरण में लिखा है—

> रसोनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्।
> साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्॥

यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव॥

इस श्लोक के आधार पर अनेक ऐतिहासिक वाग्भट्ट को चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में मानते हैं।[2] पाश्चात्य ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त द्वितीय का

1. Introduction to Vaisheskika philosophy according to the Dashapadarthi Shastra. By H.U.I. 1917 P.10

२. अष्टाङ्गहृदय की भूमिका पृष्ठ १४, १५ निर्णयसागर संस्क०।

काल विक्रम संवत् ४२७-४७० तक स्थिर करते हैं। श्री पं० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' में ७९ प्रमाणों से सिद्ध किया है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रम संवत् प्रवर्तक प्रसिद्ध विक्रमादित्य था।[1] अष्टाङ्गहृदय की इन्दुटीका के सम्पादक ने भूमिका में लिखा है—कई जर्मन विद्वान् वाग्भट्ट को ईसा की द्वितीय शताब्दी में मानते हैं।[2] इन्दु के उपर्युक्त उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि भर्तृहरि किसी प्रकार वि० सं० ४०० से अर्वाचीन नहीं है

१०—श्री पं० भगवद्दत्तजी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १ खण्ड २ पृष्ठ २०६ पर लिखा है—

"अभी अभी अध्यापक रामकृष्ण कवि ने सूचना भेजी है कि भर्तृहरि की मीमांसावृत्ति के कुछ भाग मिले हैं, वे शबर से पहिले के हैं।

इस के अनन्तर 'आचार्य पुष्पाञ्जलि वाल्यूम' में पं० रामकृष्ण कवि का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें पृष्ठ ५१ पर लिखा—"वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कृत जैमिनीय मीमांसा की वृत्ति शबर से प्राचीन है"

भर्तृहरिकृत महाभाष्य-दीपिका के अवलोकन से स्पष्ट विदित होता है कि भर्तृहरि मीमांसा का महान् पण्डित था। भर्तृहरि शबर स्वामी से प्राचीन है इसकी पुष्टि महाभाष्य-दीपिका से भी होती है। भर्तृहरि लिखता है—

धर्मप्रयोजनो वेति मीमांसकदर्शनम्। अवस्थित एव धर्मः, स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते, तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति। यथा स्वामी भृत्यैः सेवायां प्रेर्यते।[3]

इसकी तुलना न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त के निम्न वचन के साथ करनी चाहिये—

वृद्धमीमांसका यागादिकर्मनिर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति। यागादिकर्मैव शाबरा ब्रुवते।[4]

---

१. भारतवर्ष का इतिहास द्वि० सं० पृष्ठ ३२६—३४८।

२. अष्टाङ्गहृदय की भूमिका भाग १ पृष्ठ ५—केषाञ्चिज्जर्मनदेशीयविपश्चितां मते ख्रीस्ताब्दस्य द्वितीयशताब्द्यां वाग्भट्टो बभूव।

३. महाभाष्यदीपिका पृष्ठ ३८, हमारा हस्तलेख। ४. न्यायमञ्जरी पृष्ठ २७९, लाजरस प्रेस की छपी।

इन दोनों पाठों की तुलना से व्यक्त होता है कि धर्म के विषय में मीमांसकों में तीन मत हैं।

१—भर्तृहरि के मत में धर्म नित्य है, यागादि से उसकी अभिव्यक्ति होती है—

२—वृद्धमीमांसक यागादि से उत्पन्न होने वाले अपूर्व को धर्म मानते हैं।

३—शबर स्वामी यागादि कर्म को ही धर्म मानता है। वह मीमांसा-भाष्य १।१।२ में लिखता है—

यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्त्ता स तेन व्यपदिश्यते।

धर्म के उपर्युक्त स्वरूपों पर विचार करने से स्पष्ट है कि भट्ट जयन्तोक्त वृद्ध मीमांसक शबर से पूर्ववर्ती हैं, और भर्तृहरि उन वृद्धमीमांसकों से भी प्राचीन है। भर्तृहरि की महाभाष्यदीपिका में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर मीमांसक मतों का उल्लेख मिलता है, वे शावर मत से नहीं मिलते।

११—भारतीय जनश्रुति के अनुसार भर्तृहरि विक्रम का सहोदर भाई है। 'नामूला जनश्रुतिः' के नियमानुसार इस में कुछ तथ्यांश अवश्य है।

१२—काशी के समीपवर्ती चुनारगढ़ के किले में भर्तृहरि की एक गुफा विद्यमान है। यह किला विक्रमादित्य का बनाया हुआ है, ऐसी वहां प्रसिद्धि है। इसी प्रकार विक्रम की राजधानी उज्जैन में भी भर्तृहरि की गुफा प्रसिद्ध है। इस से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि और विक्रमादित्य का कुछ पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य था।

१३—प्रबन्ध-चिन्तामणि में भर्तृहरि को महाराज शूद्रक का भाई लिखा है।[1] महाराजाधिराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के अनुसार शूद्रक किसी विक्रम संवत् का प्रवर्तक था।[2] श्री पण्डित भगवद्दत्त जी ने अनेक प्रमाणों से शूद्रक का काल विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। देखो भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ ३९१–३०६ द्वितीय संस्करण।

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि निश्चय ही बहुत प्राचीन ग्रन्थकार है। जो लोग इत्सिंग के वचनानुसार

---

१. पृ० १२१। २. वत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत वैक्रमम। राजकविवर्णन ११।

इसे विक्रम की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानते हैं, वे भूल करते हैं। यदि किन्हीं प्रमाणान्तरों से योरोपियन विद्वानों द्वारा निर्धारित चीनी यात्रियों की तिथियां पीछे हट जावें तो इस प्रकार के विरोध अनायास दूर हो सकते हैं। अन्यथा इत्सिंग का वचन अप्रामाणिक मानना होगा। भर्तृहरिविषयक इत्सिंग की एक भूल का निदर्शन पूर्व कराया जा चुका है। इत्सिंग के वर्णन को पढ़ने से प्रतीत होता है कि उस ने भर्तृहरि का कोई ग्रन्थ नहीं देखा था। भर्तृहरिविरचित-ग्रन्थों के विषय में उसका दिया हुआ परिचय अत्यन्त भ्रमपूर्ण है।

अनेक भर्तृहरि

हमारा विचार है कि भर्तृहरि नाम के अनेक व्यक्ति हो चुके हैं। उन का ठीक ठीक विभाग ज्ञात न होने से इतिहास में उलझनें पड़ी हैं। विक्रमादित्य, सातवाहन, कालिदास और भोज आदि के विषय में ऐसी ही अनेक उलझनें हैं। पाश्चात्य विद्वान् उन उलझनों को सुलझाने का प्रयत्न नहीं करते, किन्तु अपनी मनमानी कल्पना के अनुसार काल निर्धारण करने की चेष्टा करते हैं। उन में जो बाधक प्रमाण होते हैं उन्हें अप्रामाणिक कह कर टाल देते हैं।

भर्तृहरि नाम का एक व्यक्ति हुआ है या अनेक अब इस के विषय में विचार करते हैं—

भर्तृहरि-विरचित ग्रन्थ

संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि-विरचित निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

१. महाभाष्य-दीपिका।

२. वाक्यपदीय काण्ड १, २, ३।

३. वाक्यपदीय काण्ड १,२ की स्वोपज्ञटीका।

४. भट्टिकाव्य।

५. भागवृत्ति।

६. शतक त्रय-नीति, शृंगार, वैराग्य।

इन के अतिरिक्त भर्तृहरि-विरचित तीन ग्रन्थ और ज्ञात हुए हैं—

७ मीमांसाभाष्य ८ वेदान्त सूत्रवृत्ति ९ शब्दधातुसमीक्षा

भर्तृहरि विषयक उलझन को सुलझाने के लिये हमें इन ग्रन्थों की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परीक्षा करनी होगी।

महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय और उसकी टीका समानकर्तृक हैं

महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय और उसकी स्वोपज्ञटीका की परस्पर तुलना करने से विदित होता है कि इन तीनों ग्रन्थों का कर्त्ता एक व्यक्ति है। यथा—

महाभाष्यदीपिका—**यथैव गतं गोत्वमेवमिङ्गितादयोऽप्यर्थतः मह्ष्यादिषु दृष्टं व्युत्पत्त्यापि कर्मण्याश्रीयमाणो गमिवत्, विशेषणं दुरान्वाख्यानम्, उपाददानो गच्छति गर्जति गदति वा गौरिति।**[1]

वाक्यपदीय—**केश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः।**
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्र दर्शितम्॥[2]

वाक्यपदीय स्वोपज्ञटीका—**यथैव हि गमिक्रिया जात्यन्तरैकसमवायिनीभ्यो गामिक्रियाभ्योऽत्यन्तभिन्ना तुल्यरूपत्वाविधौ त्वन्तरेणैव गमिमभिधीयमाना गौरिति शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि निमित्तत्वेनाश्रीयते तथैव गिरति गर्जति गदति इत्येवमादयः साधारणाः सामान्यशब्दनिबन्धनाः क्रियाविशेषास्तैस्तैराचार्यैर्गोशब्दव्युत्पादनक्रियायां परिगृहीताः।**[3]

इसी प्रकार अन्यत्र भी तीनों ग्रन्थों में परस्पर महती समानता है, जिन से इन तीनों ग्रन्थों का एक कर्तृत्व सिद्ध है। वाक्यपदीय की रचना वि० सं० ४५० से अर्वाचीन नहीं है, यह हम पूर्व सप्रमाण निरूपण कर चुके। अतः महाभाष्य की टीका भी वि० सं० ४५० से अर्वाचीन नहीं है।

भट्टिकाव्य—भट्टिकाव्य के विषय में दो मत हैं। भट्टि का जयमंगला-टीका का रचयिता ग्रन्थकार का नाम भट्टिस्वामी लिखता है। मल्लीनाथ आदि अन्य सब टीकाकार भट्टिकाव्य को भर्तृहरिविरचित मानते हैं। पञ्चपादी उणादिवृत्तिकार श्वेतवनवासी भट्टि को भर्तृहरि के नाम से उद्धृत करता है।[4] हमारा विचार है, ये दोनों मत ठीक हैं। ग्रन्थकार का अपना नाम भट्टिस्वामी है, परन्तु उसके असाधारण वैयाकरणत्व के कारण वह औपाधिक भर्तृहरि नाम से विख्यात हुआ। संस्कृत वाङ्मय में दो तीन कालिदास इसी प्रकार प्रसिद्ध हो चुके हैं। महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित

---

१. हस्तलेख पृष्ठ ३। २. काण्ड २ कारिका १७५।

३. काण्ड २ कारिका १७५ की टीका, लाहौर संस्क० पृष्ठ ६२।

४. तथा च भर्तृकाव्ये प्रयोगः। पृष्ठ ८३, १२१।

से व्यक्त होता है कि शाकुन्तल नाटक का कर्त्ता आद्य कालिदास था,[1] परन्तु रघुवंश महाकाव्य का रचयिता हरिषेण भी कालिदास नाम से प्रसिद्ध हुआ।[2] भट्टिकाव्य की रचना वलभी के राजा श्रीधरसेन के काल में हुई है।[3] वलभी के राजकुल में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए हैं, जिनका राज्यकाल संवत् ५५० से ७०५ तक माना जाता है। अतः भट्टिकाव्य का कर्त्ता भर्तृहरि वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि नहीं हो सकता। भट्टिकाव्य के विषय में विशेष विचार 'व्याकरण प्रधान महाकाव्य' के प्रकरण में किया जायगा।

भागवृत्ति—भागवृत्ति अष्टाध्यायी की प्राचीनवृत्ति है। इसके उद्धरण व्याकरण के अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं।[4] भाषावृत्ति का टीकाकार सृष्टिधराचार्य लिखता है—भर्तृहरि ने श्रीधरसेन की आज्ञा से भागवृत्ति की रचना की।[5] कातन्त्र-परिशिष्ट के कर्त्ता श्रीपतिदत्त ने भागवृत्ति के रचयिता का नाम विमलमति लिखा है।[6] क्या सम्भव हो सकता है कि भागवृत्ति के कर्त्ता का वास्तविक नाम विमलमति हो, और भर्तृहरि उस का औपाधिक नाम हो। भागवृत्ति की रचना काशिका के अनन्तर हुई है। अतः भागवृत्तिकार भर्तृहरि वाक्यपदीयकार से भिन्न है। इस पर विशेष विवेचन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में करेंगे।

भट्टिकार और भागवृत्तिकार में भेद—यदि भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के रचयिता का नाम भर्तृहरि स्वीकार कर लें, तब भी ये दोनों ग्रन्थ एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकते। इन दोनों की विभिन्नता में निम्न हेतु हैं—

१—भाषावृत्ति २।४।७४ में पुरुषोत्तमदेव ने भागवृत्ति का खण्डन करते हुए स्वपक्ष की सिद्धि में भट्टिकाव्य का प्रमाण उपस्थित किया है।

---

१. राजकविवर्णन श्लोक १५, १६।

२. राजकविवर्णन श्लोक २४, २५। ३. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्। १२। ३५॥ ४. देखो, ओरियन्टल कालेज मेगजीन लाहौर, नवम्बर १९४० में 'भागवृत्ति-संकलन' नामक हमारा लेख, पृष्ठ ६७। तथा इसी ग्रन्थ के 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में 'भागवृत्तिकार' का वर्णन।

५. भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता। ८।४।६८॥

६. तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिना निपातितः। सन्धि सूत्र १४२।

२—भाषावृत्ति ५।२।११२ के अवलोकन करने से विदित होता है कि भागवृत्तिकार भट्टिकाव्य के छन्दोभंग दोष का समाधान करता है।[1]

३—भागवृत्ति के जितने उद्धरण उपलब्ध हुए हैं, उनके देखने से ज्ञात होता है कि भागवृत्तिकार महाभाष्य के नियम से किञ्चिन्मात्र भी इतस्ततः नहीं होता, परन्तु भट्टिकाव्य में अनेक प्रयोग महाभाष्य के विपरीत हैं।[2]

इन हेतुओं से स्पष्ट है कि भट्टिकाव्य और भागवृत्ति का कर्त्ता एक नहीं है।

महाभाष्य व्याख्याता और भागवृत्तिकार में भेद—भागवृत्ति को भर्तृहरि की कृति मानने पर भी वह महाभाष्य-व्याख्याता आद्य भर्तृहरि से भिन्न व्यक्ति है। इस में निम्न प्रमाण हैं—

१—यथालक्षणमप्रयुक्ते इति उद्याम उपराम इत्येव भवतीति भर्तृहरिणा भागवृत्तिकृता चोक्तम्।[3]

२—भर्तृहरिणा च नित्यार्थतैवास्योक्ता, तथा च भागवृत्तिकारेण प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तम्, तन्त्र उतम्—तन्त्रयुतम्।[4]

३—भर्तृहरिणा तूक्तम्—'यः प्रातिपदिकान्तो नकारो न भवति तदर्थं नुम्ग्रहणं प्राह्णिवदिति। अत्र हि ह्विवेर्लुकि नुमो णत्वमिति।' 'तत्र पूर्वपदाधिकारः, समासे च पूर्वोत्तरपदव्यवहारः, तत्कथं णत्वमिति न व्यक्तीकृतम्' इति भागवृत्तिकारेणोक्तम्।[5]

इन उद्धरणों में भर्तृहरि और भागवृत्तिकार का भेद स्पष्ट है। तृतीय उद्धरण से व्यक्त होता है कि भागवृत्तिकार ने किसी भर्तृहरि का कहीं-कहीं खण्डन भी किया था।

---

१. भागवृत्ति के जितने उद्धरण उपलब्ध हुए, उनका संग्रह 'भागवृत्तिसंकलनम्' के नाम से ओरियण्टल कालेज लाहौर के मेगजीन नवम्बर १६४० के अंक में हमने प्रकाशित किये हैं। देखो पृष्ठ ६८—८२। यह संग्रह पृथक् भी छपा है।

२. उद्यां प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्। ३।५॥ विभयां प्रचकारासौ। ६।२॥ 'व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च' इस वार्तिक (महाभाष्य ३।१।४०) के अनुसार व्यवहित प्रयोग नहीं हो सकता। निर्णयसागर से प्रकाशित भट्टिकाव्य में क्रमशः "उद्यान् प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्" तथा "प्रविभयां चकारासौ" परिवर्तित पाठ छपा है।

३. दुर्घटवृत्ति पृष्ठ ११७।

४. तन्त्रप्रदीप ८।३।११॥

५. सीरदेवीय परिभाषावृत्ति पृष्ठ १२।

शतकत्रय—नीति, शृङ्गार और वैराग्य ये तीन शतक भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका रचयिता कौन सा भर्तृहरि है, यह अज्ञात है। जैन ग्रन्थकार वर्धमानसूरि गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

वार्त्तैववार्तम्। यथा—हरिराकुमारमखिलाभिधानवित्
स्वजनस्य वार्तामन्वयुङ्क्त सः।[1]

क्या गणरत्नमहोदधि में उद्धृत पद्य का संकेत नीतिशतक के 'यां चिन्तयामि मयि सा विरक्ता'[2] श्लोक की ओर हो सकता है? यदि यह कल्पना ठीक हो तो नीतिशतक आद्य भर्तृहरिकृत होगा, क्योंकि इसमें हरि का विशेषण 'अखिलाभिधानवित्' लिखा है। वर्धमान अन्यत्र भी आद्य भर्तृहरि के लिये 'वेदविदामलंकारभूतः', 'प्रमाणितशब्दशास्त्रः' आदि विशेषणों का प्रयोग करता है।[3]

मीमांसा-सूत्रवृत्ति—यदि पण्डित रामकृष्ण कवि का पूर्वोक्त लेख ठीक हो तो निश्चय ही यह वृत्ति आद्य भर्तृहरि विरचित होगी।

वेदान्त-सूत्रवृत्ति—यह वृत्ति अनुपलब्ध है। यामुनाचार्य ने एक सिद्धित्रय नामक ग्रन्थ लिखा है। उस में वेदान्तसूत्र व्याख्याता टङ्क, भर्तृप्रपञ्च, भर्तृमित्र, ब्रह्मदत्त, शंकर, श्रीवत्सांक और भास्कर के साथ भर्तृहरि का भी उल्लेख किया है।[4] इस से भर्तृहरिकृत वेदान्तसूत्रवृत्ति की कुछ सम्भावना प्रतीत होती है।

शब्दधातुसमीक्षा—यह ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। इसका उल्लेख श्री पं० माधव-कृष्ण शर्मा ने अपने 'भर्तृहरि नाट ए बौद्धिस्ट' नामक लेख में किया है। यह लेख 'दि पूना ओरियण्टलिस्ट' पत्रिका अप्रैल सन् १९४० में छपा है।

---

१. पृष्ठ १२०।

२. श्लोक २। पुरोहित गोपीनाथ एम० ए० संपादित, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, सन् १८९५। कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं है।

३. यस्त्वयं वेदविदामलंकारभूतो वेदाङ्गत्वात् प्रमाणितशब्दशास्त्रः सर्वज्ञंमन्य उपमीयते। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३।

४. तथापि आचार्य टङ्क-भर्तृप्रपञ्च-भर्तृमित्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्त-शंकर-श्रीवत्साङ्क-भास्करादिविरचितसितासितविविधनिबन्धश्रद्धाविप्रलब्धबुद्धयो न यथान्यथा च प्रतिपद्यन्ते इति तत्प्रीतये युक्तः प्रकरणप्रक्रमः।

इत्सिंग की भूल का कारण

भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के रचयिताओं के वास्तविक नाम चाहे कुछ रहे हों, परन्तु इतना स्पष्ट है कि ये ग्रन्थ भी भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में न्यून से न्यून तीन भर्तृहरि अवश्य हुए हैं। इन का काल पृथक् पृथक् है। इन की ऐतिहासिक शृंखला जोड़ने से इत्सिंग के वचन में इतनी सत्यता अवश्य प्रतीत होती है कि वि० सं० ७०७ के लगभग कोई भर्तृहरि नामा विद्वान् अवश्य विद्यमान था। इत्सिंग स्वयं वलभी नहीं गया। अतः सम्भव हो सकता है कि उसने वलभीनिवासी किसी भर्तृहरि की मृत्यु सुन कर उसका उल्लेख वाक्यपदीय आदि प्राचीन ग्रन्थों के रचयिता के प्रसंग में कर दिया हो। इत्सिंग ने भर्तृहरि को बौद्ध लिखा है, वह भागवृत्तिकार विमलमति उपनाम भर्तृहरि के लिये उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि विमलमति एक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार है।

भर्तृहरि-त्रय के उद्धरणों का विभाग

अनेक व्यक्तियों का भर्तृहरि नाम होने पर एक बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि प्राचीन ग्रन्थों में भर्तृहरि के नाम से उपलभ्यमान उद्धरण किस भर्तृहरि के समझे जावें। हमने वाक्यपदीय, उसकी स्वोपज्ञ-टीका, महाभाष्यदीपिका, भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के उपलभ्यमान उद्धरणों की सूक्ष्मता से विचार करके निम्न परिणाम निकाले हैं—

१—प्राचीन ग्रन्थों में भर्तृहरि या हरि के नाम से जितने उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे सब आद्य भर्तृहरि के हैं।

२—भट्टिकाव्य के सभी उद्धरण भट्टि के नाम से दिये गये हैं। केवल श्वेतवनवासी विरचित उणादिवृत्ति के एक हस्तलेख में भट्टिकाव्य के उद्धरण भर्तृकाव्य के नाम से दिये हैं। दूसरे हस्तलेख में उसके स्थान में भट्टिकाव्य पाठ है।[1]

३—भागवृत्ति के उद्धरण भागवृत्ति, भागवृत्तिकृत् अथवा भागवृत्तिकार नामसे दिये गये हैं। भागवृत्ति का कोई उद्धरण भर्तृहरि के नाम से नहीं दिया गया।

---

१. देखो पृष्ठ ८३, पाठान्तर ४।

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि अर्वाचीन वैयाकरणों ने तीनों भर्तृहरियों के उद्धरण सर्वत्र पृथक् पृथक् नामों से उद्धृत किये हैं, उन्होंने कहीं पर सांकर्य नहीं किया। भाषावृत्ति के सम्पादक श्री श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने इस विभाग को न समझ कर अनेक भूलें की हैं।[1] भावी ग्रन्थसंपादकों को इस विभाग का परिज्ञान अवश्य होना चाहिये, अन्यथा भयङ्कर भूलें होने की सम्भावना है।

भर्तृहरि के विषय में इतना लिखने के अनन्तर प्रकृतविषय का निरूपण किया जाता है।

महाभाष्यदीपिका

आचार्य भर्तृहरि ने महाभाष्य की एक विस्तृत और प्रौढ व्याख्या लिखी है। इसका नाम 'महाभाष्यदीपिका' है।[2] इस व्याख्या के उद्धरण व्याकरण के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। वर्तमान में महाभाष्य-दीपिका का सर्वप्रथम परिचय देने का श्रेय डा० कीलहार्न को है।

महाभाष्यदीपिका का परिमाण—इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रा-विवरण में दीपिका का परिमाण २५००० श्लोक लिखा है। परन्तु इस लेख से यह विदित नहीं होता कि भर्तृहरि ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी थी, अथवा कुछ भाग पर। विक्रम की १२ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार वर्धमान लिखता है—

भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्त्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।

इसी प्रकार प्रकीर्णकाण्ड की व्याख्या की समाप्ति पर हेलाराज लिखता है—

---

१. भाषावृत्ति के सम्पादक ने 'गतविषप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः' इस उद्धरण को 'भागवृत्ति के रचयिता' का लिखा है। देखो भाषावृत्ति पृष्ठ ३२, टि० ३०। परन्तु दुर्घटवृत्ति में भागवृत्ति और भर्तृहरि के भिन्न भिन्न पाठ उद्धृत किये हैं। यथा—गततान्छील्ये इति भागवृत्तिः, गतविषप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः। दुर्घटवृत्ति पृष्ठ १६। इसी प्रकार भाषावृत्ति के सम्पादक ने ३।१।१६। में उद्धृत भर्तृहरि के पाठ को भागवृत्तिकार का लिखा है।

२. इति महामहोपाध्यायभर्तृहरिविरचितायां श्रीमहाभाष्यदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे द्वितीयमाह्निकम्। हस्तलेख पृष्ठ ११७।

त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता ।
तस्मै समस्तविद्याश्रीकान्ताय हरये नमः ॥

इस श्लोक में त्रिपदी पद त्रिकाण्डी वाक्यपदीय का विशेषण भी हो सकता है, अतः यह प्रमाण सन्दिग्ध है।

वर्तमान में महाभाष्यदीपिका का जितना परिमाण है, उसे देखते हुए २५००० श्लोक परिमाण तीन पाद से अधिक ग्रन्थ का नहीं हो सकता। डा० कीलहार्न का भी यही मत है।

संपूर्ण महाभाष्य की टीका—व्याकरण के ग्रन्थों में अनेक ऐसे उद्धरण उपलब्ध होते हैं जिन से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी थी। यथा—

१—भर्तृहरि वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में लिखता है—**संहितासूत्रभाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्।**[1]

संहिता-सूत्र अर्थात् **'परः सन्निकर्षः संहिता'** प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद का १०९ वां सूत्र है।

२—पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति ३।१।१६ पर भर्तृहरि का एक उद्धरण दिया है[2]। वह इसी सूत्र की टीका का हो सकता है। भाषावृत्ति के सम्पादक ने इस उद्धरण को भागवृत्तिकार का माना है, परन्तु यह ठीक नहीं। देखो पूर्व पृष्ठ २७०, टि० १।

३—व्याकरण के 'दैवम्' ग्रन्थ का व्याख्याता लीलाशुकमुनि अपनी 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या में लिखता है—**आह चैतत् सर्वं सुधाकरः—अनेन वर्तमाने क्तेन भूते प्राप्तः क्तो बाध्यते इति भर्तृहरिः। भाष्य-टीकाकृतस्तु भूतेऽपि क्तो भवतीत्यूचुः। तथा च पूजितो गतः, पूजितो यातीति भूतकालवाच्यः, न तु पूज्यमानो वर्तमानः।**[3]

भर्तृहरि का यह लेख महाभाष्य ३।२।१८८ की व्याख्या में ही हो सकता है।

४—शरणदेव दुर्घटवृत्ति ७।३।३४ में लिखता है-**यथालक्षणमप्रयुक्ते इति उपराम उद्याम इत्येव भवतीति भर्तृहरिणा भागवृत्तिकृता चोक्तम्।**[4]

---

१. भाग १, पृष्ठ ८२, लाहौर संस्क०। २. धूमाध्मेति भर्तृहरिः।
३. पृष्ठ १०३। ४. पृष्ठ ११७।

५—मैत्रेयरक्षित तन्त्रप्रदीप ८।३।२१ में लिखता है—भर्तृहरिणा चास्य नित्यार्थतैवोक्ता। तथा च भागवृत्तिकृता प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तम्—तन्त्रे उतम् तन्त्रयुतम् इति।[१]

६—सीरदेव अपनी परिभाषावृत्ति में लिखता है—भर्तृहरिणा तूक्तम् यः प्रातिपदिकान्तं नकारो न भवति तदर्थं नुम्ग्रहणं प्राहिण्वदिति।[२]

भर्तृहरि का यह उद्धरण महाभाष्य ८।४।११ की टीका से ही लिया जा सकता है, अन्यत्र महाभाष्य में इस का कोई प्रसङ्ग नहीं है।

इन उद्धरणों से इतना निश्चित है कि भर्तृहरि का कोई ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर अवश्य था। भर्तृहरि ने अष्टाध्यायी पर वृत्ति लिखी हो ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः यही मानना ठीक है कि उसने सम्पूर्ण महाभाष्य पर व्याख्या लिखी थी। प्रतीत होता है, इत्सिंग के काल में महाभाष्यदीपिका का जितना अंश उपलब्ध था, उसने उतने ग्रन्थ का ही परिमाण लिखा दिया। वर्धमान के काल में दीपिका के केवल तीन पाद शेष रह गये होंगे। सम्प्रति उसका एक पाद भी पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। सीरदेव और लीलाशुकमुनि ने तीसरे और आठवें अध्याय के जो उद्धरण दिये हैं, वे भागवृत्ति और सुधाकर के ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं, यह उन उद्धरणों से स्पष्ट है। सम्भव है तन्त्रप्रदीपस्थ उद्धरण भी ग्रन्थान्तर से उद्धृत किया गया हो।

महाभाष्य दीपिका का वर्तमान हस्तलेख

भर्तृहरि-विरचित महाभाष्य-दीपिका का जो हस्तलेख इस समय उपलब्ध है, वह जर्मनी की राजधानी बर्लिन के पुस्तकालय में था। इसकी सर्वप्रथम सूचना देने का सौभाग्य डा० कीलहार्न को है। इस हस्तलेख के फोटो लाहौर और मद्रास के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। दीपिका का दूसरा हस्तलेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

उपलब्ध हस्तलेख का परिमाण—इस हस्तलेख का प्रथम पत्र खण्डित है। हस्तलेख का अन्त ङिच्च १।१।५३ सूत्र पर होता है। इसमें २१७ पत्रे अर्थात् ४३४ पृष्ठ हैं। प्रतिपृष्ठ लगभग १२ पंक्तियाँ तथा प्रतिपंक्ति लगभग ३५ अक्षर हैं। इस प्रकार संपूर्ण हस्तलेख का परिमाण लगभग ५७०० श्लोक है।

१. न्यास की भूमिका पृष्ठ १४ से उद्धृत। २. पृष्ठ २।

यह हस्तलेख अनेक व्यक्तियों के हाथ का लिखा हुआ है। कहीं-कहीं पर पृष्ठमात्राएं भी प्रयुक्त हुई हैं। अतः यह हस्तलेख न्यूनातिन्यून ३०० वर्ष प्राचीन अवश्य है। इस हस्तलेख का पाठ अत्यन्त विकृत है। प्रतीत होता है इस के लेखक सर्वथा अपठित थे।

महाभाष्यदीपिका के उद्धरण—इसके उद्धरण कैयट, वर्धमान, शेषनारायण, शिवरामेन्द्र सरस्वती, नागेश और वैद्यनाथ पायगुडे आदि के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अन्तिम चार ग्रन्थकार विक्रम की १८ वीं शताब्दी के हैं। अतः प्रयत्न करने पर इस टीका के अन्य हस्तलेख मिलने की पूरी सम्भावना है।

महाभाष्यदीपिका की प्रतिलिपि—पञ्जाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में वर्तमान दीपिका का फोटो पाकिस्तान में रह गया है। बड़े सौभाग्य की बात है कि हमारे आचाय महावैयाकरण श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने सं १९८७ में पञ्जाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय से महान् परिश्रम से दीपिका का हस्तलेख प्राप्त करके अपने उपयोग के लिये उस की एक प्रतिलिपि करली थी। वह इस समय उन के संग्रह में सुरक्षित है।

महाभाष्यदीपिका का सम्पादन

सं० १९९१ में हमारे आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने महाभाष्यदीपिका का सम्पादन प्रारम्भ किया था, उस के चार फार्म (३२ पृष्ठ) काशी की 'सुप्रभातम्' पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। तत्पश्चात् आचार्यवर स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत यजुर्वेद-भाष्य के सम्पादन और उस पर विवरण लिखने के कार्य में लग गये, इस कारण वे दीपिका का प्रकाशन पूरा न कर सके। अब हम यथा सम्भव शीघ्र इस महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन करेंगे।

भर्तृहरि के अन्य ग्रन्थ

आद्य भर्तृहरि के महाभाष्यदीपिका के अतिरिक्त निम्न ग्रन्थ और हैं—

१—वाक्यपदीय (प्रथम द्वितीय काण्ड)।

२—प्रकीर्णकाण्ड (तृतीय काण्ड)।

३—वाक्यपदीय (काण्ड १,२) की स्वोपज्ञटीका।

४—वेदान्तसूत्र-वृत्ति।

५—मीमांसासूत्र-वृत्ति।

इनमें से संख्या १,२,३ पर विचार 'व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार' नामक प्रकरण में किया जायगा। संख्या ४, ५ का संक्षिप्त वर्णन हम पूर्व कर चुके।

महाभाष्यदीपिका के विशेष उद्धरण

हम ने भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका का अनेकधा पारायण किया है। उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण वचन हैं। हम उनमें से कुछ एक अत्यन्त आवश्यक वचनों को नीचे उद्धृत करते हैं—

१. यथा तैत्तिरीयाः कृतणत्वमग्निशब्दमुच्चारयन्ति[1]। पृष्ठ १।

२. एवं ह्युक्तम्—स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते[2]। ५।

३. अस्ति हि स्मृतिः—एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः..............[3]। १६।

४. इळो अग्निनाग्निनेति विवृतिर्दृष्टा बह्वृचसूत्रभाष्ये। १७।

५. आश्वलायनसूत्रे–ये यजामहे..........। १७।

६. आपस्तम्बसूत्रे–अग्नाग्ने..............। १७।

७. शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य। २१।

८. संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्–नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रह ग्रन्थे [परीक्षितानि]। २६।

९. सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति। आर्हतानां मीमांसकानां च नैवास्ति विनाश एषाम्। २९।

१०. एवं संग्रह एतत् प्रस्तुतम्–किं कार्यः शब्दोऽथ नित्य इति। ३०।

११. इहापि तदेव, कुतः? संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः, तत्रैकत्वाद् व्याडेश्च प्रामाण्यादिहापि तथैव सिद्धशब्द उपात्तः। ३०।

१२. अन्ये वर्णयन्ति–यदुक्तं दर्शनस्य परार्थत्वाद् (जै० मी० १।१।१८) अपि प्रवृत्तित्वादिति। यदेव तेन भाष्येणोक्त[4]मिति–कार्याणां वाग्विनियोगादप्यन्यद्दर्शनान्तरमस्ति। उत्पत्तिं प्रति तु अस्य यद्दर्शनं–योपलब्धिः या निष्पत्तिः सा परार्थरूप इव, नहि परार्थताशून्यः कालः कचिदस्ति। तस्मादेतत्प्रतिपत्तव्यम्–अवस्थित एवासौ प्रयोक्तृकरणादिसन्निपातेन अभिव्यज्यत इति[5]। ३६।

---

१. तुलना करो—यद्यपि च अग्निर्वृत्राणि जङ्घनदिति वेदे कृतणत्वमग्निशब्दं पठन्ति। न्यायमञ्जरी पृष्ठ २८८। २. यह वचन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में भी उद्धृत किया है। देखो पृष्ठ ३५।

३. महाभाष्य। ६।१।८४॥

४. भर्तृहरि ने यहां मीमांसा १।१।१८ के किसी प्राचीन भाष्य को उद्धृत किया है।

१३. धर्मप्रयोजनो वेति मीमांसकदर्शनम्। अवस्थित एव धर्मः, स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते,[1] तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति। यथा स्वामी भृत्यैः सेवायां प्रेर्यते। ३८।

१४. निरुक्ते त्वेवं पठ्यते—विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति।[2] तत्रायमर्थः कुर्वते—कृत्प्रत्ययान्तस्य यो विकारः एकदेशस्तमेव भाषन्ते, न शवतिं सर्वप्रत्ययान्तां प्रकृतिमिति। ४२।

१५. तत्रैवोक्तम्—दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः।
ये नराः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यगुरुलाघवम्[3]॥ ४४।

१६. भाष्यसूत्रे गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात् लक्षणप्रपञ्चयोस्तु मूलसूत्रेप्याश्रयणात्[4] इहापि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां प्रवृत्तिः। ४८।

१७. एवं हि तत्रोक्तम्—स्फोटस्तावानेव, केवलं वृत्तिभेदः, ततश्च सर्वासु वृत्तिषु तत्कालत्वमिति[5]। ५८।

१८. केषांचित् वर्णोऽक्षरम्, केषाञ्चित् पदम्, वाक्यं च। ११५।

१९. एवं ह्यन्ये पठन्ति-वर्णा अक्षराणीति[6]। ११६।

२०. यदेवोक्तं वाक्यकारेण वृत्तिसमवायार्थ उपदेश इति। तदेव श्लोकवार्त्तिककारोऽप्याह ......। ११६।

२१. इति महामहोपाध्यायभर्तृहरिविरचितायां श्रीमहाभाष्यदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्। ११७।

२२. नान्तः [पादमिति] पाठमाश्रित्येदमुपन्यस्तम्, न प्रकृत्यान्तः पादमिति। १४२।

---

१. तुलना करो—वृद्धमीमांसका यागादिकर्मनिर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति। यागादिकर्मैव शाबरा ब्रुवते। न्यायमञ्जरी २७१। यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इत्याचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते। शाबरभाष्य १।१।२॥ इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भर्तृहरि शबरस्वामी से बहुत प्राचीन है।

२. निरुक्त २।२॥ ३. चरक सूत्रस्थान २७। ३४३॥

४. तुलना करो—ते वै विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च। महाभाष्य ६।३।१४॥ ५. यह महाभाष्य १।१।७० के 'स्फोटस्तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः' पाठ की कोई प्राचीन व्याख्या प्रतीत होती है।

६. तुलना करो—व्याकरणान्तरे वर्णा अक्षराणीति वचनात्। महाभाष्यप्रदीप अ० १, पा० १, आ० २॥

२३. अयमेवार्थो वृत्तिकारेण दर्शितः—धात्वैकदेशलोपो धातुलोप इति।······एवं च केचिद्वृत्तिकारा धातुलोप इति किमर्थमिति पठन्ति। १४५,१४६।

२४. प्रजापतिर्वै यत्किंचन मनसा दीधेत तदधीतयजुभिरेव प्राप्नोति तदधीत यजुषामधीतयजुष्ट्वं एतन्निरुक्ते (?) ध्यायेत वर्ण्यते। अयं हि तत्र व्याख्यानग्रन्थः—प्रजापतिर्वै यत्किंचन मनसा ध्यायन् तदिति राम्रवानिति[1]। १६५।

२५. यदप्युच्यत इति अयं ग्रन्थोऽस्मादनन्तरं युक्तरूपो दृश्यते।१७५।

२६. तत्कथं शिवसमुदाये कार्यभाजिनि अवयवा न लभन्ते। १७५।

२७. अस्मिंस्तु दर्शने पाणिनिना मुखग्रहणं पठितमिति दृश्यते। चूर्णिकारस्तु भागप्रविभागमाश्रित्य प्रत्याचष्टे। १७९।

२८. संवारविवाराविति। यथा चैते बाह्यास्तथा शिक्षायां विस्तरेण प्रतिपादितम्। १८४।

२९. अस्यां शिक्षायां भिन्नस्थानत्वान्नास्ति अवर्णोहकारयोः सवर्णसंज्ञेति। १८४।

३०. आचार्येणापि सर्वनामशब्दः शक्तिद्वयं परिगृह्य प्रयुक्तः। यथा—इदं विष्णुर्विचक्रमे[2] इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते। एवं च कृत्वा वृको मासकृदित्यत्रावग्रहभेदोऽपि भवति, चन्द्रमसि प्रयुक्तो मासशब्दोऽवगृह्यते वृको मासऽकृदिति[3]। २६८।

३१. इहान्ये वैयाकरणाः पठन्ति—प्रत्ययोत्तरपदयोरद्विवचनटापोरुभस्योभयः। अन्येषाम्—उभस्य नित्यं द्विवचनं टाप् च लोपश्च तयपः[4]। तेषां टाबिति टाबादयो निर्दिश्यन्ते·········। अन्येषामेवं पाठः—अद्विवचनय-

---

१. यह किसी संहिता ग्रन्थ का प्राचीन व्याख्यान है। इस सारे उद्धरण का पाठ बहुत अशुद्ध है।

२. ऋग्वेद १।२२।१७॥ ३. तुलना करो—अरुणो मासकृत् (ऋ० १। १०५।१८)··········मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमाः। निरुक्त ५।२१॥ ४. एवं च भर्तृहरिणा उभयोन्यत्रेति वार्तिकमूलभूतम् "उभस्य द्विवचन टाप् च लोपश्च यस्य" इति व्याकरणान्तरसूत्रमुदाहृतम्। नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।१।२७॥

पद्यति। केचित् पुनरेवं पठन्ति—उभस्योभयोरद्विवचने[1]। उभस्योभयो भवति अद्विवचन इति। २७०।

३२. तत्रैतस्मिन्नग्रे भाष्यकारस्याभिप्रायमेवं व्याख्यातारः समर्थयन्ते[2]। २८१।

३३. न च तेषु भाष्यसूत्रेषु[3] गुरुलघुप्रयत्नः क्रियते तथा चा[ह]—नहीदानीमाचार्याः कृत्वा सूत्राणि निवर्तयन्ति इति[4]। भाष्यसूत्राणि हि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां निदर्शनसमर्थतराणि। २८१, २८२।

३४. इह त्यदादीन्यापिशलैः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि ततः पूर्वपराधरेति[5]……………। २८७।

३५. विग्रहभेदं प्रतिपन्नाः वृत्तिकाराः। २९५।

३६. अस्मिन् विग्रहे क्रियमाणे सूत्रे यो दोषः स उक्तः। इदानीं वृत्तिकारान्तरमुपन्यस्यति। ३०६।

३७. अत एषां व्यावृत्त्यर्थं कुणिनापि तद्धितग्रहणं कर्तव्यम्।…… ……अतो गणपाठ एव ज्यायानस्यापि वृत्तिकारस्य, इत्येतदनेन प्रतिपादयति।३०९।

३८. नैव सौनागदर्शनमाश्रीयते। ३१०।

३९. तस्मादनर्थकमन्तग्रहणं दृश्यते। न्यासे[6] तु प्रयोजनमन्तग्रहणस्योक्तम्—स्वभावैजन्तप्रतिपत्त्यर्थम्, इह मा भूत् कुम्भका[रेभ्यः] इति। ३१४।

---

१. तुलना करो—आपिशलिस्त्वेवमर्थं सूत्रयत्येव–उभस्योभयोरद्विवचनटापोः। तन्त्रप्रदीप २।३।८॥ देखो, भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९५।

२. बहुवचन निर्देश से स्पष्ट है कि भर्तृहरि से पूर्व महाभाष्य की अनेक व्याख्याएं रची गई थीं। ३. भाष्यसूत्र से यहां वार्तिकों का ग्रहण है। इससे प्रतीत होता है कि अष्टाध्यायी पर वृत्तियां ही लिखी गई, अत एव उसका नाम 'वृत्तिसूत्र' है। देखो पूर्व पृष्ठ १५२। वार्तिकों पर वृत्तियां नहीं बनीं, उन पर भाष्य ही लिखे गये।

४. महाभाष्य, अ० १, पाद १, आ० १, पृष्ठ १२। ५. तुलना करो—त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि। कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।१।३४॥

६. यह न्यास जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास अपरनाम काशिकाविवरणपञ्जिका से भिन्न ग्रन्थ है। क्योंकि उसमें यह पाठ नहीं है। भामह ने काव्यालंकार ६।३६ में किसी न्यासकार का उल्लेख किया है। भामह स्कन्दस्वामी (वि० सं० ६८७) का पूर्ववर्ती है। अनेक विद्वान् भामह और जिनेन्द्रबुद्धि का पौर्वापर्य संबन्ध निश्चित करते रहे, वह सब वृथा है, क्योंकि प्राचीन न्यासग्रन्थ अनेक थे; अतः भामह किस न्यासकार का उल्लेख करता है, यह अज्ञात है।

४०. मा नः समस्य दूढ्य[1] इति। एतस्य निरुक्तकारो व्याख्यानं करोति मा नः सर्वस्य दुर्धियः पापधिय इति[2]। ३२३।

४१. अन्येषां पुनर्लक्षणे "समो युक्ते" समशब्दो युक्तेऽर्थे न्याय्येऽर्थे वर्तते सर्वनामसंज्ञो भवति। इह तु न समशब्दो युक्तार्थे प्रयुक्त इति दोषाभावः। ३२३।

४२. सर्वव्याख्यानकारै[3] रिदमवसितं मुखस्वरेणैव भवितव्यमुपाग्निमुख इति। अत्र वर्णयन्ति………। ३२८।

४३. कथं तदुक्तं भारद्वाजा अस्मात् मतात् प्रच्याव्यते इत्युच्यते। यथानेन स्मृत्वोपनिबद्धं ततः प्रच्याव्यत इति। ३५९।

४४. उभयथा आचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, केचिद् वाक्यस्य केचिद् वर्णस्येति[4]। ३७२।

४५. श्रुतेरर्थात् पाठाच्च प्रमृतेऽथ मनीषिणः।
स्थानान्मुख्याच्च धर्माणामाहुः श्रुतिर्वेदक्रमात्॥

श्रुतेः क्रममाहुः—हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसः। अथ शब्दोऽनन्तरार्थस्य द्योतकः श्रूयते। तत्र इदं कृत्वा इदं कर्तव्यमिति। क्रमप्रवृत्तिरर्थक्रमो यदार्थ एवमुच्यते—देवदत्तं भोजय स्नापयानुलेपयोद्वर्तयाभ्यञ्जयेति। अर्थात् क्रमो नियम्यते—अभ्यञ्जनमुद्वर्तनं स्नापनमनुलेपनं भोजनमिति। पाठक्रमो नियतानुपूर्विके श्रुतिर्वेदवाक्येष्वनेकार्थोपादाने उद्देशिनामनुदेशिनां च सकृदर्थित्वेन व्यवतिष्ठते। यथा स्मृतौ परिमार्जनप्रदाहनेक्षणनिर्णेजनानि तैजसमात्रिकद्वारवतानामिति। ३७७।

४६. इहास्तेः केचित् सकारमात्रमुपदिश्य पित्सु अडागमं विदधति[5] केचित् आकारलोपमपित्सु वचनेसु। ३८०।

४७. तत्रेदं दर्शनं—पदप्रकृतिः संहितेति[6]। ४११।

महाभाष्यदीपिका में प्राचीन भाष्यव्याख्याओं का उल्लेख

महाभाष्यदीपिका में केचित् अपरे अन्ये आदि शब्दों से महाभाष्य

१. ऋग्वेद ८।७५।९॥ २. निरुक्त ५।२३॥

३. इससे भी महाभाष्य पर अनेक प्राचीन व्याख्याओं की सूचना मिलती है।

४. इस से प्रतीत होता है कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी की वृत्ति भी बनाई थी।

५. यह आपिशलि का मत है। देखो अष्टा० १।३।२२ की काशिकाविवरणपञ्जिका और पदमञ्जरी। ६. निरुक्त १।१७॥ तुलना करो—ऋक्प्राति० २।१॥

के अनेक प्राचीन व्याख्याकारों के पाठ उद्धृत हैं। हम यहां उनका संकेत-मात्र करते हैं—

केचित्—४, ६१, १६७, १७६, १७९, १८९, २०४, २०५, २११, २८० ३२१, ३३३, ३७४, ४००, ४०४, ४०७, ४२४।

केषाञ्चित्—२९, १७८ ४२४।

अन्ये—४, ५७, ७०, १५४, १६०, १६९, १७६, १७९, १८३, १८५, २७९, २८०, ३०८, ३३९, ३७४, ३८२, ३९१, ३९७, ३९९।

अन्येषाम्—१८, ३९, ४६।

अपरे—७०, ७६, १६४, १७६, १७८, १८९, १९७, २०५, ३२९, ३६५, ३६८, ४००, ४०४, ४२४।

महाभाष्य की प्राचीन टीकाओं में भाष्य के पाठान्तर—१५, १९, १००, १०४, १६५, १६८, १८१, ४१५, ४१९, ४३०।

विशिष्ट पदों का व्यवहार

वाक्यकार (=वार्तिककार)—६२, ११६, १६२, २८०, ३७८, ४१४।

चूर्णिकार (=महाभाष्यकार)—१७९, १९९, २३६।

इह भवन्तस्त्वाहुः[1]—६१, १०७, १२५, २६९, २७२।

२—अज्ञातकर्तृक (सं० ६८० से पूर्व)

स्कन्दस्वामी ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध भाष्यकार है। उसने निरुक्त पर भी टीका लिखी है। वह निरुक्त १।२ की टीका में लिखता है—

अन्ये वर्णयन्ति—भावशब्दः शब्दपर्यायः। तथा च प्रयोगः—'यद्वा सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः' इति, 'सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेनार्थभूताः संबद्धा भवन्ति स तेषां स्वभावः' इति तत्र व्याख्यायते'।

यहां स्कन्दस्वामी ने पहिले 'यद्वा····भावः' पाठ उद्धृत किया। यह पाठ महाभाष्य ५।१।११९ का है। तदनन्तर 'सर्वे····स्वभावः' पाठ लिख कर अन्त में '**तत्र व्याख्याते**' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी ने उत्तर पाठ महाभाष्य की किसी प्राचीनटीका ग्रन्थ से उद्धृत किया है।

---

१. महाभाष्य १।१।८ में 'इह भवन्तस्त्वाहुः' का उद्धरण मिलता है।

स्कन्दस्वामी हरिस्वामी का गुरु है। हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण प्रथम काण्ड का भाष्य संवत् ६९५ में लिखा है।[1] यदि हरिस्वामी की तिथि कलि सं० ३०४७ हो तो स्कन्दस्वामी की निरुक्त टीका में उद्धृत महाभाष्यव्याख्या विक्रम संवत् से पूर्ववर्ती होगी।

३—कैयट (सं० ११०० से पूर्व)

कैयट ने महाभाष्य की 'प्रदीप' नाम्नी एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी है। महाभाष्य पर उपलब्ध टीकाओं में भर्तृहरि की महाभाष्यदीपिका के अनन्तर यही सब से प्राचीन टीका है।

परिचय

वंश—कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो वाक्य उपलब्ध होता है, उसके अनुसार कैयट के पिता का नाम "जैयट उपाध्याय" था।[2]

मम्मटकृत काव्यप्रकाश की "सुधासागर" नाम्नी टीका में भीमसेन ने कैयट और उव्वट को मम्मट का अनुज लिखा है। यजुर्वेदभाष्य के अन्त में उव्वट ने अपने पिता का नाम "वज्रट" लिखा है।[3] अतः भीमसेन का लेख अशुद्ध होने से प्रमाण योग्य नहीं है। भीमसेन का काल सं० १७७९ है। प्रतीत होता है, उसे कैयट, उव्वट और मम्मट नामों के सादृश्य के कारण भ्रम हुआ है।

आनन्दवर्धनाचार्यकृत देवीशत की एक कैयटकृत व्याख्या उपलब्ध होती है। व्याख्या का लेखन काल कलि संवत् ४०७८ अर्थात् विक्रम सं० १०३४ है। देवीशतक की व्याख्या में कैयट के पिता का नाम चन्द्रादित्य मिलता है। अतः यह कैयट प्रदीपकार कैयट से भिन्न है।

शिष्य—कैयट ने निस्सन्देह अनेक छात्रों के लिए महाभाष्य का प्रवचन किया होगा। परन्तु हमें उनमें से केवल एक शिष्य का नाम ज्ञात हुआ है, वह है उद्योतकर। यह उद्योतकर न्यायवार्तिक के रचयिता नैयायिक उद्योतकर से भिन्न व्यक्ति है। कैयट-शिष्य उद्योतकर ने भी व्याकरण पर कोई ग्रन्थ रचा था। उसके कुछ उद्धरण पं० चन्द्रसागरसूरि ने हैम-

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २५६। २. इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे....।

३. आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटस्य च सूनुना। उवटेन कृतं भाष्यं...........॥

बृहद्वृत्ति की आनन्दबोधिनी टीका में उद्धृत किये हैं।[1] उनमें से एक इस प्रकार है—

...... स्वगुरुमतमुपदर्शयन्नुद्योतकर आह—यथात्र भवानस्मदुपाध्यायो व्याकरणरत्नाकर-पूर्णचन्द्रमाः कैयटाख्यः शिष्यसार्थमिदमवोचत्-भृत्यापेक्षयाऽत्र षष्ठी कृता न साध्यापेक्षया............।[2]

देश—कैयट ने अपने जन्म से किस देश को गौरवान्वित किया यह अज्ञात है, परन्तु कैयट मम्मट रुद्रट उद्भट आदि नामों की सादृश्यता से प्रतीत होता है कि कैयट काश्मीर निवासी था।

काल

कैयट का इतिवृत्त अज्ञात होने से उसका काल अज्ञात है। हम उसके कालनिर्णायक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—सर्वानन्द ने अमरकोष की टीकासर्वस्व नाम्नी व्याख्या संवत् १२१५ में लिखी है। उस में वह मैत्रेयरक्षित-विरचित धातुप्रदीप[3] और उसकी किसी टीका[4] को उद्धृत करता है।

२—मैत्रेय तन्त्रप्रदीप १।२।१ में नामनिर्देशपूर्वक कैयट को स्मरण करता है—कज्जटस्तु कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यकारवचनादेवंविधविषये पञ्चमी भवतीति मन्यते।[5]

३—मैत्रेयरक्षित अपने तन्त्रप्रदीप[6] और धातुप्रदीप[7] में धर्मकीर्ति तथा तद्रचित रूपावतार को उद्धृत करता है।

४—धर्मकीर्ति रूपावतार में पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख करता है।[8]

---

१. हैमबृहद्वृत्ति भाग १, पृष्ठ १८८, २१०।

२. हैमबृहद्वृत्ति भाग १, पृष्ठ २१०।

३. भाग १, पृष्ठ ५५, १५३, १५७ इत्यादि।

४. भाग ४, पृष्ठ ३०।

५. भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८६३ की टिप्पणी में उद्धृत।

६. अविनीतकीर्तिना [धर्म]कीर्तिना स्वाहोपुरुषिकया लिखितं—तनिपतिदरिद्रातिभ्यो वेड् वाच्य इत्यनार्षमिति। तन्त्रप्रदीप ७।२।४१। धातुप्रदीप की भूमिका पृष्ठ ३ में उद्धृत। ७. रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव कृते सत्येकाच्त्वात् यङुदाहृतः चोचूर्यंत इति। धातुप्रदीप पृष्ठ १३१।

८ दीर्घान्त एवायं हरदत्ताभिमतः। रूपावतार भाग २, पृष्ठ १५७।

५—हरदत्तविरचित पदमञ्जरी और कैयटविवरित महाभाष्यप्रदीप की तुलना करने से विदित होता है कि अनेक स्थानों में दोनों ग्रन्थ अक्षरशः समान हैं। इससे सिद्ध है कि दोनों में से कोई एक दूसरे के ग्रन्थ की प्रतिलिपि करता है, यद्यपि नाम का निर्देश किसी ने नहीं किया, तथापि निम्न पाठों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि कैयट हरदत्त से प्राचीन है।

कैयट—यद्वा प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण इति टच् समासान्तः। स च यद्यप्यव्ययीभावे विधीयते तथापि परशब्दस्याक्षिशब्देनाव्ययीभावासंभवात् समासान्तरे विज्ञायते।[1]

हरदत्त—अन्ये तु प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण इति शरत्प्रभृतिषु पाठात् टच् समासान्त इत्याहुः। स च यद्यप्यव्ययीभावे विधीयते तथापि परशब्देनाव्ययीभावासंभवात् समासान्तरे विज्ञायते। एवं तु क्रियायां परोक्षायामितिभाष्यप्रयोगे टिड्ढाणञो ङीप् प्राप्नोति तस्माद-जन्त एवायम्।[2]

कैयट—ऊर्ध्वं दमाच्चेति—दमशब्दे उत्तरपदे ठञ्संनियोगेनोर्ध्व-शब्दस्य मकारान्तत्वं निपात्यते।[3]

हरदत्त—ऊर्ध्वशब्देन समानार्थ ऊर्ध्वं शब्द इति, स चैतद्वृत्ति-विषय एव। अपर आह—ठञ्संनियोगेन दमशब्द उत्तरपदे ऊर्ध्व-शब्दस्यैव मान्तत्वं निपात्यत इति।[4]

कैयट—गुणो वृद्धिर्गुणो वृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम्।
पुनर्वृद्धिर्निषेधश्च यण्पूर्वाः प्राप्तयो न व॥

इति संग्रहश्लोकः।[5]

हरदत्त—आह च—

गुणो वृद्धिर्गुणोवृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम्।
पुनर्वृद्धिर्निषेधश्च यण्पूर्वाः प्राप्तयो नव॥[6]

इन में प्रथम उद्धरण में हरदत्त 'अन्ये ....आहुः' शब्दों से कैयट के मत का अनुवाद करके उसका खण्डन करता है। द्वितीय में 'अपर आह' और तृतीय में 'आह च' लिखकर कैयट के पाठ को उद्धृत करता

१. प्रदीप ३।२।११५।
२. पदमञ्जरी ३।२।११५॥
३. प्रदीप ४।३।६०॥
४. पदमञ्जरी ४।३।६०॥
५. प्रदीप ७।२।५॥
६. पदमञ्जरी ७।२।५॥

है। इन पाठों से स्पष्ट है कि कैयट हरदत्त से प्राचीन है, और हरदत्त कैयट के पाठों की प्रतिलिपि करता है। अब हम हरदत्त का एक ऐसा वचन उद्धृत करते हैं जिसमें हरदत्त स्पष्टरूप से कैयटकृत महाभाष्य-व्याख्या को उद्धृत करता है। यथा—अन्ये तु 'हे अपाविति प्राप्ते हे अपो इति भवतीति भाष्यं व्याचक्षाणा नित्यमेव गुणमिच्छन्ति।

तुलना करो महाभाष्यप्रदीप—हे अपु हे अपो इति—हे अपु इति प्राप्ते हे अपो इति भवतीत्यर्थः।

भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार भी हरदत्त को कैयटानुसारी लिखता है।[1]

यद्यपि पूर्व निर्दिष्ट ग्रन्थकारों में मैत्रेयरक्षित, धर्मकीर्ति और हरदत्त का काल भी अनिश्चित है तथापि परस्पर एक दूसरे को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारों में न्यूनातिन्यून २५ वर्ष का अन्तर मान कर इन का काल इस प्रकार होगा—

ग्रन्थकर्ता	ग्रन्थनाम	काल
सर्वानन्द	टीकासर्वस्व	१२१५ वि०
…………	धातुप्रदीपटीका	११९० ,,
मैत्रेयरक्षित	धातुप्रदीप	११६५ ,,
धर्मकीर्ति	रूपावतार	११४० ,,
हरदत्त	पदमञ्जरी	१११५ ,,
कैयट	महाभाष्यप्रदीप	१०९० ,,

इस प्रकार कैयट का काल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। सम्भव है कैयट इस से भी प्राचीन ग्रन्थकार हो, परन्तु दृढ़तर प्रमाण के अभाव में इतना ही कहा जा सकता है।

महाभाष्य-प्रदीप

कैयट ने अपनी टीका के प्रारम्भ में लिखा है कि मैंने यह व्याख्या भर्तृहरिनिबद्ध साररूपी ग्रन्थसेतु के आश्रय से रची है।[2] यहां कैयट का अभिप्राय भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय और प्रकीर्ण काण्ड से है। कैयट ने सम्पूर्ण प्रदीप में केवल एक स्थान पर भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका की ओर संकेत किया है,[3] दीपिका का पाठ कहीं पर उद्धृत नहीं किया।

१. देखो पृष्ठ २६० का उद्धरण। २. तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना……।

३. विस्तरेण भर्तृहरिणा प्रदर्शित ऊहः। नवाह्निक निर्णयसागर संस्करण पृ० २०।

वाक्यपदीय और प्रकीर्ण काण्ड के शतशः उद्धरण भाष्यप्रदीप में उद्धृत हैं। प्रदीप से कैयट का प्रौढ़ पाण्डित्य स्पष्ट विदित होता है। सम्प्रति महाभाष्य जैसे दुरूह ग्रन्थ को समझने में एकमात्र सहारा प्रदीप ग्रन्थ है, इस के विना महाभाष्य पूर्णतया समझ में नहीं आ सकता। अतः पाणिनीय संप्रदाय में कैयटकृत महाभाष्यप्रदीप अत्यन्त महत्त्व रखता है।

महाभाष्य-प्रदीप के टीकाकार

महाभाष्यप्रदीप के अत्यन्त महत्त्व पूर्ण होने के कारण अनेक वैयाकरणों ने इस ग्रन्थ पर टीकाएं लिखी हैं। उन में से निम्न टीकाकारों की टीकाएं उपलब्ध या ज्ञात हैं—

१. चिन्तामणि
२. नागनाथ
३. रामानन्द सरस्वती
४. ईश्वरानन्द सरस्वती
५. अन्नंभट्ट
६. नारायण शास्त्री
७. नागेशभट्ट
८. मल्लय यज्वा
९. रामसेवक
१०. प्रवर्तकोपाध्याय
११. आदेन्न
१२. नारायण
१३. सर्वेश्वर सोमयाजी
१४. हरिराम
१५. अज्ञात कर्तृक

इन टीकाकारों का वर्णन हम बारहवें अध्याय में करेंगे।

४—ज्येष्ठकलश (सं० १०८५–११३५)

ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य की एक टीका लिखी थी, ऐसी ऐतिहासिकों में प्रसिद्धि है,[1] परन्तु गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशी से प्रकाशित विक्रमाङ्कदेवचरित के सम्पादक पं० मुरारीलाल शास्त्री नागर का मत है कि ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य पर कोई टीका नहीं रची।[2] हमारा भी यही विचार है। बिल्हण का लेख इस प्रकार है—

> महाभाष्यव्याख्यामखिलजनवन्द्यां विदधतः,
> सदा यस्यच्छात्रैरितलाकिनमभूत् प्राङ्गणमपि।[3]

यहां 'विदधतः' वर्तमान काल का निर्देश और छात्रों से शोभित प्राङ्गण

१. कृष्णमाचार्य कृतहिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १६५।
२. विक्रमाङ्कदेवचरित की भूमिका पृष्ठ ११।   ३. सर्ग १८, श्लोक ७६।

(बरामदा) का वर्णन होने से प्रतीत होता है कि ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य की टीका नहीं रची, अपितु उक्त श्लोक में केवल उसके महाभाष्य के प्रवचन में अत्यन्त पटु होने का उल्लेख है ।

परिचय

वंश—ज्येष्ठकलश कौशिक गोत्र का ब्राह्मण था । इसके पिता का नाम राजकलश और पितामह का नाम मुक्तिकलश था । ये सब श्रोत्रिय और अग्निहोत्री थे । ज्येष्ठकलश की पत्नी का नाम नागदेवी था । ज्येष्ठकलश के बिल्हण, इष्टराम और आनन्द नामक तीन पुत्र थे । ये सब विद्वान् और कवि थे । बिल्हण ने "विक्रमाङ्कदेवचरित" नामक महाकाव्य की रचना की है ।

देश—ज्येष्ठकलश कश्मीर में प्रवरपुर के पास "कोनमुख" ग्राम का निवासी था । वह मध्यदेशीय ब्राह्मण था ।

काल

ज्येष्ठकलश का पुत्र बिल्हण कश्मीर छोड़ कर दक्षिण देश में चला गया । यह कल्याणी के चालुक्यवंशी षष्ठ विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल का सभा पण्डित था । इसने बिल्हण को "विद्यापति" की उपाधि से विभूषित किया था । इस विक्रमादित्य का काल वि० सं० ११३३-११८४ तक माना जाता है । अतः बिल्हण के पिता ज्येष्ठकलश का काल वि० सं० १०८५-११३५ तक रहा होगा ।

बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरित के अठारवें सर्ग में अपने वंश का विस्तार से परिचय दिया है ।

४—मैत्रेय रक्षित (सं० ११४५-११७५ ?)

मैत्रेय रक्षित बौद्ध वैयाकरणों में विशिष्ट स्थान रखता है । सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में मैत्रेय रक्षित को बहुशः उद्धृत किया है । उनमें कुछ उद्धरण ऐसे हैं जिनसे प्रतीत होता है कि मैत्रेय रक्षित ने महाभाष्य की कोई टीका रची थी । सीरदेव के वे उद्धरण नीचे लिखे जाते हैं—

१—एतच्च 'आतो लोप इटि च' (अष्टा० ६।४।६४) इत्यत्र 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (अष्टा० ३।४।७९) इत्यत्र च भाष्यव्याख्याने रक्षितेनोक्तम् । परि० पृष्ठ ७१ ।

२—एतच्च 'सर्वस्य द्वे' (अष्टा ६।१।१) इत्यत्र भाष्यव्याख्याने रक्षितेनोक्तम् । परि० पृष्ठ ५१ ।

३—तत्रैतस्मिन् भाष्ये रक्षितेनोक्तम् । परि० पृष्ठ ७१ ।

४—अत एव 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' (अष्टा० ७।४।२) इत्यत्र रक्षितेनोक्तम्—हलचोरादेशो न स्थानिवदिति, यदि हि स्यात्....... केवलाग्लोपे प्रतिषेधस्यानर्थक्यादिति भाष्यटीकायां निरूपितम् । परि० पृष्ठ १५४ ।

काल

मैत्रेय रक्षित का निश्चित समय अज्ञात है । कैयट के काल निर्देश में हमने मैत्रेय रक्षित के धातुप्रदीप का आनुमानिक रचना काल संवत् ११६५ लिखा है तदनुसार मैत्रेय का काल ११४५-११७५ के मध्य माना जा सकता है ।

अन्य ग्रन्थ

मैत्रेय रक्षित ने न्यास की तन्त्रप्रदीप नाम्नी महती टीका, धातुप्रदीप और दुर्घटवृत्ति लिखी थी । इनका वर्णन हम आगे तत्तत् प्रकरणों में करेंगे ।

६–पुरुषोत्तमदेव (सं० १२००)

पुरुषोत्तमदेव ने महाभाष्य पर 'प्राणपणा' नामकी एक लघु वृत्ति लिखी थी ।[1] इस वृत्ति की व्याख्या का टीकाकार मणिकण्ठ इसका नाम प्राणपणित लिखता है ।[1]

पुरुषोत्तमदेव बंगप्रान्तीय वैयाकरणों में प्रामाणिक व्यक्ति माना जाता है । अनेक ग्रन्थकार पुरुषोत्तमदेव के मत प्रमाणकोटि में उपस्थित करते हैं । कई स्थानों में इसे केवल 'देव' नाम से स्मरण किया है ।

परिचय

पुरुषोत्तमदेव ने अपने किसी ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया । अतः उसका वृत्तान्त अज्ञात है ।

देश—पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की भाषावृत्ति में प्रत्याहारपरिगणन करते हुए लिखा है—अश् हश् वश् झश् जश् पुनर्वश् ।[2] इस वाक्य

---

१ देखो पृष्ठ आगे २८७ । २. भाषावृत्ति पृष्ठ १ ।

में 'पुनः' पद के प्रयोग से ज्ञात होता है कि पुरुषोत्तमदेव बंगदेश निवासी था। क्योंकि बंगप्रान्त में 'ब' और 'व' का उच्चारण समान अर्थात् पवर्गीय 'ब' होता है। अत एव पुरुषोत्तम देव ने उच्चारणजन्य पुनरुक्त-दोष परिहारार्थ 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया है।

मत—देव ने महाभाष्य और अष्टाध्यायी की व्याख्याओं के मंगल श्लोक में 'बुद्ध' को नमस्कार किया है।[1] भाषावृत्ति में अन्यत्र भी जिन, बौद्धदर्शन और महाबोधि के प्रति आदरभाव सूचित किया है।[2] इन से स्पष्ट है कि पुरुषोत्तमदेव बौद्धमतावलम्बी था।

काल

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने लिखा है कि राजा लक्ष्मण-सेन की आज्ञा से पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति बनाई थी।[3] राजा लक्ष्मणसेन का राज्यकाल अभी तक सांशयिक है। अनेक व्यक्ति लक्ष्मणसेन के राज्य-काल का आरम्भ विक्रम संवत् ११७४ के लगभग मानते हैं। पुरुषोत्तदेव का लगभग यही काल प्रमाणान्तरों से भी ज्ञात होता है। यथा—

१—शरणदेव ने शकाब्द १०९५ तदनुसार विक्रम संवत् १२२९ में दुर्घटवृत्ति की रचना की।[4] दुर्घटवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव और उसकी भाषा-वृत्ति अनेक स्थानों पर उद्धृत है। अतः पुरुषोत्तमदेव संवत् १२२९ से पूर्वभावी है, यह निश्चित है।

२—वन्द्यघटीय सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व शकाब्द १०८१ तदनु-सार विक्रम संवत् १२१५ में रचा।[5] सर्वानन्द ने अनेक स्थानों पर पुरुषो-त्तमदेव और उसके भाषावृत्ति, त्रिकाण्डशेष, हारावली और वर्णदेशना आदि अनेक ग्रन्थ उद्धृत किये हैं। अतः पुरुषोत्तमदेव ने अपने ग्रन्थ संवत् १२१५ से पूर्व अवश्य रच लिये थे, यह निर्विवाद है।

---

१. महाभाष्य०—नमो बुधाय बुद्धाय। भाषावृत्ति—नमो बुद्धाय ······।

२. जिनः पातु वः। ३।३।१७३॥ न दोषप्रति बौद्धदर्शने। २।१।६॥ महाबोधिं गन्तास्म। ३।३।११७॥ प्रणम्य शाक्यं सुगतायतायिने। १।४।३२॥

३. वैदिकप्रयोगानर्थिनो लक्ष्मणसेनस्य राज्ञ आज्ञया प्रकृते कर्मणि प्रसजन्। भाषा-वृत्त्यर्थविवृत्ति के आरम्भ में।

४. शाकमहीपतिवत्सरमाने एकनभोनवपञ्चवताने। पृष्ठ १।

५. इदानीं चैकाशीतिवर्षाधिक सहस्रैकपर्यन्तेन शकाब्दकालेन। (१०८१) ······। भाग १, पृष्ठ ६१।

महाभाष्य-लघुवृत्ति

पुरुषोत्तमदेव विरचित भाष्यवृत्ति का प्रथम परिचय पं० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने दिया है।[1] इसका नाम प्राणपणा था। पुरुषोत्तमदेवकृत भाष्यवृत्ति का व्याख्याता शंकर पण्डित लिखता है—

अथ भाष्यवृत्तिव्याचिख्यासुर्देवो विघ्नविनाशाय सदाचारपरिप्राप्तमिष्टदेवतानतिस्वरूपं मङ्गलमाचचार। तत्पद्यं यथा—

नमो बुधाय बुद्धाय यथात्रिमुनिलक्षणम्।
विधीयते प्राणपणा भाषायां लघुवृत्तिका॥ इति देव…।

शंकर विरचित व्याख्या के टीकाकार मणिकण्ठ ने देवकृत व्याख्या का नाम 'प्राणपणित' लिखा है।[2]

अन्य व्याकरण ग्रन्थ

१—कुण्डलीव्याख्यान—श्रुतपाल ने कुण्डली नामक कोई व्याकरण ग्रन्थ लिखा था। श्रुतपाल के व्याकरण विषयक अनेक मत भाषावृत्ति,[3] ललितपरिभाषा,[4] कातन्त्रवृत्तिटीका[5] और जैनशाकटायन की अमोघा वृत्ति[6] में उपलब्ध होते हैं। शङ्कर कुण्डली ग्रन्थ के विषय में लिखता है—

फणिभाष्येऽत्र दुर्गत्वं कज्जटेन प्रकाशितम्।
श्रुतपालस्य राद्धान्तः कुण्डल्यां कुण्डलायते॥

शङ्कर पण्डित देवविरचित कुण्डली व्याख्यान के विषय में लिखता है—

समाख्यातश्च पुरुषोत्तमदेवः परिसमाप्तसकलक्रियाकलापः कुण्डली व्याख्यानं बद्धपरिकरः प्रतिजानीते—

कुण्डली सप्तके येऽर्था दुर्बोध्याः फणिभाषिताः।
ते सर्वे प्रतिपाद्यन्ते साधुशब्देन भाषया।
यदि दुष्प्रयोगशालीस्यां फणिभक्ष्यो भवाम्यहम्॥

---

१. देखो, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४९, पृष्ठ २०१। पुरुषोत्तमदेव की भाष्यवृत्ति और उस के व्याख्याताओं का वर्णन हमने इसी लेख के आधार पर किया है।   २. श्री देवव्याख्यातप्राणपणितभाष्यग्रन्थस्य……। इ० हि० क्वार्टर्ली। पृष्ठ ३०३।   ३. अत्र संस्करोतेः कैयटश्रुतपालयोर्मतभेदात्। ८। ३। ५॥
४. कार्मस्ताच्छील्ये (अष्टा० ५,।४।१७२) इत्यत्र श्रुतपालेन ज्ञापितो ह्ययमर्थः। वीरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी' हस्तलेख नं० ६३०, पत्रा ३२ क।
५. कृतप्रकरण, ६८॥   ६. ३।१।१८२, १८३।

२—कारककारिका—इस ग्रन्थ में कारक का विवेचन है। यह इस के नाम से ही व्यक्त है।

इनके अतिरिक्त पुरुषोत्तमदेव ने व्याकरण पर अनेक ग्रन्थ रचे थे। उनमें से निम्न ग्रन्थ ज्ञात हैं।

३—भाषावृत्ति
४—दुर्घटवृत्ति
५—परिभाषावृत्ति
६—ज्ञापकसमुच्चय
७—उणादिवृत्ति

इन ग्रन्थों का वर्णन यथाप्रकरण इस ग्रन्थ में आगे किया जायगा।

अन्य ग्रन्थ—उपर्युक्त व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त त्रिकाण्डशेष = अमरकोष परिशिष्ट, हारावली कोष और वर्णदेशना आदि अनेक ग्रन्थ पुरुषोत्तमदेव ने रचे थे। त्रिकाण्डशेष और हारावली मुद्रित हो चुके हैं।

महाभाष्य-लघुवृत्ति के व्याख्याता

१. शंकर

नवद्वीप निवासी किसी शंकर नामक पण्डित ने पुरुषोत्तमदेव की महाभाष्य लघुवृत्ति पर एक व्याख्या लिखी है। उसका कुछ अंश उपलब्ध हुआ है।[1]

शंकरकृत व्याख्या का टीकाकार—मणिकण्ठ

शंकरकृत लघुवृत्ति-व्याख्या पर पण्डित मणिकण्ठ ने एक विस्तृत टीका लिखी है। इस टीका का भी कुछ अंश उपलब्ध हुआ है।[2] इस टीका में 'कारकविवेक' नामक ग्रन्थ की एक कारिका[3] और भाग्याचार्य का भाव का लक्षण उद्धृत है।[4] कारकविवेक के नाम से उद्धृत वचन वाक्यपदीय[5] और पुरुषोत्तमदेव विरचित कारक-कारिका[6] के पाठ से मिलता है। भाग्याचार्य का नाम अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

---

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३। २. वही इ० हि० क्वा०।

३. सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु। जातिरित्युच्यते सोऽर्थो जातिशब्दे पृथक्-पृथक्। इत्यादि कारकविवेके लिखनात्....... । इ० हि० क्वार्टर्ली पृष्ठ २०४।

४. तस्मात् 'भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययाविति भावः' इति भाग्याचार्यलक्षणं शरणम्। इ० हि० क्वार्टर्ली० पृष्ठ २०४।

५. वाक्यपदीय काण्ड ३, क्रियासमुद्देश।

६. जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः। पत्रा इ० हि० क्वार्टर्ली पृष्ठ २०४।

२. भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार ?

पुरुषोत्तमदेवविरचित भाष्यव्याख्या पर किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने एक व्याख्या लिखी है। उसका नाम है 'भाष्यव्याख्याप्रपञ्च'। इस का केवल प्रथमाध्याय का प्रथमपाद उपलब्ध हुआ है। उसके अन्त में निम्न लेख है—

इति फणीन्द्रप्रणीतमहाभाष्यार्थदुरूहतात्पर्यव्याख्यानप्रवृत्तश्रीमद्देवप्रणीतव्याख्याप्रपञ्चे अष्टाध्यायीगतार्थबोधकः प्रथमः पादः समाप्तः। श्रीशिवरुद्रशर्मणः स्वाक्षरश्च शकाब्द १७२॥

शाके पक्षनभोद्रिचन्द्रगणिते वारे शनावाश्विने,
भाष्यग्रन्थनितान्तदुर्गविपिनप्रोद्दामदन्तावलः।
ग्रन्थोऽयं पुरुषोत्तमेन रचितो व्यालोवियत्नान्मया,
नत्वा श्रीपरदेवताङ्घ्रिकमलं सर्वार्थसिद्धिप्रदम्॥

श्लोक में ग्रन्थलेखन काल शकाब्द १७०२ लिखा है। अङ्कों में 'शकाब्द १७२' पाठ है। प्रतीत होता है लेखक प्रमाद से शून्य का लिखना रह गया है। तदनुसार यह हस्तलेख वि० संवत् १८३६ का है।

उस ग्रन्थ में निम्न उद्धरण द्रष्टव्य हैं[1] —

कृतमङ्गलाः आशुच्याद् विमुच्यन्ते इत्यत्र कृतमंगलाः कृतगोभूहिरण्यशान्त्युदकस्पर्शा इति हरिशर्मा। पत्रा ३ क।

पदशेषकारस्तु शब्दाध्याहारं शेषमिति वदति। पत्रा ३ ख।

ओंकारश्चाथशब्दश्च.......इति व्याडिलिखनात्। पत्रा ५ ख।

अत एव व्याडिः—ज्ञानं द्विविधं सम्यगसम्यक् च। पत्रा ७ क।

तथा चाभिहितसूत्रे उक्तम् (इन्दुमित्रेण)—

एकएकक इत्याहुर्द्वावित्यन्ये त्रयोऽपरे।

चतुष्कः पञ्चकश्चैव चतुष्के सूत्रमुच्यते। पत्रा ३१ ख।

यत्पुनरिन्दुमित्रेणोक्तम् 'न तिङन्तान्येकशेषं प्रयोजयन्ति'.......तत्पूर्वपक्षमात्रं.......अत एव प्राचीनवृत्तिटीकायां कज्जटमतानुसारिणा हरिमिश्रेणापि भाष्यवचनमनूद्य.......। पत्रा ३६ क।

समानमेव हि संकेतितवदिति मीमांसा। तेन समासस्य शक्तिः कल्प्यते, तन्मते तु लक्षणादिरिति हरिशर्मलिखनात् वैयाकरणस्तन्मतमेवाद्रियते। पत्रा ७१ ख।

१. ये उद्धरण इ० हि० क्वाटर्ली सेप्टेम्बर १९४३ पृष्ठ २०७ से उद्धृत किये हैं।

इन उद्धरणों में उद्धृत हरिशर्मा सर्वथा अज्ञात हैं। हरिमिश्र सम्भवतः पदमञ्जरीकार हरदत्त मिश्र है। पदशेषकार काशिका[1] और माधवीया धातुवृत्ति[2] में उद्धृत है। इन्दुमित्र काशिका का व्याख्याता है। इसका वर्णन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में होगा। व्याडि के दोनों वचन उसके किस ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं, यह अज्ञात है। सम्भव है 'ओंकारश्च' इत्यादि श्लोक उसके कोष ग्रन्थ से उद्धृत किया हो गया और 'ज्ञानं द्विविधं' इत्यादि उसके सांख्यग्रन्थ से लिया गया हो।

७—धनेश्वर (सं० १२५०-१३००)

पण्डित धनेश्वर ने महाभाष्य की चिन्तामणि नाम्नी टीका लिखी है। इसका धनेश भी नामान्तर है। यह प्रसिद्ध वैयाकरण वोपदेव का गुरु है। धनेश्वर विरचित प्रक्रियारत्नमणि नामक ग्रन्थ अडियार के पुस्तकालय में विद्यमान है।

धनेश्वरविरचित महाभाष्यटीका का उल्लेख श्री पं० गुरुपद हालदार ने अपने व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ४५७ पर किया है।

वोपदेव का काल विक्रम की १३ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। अतः धनेश्वर का काल भी लगभग वही होगा।

८—शेषनारायण (सं० १५००-१५५०)

शेषवंशावतंस शेषनारायण ने महाभाष्य की 'सूक्तिरत्नाकर' नाम्नी एक प्रौढ़ व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के हस्तलेख अनेक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

परिचय

वंश—शेषनारायण ने श्रौतसर्वस्व के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

इति श्रीमद्बोधायनमार्गप्रवर्तकाचार्यश्रीशेषअनन्तदीक्षितसुत-

---

१. ७।२।४८। २. गम्लृ धातु पृष्ठ ११२। मुद्रित पाठ 'पुरुषकारदर्शन''''', पाठान्तर-परिशेषकार''''' है, वह अशुद्ध है। यहां पदशेषकार दर्शन''''' पाठ चाहिये।

श्रीशेषवासुदेवदीक्षिततनूद्भवमहामीमांसकदीक्षितश्रीशेषनारायण-निर्णीते श्रौतसर्वस्वेऽव्यक्तादिविचारो नाम द्वितीयः ।[1]

इससे विदित होता है कि शेषनारायण के पिता का नाम वासुदेव और पितामह का नाम अनन्त था। आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में शेष-नारायण के पिता का नाम कृष्णसूरि लिखा है, वह ठीक नहीं। कृष्णसूरि तो शेषनारायण का पुत्र है। सूक्तिरत्नाकर में अनेक स्थानों पर निम्न श्लोक मिलते हैं—

> **श्रीमत्फिरिन्दापरराजराजः श्रीशेषनारायणपण्डितेन ।**
> **फणीन्द्रभाष्यस्य सुबोधटीकामकारयद् विश्वजनोपकृत्यै ॥**
> **भाट्टे भट्ट इव प्रभाकर इव प्राभाकरे योऽभवत्,**
> **कृष्णः सूरिरतोऽभवद् बुधवरो नारायणस्तत्कृतौ ।**
> **नानाशास्त्रविचारसारचतुरे सत्तर्कपूर्णे महा—**
> **भाष्यस्याखिलभावगूढविवृतौ श्रीसूक्तिरत्नाकरे ॥**

सम्भव है आफ्रेक्ट ने द्वितीय श्लोक के द्वितीय चरण का किसी हस्त-लेख में 'कृष्णसूरितोऽभवद्' अशुद्ध पाठ देखकर शेषनारायण को कृष्णसूरि का पुत्र लिखा होगा। पं० कृष्णमाचार्य ने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ ६५४ में सूक्तिरत्नाकर के कर्ता शेषनारायण को शेष-कृष्ण का पुत्र और वीरेश्वर का भाई लिखा है, वह भी अशुद्ध। आफ्रेक्ट ने शेषनारायण के एक शिष्य का नाम शेषरामचन्द्र लिखा है। यह रामचन्द्र कौन है यह अज्ञात है। एक रामचन्द्र शेष कुलोत्पन्न नागोजि पण्डित का पुत्र था।[2] इसने सिद्धान्तकौमदी के स्वर प्रकरण की व्याख्या लिखी है। क्या यह शेषनारायण का शिष्य रामचन्द्र हो सकता है ?

शेषवंश पाणिनीय व्याकरण निकाय में एक विशेष स्थान रखता है। इस वंश के अनेक व्यक्तियों ने व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका वर्णन इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर होगा। अतः हम इस वंश का पूर्ण

---

१. देखो इण्डिया आफिस लन्दन का सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ ७०, ग्रन्थाङ्क १६०।

२. इति शेषकुलोत्पन्नेन नागोजीपण्डितानां पुत्रेण रामचन्द्रपण्डितविरचिता स्वर-प्रक्रिया समाप्ता। सं० १८४८। जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय का सूचीपत्र पृष्ठ २६३ पर उद्धृत।

परिचायक वंशचित्र नीचे देते हैं, जिससे अनेक स्थान पर कालनिर्देश करने में सुगमता होगी।
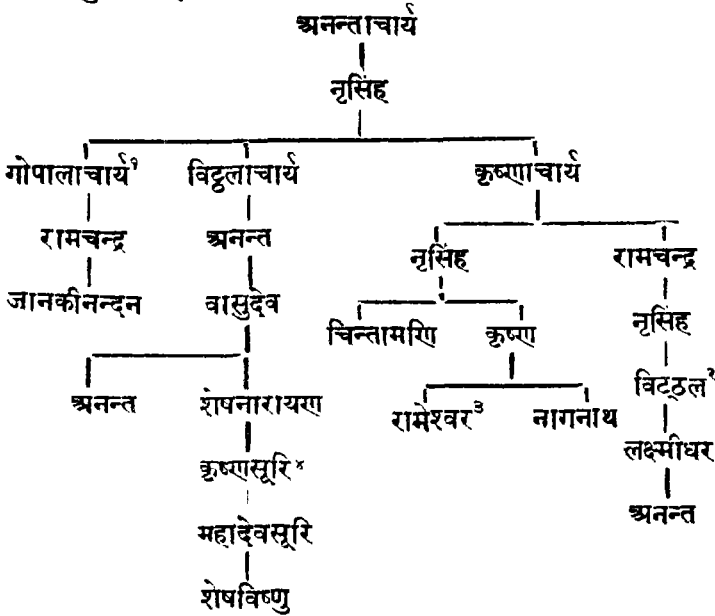
इस वंश से संबन्ध रखने वाली गुरु शिष्य परम्परा का एक चित्र निम्न प्रकार है—

---

१. रामचन्द्राचार्यकृत कालनिर्णयदीपिका के अन्त में—'इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोपालगुरुपूज्यपादरामचन्द्राचार्यकृतकालदीपिका समाप्ता' पाठ उपलब्ध होता है। इस से ज्ञात होता है कि गोपालाचार्य संन्यासी होगया था।

२. विट्ठल ने अपने समसामयिक 'जगन्नाथाश्रम' का नाम लिखा है। उसका शिष्य 'नृसिंहाश्रम' और उसका 'नारायणाश्रम' था।

३. मनोरमाकुचमर्दन और महाभाष्यप्रदीपोद्योतन में इस का नाम वीरेश्वर लिखा है। चक्रपाणिदत्त ने प्रौढमनोरमाखण्डन में 'वटेश्वर' नाम लिखा है। इस का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है, उस में 'वीरेश्वर' पाठ है। सूची० भा० २, पृष्ठ १६२, ग्रन्थाङ्क ७२८।

४. आफ्रेक्ट ने कृष्णसूरि का शेषनारायण का पिता लिखा है वह अशुद्ध है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।
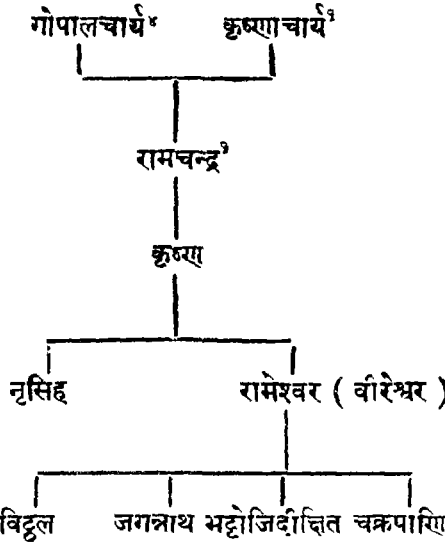
इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में शेष अनन्त कृत 'पदार्थ-चन्द्रिका' का संवत् १६५८ का एक हस्तलेख है। देखो ग्रन्थाङ्क २०८९। उसमें शेष अनन्त अपने गुरु का नाम शेषशार्ङ्गधर लिखता है। शेषनारायण का शिष्य नागोजी पुत्र शेषरामचन्द्र है, यह पूर्व लिख चुके हैं। पदार्थचन्द्रिकाकार अनन्त कौनसा है, यह अज्ञात है। इसी प्रकार शेषशार्ङ्गधर, शेषनागोजी और उसके पुत्र रामचन्द्र का नाम इस वंशावली में कहां जुड़ेगा यह भी अज्ञात है। क्या शेषनागोजी नागनाथ हो सकता है?

यह वंशचित्र विट्ठलकृत प्रक्रियाकौमुदी-प्रसाद तथा अन्य अनेक ग्रन्थों के आधार पर बनाया है। प्रक्रियाकौमुदी के सम्पादक ने विट्ठलाचार्य और अनन्त को रामेश्वर के नीचे और गोपालगुरु तथा रामचन्द्र को नागनाथ के नीचे निम्न प्रकार जोड़ा है—

१. देखो पूर्व पृष्ठ २११ का टिप्पणी १।
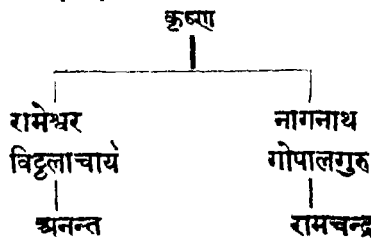
यह संबन्ध ठीक नहीं है, क्योंकि विट्ठललिखित गोपालगुरु पूर्वलिखित गोपालाचार्य है। संन्यास लेने पर वह गोपालगुरु नाम से प्रसिद्ध हुआ, यह हम पूर्व पर लिख चुके हैं।[1] प्रक्रियाप्रसाद के अन्त के छठे श्लोक से ज्ञात होता है कि नृसिंह (प्रथम) के कई पुत्र थे, न्यून से न्यून तीन अवश्य थे, क्योंकि **'गोपालाचार्यमुख्याः प्रथितगुणगणास्तस्य पुत्रा अभूवन्'** श्लोकांश में बहुवचन से निर्देश किया है। ज्येष्ठ का नाम गोपालाचार्य और कनिष्ठ का नाम कृष्णाचार्य था यह स्पष्ट है, परन्तु मध्यम पुत्र के नाम का उल्लेख नहीं। विट्ठल ने विट्ठलाचार्य गुरु के पुत्र अनन्त को नमस्कार किया है। इससे प्रतीत होता है कि गोपालाचार्य और कृष्णाचार्य का मध्यम सहोदर विट्ठल था।[2]

काल

शेषवंश की वंशावली हमने ऊपर दी है, उसके अनुसार शेषनारायण शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर का समकालिक या उससे कुछ पूर्ववर्ती है। वीरेश्वर शिष्य विट्ठलकृत प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का संवत् १५३६ का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में विद्यमान है।[3] अतः निश्चय ही विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका सं० १५३६ से पूर्व रची होगी। इसलिये वीरेश्वर का जन्म संवत् १५१० के अनन्तर नहीं हो सकता। लगभग यही काल शेषनारायण का भी समझना चाहिये।

पूर्वोद्धृत श्लोकों में स्मृत 'फिरिन्दराज' कौन है, यह अज्ञात है। यदि फिरिन्दराज का निश्चय हो जावे तो शेषनारायण का निश्चित काल ज्ञात हो सकता है।

सूक्तिरत्नाकर का सब से प्राचीन सं० १६७५ का हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में है। देखो सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, ग्रन्थाङ्क ५९०।

---

१. देखो, पूर्व पृष्ठ २९३, टि० १।

२. श्रीविट्ठलाचार्यगुरोस्तनूजं सौजन्यभाजजितवादिराजम्। अनन्तसंज्ञं पदवाक्यविज्ञं प्रमाणविज्ञं तमहं नमामि। अन्त का ११ वां श्लोक।

३. देखो, सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ १६७ ग्रन्थाङ्क ६११।

९–विष्णुमित्र (सं० १६०० से पूर्व)

विष्णुमित्र नाम के किसी वैयाकरण ने महाभाष्य पर 'क्षीरोदर' नामक टिप्पण लिखा था। इस ग्रन्थ का उल्लेख शिवरामेन्द्र सरस्वती विरचित महाभाष्यटीका[1] और भट्टोजिदीक्षितकृत शब्दकौस्तुभ[2] में मिलता है। इन दो ग्रन्थों से अन्यत्र विष्णुमित्र अथवा क्षीरोदर का उल्लेख हमें नहीं मिला। अतः क्षीरोदर का निश्चित काल अज्ञात है।

भट्टोजिदीक्षित का काल अधिक से अधिक सं० १६०० तक है, यह हम आगे सप्रमाण दर्शावेंगे। अतः विष्णुमित्र के काल के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वह सं० १६०० से पूर्ववर्ती है।

एक विष्णुमित्र ऋक्प्रातिशाख्य का वृत्तिकार है। इसकी आद्य दो वर्गों की वृत्ति उपलब्ध होती है। उस के पिता का नाम देवमित्र है। यह उव्वट से प्राचीन है। यदि यही विष्णुमित्र महाभाष्यटिप्पण का रचयिता हो तो यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन होगा।

१०—नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००–१६५०)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने महाभाष्य की 'भाष्यतत्त्वविवेक' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ A, पृष्ठ १६१२ ग्रन्थाङ्क १२८८ पर निर्दिष्ट है।

परिचय

वंश—नीलकण्ठ वाजपेयी ने सिद्धान्तकौमुदी की 'सुखबोधिनी व्याख्या के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

पदवाक्यप्रमाणानां पारगं विबुधोत्तमम्।
रामचन्द्रमहेन्द्राख्यं पितामहमहं भजे॥
आत्रेयाब्धिकलानिधिः कविबुधालंकारचूडामणिः।
तातः श्रीवरदेश्वरो मखिवरो योऽयष्ट देवान् मखैः॥
अध्यैष्टाप्पयदीक्षितार्यतनयात् तन्त्राणि काश्यां पुनः।

---

१. तदिदं सर्वं क्षीरोदराख्ये त्रैलिङ्गतार्किकविष्णुमिश्रविरचिते महाभाष्यटिप्पणे स्पष्टम्। काशी सरस्वती भवन का हस्तलेख पत्रा १।

२. हयवरट्सूत्रे क्षीरोद[र]कारोऽप्याह। शब्दकौस्तुभ १।१।८, पृष्ठ १४४।

षड्वर्गाणि यो त्यजेष्टशिवतां प्राप नस्सोऽवतात् ॥
श्रीवाजपेयिना नीलकण्ठेन विदुषां मुदे ।
सिद्धान्तकौमुदीव्याख्या क्रियते सुखबोधिनी ॥
अस्मद्गुरुकृतां व्याख्यां बह्वर्थां तत्त्वबोधिनीम् ।
विभाव्य तत्रानुक्तं च व्याख्यास्येऽहं यथामति ॥

इन श्लोकों से विदित होता है कि नीलकण्ठ रामचन्द्र का पौत्र और वरदेश्वर का पुत्र था। वरदेश्वर ने अप्पयदीक्षित के पुत्र से विद्याध्ययन किया था। नीलकण्ठ ने तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती से विद्या पढ़ी थी।

काल

काशी में किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि 'भट्टोजिदीक्षित ने स्वविरचित सिद्धान्तकौमुदी पर व्याख्या लिखने के लिये ज्ञानेन्द्र सरस्वती से अनेक बार प्रार्थना की, उनके अनुमत न होने पर ज्ञानेन्द्रसरस्वती को भिक्षामिष से अपने गृह पर बुलाकर ताड़ना की। अन्त में ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने टीका लिखना स्वीकार किया'[1]। इस किंवदन्ती से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित और ज्ञानेन्द्र सरस्वती समकालिक थे। पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरंभट्ट ने इसी ज्ञानेन्द्र भिक्षु से वेदान्त शास्त्र पढ़ा था। इससे भी पूर्व लिखित काल की पुष्टि होती है। अतः नीलकण्ठ का काल विक्रम संवत् १६००–१६५० के मध्य होना चाहिये।

अन्य व्याकरण ग्रन्थ

नीलकण्ठ ने व्याकरण विषयक निम्न ग्रन्थ लिखे हैं—

१—पाणिनीयदीपिका २—परिभाषावृत्ति
३—सिद्धान्तकौमुदी की सुबोधिनी टीका

इनका वर्णन अगले अध्यायों में यथाप्रकरण किया जायगा।

११–शेषविष्णु (सं० १६००—१६५०)

शेषविष्णु विरचित 'महाभाष्यप्रकाशिका' का एक हस्तलेख हमने बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में देखा है। उस का ग्रन्थाङ्क ५७७४

१. यह किंवदन्ती हम ने काशी के कई पण्डित महानुभावों से सुनी है। यहां पर इनका उल्लेख केवल समकालिकत्व दर्शाने के लिये किया है।

है। यह हस्तलेख महाभाष्य के प्रारम्भिक दो आह्निकों का है। उसके प्रथमाह्निक के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

इति श्रीमन्महादेवसूरिसुतशेषविष्णुविरचितायां महाभाष्यप्रकाशिकायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमचरणे प्रथमाह्निकम्।

वंश—शेषविष्णु का सम्बन्ध वैयाकरणप्रसिद्ध शेष कुल से है। इसके पिता का नाम महादेवसूरि और पितामह का नाम कृष्णसूरि और प्रपितामह का नाम शेषनारायण था। देखो शेषवंश-वृक्ष पृष्ठ २९३।

इस वंशपरम्परा से ज्ञात होता है कि शेषविष्णु का काल लगभग सं० १६००–१६५० के मध्य रहा होगा।

१२–शिवरामेन्द्र सरस्वती (सं० १६०० के पश्चात्)

शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत '**महाभाष्यरत्नाकर**' नाम्नी टीका का एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन पुस्तकालय में विद्यमान है। हमने इस टीका को भले प्रकार देखा है। यह व्याख्या अत्यन्त सरल और छात्रों के लिये विशेष उपयोगी है।

ग्रन्थकार ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में शिवरामेन्द्रकृत सिद्धान्तकौमुदी की रत्नाकरटीका का उल्लेख किया है। अतः शिवरामेन्द्र सरस्वती का काल संवत् १६०० के पश्चात् है। जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में शिवरामेन्द्र यति विरचित '**णेरणाविति पाणिनीयसूत्रस्य व्याख्यानम्**' नाम का एक ग्रन्थ है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ४१। सूचीपत्र के सम्पादक स्टाईन ने इस पर नोट लिखा है—"सम्पूर्णम्। विरचनकालः सं०१७०१ (?)"। यदि यह शिवरामेन्द्र वामनेन्द्रशिष्य ज्ञानेन्द्र का शिष्य हो तो इसका काल संवत् १६०० के लगभग होगा।

१३-प्रयागवेङ्कटाद्रि

प्रयागवेंकटाद्रि नाम के पण्डित ने महाभाष्य पर '**विद्वन्मुखभूषण**' नाम्नी टिप्पणी लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ C, पृष्ठ २३४७ ग्रन्थाङ्क १६५१

पर निर्दिष्ट है। इसका दूसरा हस्तलेख अडियार के पुस्तकालय में है। उसके सूचीपत्र खण्ड २ पृष्ठ ७४ पर इस ग्रन्थ का नाम 'विद्वन्मुख-मण्डन' लिखा है। भूषण और मण्डन पर्यायवाची हैं।

ग्रन्थकार का देश काल आदि अज्ञात है।

१४—तिरुमलयज्वा

तिरुमलयज्वा ने महाभाष्य की 'अनुपदा' नाम्नी व्याख्या लिखी है।

परिचय

वंश—तिरुमल के पिता का नाम मल्लययज्वा था। तिरुमलयज्वा अपने दर्शपौर्णमास-भाष्य के अन्त में लिखता है—

इति श्रीमद्राघवसोमयाजिकुलावतंसचतुर्दशविद्यावल्लभमल्लय-सूनुना तिरुमलसर्वतोमुखयाजिना महाभाष्यस्यानुपदटीकाकृता रचितं दर्शपौर्णमासमन्त्रभाष्यं सम्पूर्णम्।[1]

तिरुमल के पिता मल्लययज्वा ने कैयटविरचित महाभाष्य-प्रदीप पर टिप्पणी लिखी है। उसका उल्लेख अगले अध्याय में किया जायगा। तिरु-मल का काल अज्ञात है।

१५—कुमारतातय

कुमारतातय ने महाभाष्य की कोई टीका लिखी थी, ऐसा उसके 'पारिजात नाटक' से ध्वनित होता है।[2] यह कुमारतातय वेङ्कटार्य का पुत्र और कांची का रहने वाला था। ग्रन्थकार पारिजात नाटक के आरम्भ में अपना परिचय देता हुआ लिखता है—

व्याख्याता फणिराट्कणादकपिलश्रीभाष्यकारादि-
ग्रन्थानां पुनरीदृशां च करणे ख्यातः कृतीनामसौ।[2]

फणिराट् शब्द से पतञ्जलि का ही ग्रहण होता है। अतः प्रतीत होता है कि कुमारतातय ने महाभाष्य की व्याख्या अवश्य लिखी थी। इसका अन्यत्र उल्लेख हमारी दृष्टि में नहीं आया। कुमारतातय का काल अज्ञात है।

---

१. देखो मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग २, खण्ड 1. C पृष्ठ २३६२, ग्रन्थाङ्क १६६४। २. मद्रास रा० ह० पु० सूचीपत्र भाग २, खण्ड 1. C, ग्रन्थाङ्क १६७२, पृष्ठ २३७६।

१६–राजनृसिंह

आचार्य राजनृसिंह कृत 'शब्दबृहती' नाम्नी महाभाष्य-व्याख्या का एक हस्तलेख मैसूर के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ३२२।

इसके विषय में हम कुछ नहीं जानते।

१७–नारायण

नारायणविरचित '**महाभाष्यविवरण**' का एक हस्तलेख नयपाल दरबार के पुस्तकालय में सुरक्षित है। देखो सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ २११।

किसी नारायण ने महाभाष्यप्रदीप पर एक व्याख्या लिखी है। इस का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

१८–सर्वेश्वर दीक्षित

सर्वेश्वर दीक्षित विरचित '**महाभाष्यस्फूर्त्ति**' नाम्नी व्याख्या का एक हस्तलेख मैसूर राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र पृष्ठ ३१९ ग्रन्थाङ्क ४३४ पर निर्दिष्ट है। अडियार के पुस्तकालय के सूचीपत्र में इस का नाम '**महाभाष्यप्रदीपस्फूर्त्ति**' लिखा है। अतः यह महाभाष्य की व्याख्या है अथवा प्रदीप की, यह सन्दिग्ध है।

मैसूर राजकीय पुस्तकालय का हस्तलेख सप्तम और अष्टम अध्याय का है। अतः यह ग्रन्थ पूर्ण रचा गया था, यह निर्विवाद है। इस का रचना काल अज्ञात है।

१९–गोपालकृष्ण शास्त्री

अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ ७४ पर गोपालकृष्ण शास्त्री विरचित '**शाब्दिकचिन्तामणि**' नामक महाभाष्यटीका का उल्लेख है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में भी है (देखो सूचीपत्र भाग १ खण्ड १A, पृष्ठ २३१ ग्रन्थाङ्क १४२)। सूचीपत्र में निर्दिष्ट हस्तलेख के आद्यन्त पाठ से प्रतीत होता है कि यह भट्टोजि दीक्षित विरचित शब्दकौस्तुभ के सदृश अष्टाध्यायी की स्वतन्त्र व्याख्या है। हमें इसके महाभाष्य की व्याख्या होने में सन्देह है।

गोपालकृष्ण शास्त्री के पिता का नाम वैद्यनाथ और गुरु का नाम रामभद्र अध्वरी था।[1] रामभद्र का काल विक्रम की १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है, यह हम आगे 'उणादि सूत्रों के वृत्तिकार' प्रकरण में लिखेंगे।

२०—अज्ञातकर्तृक

मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ५ खण्ड १ C. पृष्ठ ६४९९, ग्रन्थाङ्क ४४३६ पर '**महाभाष्यव्याख्या**' का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। ग्रन्थकर्त्ता का नाम और काल अज्ञात है। उस में एक स्थान पर निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

स्पष्टं चेदं सर्वं भाष्य इति भाष्यप्रदीपोद्योतने निरूपितमित्याहुः।

यह भाष्यप्रदीपोद्योतन अन्नम्भट्ट-विरचित है या नागनाथ-रचित, यह अज्ञात है।

हम ने इस अध्याय में महाभाष्य के २० टीकाकारों का निरूपण किया है। अगले अध्याय में कैयटकृत महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकारों का वर्णन होगा।

---

१. इति श्री वत्सकुलतिलकवैद्यनाथसुमतिसूनोः वैयाकरणाचार्यसार्वभौमश्रीरामभद्राध्वरिगुरुचरणश्लाघितमतिकुशलस्य गोपालकृष्णशास्त्रिणः कृतौ शाब्दिकचिन्तामणौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादेऽष्टममाह्निकम्।

बारहवां अध्याय

महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकार

महाभाष्य की महामहोपाध्याय कैयटविरचित प्रदीप नाम्नी व्याख्या का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यह महाभाष्यप्रदीप वैयाकरण वाङ्मय में विशेष महत्त्व रखता है। इसलिये अनेक विद्वानों ने महाभाष्य की व्याख्या न करके महाभाष्यप्रदीप की व्याख्याएं रची हैं। उन में से जो प्रदीपव्याख्याएं इस समय उपलब्ध या ज्ञात हैं, उनका वर्णन हम इस अध्याय में करेंगे।

१-चिन्तामणि (सं० १५००—१५५०?)

चिन्तामणि नाम के किसी वैयाकरण ने महाभाष्यप्रदीप की एक संक्षिप्त व्याख्या लिखी है। इसका नाम है '**महाभाष्यकैयटप्रकाश**'। इस का एक हस्तलेख बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में विद्यमान है। उसका ग्रन्थाङ्क ५७७३ है। यह हस्तलेख आदि और अन्त में खण्डित है। इसका आरम्भ '**मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः**' (१।१।८) से होता है, और '**अचः परस्मिन्**० (१।१।५७) पर समाप्त होता है।

परिचय

महाभाष्यकैयटप्रकाश के प्रत्येक आह्निक के अन्त में निम्न प्रकार पाठ मिलता है—

इति श्रीमद्गणेशांघ्रिस्मरणाद्दाप्तसन्मतिः।
गूढं प्रकाशयच्चिन्तामणिश्चतुर्थ आह्निके ॥

चिन्तामणि नाम के अनेक विद्वान् हो चुके हैं। अतः यह ग्रन्थ किस चिन्तामणि का रचा है, यह अज्ञात है। एक चिन्तामणि शेषनृसिंह का पुत्र और प्रसिद्ध वैयाकरण शेषकृष्ण का सहोदर भ्राता है। शेषकृष्ण का वंश व्याकरण शास्त्र की प्रवीणता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। शेषवंश के अनेक व्यक्तियों ने महाभाष्य तथा महाभाष्यप्रदीप पर व्याख्याएं लिखी हैं। अतः सम्भव है इस टीका का रचयिता शेषकृष्ण का सहोदर शेष चिन्तामणि होगा। यदि हमारा अनुमान ठीक हो तो इस का

काल संवत् १५००-१५५० के मध्य होना चाहिये, क्योंकि शेषकृष्ण विरचित प्रक्रियाकौमुदीटीका का सं० १५१४ एक हस्तलेख भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के पुस्तकालय में विद्यमान है।[1]

२--नागनाथ (सं० १५७५)

मद्रास राजकीय संस्कृत हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २, खण्ड १ A, पृष्ठ ४६४८, ग्रन्थाङ्क ३१४१ पर **'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन'** का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। सूचीपत्र में ग्रन्थ का नाम नहीं लिखा।

ग्रन्थकर्त्ता का नाम

महाभाष्यप्रदीपोद्योतन के आरम्भ में निम्न श्लोक उपलब्ध होते हैं-

श्री शेषवीरेश्वर पण्डितेन्द्रं शेषायितं शेषवचोविशेषे।
सर्वेषु तन्त्रेषु च कर्तृतुल्यं वन्दे महाभाष्यगुरुं ममाग्रयम्॥
महाभाष्यप्रदीपस्य कृत्स्नस्योद्योतनं मया।
क्रियते पदवाक्यार्थतात्पर्यस्य विवेचनात्॥

प्रथमश्लोक में ग्रन्थकार ने शेषवीरेश्वर को अपना गुरु और ज्येष्ठ भ्राता लिखा है। यह शेषवीरेश्वर शेषकृष्ण का पुत्र और पण्डितराज जगन्नाथ का गुरु है। विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका में अपवंशवर्णन में वीरेश्वर के लघु भ्राता का नाम नागनाथ लिखा है। इसलिये महाभाष्यप्रदीपोद्योतन के कर्त्ता का नाम नागनाथ है, यह निश्चित है। शेषवीरेश्वर और नागनाथ का काल विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्य भाग है। देखो पूर्व पृष्ठ २९३ पर दिया वंशचित्र।

३-रामचन्द्र सरस्वती (१६०३ से पूर्ववर्ती)

रामचन्द्र सरस्वती ने महाभाष्यप्रदीप पर **'विवरण'** नाम्नी लघु व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास रा० ह० पु० के सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १. C पृष्ठ ५७३१ ग्रन्थाङ्क ३८६७ पर निर्दिष्ट है, दूसरा मैसूर राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र पृष्ठ ३१९ उल्लिखित है।

---

१. देखो, सन् १९२५ में प्रकाशित सूचीपत्र पृष्ठ १२, ग्रन्थाङ्क १२८।

आफ्रेक्ट ने रामचन्द्र का दूसरा नाम सत्यानन्द लिखा है। यदि यह ठीक हो तो रामचन्द्र सरस्वती ईश्वरानन्द सरस्वती का गुरु होगा। ईश्वरानन्दविरचित 'बृहत् महाभाष्यप्रदीपविवरण' का एक हस्तलेख जम्बू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में है। उसके सूचीपत्र पृष्ठ ४२ में लेखन काल १६०३ लिखा है। यह विक्रम संवत् है या शकाब्द, यह अज्ञात है।

४–ईश्वरानन्द सरस्वती (१६०३ से पूर्ववर्ती)

ईश्वरानन्द ने कैयट के ग्रन्थ पर **महाभाष्यप्रदीपविवरण** नाम्नी बृहती टीका लिखी है। ग्रन्थकार अपने गुरु का नाम सत्यानन्द सरस्वती लिखता है। आफ्रेक्ट के मतानुसार सत्यानन्द रामचन्द्र का ही नामान्तर है। इसके दो हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान हैं। देखो सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १.C. पृष्ठ ५७२९, ५७८० ग्रन्थाङ्क ३८६६, ३८९४। एक हस्तलेख जम्बू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में भी है।

काल

जम्मू के हस्तलेख के अन्त में लेखन काल १६०३ लिखा है। यह विक्रमाब्द है वा शकाब्द यह अज्ञात है। शकाब्द, मानने पर भी यह वि० सं०१७३७ से पूर्ववर्ती है, इतना निश्चित है।

५–अन्नम्भट्ट (सं० १६५०–१७००)

अन्नम्भट्ट ने प्रदीप की '**प्रदीपोद्योतन**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। महाभाष्यप्रदीपोद्योतन के हस्तलेख मद्रास और अडियार के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

परिचय

अन्नम्भट्ट के पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य तिरुमल था। राघव सोमयाजी के वंश में इसका जन्म हुआ था। यह तैलङ्ग देश का रहने वाला था। अन्नंभट्ट ने काशी में जाकर विद्याध्ययन किया था, इसकी सूचना '**काशीगमनमात्रेण नान्नंभट्टायते द्विजः**' लोकोक्ति से मिलती है।

अन्नम्भट्ट के प्रदीपोद्योतन के प्रत्येक आह्निक के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

इति श्रीमहामहोपाध्यायाद्वैतविद्याचार्यराघवसोमयाजिकुलावतंसश्रीतिरुमलाचार्यस्य सूनोरन्नम्भट्टस्य कृतौ महाभाष्यप्रदीपोद्योतने......।

काल

पं० कृष्णमाचार्य ने अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (पृष्ठ ६५४) में अन्नंभट्ट को शेषवीरेश्वर का शिष्य लिखा है। यदि यह ठीक हो तो अन्नम्भट्ट का काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध होगा।

कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ

अन्नम्भटविरचित मीमांसान्यायसुधा की राणकोज्जीवनी टीका, ब्रह्मसूत्र व्याख्या, अष्टाध्यायी की मिताक्षरावृत्ति, मणयालोक की सिद्धाञ्जनटीका और तर्कसंग्रह आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। अष्टाध्यायी की मिताक्षरावृत्ति का वर्णन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में किया जायगा।

६--नारायण शास्त्री (सं० १७१०-१७६०)

नारायण शास्त्री कृत महाभाष्यप्रदीप की व्याख्या का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग १, खण्ड १ A, पृष्ठ ५७, ग्रन्थाङ्क ९।

परिचय

वंश—नारायण शास्त्री के माता पिता का नाम अज्ञात है। इसकी एक कन्या थी, उसका विवाह नल्ला दीक्षित के पुत्र नारायण दीक्षित के साथ हुआ था। इनका पुत्र रङ्गनाथ यज्वा था। इसने हरदत्तविरचित पदमञ्जरी की व्याख्या रची थी।

गुरु—नारायण शास्त्री कृत प्रदीपव्याख्या का जो हस्तलेख मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है, उसके प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के अन्त में निम्न लेख है—

इति श्रीमहामहोपाध्यायधर्मराजयज्वशिष्यशास्त्रिनारायणकृतौ कैयटव्याख्यायां प्रथमाध्याये प्रथमे पादे प्रथमाह्निकम्।

यह धर्मराजयज्वा कौण्डिन्य गोत्रज नल्ला दीक्षित का भाई और नारायण दीक्षित का पुत्र है। यज्वा या दीक्षित वंश के अनेक व्यक्तियों ने व्याकरण के ग्रन्थ लिखे हैं। इस वंश के कई व्यक्तियों का उल्लेख इस इतिहास में होगा। अतः हम अनेक ग्रन्थों के आधार पर इस वंश का चित्र नीचे देते हैं, वह उनके काल ज्ञान में सहायक होगा।
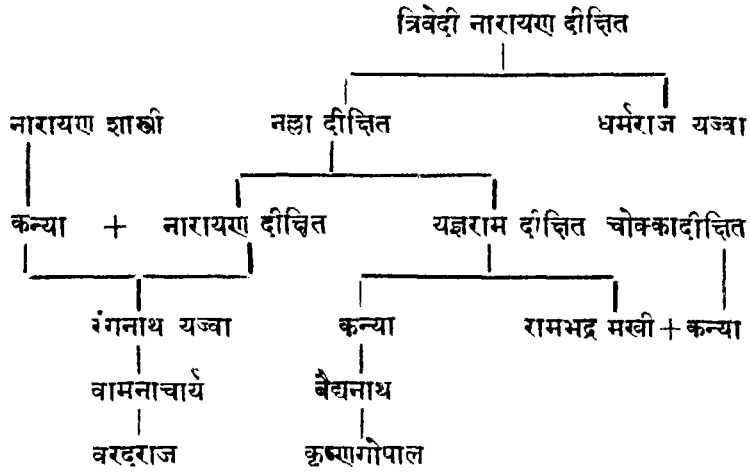
काल

नल्ला दीक्षित के पौत्र रामभद्र यज्वा ने उणादिवृत्ति और परिभाषा-वृत्ति की व्याख्या में अपने को तञ्जौर के राजा शाहजी का समकालिक कहा है। शाहजी के राज्य का आरम्भ सं० १७४० से माना जाता है। अतः नारायण शास्त्री का काल लगभग १७१०-१७६० मानना उचित होगा।

७—नागेश भट्ट (सं० १७३०-१८१०)

नागेश भट्ट ने कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप की 'उद्योत' अपरनाम 'विवरण' नाम्नी प्रौढ़ व्याख्या लिखी है।

परिचय

वंश—नागेश भट्ट महाराष्ट्रिय ब्राह्मण था। इसका दूसरा नाम नागोजी भट्ट था। नागोजी भट्ट के पिता का नाम शिव भट्ट और माता का नाम

सतीदेवी था ।[1] लघुशब्देन्दुशेखर के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि नागेश के कोई संतान न थी ।[2]

गुरु और शिष्य—नागेश ने भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था । वैद्यनाथ पायगुण्ड नागेशभट्ट का प्रधान शिष्य था । नागेशभट्ट की गुरुशिष्य-परम्परा इस प्रकार है—
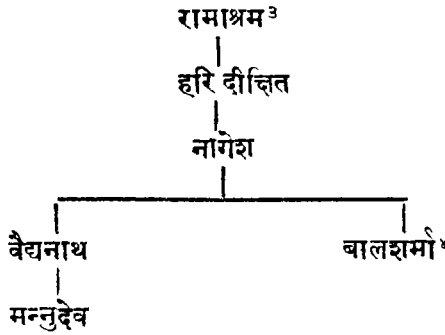
पाण्डित्य—नागेश व्याकरण, साहित्य, अलंकार, धर्मशास्त्र, सांख्य, योग, पूर्वोत्तर मीमांसा और ज्योतिष आदि अनेक विषयों का प्रकाण्ड पण्डित था । वैयाकरण निकाय में भर्तृहरि के पश्चात् यही एक प्रामाणिक व्यक्ति माना जाता है । काशी के वैयाकरणों में किवदन्ती है कि नागेश भट्ट ने महाभाष्य का १८ बार गुरुमुख से अध्ययन किया था । आधुनिक वैयाकरणों में नागेशविरचित महाभाष्यप्रदीपोद्योत, लघुशब्देन्दुशेखर और परिभाषेन्दुशेखर ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक माने जाते हैं ।

नागेश ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत की रचना लघुमञ्जूषा[5] और शब्देन्दुशेखर[6] के अनन्तर की है ।

सहायक—प्रयाग समीपस्थ शृङ्गवेरपुर का राजा रामसिंह नागेश का वृत्तिदाता था ।

---

१ इति श्रीमदुपाध्यायोपनामकशिवभट्टसुतसतीगर्भजनागेशभट्टविरचितलघुशब्देन्दुशेखरे ......। २. शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका । स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया ॥ ३. आफ्रेक्ट ने इसे भट्टोजिदीक्षित का पुत्र लिखा है । बृहत्सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ ५२५ । ४. यह वैद्यनाथ का पुत्र है । देखो एतत्कृत धर्मशास्त्रसंग्रह का प्रारम्भ । ५. अधिकं मञ्जूषायां द्रष्टव्यम् । प्रदीपोद्योत ४।३।१०१॥

६. शब्देन्दुशेखरे निरूपितमस्माभिः । प्रदीपोद्योत २ । १ । २२ ॥ निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ ३६८ ।

काल

नागेश भट्ट कब से कब तक जीवित रहा, यह अज्ञात है। अनुश्रुति है कि सं० १७७२ में जयपुराधीश ने जो अश्वमेध यज्ञ किया था, उसमें उसने नागेशभट्ट को भी निमन्त्रित किया था, परन्तु नागेश ने सन्यासी हो जाने के कारण वह निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। भानुदत्तकृत रसमञ्जरी पर नागेश भट्ट की एक टीका है, । इस टीका का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है। उस का लेखनकाल संवत् १७६९ है। देखो ग्रन्थाङ्क १२२२। वैद्यनाथ पायगुण्ड का पुत्र बालशर्मा नागेश भट्ट का शिष्य था। उसने धर्मशास्त्री मन्नुदेव की सहायता और हेनरी टामस कोलब्रुक की आज्ञा से 'धर्मशास्त्रसंग्रह' ग्रन्थ रचा था।[1] कोलब्रुक सन् १७८३-१८१५ अर्थात् वि० स० १८४०-१८७२ तक भारत वर्ष में रहा था।[2] अतः नागेश भट्ट सं० १७३० से १८१० के मध्य जीवित रहा होगा।

इससे अधिक हम नागेश भट्ट के विषय में कुछ नहीं जानते। यह कितने दुःख की बात है कि हम लगभग २०० वर्ष पूर्ववर्ती प्रकाण्ड पण्डित नागेश भट्ट के इतिवृत्त से भी परिचित नहीं हैं।

अन्य व्याकरण ग्रन्थ

नागेश ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत के अतिरिक्त व्याकरण के निम्न ग्रन्थ रचे हैं—

१. लघुशब्देन्दुशेखर
२. बृहच्छब्देन्दुशेखर
३. परिभाषेन्दुशेखर
४. लघुमञ्जूषा
५. परमलघुमञ्जूषा
६. स्फोटवाद
७. महाभाष्यप्रत्याख्यानसंग्रह[3]

इनका वर्णन इस इतिहास में यथाप्रकरण किया जायगा। व्याकरण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष और अलंकार आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ रचे हैं।

---

१. देखो धर्मशास्त्रसंग्रह का इण्डिया आफिस का हस्तलेख, ग्रन्थाङ्क १५०७ का प्रारम्भिक भाग।

२. सरस्वती जुलाई १९१४, पृष्ठ ४००।

३. इस का एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन के पुस्तकालय में है, उस की प्रतिलिपि हमारे पास भी है।

उद्योतव्याख्याकार—वैद्यनाथ पायगुण्ड (सं० १७५०-१८००)

नागेश भट्ट के प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत की 'छाया' नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या केवल नवाह्निक पर उपलब्ध होती है। इसका कुछ अंश पं० शिवदत्त शर्मा ने निर्णयसागर यन्त्रालय बम्बई से प्रकाशित महाभाष्य के प्रथम भाग में छापा है।

वैद्यनाथ का पुत्र बालशर्मा और शिष्य मन्नुदेव था। बालशर्मा ने कोलब्रुक साहब की आज्ञा तथा धर्मशास्त्री मन्नुदेव और महादेव की सहायता से 'धर्मशास्त्रसंग्रह' रचा था। बालशर्मा नागेश का शिष्य और कोलब्रुक से लब्धजीविक था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

अब हम महाभाष्यप्रदीप के उन टीकाकारों का उल्लेख करते हैं जिन का निश्चितकाल काल हमें ज्ञात नहीं है।

८—मल्लय यज्वा

मल्लय यज्वा ने कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप पर एक टिप्पणी लिखी थी। इस की सूचना मल्लय यज्वा के पुत्र तिरुमल यज्वा ने अपने 'दर्शपौर्णमासमन्त्रभाष्य' के आरम्भ में दी है। उस का लेख इस प्रकार है—

> चतुर्दशसु विद्यासु वल्लभं पितरं गुरुम्।
> वन्दे कूष्माण्डदातारं मल्लययज्वानमन्वहम्।
> पितामहस्तु यस्येदं मन्त्रभाष्यं चकार च।
> श्रीकृष्णाभ्युदयं काव्यमनुवादं गुरोर्मते॥
> यत्पित्रा तु कृता टीका मण्यालोकस्य धीमता।
> तथा तत्त्वविवेकस्य कैयटस्यापि टिप्पणी॥

देखो, मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ C, पृष्ठ २३६२, ग्रन्थाङ्क १६६४।

मल्लय यज्वा के पुत्र तिरुमल यज्वा ने महाभाष्य की व्याख्या लिखी थी। इसका वर्णन हम पिछले अध्याय में पृष्ठ २९९ पर कर चुके।

९—रामसेवक

रामसेवक नाम के किसी विद्वान् ने '**महाभाष्यप्रदीपव्याख्या**' की रचना की थी। इस का एक हस्तलेख अडियार के पुस्तकालय में है। देखो सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ ७३।

रामसेवक के पिता का नाम देवीदत्त था। रामसेवक के पुत्र कृष्णमित्र ने भट्टोजिदीक्षितविरचित शब्दकौस्तुभ की 'भावप्रदीप' और सिद्धान्तकौमुदी की 'रत्नार्णव' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इन का वर्णन यथास्थान आगे किया जायगा। रामसेवक का काल सम्भवतः वि० सं० १६५०--१७०० के मध्य होगा।

१०—प्रवर्तकोपाध्याय

प्रवर्तकोपाध्याय-विरचित '**महाभाष्यप्रदीपप्रकाशिका**' के अनेक हस्तलेख मद्रास, अडियार, मैसूर और ट्रिवेण्ड्रम् के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। कहीं कहीं इस ग्रन्थ का नाम '**महाभाष्यप्रदीपप्रकाश**' भी लिखा है।

प्रवर्तकोपाध्याय का उल्लेख हमारी दृष्टि में अन्यत्र नहीं आया। इस का काल तथा इतिवृत्त अज्ञात है।

११—आदेन्न (?)

आदेन्न (?) नाम के किसी वैयाकरण ने '**महाभाष्यप्रदीपस्फूर्त्ति**' संज्ञक ग्रन्थ लिखा है। इस के पिता का नाम वेङ्कट अतिरात्राप्तोर्यामयाजी है। इस ग्रन्थ के तीन हस्तलेख मद्रासराजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ३ पृष्ठ ९३२-९३४, ग्रन्थाङ्क १३०५-१३०७ पर निर्दिष्ट हैं।

१२—नारायण

किसी नारायणविरचित '**महाभाष्यप्रदीपविवरण**' के कई हस्तलेख विभिन्न पुस्तकालयों में संगृहीत हैं। देखो, मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ A, पृष्ठ ४३०२ ग्रन्थाङ्क २९६६, कलकत्ता संस्कृत कालेज पुस्तकालय सूचीपत्र भाग ८, ग्रन्थाङ्क ७४ और लाहौर डी० ए० वी० कालेज लालचन्द पुस्तकाल संख्या ३८१७।

वैयाकरणनिकाय में नारायण नामा अनेक विद्वान् प्रसिद्ध हैं। प्रदीपविवरणकार कौन सा नारायण है, यह अज्ञात है। क्या यह पूर्वोल्लिखित नारायण शास्त्री हो सकता है?

१३–सर्वेश्वर सोमयाजी

सर्वेश्वर सोमयाजी विरचित **'महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति'** का एक हस्तलेख अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ ७२ पर निर्दिष्ट है।

१४–हरिराम

आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में हरिरामकृत **'महाभाष्यप्रदीप-व्याख्या'** का उल्लेख किया है। हमारी दृष्टि में इस का उल्लेख अन्यत्र नहीं आया।

१५–अज्ञातकर्तृक

दयानन्द एङ्ग्लो वैदिक कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में एक **'प्रदीपव्याख्या'** ग्रन्थ विद्यमान है। इस का ग्रन्थाङ्क ६६०६ है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम अज्ञात है।

इस अध्याय में कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप के पन्द्रह टीकाकारों का संक्षिप्त वर्णन किया है। इस प्रकार हमने ११ वें और १२ वें अध्याय में महाभाष्य, और उसकी टीका-प्रटीकाओं पर लिखने वाले ४० वैयाकरणों का वर्णन किया है। अगले अध्याय में अनुपदकार और पदशेषकार नामक वैयाकरणों का उल्लेख होगा।

तेरहवां अध्याय

अनुपदकार और पदशेषकार

व्याकरण के वाङ्मय में अनुपदकार और पदशेषकार नामक वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है। अनेक ग्रन्थकार पदकार के नाम से पातञ्जल महाभाष्य के उद्धरण उद्धृत करते हैं,[1] तदनुसार पतञ्जलि का पदकार नामान्तर होने से स्पष्ट है कि महाभाष्य का एक नाम "पद" भी था। शिशुपालवध के "अनुत्सूत्रपदन्यासा"[2] श्लोक की व्याख्या में वल्लभदेव भी "पद" शब्द का अर्थ "पदं शेषाहिविरचितं भाष्यम्"[3] करता है। इससे स्पष्ट है कि अनुपदकार का अर्थ अनुपद=महाभाष्य के अनन्तर रचे गये ग्रन्थ[4] का रचयिता और पदशेषकार का अर्थ पदशेष= महाभाष्य से बचे हुए विषय के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ का रचयिता है। इसी लिये इन का वर्णन हम महाभाष्य और उस पर रची गई व्याख्याओं के अनन्तर करते हैं।

अनुपदकार

मैत्रेय रक्षित विरचित न्यासव्याख्या तन्त्रप्रदीप और शरणदेव रचित दुर्घटवृत्ति में 'अनुपदकार' के नाम से व्याकरण विषयक दो उद्धरण उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—एवं च युवानमाख्यत् अचोकलदित्यादिप्रयोगोऽनुपदकारेण नेष्यत इति लक्ष्यते।[5]

२—प्रेन्वनमिति अनुपदकारेणानुम उदाहरणमुपन्यस्तम्।[6]

सम्भवतः ये उद्धरण यथाक्रम अष्टाध्यायी ७।४।१ तथा ८।४।२ के ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं। इन से इतना स्पष्ट है कि अनुपद नामक कोई ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर रचा गया था। यह संप्रति अप्राप्य है।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २३६। २. २।१।१२॥ ३. तुलना करो—पदशेषो ग्रन्थविशेषः। पदमञ्जरी ७।२।५८॥ ४. तुलना करो—अनुन्यास पद। तथा देखो अगले पृष्ठ का विवरण। ५. भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८६४ की टिप्पणी में उद्धृत। ६. दुर्घटवृत्ति पृष्ठ १२६।

व्याकरण के वाङ्मय में जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास अपरनाम काशिकाविवरणपञ्जिका के अनन्तर इन्दुमित्र नामक वैयाकरण ने काशिका की "अनुन्यास" नामक एक व्याख्या लिखी थी। इस के उद्धरण अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।[1] अनुपद की अनुन्यास पद से तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि अनुपद संज्ञक ग्रन्थ पद = महाभाष्य के अनु = पश्चात् लिखा गया है। इस अनुपद ग्रन्थ के रचयिता का नाम और काल अज्ञात है।

पदशेषकार

पदशेषकार के नाम से व्याकरणविषयक कुछ उद्धरण काशिकावृत्ति, माधवीया धातुवृत्ति और पुरुषोत्तमदेवविरचित महाभाष्यलघुवृत्ति की "भाष्यव्याख्याप्रपञ्च" नाम्नी टीका में उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—पदशेषकारस्य पुनरिदं दर्शनम्—गम्युपलक्षणार्थं परस्मैपदग्रहणम्, परस्मैपदेषु यो गमिरुपलक्षितस्तस्मात् सकारादेरार्धधातुकस्येड् भवति।[2]

२—अत एव भाष्यवार्त्तिकविरोधात् 'गमेरिट्' इत्यत्र परस्मैपदग्रहणं गम्युपलक्षणार्थम्, परस्मैपदेषु यो निर्दिष्ट इति पदशेषकार[3] दर्शनमुपेक्ष्यम्।[4]

३—पदशेषकारस्तु शब्दाध्याहारं शेषमिति वदति।[5]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पदशेष नामक कोई ग्रन्थ अष्टध्यायी पर लिखा गया था। पदशेष नाम से यह भी विदित होता है कि यह ग्रन्थ पद = महाभाष्य के अनन्तर रचा गया था।

पदशेषकार का सबसे पुराना उद्धरण अभी तक काशिकावृत्ति में मिला है, तदनुसार यह ग्रन्थ विक्रम की ७वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती है, केवल इतना ही कहा जा सकता है। ग्रन्थकार का अपना नाम अज्ञात है।

हम पूर्व पृष्ठ २३७ पर लिख आए हैं कि अनुपदकार और पदशेषकार दोनों एक हैं, परन्तु अब हमें इन के एक होने में कुछ सन्देह हो गया है।

अब हम अगले अध्याय में अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों का वर्णन करेंगे।

---

१. देखो काशिकावृत्ति के व्याख्याकार नामक १५ वां अध्याय।

२. काशिका ७।२।५८॥ ३. देखो पृष्ठ २९१ की टि० २।

४. गम धातु, पृष्ठ १९२। ५. देखो, इ० हि० क्वाटर्ली सेप्टेम्बर १९४३, पृष्ठ २०७। तथा पूर्व पृष्ठ २३०।

चौदहवां अध्याय

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर प्राचीन अर्वाचीन अनेक आचार्यों ने वृत्तियां लिखी हैं। पतञ्जलि-विरचित महाभाष्य के अवलोकन से विदित होता है कि उससे पूर्व अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियों की रचना हो चुकी थी। महाभाष्य १।१।५० में लिखा है—

यत्तदस्य योगस्य मूर्धाभिषिक्तमुदाहरणं तदपि संगृहीतं भवति ? किं पुनस्तत् ? पट्व्या मृद्व्येति।

इस पर कैयट लिखता है—**मूर्धाभिषिक्तमिति-सर्ववृत्तिषूदाहृतत्वात्।**

पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी १।२।१ के भाष्य में इस सूत्र के चार विभिन्न सूत्रार्थ दर्शाये हैं।[1] ये सूत्रार्थ पतञ्जलि के स्वकल्पना-प्रसूत नहीं हैं। निश्चय ही इन सूत्रार्थों का निदश पतञ्जलि ने प्राचीन वृत्तियों के आधार पर किया होगा।[2]

महाभाष्य के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि महाभाष्य की रचना से पूर्व अष्टाध्यायी की न्यून से न्यून ४,५ वृत्तियां अवश्य बन चुकी थीं। महाभाष्य के अनन्तर भी अनेक वैयाकरणों ने अष्टाध्यायी की वृत्तियां लिखी हैं।

महाभाष्य से अर्वाचीन अष्टाध्यायी की जितनी वृत्तियां लिखी गईं उनका मुख्य आधार पातञ्जल महाभाष्य है। पतञ्जलि ने पाणिनीयाष्टक की निर्दोषता सिद्ध करने के लिये जिस प्रकार अनेक सूत्रों या सूत्रांशों का परिष्कार दर्शाया, उसी प्रकार उसने कतिपय सूत्रवृत्तियों का भी परिष्कार

---

१. गाङ्कुटादिभ्यः परोऽञ्णित् प्रत्ययः ङित्संज्ञकङकार इत्यर्थः। द्र० उद्योत। गाङ्कुटादिभ्यः परो योऽञ्णित् प्रत्ययः स ङिद् भवति ङकार इत्संज्ञकस्तस्य भवतीत्यर्थः। द्र० प्रदीप। संज्ञाकरणं तर्हीदं, गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् प्रत्ययो ङित् संज्ञो भवति। महाभाष्य। तद्वदतिदेशस्तर्ह्ययम्—गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् ङिद्वद् भवति। महाभाष्य।

२. देखो ओरियण्टल कालेज मैगजीन लाहौर, नवम्बर सन् १९३९ के अंक में मेरा "अष्टाध्यायी की महाभाष्य से प्राचीन वृत्तियों का स्वरूप" शीर्षक लेख।

किया। अतः महाभाष्य से उत्तरकालीन वृत्तियों से पाणिनीय सूत्रों की उन प्राचीन सूत्रवृत्तियों का परिज्ञान नहीं होता जिन के आधार पर महाभाष्य की रचना हुई। इस कारण प्राचीन वृत्तियों के आधार पर लिखे गये महाभाष्य के अनेक पाठ अर्वाचीन वृत्तियों के अनुसार असंबद्ध उन्मत्तप्रलापवत् प्रतीत होते हैं। यथा—

अष्टाध्यायी के "कष्टाय क्रमणे" (३।१।१४) सूत्र की वृत्ति काशिका में **"कष्टशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात् क्रमणेऽर्थेऽनार्जवे क्यङ् प्रत्ययो भवति"** लिखा है। जिस छात्र ने यह वृत्ति पढ़ी है उसे इस सूत्र के महाभाष्य की "कष्टायेति किं निपात्यते? **कष्टशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात् क्रमणेऽनार्जवे क्यङ् निपात्यते**" पङ्क्ति देख कर आश्चर्य होगा कि इस सूत्र में निपातन का कोई प्रसङ्ग ही नहीं, फिर महाभाष्यकार ने निपातनविषयक आशङ्का क्यों उठाई? इसलिये महाभाष्य का अध्ययन करते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये।

अष्टाध्यायी पर रची गई महाभाष्य से प्राचीन और अर्वाचीन वृत्तियों में से जितनी वृत्तियों का ज्ञान हमें हो सका उन का संक्षेप से वर्णन करते हैं—

१—पाणिनि (२८०० वि० पू०)

पाणिनि ने स्वोपज्ञ अकालक व्याकरण का स्वयं अनेक बार प्रवचन किया था। महाभाष्य १।४।१ में लिखा है—

१—**कथं त्वेतत् सूत्रं पठितव्यम्। किमाकडारादेका संज्ञा, आहोस्वित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति। कुतः पुनरयं सन्देहः? उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिदाकडारादेका संज्ञेति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति।**

२—काशिका ४।१।११८ में लिखा है—

शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौङ्गेय इति। द्वयमपि चैतत् प्रमाणमुभयथासूत्रप्रणयनात्।

३—काशिका ६।२।१०४ में उदाहरण दिये हैं—**"पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः**। इन से पाणिनि के शिष्यों के दो विभाग दर्शाए हैं।

इन उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि सूत्रकार ने अपने सूत्रों का स्वयं अनेकधा प्रवचन किया था। सूत्रप्रवचन काल में सूत्रों की वृत्ति, उदाहरण,

प्रत्युदाहरण दर्शाना आवश्यक है, क्योंकि इनके बिना सूत्रों का प्रवचन नहीं हो सकता। अतः यह आपाततः स्वीकार करना होगा कि पाणिनि ने अपने सूत्रों की स्वयं कोई वृत्ति अवश्य रची थी। इस की पुष्टि निम्न लिखित प्रमाणों से भी होती है।

१—भर्तृहरि 'इग्यणः संप्रसारणं'[1] सूत्र के विषय में महाभाष्य-दीपिका में लिखता है—

उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, केचिद् वाक्यस्य, केचिद्वर्णस्य।

अर्थात्—पाणिनि ने शिष्यों को 'इग्यणः संप्रसारणम्' सूत्र के दो अर्थ पढ़ाये हैं। किन्हीं को 'यणः स्थाने इक्' इस वाक्य की सम्प्रसारण संज्ञा बताई, और किन्हीं को यण् के स्थान पर होने वाले इक् वर्ण की।

२—महाभाष्य ३।१।९४ में लिखा है—

ननु च य एव तस्य समयस्य कर्ता स एवेदमप्याह। यद्यसौ तत्र प्रमाणमिहापि प्रमाणं भवितुमर्हति। प्रमाणं चासौ तत्र चेह च।

अर्थात्—'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः' इस नियम का जो कर्त्ता है वही 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्'[2] सूत्र का भी रचयिता है। यदि वह नियम में प्रमाण है तो सूत्र के विषय में भी प्रमाण होगा। वह उस में भी प्रमाण है और इस में भी।

यह नियम न पाणिनि के सूत्रपाठ में उपलब्ध होता है और न खिलपाठ में। भाष्यकार के वचन से स्पष्ट है कि इस नियम का कर्त्ता पाणिनि है। अतः प्रतीत होता है कि पाणिनि ने उपर्युक्त नियम का प्रतिपादन सूत्रपाठ की वृत्ति में किया होगा।

३—गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान सूरि क्रोड्याद्यन्तर्गत 'चैतयत'[3] पद पर लिखता है—**पाणिनिस्तु चित संवेदने इत्यस्य चैतयत इत्याह।**[4]

वर्धमान ने यह व्युत्पत्ति निश्चय ही 'क्रोड्यादिभ्यश्च'[5] सूत्र की पाणिनीय वृत्ति से उद्धृत की होगी।

१. अष्टा० १।१।४५॥ २. अष्टा० ३।१।९४॥
३. काशिका में 'चैटयत' पाठ है। ४. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ३७।
५. अष्टा० ४।१।८०॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन की वृत्ति भी अवश्य रची थी।

पाणिनि के परिचय और काल के विषय में हम पूर्व (पृष्ठ १२९–१४९) विस्तार से लिख चुके हैं।

२–कुणि (१२०० वि० पू० से प्राचीन)

भर्तृहरि, कैयट और हरदत्त आदि ग्रन्थकार आचार्य कुणि विरचित 'अष्टाध्यायीवृत्ति' का उल्लेख करते हैं। भर्तृहरि महाभाष्य १।१।३८ की व्याख्या में लिखता है—

अत एषां व्यावृत्त्यर्थं कुणिनापि तद्धितग्रहणं कर्तव्यम्।......... अतो गणपाठ एव ज्यायान् अस्यापि वृत्तिकारस्य इत्येतदनेन प्रतिपादयति।[1]

कैयट महाभाष्य १।१।७५ की टीका में लिखता है—

कुणिना प्राग्ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थं च व्याख्यातम्.........भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमाशिश्रयत्।

हरदत्त भी पदमञ्जरी में लिखता है—कुणिना तु प्राचां ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्याख्यातम्, भाष्यकारोपि तथैवाशिश्रयत्।[2]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आचार्य कुणि ने अष्टाध्यायी की कोई वृत्ति अवश्य रची थी।

परिचय

वृत्तिकार आचार्य कुणि का इतिवृत्त सर्वथा अन्धकारावृत है। हम उस के विषय में कुछ नहीं जानते।

ब्रह्माण्ड पुराण तीसरा पाद ८।९७ के अनुसार एक 'कुणि' वसिष्ठ का पुत्र था। इस का दूसरा नाम 'इन्द्रप्रमति' था। एक इन्द्रप्रमति ऋग्वेद के प्रवक्ता आचार्य पैल का शिष्य था।[3] वृत्तिकार कुणि इन से भिन्न व्यक्ति है।

---

१. हमारा हस्तलेख पृष्ठ २०३। २. भाग १, पृष्ठ १४५।

३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ ७८।

काल

आचार्य कुणि का इतिवृत्त अज्ञात होने से उसका काल भी अज्ञात है। भर्तृहरि आदि के उपर्युक्त उद्धरणों से केवल इतना प्रतीत होता है कि यह आचार्य महाभाष्यकार पतञ्जलि से पूर्ववर्ती है।

३-माथुर (१२०० वि० पू० से प्राचीन)

भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी १।२।५७ की वृत्ति में आचार्य माथुर प्रोक्त वृत्ति का उल्लेख किया है। महाभाष्य ४।३।१०१ में भी माथुर नामक आचार्य प्रोक्त किसी वृत्ति का उल्लेख मिलता है।

परिचय

माथुर नाम तद्धितप्रत्ययान्त है, तदनुसार इस का अर्थ 'मथुरा में रहने वाला' है। ग्रन्थकार का वास्तविक नाम अज्ञात है। महाभाष्य में इस का उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि यह आचार्य पतञ्जलि से प्राचीन है।

माथुरी-वृत्ति

महाभाष्य में लिखा है—**यत्तेन प्रोक्तं न च तेन कृतम् माथुरी वृत्तिः।**[1]

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि माथुरी वृत्ति का रचयिता माथुर से भिन्न व्यक्ति था। माथुर तो केवल उसका प्रवक्ता है।

मथुरी वृत्ति का उद्धरण

संस्कृत वाङ्मय में अभी तक माथुरी वृत्ति का केवल एक उद्धरण उपलब्ध हुआ है। पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति १।२।५७ में लिखता है—

माथुर्यां तु वृत्तावशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते।

अर्थात् माथुरी वृत्ति में 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'[2] सूत्र के 'अशिष्य' पद की अनुवृत्ति प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद की समाप्ति तक है।

---

१. डा० कीलहार्न ने 'माथुरी वृत्तिः' पाठ माना है। उसके चार हस्तलेखों में 'माथुरी वृतिः पाठ भी है। तुलना करो—अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः। काशिका ४।३।१०१॥

२. अष्टा० १।२।५३॥

माथुरी वृत्ति और चान्द्र व्याकरण

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अशिष्य पद की अनुवृत्ति १।२।५७ तक मानी है। माथुरी वृत्ति में इस पद की अनुवृत्ति १।२।७३ तक जाती है। अतः माथुरी वृत्ति के अनुसार अष्टाध्यायी १।२।५८ से १।२।७३ तक १६ सूत्र भी अशिष्य हैं। चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में जिस प्रकार अष्टाध्यायी १।२।५३–५७ सूत्रस्थ विषयों का अशिष्य होने से समावेश नहीं किया, उसी प्रकार उसने अष्टाध्यायी १।१।५८-७३ सूत्रस्थ वचनातिदेश और एकशेष का निर्देश भी नहीं किया। इस से प्रतीत होता है कि आचार्य चन्द्रगोमी ने इन विषयों को भी अशिष्य माना है। इस समानता से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की रचना में माथुरी वृत्ति का साहाय्य अवश्य लिया था। महाभाष्यकार ने भी प्रकारान्तर से अष्टाध्यायी १।२।५८—७३ सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है। सम्भव है पतञ्जलि ने भी इन के प्रत्याख्यान में माथुरी वृत्ति का आश्रय लिया हो।

४—श्वोभूति (१२०० वि० पू० से प्राचीन)

आचार्य श्वोभूति ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी, उसका उल्लेख जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास ग्रन्थ में किया है। काशिका ७।२।११ के 'केचिदत्र द्विककारनिर्देशेन गकारप्रश्लेषं वर्णयन्ति' पर वह लिखता है—

केचित् श्वभूतिव्याडिप्रभृतयः 'श्र्युकः किति' इत्यत्र द्विककारनिर्देशेन हेतुना चर्त्वभूतो गकारप्रश्लिष्ट इत्येवमाचक्षते।

यहां श्वभूति का पाठान्तर 'सुभूति' है। सुभूति न्यासकार से अर्वाचीन ग्रन्थकार है। हमारा विचार है न्यास में 'श्वोभूति' पाठ होना चाहिये।

परिचय

श्वोभूति आचार्य का कुछ भी इतिवृत्त विदित नहीं है। महाभाष्य १।१।५६ के श्लोकवार्तिक में श्वोभूति का उल्लेख मिलता है। वार्त्तिक इस प्रकार है—

स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततः श्वोभूते शातनीं पातनीं च।
नेतारावागच्छन्तं धारणिं पारणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते च॥

उक्त वार्त्तिक से प्रतीत होता है कि श्रोभूति इस वार्तिक के रचयिता का शिष्य था।[1] इस वार्तिक के रचयिता का नाम अज्ञात है। किन्हीं का मत है कि श्रोभूति पाणिनि का साक्षात् शिष्य है। यदि यह बात प्रमाणान्तर से पुष्ट हो जाय तो श्रोभूति का काल निश्चय ही २८ सौ वर्ष विक्रमपूर्व होगा। महाभाष्य में श्रोभूति का उल्लेख होने से इतना विस्पष्ट है कि श्रोभूति महाभाष्यकार पतञ्जलि से प्राचीन है।

५—वररुचि (विक्रम-समकालिक)

आचार्य वररुचि ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी। यह वररुचि वार्तिककार कात्यायन वररुचि से भिन्न अर्वाचीन व्यक्ति है। वररुचिविरचित अष्टाध्यायीवृत्ति का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में किया है। मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में इस का एक हस्तलेख विद्यमान है। देखो सूचीपत्र सन् १८८० का छपा, पृष्ठ ३४२।

परिचय

यह वररुचि भी कात्यायन गोत्र का है। सदुक्तिकर्णामृत के एक श्लोक से विदित होता है कि इस का एक नाम श्रुतिधर भी था।[2] वाररुच निरुक्तसमुच्चय से प्रतीत होता है कि यह किसी राजा का धर्माधिकारी था।[3] अनेक इसे विक्रमादित्य का पुरोहित मानते हैं।[4] इससे अधिक हम इस के विषय में कुछ नहीं जानते।

काल

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार आचार्य वररुचि संवत् प्रवर्तक महाराज विक्रमादित्य का सभ्य था। कई ऐतिहासिक इस संबन्ध को काल्पनिक मानते हैं। अतः वररुचि के कालनिर्णायक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

---

१. श्रोभूतिर्नाम शिष्यः। कैयट, महाभाष्यप्रदीप १। १। ५८॥

२. ख्यातो यश्च श्रुतिधरस्तथा विक्रमादित्यगोष्ठीविद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्। पृष्ठ २९७। ३. युष्मत्प्रसादादहं क्षपितसमस्तकल्मषः सर्वसंपत्सं-गतो धर्मानुष्ठानयोग्यश्च संजातः। पृष्ठ ४२। ४. भारतवर्ष का इतिहास पृ० ६।

१—काशिका से प्राचीन कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंह के मतानुसार कातन्त्र व्याकरण का कृदन्त भाग वररुचि कात्यायन कृत है।[1]

२—संवत् ६९५ में शतपथ का भाष्य लिखने वाले हरिस्वामी का गुरु स्कन्दस्वामी निरुक्तटीका में वाररुच निरुक्तसमुच्चय से पर्याप्त सहायता लेता है और उसके पाठ उद्धृत करता है।[2]

३—स्कन्द महेश्वर की निरुक्तटीका १०। १६ में भामह के अलंकार ग्रन्थ का २।१७ श्लोक उद्धृत है। भामह ने वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' की 'प्राकृतमनोरमा' नाम्नी टीका लिखी है। अतः वररुचि निश्चय ही संवत् ६०० से पूर्ववर्ती है। पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे के मतानुसार हरिस्वामी संवत् प्रवर्तक विक्रम का समकालिक है।[3]

भारतीय इतिहास के प्रामाणिक विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' ग्रन्थ में वररुचि और विक्रम साहसाङ्क की सकालिकता में अनेक प्रमाण दिये हैं।[4] उनमें से कुछ एक नीचे लिखे जाते हैं—

४—वररुचि अपने लिङ्गानुशासन के अन्त में लिखता है—

इति श्रीमदखिलवाग्विलासमण्डित-सरस्वतीकण्ठाभरण-अनेकविशरणश्रीनरपति-विक्रमादित्यकिरीटकोटिनिघृष्टचरणारविन्द-आचार्यवररुचि-विरचितो लिङ्गविशेषविधिः समाप्तः।

५—वररुचि अपनी पत्रकौमुदी के आरम्भ में लिखता है—

विक्रमादित्यभूपस्य कीर्तिसिद्धेर्निदेशतः।
श्रीमान् वररुचिर्धीमांस्तनोति पत्रकौमुदीम्॥

६—अपने विद्यासुन्दर काव्य के अन्त में लिखता है—

इति समस्तमहीमण्डलाधिपमहाराजविक्रमादित्यनिदेशलब्ध-श्रीमन्महापण्डितवररुचिविरचितं विद्यासुन्दरप्रसंगकाव्यं समाप्तम्।

७—लक्ष्मणसेन (वि० सं० ११७६) का सभापण्डित धोयी का एक श्लोक सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत है। उसमें लिखा है—

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी।
विद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्॥[5]

१. वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृताः कृतः। कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिपत्तये। २. देखो हमारे द्वारा सम्पादित निरुक्तसमुच्चय की भूमिका पृष्ठ १।

३. ग्वालियर से प्रकाशित विक्रमस्मारक ग्रन्थ में पं० सदाशिव का लेख।

४. द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३२७ तथा ३४१। ५. सदुक्तिकर्णामृत पृष्ठ २९७।

८—कालिदास अपने ज्योतिर्विदाभरण २२।१० में लिखता है—

धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरोनृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

४—८ पांच प्रमाणों से वररुचि और विक्रमादित्य का संबन्ध विस्पष्ट है। आठवें प्रमाण में वराहमिहिर का उल्लेख है। वराहमिहिर ने बृहत्-संहिता में ५५० शक का उल्लेख किया है। यह शालिवाहन शक नहीं है। शक शब्द वत्सर का पर्याय है। विक्रम से पूर्व नन्दाब्द, चन्द्रगुप्ताब्द, शूद्रकाब्द आदि अनेक शक प्रचलित थे। वराहमिहिर ने किस शक का उल्लेख किया है, यह अज्ञात है। हां, उसे शालिवाहन-शक मानना निश्चय ही भ्रान्ति है।

वाररुच-वृत्ति का हस्तलेख

हमने मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में विद्यमान वाररुच वृत्ति की प्रतिलिपि मंगवाई है। यह आरम्भ से अष्टाध्यायी २।४।३४ सूत्र पर्यन्त है। यदि यह प्रतिलिपि भूल से अन्य ग्रन्थ की न भेजी गई हो तो निश्चय ही वह हस्तलेख वाररुच वृत्ति का नहीं है। इस ग्रन्थ में भट्टोजि दीक्षित विरचित सिद्धान्तकौमुदी की सूत्रवृत्ति सूत्रक्रमानुसार तत्तत् सूत्रों पर संगृहीत है।

वररुचि के कतिपय अन्य ग्रन्थ

वररुचि के नाम से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से कुछ एक निम्न लिखित हैं—

१—**तैत्तिरीयप्रातिशाख्य-व्याख्या**— इस व्याख्या के अनेक उद्धरण तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के त्रिरत्नभाष्य और वीरराघवकृत शब्दब्रह्मविलास नामक टीका में मिलते हैं। इसका विशेष वर्णन 'प्रातिशाख्य और उसके टीकाकार' प्रकरण में किया जायगा।

२—**निरुक्तसमुच्चय**— इस ग्रन्थ में आचार्य वररुचि ने १०० मन्त्रों की व्याख्या नैरुक्तसम्प्रदायानुसार की है। यह नैरुक्त सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसका सम्पादन हमने किया है। इस समय अप्राप्य है।

३—**लिङ्गविशेषविधि**—इसका वर्णन 'लिङ्गानुशासन और उसके वृत्तिकार' प्रकरण में किया जायगा।

४—**प्रयोगविधि**—यह व्याकरणविषयक लघु ग्रन्थ है। यह नारायणकृत टीका सहित ट्रिवेण्ड्रम् से प्रकाशित हो चुका है।

५—**कातन्त्र उत्तरार्ध**—इसका वर्णन कातन्त्र व्याकरण के प्रकरण में किया जायगा।

६—**प्राकृतप्रकाश**—यह प्राकृत भाषा का व्याकरण है। इस पर भामह की 'प्राकृतमनोरमा' टीका छप चुकी है।

७—**कोश**—अमरकोष आदि की विविध टीकाओं में कात्य, कात्यायन तथा वररुचि के नाम से किसी कोष ग्रन्थ के अनेक वचन उद्धृत हैं। वररुचिकृत कोष का एक सटीक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग २७ खण्ड १ ग्रन्थाङ्क १५६७२।

८—**उपसर्ग-सूत्र**—माधवनिदान की मधुकोष व्याख्या में वररुचि का एक उपसर्ग-सूत्र उद्धृत है।[1]

९—**पत्रकौमुदी**। १०—**विद्यासुन्दरप्रसंग काव्य**।

६—देवनन्दी (सं० ५००–५५०)

जैनेन्द्र शब्दानुशासन के रचयिता देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद ने पाणिनीय व्याकरण पर '**शब्दावतारन्यास**' नाम्नी टीका लिखी थी। इस में निम्न प्रमाण हैं—

१—शिमोगा जिले की नगर तहसील के ४६ वें शिलालेख में लिखा है—

न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनतं पाणिनीयस्य भूयो
न्यासं शब्दावतारं मनुजहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह भात्यसौ पूज्यपादः
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः॥[2]

अर्थात् पूज्यपाद ने अपने व्याकरण पर जैनेन्द्र न्यास, पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यास, वैद्यक का ग्रन्थ और तत्त्वार्थ सूत्र की टीका लिखी।

---

१. वररुचेरुपसर्गसूत्रम्—निनिश्चयनिषधयोः। निर्णयसागर संस्क० पृ० ५।

२. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १०७, टि० १। देवनन्दी का प्रकरण प्रायः इसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है।

२—वि० सं० १२१७ के वृत्तविलास ने 'धर्मपरीक्षा' नामक कनाडी भाषा के काव्य की प्रशस्ति में लिखा है—

भरदिं जैनेन्द्रभासुरं = एनल् ओरदं पाणिनीयक्के टीकुम,[1]

इस में पाणिनीय व्याकरण पर किसी टीका ग्रन्थ के लिखने का उल्लेख है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य देवनन्दी ने पाणिनीय व्याकरण पर कोई टीका ग्रन्थ अवश्य रचा था।

आचार्य पूज्यपाद द्वारा विरचित शब्दावतार न्यास इस समय अप्राप्य है।

परिचय

चन्द्रय्य कवि ने कनाडी भाषा में पूज्यपाद का चरित लिखा है। उसमें लेखक लिखता है—

देवनन्दी के पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्री देवी था। ये दोनों वैदिक मतानुयायी थे। इनका जन्म कर्नाटक देश के 'काले' नामक ग्राम में हुआ था। माधव भट्ट ने अपनी स्त्री के कहने से जैन मत स्वीकार किया था। पूज्यपाद को एक उद्यान में मेंडक को सांप के मुँह में फंसा हुआ देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे जैन साधु बन गये।

यह चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से अनुपादेय माना जाता है। अतः उपर्युक्त लेख कहां तक सत्य है, यह नहीं कह सकते।

देवनन्दी जैनमत के प्रामाणिक आचार्य हैं। जैन लेखक इन्हें पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि के नाम से स्मरण करते हैं। गणरत्नमहोदधि के कर्ता वर्धमान ने इन्हें 'दिग्वस्त्र' नाम से स्मरण किया है।[2]

काल

आचार्य देवन्दी का काल अभी तक अनिश्चित है। उनके काल निर्णायक जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१—जैन ग्रन्थकार वर्धमान ने वि० सं० ११९७ में अपना गणरत्नमहो-

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ९३, टि० २।

२. शालातुरीयशकटाङ्गजचन्द्रगोमिदिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्याः।............ दिग्वस्त्रो देवनन्दी। पृष्ठ १,२।

वृधि ग्रन्थ रचा, उसमें आचार्य देवनन्दी को दिग्वस्त्रनाम से बहुधा स्मरण किया है।

२—राष्ट्रकूट के जगत्तुङ्ग राजा का समकालिक वामन अपने लिङ्गानुशासन में आचार्य देवनन्दी विरचित जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन को बहुधा उद्धृत करता है।[1] जगत्तुङ्ग का राज्यकाल वि० सं० ८५१–८७१ तक था।[2]

३—कर्नाटककविचरित्र के कर्त्ता ने गङ्गवंशीय राजा दुर्विनीत को पूज्यपाद का शिष्य लिखा है। दुर्विनीत के पिता महाराज अविनीत का मर्करा (कुर्ग) से शकाब्द ३८८ का एक ताम्रपत्र मिला है। तदनुसार अविनीत वि० सं० ५२२ में राज्य कर रहा था। 'हिस्ट्री आफ कनाड़ी लिटरेचर' और 'कर्नाटककविचरित्र' के अनुसार महाराज दुर्विनीत का राज्यकाल वि० सं० ५३९—५६९ तक रहा है।[3]

४—वि० सं० ९९० में बने हुए 'दर्शनसार' नामक प्राकृत ग्रन्थ में लिखा है—

सिरि पुज्जपादसीसो द्राविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुड वेदी महासत्थो॥
पञ्चसये छब्बीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिण महुरा जादो द्रविणसंघो महामोहो॥[4]

अर्थात् पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने वि० सं० ५२६ में दक्षिण मथुरा या मदुरा में द्रविड़संघ की स्थापना की थी।

प्रमाणाङ्क ३ और ४ से विस्पष्ट होता है कि आचार्य देवनन्दी का काल विक्रम की षष्ठ शताब्दी का पूर्वार्ध है।

डा० काशीनाथ बापुजी पाठक आदि की भूल

स्वर्गीय डा० काशीनाथ बापुजी पाठक का शाकटायन व्याकरण के सम्बन्ध में एक लेख इण्डियन एण्टिक्वेरी (जिल्द ४३ पृष्ठ २०५-२१२) में छपा है। उसमें उन्होंने लिखा है—

[5]पाणिनीय व्याकरण में वार्षगण्य पद की सिद्धि नहीं है।

---

१. व्याडिप्रणीतमथवाररुचं सचान्द्रं जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथान्यत्। श्लोक ३१।

२. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ११६। ३. वही, पृष्ठ ११६।

४. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ११७। ५. यहां हम ने संक्षेप से लिखा है। विशेष देखो जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ११७—११६।

जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण में इस का उल्लेख मिलता है। पाणिनि के शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु[1] सूत्र के स्थान में जैनेन्द्र का सूत्र है शरद्वच्छुनकदर्भाग्निशर्मकृष्णरणाद् भृगुवत्साग्रायणब्राह्मणवसिष्ठे।[2] इसी का अनुकरण करते हुए शाकटायन ने सूत्र रचा है—शरद्वच्छुनक-रणाग्निशर्मकृष्णदर्भाद् भृगुवत्सवसिष्ठवृषगणब्राह्मणाग्रायणे।[3] इस की अमोघा वृत्ति में "आग्निशर्मायणो वार्षगण्यः, आग्निशर्मिरन्यः" व्याख्या की है। वार्षगण्य सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वर कृष्ण का दूसरा नाम है। चीनी विद्वान् डा० टक्कुसु के मतानुसार ईश्वर कृष्ण वि० सं० ५०७ के लगभग विद्यमान था। जैनेन्द्र व्याकरण में उसका उल्लेख होने से जैनेन्द्र व्याकरण वि० सं० ५०७ के बाद का है।

इस लेख में पाठक महोदय ने चार भयानक भूलें की हैं। यथा—

प्रथम—सांख्य शास्त्र के साथ संबन्धित वार्षगण्य नाम सांख्यकारि-काकार ईश्वर कृष्ण का है, यह लिखना सर्वथा अशुद्ध है। सांख्य कारिका की युक्तिदीपिका नाम्नी व्याख्या में 'वार्षगण्य' और 'वार्षगणाः' के नाम से अनेक उद्धरण उद्धृत हैं, वे ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका में उपलब्ध नहीं होते। आचार्य भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में "इदं फेनो न" और "अन्धो मणिमविन्दत्" दो पद्य पढ़े हैं।[4] इन में से द्वितीय पद्य तैत्तिरीय आरण्यक १।११।५ में उपलब्ध होता है। वाक्य-पदीय के प्राचीन व्याख्याकार वृषभदेव के मतानुसार ये पद्य सांख्यशास्त्र के षष्टितन्त्र ग्रन्थ के हैं।[5] अनेक लेखकों के मत में षष्टितन्त्र भगवान् वार्षगण्य की कृति है।[6] यदि यह ठीक हो तो मानना होगा कि वार्षगण्य आचार्य तैत्तिरीय आरण्यक के प्रवचनकाल अर्थात् विक्रम से लगभग तीन सहस्रवर्ष से प्राचीन है।[7] महाभारत में भी सांख्यशास्त्रकार वार्षगण्य का बहुधा उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है वार्षगण्य अत्यन्त प्राचीन आचार्य है। उस का ईश्वरकृष्ण के साथ संबन्ध जोड़ना महती भ्रान्ति है।

---

१. अष्टा० ४।१।१०२॥ २. शब्दार्णव ३।१।१३४। ३. २।४।३६॥

४. कारिका ८,९। ५. इदं फेन इति। षष्टितन्त्रग्रन्थइचायं यावदन्ध्यपूज-यदिति। पृष्ठ १८। ६. देखो हमारे मित्र विद्वद्वर श्री० पं० उदयवीर जी शास्त्री कृत "सांख्यदर्शन का इतिहास" पृष्ठ ८६। ७. 'सांख्यदर्शन का इतिहास' ग्रन्थ में माननीय शास्त्री जी ने वार्षगण्य को तैत्तिरीयारण्यक से उत्तर काल का माना है, परन्तु हमारा विचार है वह तैत्तिरीयारण्यक से पूर्ववर्ती है।

द्वितीय—जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण के जिन सूत्रों के उद्धरण देकर पाठक महोदय ने वार्षगण्य पद की सिद्धि दर्शाई है वह भी चिन्त्य हैं। उक्त सूत्रों में 'वार्षगण्य' पद की सिद्धि नहीं है, अपितु उन में बताया है कि यदि अग्निशर्म वृषगणगोत्र का होगा तो उसका अपत्य "आग्निशर्मायण" कहलावेगा और यदि वह वृषगणगोत्र का न होगा तो उस का अपत्य "आग्निशर्मि" होगा। इस बात को पाठक महोदय द्वारा उद्धृत अमोघा वृत्ति का पाठ स्पष्ट दर्शा रहा है। व्याकरण का साधारणसा बोध न होने से कैसी भयङ्कर भूलें होती हैं, यह पाठक महोदय के लेख से स्पष्ट है।

तृतीय—जैनेन्द्र व्याकरण के नाम से पाठक महोदय ने जो सूत्र उद्धृत किया है, वह जैनेन्द्र व्याकरण का नहीं है, वह है जैनेन्द्र व्याकरण के गुणनन्दी द्वारा परिष्कृत "शब्दार्णव" संज्ञक संस्करण का।[1] गुणनन्दी का काल विक्रम की दशम शताब्दी है।[2] अतः उसके आधार पर आचार्य पूज्यपाद का काल निर्धारण करना सर्वथा अयुक्त है।

चतुर्थ—पाठक महोदय जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण के जिन सूत्रों में वार्षगण्य पद का निदश समझकर पाणिनीय व्याकरण में उसका अभाव बताते हैं वह भी अनुचित है, क्योंकि पाणिनि ने वार्षगण्य गोत्र के आग्निशर्मायण की सिद्धि के लिये नडादिगण[3] में "अग्निशर्मन् वृषगणे" सूत्र पढ़ा है। अतः पाणिनि उसका पुनः सूत्रपाठ में निर्देश क्यों करता। आचार्य पूज्यपाद ने भी इस विषय में पाणिनि का ही अनुकरण किया है। उसने आग्निशर्मायण वार्षगण्य का साधक "अग्निशर्मन् वृषगणे" सूत्र नडादिगण[4] में पढ़ा है (पाठक महोदय ने जैनेन्द्र व्याकरण के नाम से जो सूत्र उद्धृत किया है वह मूल जैनेन्द्र व्याकरण का नहीं है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं)। शास्त्र के पूर्वापर का भले प्रकार अनुशीलन किये विना उसके विषय में किसी प्रकार का मत निर्धारित कर लेने से कितनी भयङ्कर भूलें होजाती हैं, यह भी इस विवेचन से स्पष्ट है।

डा० काशीनाथ बापूजी पाठक के लेख को डा० बेलवेल्कर[5] तथा श्री

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १००—१०६। तथा इस इतिहास का 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वां अध्याय। २. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १११, तथा इसी इतिहास का १७वां अध्याय। ३. गणपाठ ४।१।१०५॥ ४. जैनेन्द्र गणपाठ ४।१।८८॥ ५. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर पैरा नं० ४८।

पं० नाथूरामजी प्रेमी[1] ने भी अपने अपने ग्रन्थों में उद्धृत करके उनके परिणाम को स्वीकार किया। अतः इनके लेखों में भी उपर्युक्त सब भूलें विद्यमान हैं।

मैंने ८ अगस्त सन् १९४८ के पत्र में श्रीमान् प्रेमीजी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। उसके उत्तर में आपने २१-८-१९४९ के पत्र में इस प्रकार लिखा—

"आपने मेरे जैनेन्द्र सम्बन्धी लेख में दो न्यूनताएं बतलाईं, उन पर मैंने विचार किया। आपने जो प्रमाण दिये वे बिल्कुल ठीक हैं। इनके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। यदि 'जैन साहित्य और इतिहास' को फिर से छपवाने का अवसर आया तो उक्त न्यूनताएं दूर करदी जायेंगी।........ "

इस निरभिमानता और सहृदयता के लिये मैं उन का आभारी हूं।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

आचार्य देवनन्दी-विरचित व्याकरण के निम्न ग्रन्थ और हैं—

१—जैनेन्द्र व्याकरण—इसका वर्णन 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक प्रकरण में यथास्थान किया जायगा।

२—धातुपाठ ३—गणपाठ ४—लिङ्गानुशासन

इनका वर्णन तत्तत् प्रकरणों में किया जायगा।

७—दुर्विनीत (सं० ५३९—५६९)

महाराज पृथिवीकोंकण के दानपत्र में लिखा है—

श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्याविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतार-कारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीका-कारेण दुर्विनीतनामधेयेन ....।[2]

अर्थात् महाराज दुर्विनीति ने शब्दावतार, संस्कृत की बृहत्कथा और और किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें या पन्द्रह सर्गों की व्याख्या लिखी थी।

इससे प्रतीत होता है कि महाराज दुर्विनीति ने 'शब्दावतार' नामक ग्रन्थ लिखा था। अनेक विद्वानों का मत है कि यह शब्दावतार नामक ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण की टीका है।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १०७—११६।

२. पं० कृष्णमाचार्यविरचित हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ १४०।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि आचार्य पूज्यपाद ने भी पाणिनीय व्याकरण पर 'शब्दावतार' संज्ञक एक ग्रन्थ रचा था। महाराज दुर्विनीत विरचित ग्रन्थ का नाम भी उपर्युक्त दानपत्र में शब्दावतार लिखा है। महाराज दुर्विनीत आचार्य पूज्यपाद का शिष्य था। अतः हमारा विचार है कि कदाचित् आचार्य पूज्यपाद ने ही शब्दावतार ग्रन्थ को रचकर अपने शिष्य के नाम से प्रसिद्ध कर दिया होगा।

८—चुल्लि भट्टि (सं० ७०० से पूर्व)

चुल्लि भट्टि विरचित अष्टाध्यायी वृत्ति का उल्लेख जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास और उसकी तन्त्रप्रदीप नाम्नी टीका में उपलब्ध होता है। काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में न्यासकार लिखता है—

वृत्तिः पाणिनीयसूत्राणां विवरणं चुल्लिभट्टिनिर्लूरादिविरचितम्।[1]

इस वचन से व्यक्त होता है कि चुल्लि भट्टि और निर्लूर विरचित दोनों वृत्तियां काशिका से प्राचीन हैं।

तन्त्रप्रदीप ८।३।९७ में मैत्रेय रक्षित लिखता है—

सव्येष्ठा इति सारथिवचनोऽयम्। अत्र चुल्लिभट्टिवृत्तावपि तत्पुरुषे कृति बहुलमित्यलुग् दृश्यते।[2]

हरदत्त ने काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में 'कुणि' का उल्लेख किया है। न्यास के उपर्युक्त वचन का पाठान्तर 'चुन्नि' है। इसकी 'कुणि' और 'चूर्णि' दोनों से समानता है।

९—निर्लूर (सं ७०० से पूर्व)

निर्लूरविरचित वृत्ति का उल्लेख न्यास के पूर्वोद्धृत पाठ में उपलब्ध होता है। काशिका के व्याख्याता विद्यासागर मुनि ने भी इस वृत्ति का उल्लेख किया है।[3] श्रीपतिदत्त ने कातन्त्रपरिशिष्ट में निर्लूर वृत्ति का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

---

१. न्यास भाग १ पृ० ६। २. न्यास की भूमिका पृष्ठ ८। ३. वृत्ताविति सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो भट्टनरपूरप्रभृतिभिर्विरचितः……। मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र भा० ३ खण्ड १ A, पृष्ठ ३५०७, ग्रन्थाङ्क २४६३।

निर्लूरवृत्तौ चोक्तम्—भाषायामपि यङ्लुगस्तीति ।[1]

न्यासकार और विद्यासागर मुनि के वचनानुसार यह वृत्ति काशिका से प्राचीन है ।

१०—चूर्णि

न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र भट्टाचार्य ने श्रीपतिदत्तविरचित कातन्त्र-परिशिष्ट तथा जगदीश भट्टाचार्य कृत शब्दशक्तिप्रकाशिका से चूर्णि के दो उद्धरण उद्धृत किये हैं—

मतमेतच्चूर्णिरप्यनुगृह्णाति ।[2]

संयोगावयवव्यञ्जनस्य सजातीयस्यैकस्य वानेकस्योच्चारणाभेद इति चूर्णिः ।[3]

जगदीश भट्टाचार्य ने भर्तृहरि के नाम से एक कारिका उद्धृत की है[4]—

हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमीम् ।
चतुर्थी बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरिवाग्भटाः ॥

इस कारिका में भी चूर्णि का मत उद्धृत है । यह करिका भर्तृहरि-कृत नहीं है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं ।[5]

इन में 'संयोगावयवव्यञ्जनस्य' उद्धरण का समानार्थक पाठ महाभाष्य में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

न व्यञ्जनपरस्यैकस्यानेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति ।[6]

सम्भव है, जगदीश भट्टाचार्य ने महाभाष्य के अभिप्राय को अपने शब्दों में लिखा हो । प्राचीन ग्रन्थकार प्रायः चूर्णि और चूर्णिकार के नाम से महाभाष्य और पतञ्जलि का उल्लेख करते हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं ।[7] चूर्णि के पूर्वोद्धृत अन्य मतों का मूल अन्वेषणीय है ।

---

१. न्यास की भूमिका पृष्ठ ६ । २. कातन्त्रपरिशिष्ट णत्वप्रकरण । न्यासभूमिका पृष्ठ ८ । ३. शब्दशक्तिप्रकाशिका । न्यासभूमिका पृष्ठ ६ ॥

४. शब्दशक्तिप्रकाशिका पृष्ठ १८६ । ५. पृष्ठ ७२ टिप्पणी २ ।

६. महाभाष्य ६।४।२२॥ ७. पृष्ठ २१५ ।

११, १२—जयादित्य और वामन (सं० ६५० - ७००)

जयादित्य और वामन विरचित सम्मिलित वृत्ति काशिका नाम से प्रसिद्ध है। पाणिनीय व्याकरण के ग्रन्थों में महाभाष्य और भर्तृहरि-विरचित ग्रन्थों के अनन्तर यही वृत्ति सब से प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है। इसमें बहुत से सूत्रों की वृत्ति और उदाहरण प्राचीन वृत्तियों से संगृहीत हैं।[1] काशिका में अनेक स्थानों पर महाभाष्य का अनुसरण नहीं किया, इससे काशिका का गौरव अल्प नहीं होता, क्योंकि ऐसे स्थानों पर ग्रन्थकार ने प्रायः प्राचीन वृत्तियों का अनुसरण किया है।

चीनी यात्री इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रावर्णन में जयादित्य को काशिका का रचयिता लिखा है,[2] उसने वामन का निर्देश नहीं किया। संस्कृत वाङ्मय में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें दो-दो व्यक्तियों ने मिलकर लिखा है, परन्तु उन को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकार किसी एक व्यक्ति के नाम से ही सम्पूर्ण ग्रन्थ के पाठ उद्धृत करते हैं।[3] यथा स्कन्द और महेश्वर ने मिलकर निरुक्त की टीका लिखी, परन्तु देवराज ने समग्र ग्रन्थ के उद्धरण स्कन्द के नाम से उद्धृत किये, महेश्वर को कहीं स्मरण भी नहीं किया। सम्भव है इसी प्रकार इत्सिंग ने भी केवल जयादित्य का नाम लेना पर्याप्त समझा हो। भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति के रचयिता सृष्टिधराचार्य भी ने भाषावृत्ति के अन्तिम श्लोक की व्याख्या में काशिका को जयादित्यविरचित ही लिखा है,[4] परन्तु ध्यान रहे कि आठवां अध्याय वामनविरचित है।

काशिका की सबसे प्राचीनव्याख्या जिनेन्द्रबुद्धिविरचित काशिका-विवरणपञ्जिका है। वैयाकरण निकाय में यह 'न्यास' नाम से प्रसिद्ध है। यह व्याख्या जयादित्य और वामन की सम्मिलित वृत्ति पर है।

---

१. काशिका ४।२।१०० की वृत्ति महाभाष्य से विरुद्ध है। काशिकावृत्ति की पुष्टि चान्द्रसूत्र ३।२।१९ से होती है। अतः दोनों का मूल अष्टाध्यायी की कोई प्राचीन वृत्ति रही होगी। २. इत्सिंग की भारत यात्रा, पृष्ठ २६९।

३. निरुक्त ७।३१ की महेश्वरविरचित टीका को देवराज ने स्कन्द के नाम से उद्धृत किया है। देखो निघण्टुटीका पृष्ठ १६२। इसी प्रकार अन्यत्र भी।

४. काशयति प्रकाशयति सूत्रार्थमिति काशिका जयादित्यविरचिता वृत्तिः। ८।४।६८६॥

जयादित्य और वामन के ग्रन्थ का विभाग

प० बालशास्त्री द्वारा सम्पादित काशिका में प्रथम चार अध्यायों के अन्त में जयादित्य का नाम छपा है, और शेष चार अध्यायों के अन्त में वामन का। हरि दीक्षित ने प्रौढमनोरमा की शब्दरत्न व्याख्या में प्रथम द्वितीय, पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय को जयादित्यविरचित और शेष अध्यायों को वामनकृत लिखा है।[1] प्राचीन ग्रन्थकारों ने जयादित्य और वामन के नाम से काशिका के जो उद्धरण दिये हैं उन से विदित होता है कि प्रथम पांच अध्याय जयादित्यविरचित है और अन्तिम तीन वामनकृत।

जयादित्य के नाम से काशिका के उद्धरण निम्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं—

अध्याय १—भाषावृत्ति पृष्ठ १८, २६। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६५२। भाषावृत्त्यर्थविवृति के प्रारम्भ में।

अध्याय २—भाषावृत्ति पृष्ठ ९। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ६५२।

अध्याय ३—पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ९९२। अमरटीकासर्वस्व भाग ४, पृष्ठ १०। परिभाषावृत्ति सीरदेवकृत, पृष्ठ ८१।

अध्याय ४—अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ १३८। भाषावृत्ति पृष्ठ २४३, २५४।

अध्याय ५—भाषावृत्ति पृष्ठ २९९, ३१०, ३२४, ३२८, ३३५, ३४२, ३५२, ३६२, ३६९। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ३८६, ८९१। अष्टाङ्गहृदय की सर्वाङ्गसुन्दरा टीका, पृष्ठ ३।

वामन के नाम से काशिका के उद्धरण अधोलिखित ग्रन्थों में मिलते हैं—

अध्याय ६— भाषावृत्ति पृष्ठ ४१८, ४२०, ४८२। पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ४२८, ६३२।

अध्याय ७— सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति पृष्ठ ८, २४। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ३८६।

अध्याय ८—भाषावृत्ति पृष्ठ ५४३, ५५९।

---

१. प्रथमद्वितीयपञ्चमषष्ठा जयादित्यकृतवृत्तयः, इतरे वामनकृतवृत्तय इत्याभियुक्ताः। भाग १, पृष्ठ ५०४।

काशिका की लेखन शैली का पर्यवेक्षण करने से भी यही परिणाम निकलता है कि प्रथम पांच अध्याय जयादित्य की रचना हैं, और अन्तिम तीन अध्याय वामन कृत हैं। जयादित्य की अपेक्षा वामन का लेख अधिक प्रौढ है।

जयादित्य का काल

इत्सिंग के लेखानुसार जयादित्य की मृत्यु वि० सं ७१८ के लगभग हुई थी।[1] यदि इत्सिंग का लेख और उसकी भारतयात्रा का माना हुआ काल ठीक हो तो यह जयादित्य की चरम सीमा होगी। काशिका १।३। २३ में भारवि का एक पद्यांश उद्धृत है।[2] महाराज दुर्विनीत ने किरात के १५ वें सर्ग की टीका लिखी थी।[3] दुर्विनीत का राज्य काल ५३९—५६९ तक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] अतः भारवि सं० ५३९ से पूर्ववर्ती है यह निश्चित है। यह काशिका की पूर्व सीमा है।

वामन का काल

संस्कृत वाङ्मय में वामन नाम के अनेक विद्वान् प्रसिद्ध हैं। एक वामन 'विश्रान्तविद्याधर' संज्ञक जैन व्याकरण का कर्त्ता है,[5] दूसरा अलङ्कारशास्त्र का रचयिता है और तीसरा लिङ्गानुशासन का निर्माता है। ये सब पृथक् पृथक् व्यक्ति हैं। काशिका का रचयिता इन सब से भिन्न व्यक्ति है। इसमें निम्न हेतु हैं—

भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने काशिका और भागवृत्ति के अनेक पाठ साथ साथ उद्धृत किये हैं, जिनकी तुलना से व्यक्त होता है कि भागवृत्तिकार स्थान स्थान पर काशिका का खण्डन करता है। यथा—

१. साहाय्यमित्यपि ब्राह्मणादित्वादिति जयादित्यः, नेति भागवृत्तिः।[6]

२. कथमद्यश्वीनो वियोगः ? विजायत इत्यस्यानुवृत्तेरिति जयादित्यः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशादुपमानस्याप्यसंभवान्नैतदिति भागवृत्तिः।[7]

१. इत्सिंग की भारतयात्रा पृष्ठ २७०। २. संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः। किरात ३।१४॥ ३. देखो पूर्व पृष्ठ ३२८। ४. पूर्व पृष्ठ ३२५।

५. वामनो विश्रान्तविद्याधरव्याकरणकर्त्ता। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २।

६. भाषावृत्ति, पृष्ठ ३१०। ७. भाषावृत्ति, पृष्ठ ३१४।

३. इह समानस्येति योगविभागः, तेन सपक्षसधर्मसजातीयाः सिद्ध्यन्तीति वामनवृत्तिः। अनार्षोऽयं योगविभागः, तथाह्यव्ययानामनेकार्थत्वात् सहशार्थस्य सहशब्दस्यैते प्रयोगाः कथंनाम समानपक्ष इत्यादयोऽपि भवन्तीति भागवृत्तिः।[1]

४. इशिग्रहणादिह पूरुषो नारक इत्यादावप्ययं दीर्घ इति वामनवृत्तिः। अनेनोत्तरपदे विधानादप्राप्तिरिति पूरुषादयो दीर्घोपदेशा एव संज्ञाशब्दा इति भागवृत्तिः।[2]

इन में प्रथम दो उद्धरणों में जयादित्य का और तृतीय चतुर्थ में वामन वृत्ति का खण्डन है। भागवृत्ति का काल विक्रम संवत् ७०१—७०५ तक है, यह हम अनुपद लिखेंगे। तदनुसार वामन का काल वि० सं० ७०० से पूर्व मानना होगा। अलङ्कारशास्त्र और लिङ्गानुशासन के प्रणेता वामन का काल विक्रम की नवम शताब्दी है।[3] विश्रान्तविद्याधर का कर्त्ता वामन विक्रम संवत् ३७५ अथवा ५७३ से पूर्वभावी है। यह हम आगे सप्रमाण लिखेंगे।[4] अतः काशिकाकार वामन इन सब से भिन्न व्यक्ति है। उस का काल विक्रम की सप्तम शताब्दी है।

काशिका और शिशुपालवध

माघविरचित शिशुपालवध में एक श्लोक है—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥[5]

इस श्लोक में 'सद्वृत्ति' पद से काशिका की ओर संकेत है ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। शिशुपालवध के टीकाकार सद्वृत्ति और न्यास पद से काशिका और जिनेन्द्रबुद्धि विरचित न्यास का संकेत मानते हैं। उसी के आधार पर न्यास के संपादक श्रीशचन्द्र भट्टाचार्य ने माघ का काल ८०० ई० (८५७ वि०) माना है,[6] वह अयुक्त है। माघ कवि के पिता-

---

१. भाषावृत्ति, पृष्ठ ४२०। २. भाषावृत्ति, पृष्ठ ४२७।

३. कन्हैयालाल पोद्दार कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १५३। तथा वामनीय लिङ्गानुशासन की भूमिका।

४. 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' प्रकरण में। ५. २।११२॥

६. न्यास की भूमिका, पृष्ठ २६।

भट्ट के आश्रयदाता महाराज वर्मलात का सं० ६८२ (सन् ६२५) का शिलालेख मिला है।[1] सीरदेव के लेखानुसार भागवृत्तिकार ने माघ के कुछ प्रयोगों को अपशब्द माना है।[2] भागवृत्ति की रचना सं० ७०१—७०५ के मध्य हुई है। अतः शिशुपालवध का समय सं० ६८२-७००के मध्य मानना होगा। धातुवृत्तिकार सायण के मतानुसार काशिका की रचना शिशुपालवध से उत्तरकालीन है।[3] अतः उसके सद्वृत्ति शब्द का संकेत काशिका की ओर नहीं है।

प्राचीनकाल में न्यास नाम के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। भर्तृहरि-विरचित महाभाष्यदीपिका में भी एक न्यास उद्धृत है।[4] अतः माघ ने किस न्यास की ओर संकेत किया है, यह अज्ञात है।

जयादित्य और वामन की सम्पूर्ण वृत्तियां

जिनेन्द्रबुद्धिविरचित काशिकाविवरणपञ्जिका जयादित्य और वामनविरचित सम्मिलित वृत्तियों पर है, परन्तु न्यास में जयादित्य और वामन के कई ऐसे पाठ उद्धृत हैं जिनसे विदित होता है कि जयादित्य और वामन दोनों ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर पृथक् पृथक् वृत्तियां रची थीं। न्यास के जिन पाठों से ऐसी प्रतीति होती है, वे अधोलिखित हैं—

१. ग्लाजिस्थश्च (अष्टा० ३।२।१३९) इत्यत्र जयादित्यवृत्तौ ग्रन्थः………… । श्र्युकः किति (अष्टा० ७।२।११) इत्यत्रापि जयादित्य-वृत्तौ ग्रन्थः—गकारोऽप्यत्र चर्त्वभूतो निर्दिश्यते भूष्णुरित्यत्र यथा स्यादिति । वामनस्य त्वेतत् सर्वमनभिमतम् ।[5] तथाहि तस्यैव सूत्रस्य (अष्टा० ७।२।११) तद्विरचितायां वृत्तौ ग्रन्थः—केचिदत्र….।[6]

---

१. देखो, वसन्तगढ़ का शिलालेख—

'द्विरशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशतोत्तरे । जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठिपुंगवैः ॥ ११ ॥ २. अत एव तत्रैव सूत्रे (१।१।२७) भागवृत्तिः—पुरातनमुनेर्मुनिताम् (किरात ६।१६) इति, पुरातनीर्नदीः (माघ १२।६०) इति च प्रमादपाठाविति, गतानुगतिकतया कवयः प्रयुञ्जते, न तेषां लक्षणं चक्षुः । परिभाषा-वृत्ति, पृष्ठ १३७ । ३. महाभाष्यदीपिका उद्धरणाङ्क ३६ देखो, पूर्व पृष्ठ २७७ ।

४. क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः इति माघे सकर्मकत्वं वृत्तिकारादीनामनभिमतमेव । धा० वृ० पृष्ठ २१७ काशी सं० ।

५. तुलना करो—न्यास ३।२।१३९॥ ६. न्यास १।१।५॥ पृष्ठ ४७,४८ ।

इस उद्धरण में न्यासकार ने अष्टाध्यायी ७।२।११ सूत्र की जयादित्य और वामन विरचित दोनों वृत्तियों का पाठ उद्धृत किया है। ध्यान रहे कि जिनेन्द्रबुद्धि ने सप्तमाध्याय का न्यास वामनवृत्ति पर रचा है।

न्यासकार ३।१।३३ में पुनः लिखता है—

२. नास्ति विरोधः, भिन्नकर्तृत्वात्। इदं हि जयादित्यवचनम्, तत्पुनर्वामनस्य। वामनवृत्तौ (३।१।३३) तासिसिचोरिकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः ? पठ्यते।[1]

न्यासकार ने इस उद्धरण में अष्टाध्यायी ३।१।३३ की वामनवृत्ति का पाठ उद्धृत किया है। ध्यान रहे कि तृतीयाध्याय का न्यास जयादित्यवृत्ति पर है।

आगे पुनः लिखता है—

३. अनित्यत्वं तु प्रतिपादयिष्यते (अ० ६।४।२२) जयादित्येन।[2]

४. न्यासकार ३।१।७८ पर भी जयादित्य विरचित ६।४।२३ की वृत्ति उद्धृत करता है।

इन से व्यक्त है कि जयादित्य की वृत्ति षष्ठाध्याय पर भी थी।

५. हरदत्तविरचित पदमञ्जरी ६।१।१३ (पृष्ठ ४२८) से विदित होता है कि वामन ने चतुर्थ अध्याय पर वृत्ति लिखी थी।

न्यासकार और हरदत्त के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जयादित्य और वामन दोनों ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर पृथक् पृथक् वृत्तियां रची थीं और न्यासकार के काल तक वे सुप्राप्य थीं।

जयादित्य और वामन की वृत्तियों का सम्मिश्रण

हम पूर्व लिख चुके हैं कि वर्तमान में काशिका का जो संस्करण मिलता है उसमें प्रथम पांच अध्याय जयादित्यविरचित हैं और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत। जिनेन्द्रबुद्धि ने अपनी न्यास व्याख्या दोनों की सम्मिलित वृत्ति पर रची है। दोनों वृत्तियों का सम्मिश्रण क्यों और कब हुआ, यह अज्ञात है। भाषावृत्ति आदि में भागवृत्ति के जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं, उन में जयादित्य और वामन की संमिश्रित वृत्तियों का खण्डन उपलब्ध होता।[3] अतः यह संमिश्रण भागवृत्ति बनने (वि० सं० ७००) से पूर्व हो चुका था, यह निश्चित है।

---

१. न्यास ३।२।३३। पृष्ठ ५२४। २. न्यास ३।१।३३।। पृष्ठ ५२४।

३. देखो हमारा 'भागवृत्ति संकलन', पृष्ठ २१, २३, २४, इत्यादि।

काशिका का रचना स्थान

काशिका के व्याख्याता हरदत्त मिश्र और रामदेव मिश्र ने लिखा है—
काशिका देशतोऽभिधानम्, काशीषु भवा।[1]
अर्थात् काशिका वृत्ति की रचना काशी में हुई थी। उज्ज्वलदत्त[2] और भाषावृत्त्यर्थविवृत्तिकार सृष्टिधर[3] का भी यही मत है।

काशिका वृत्ति का महत्त्व

काशिकावृत्ति व्याकरण शास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस में निम्न विशेषताएं हैं—

१—काशिका से प्राचीन कुणि आदि वृत्तियों में गणपाठ नहीं था।[4] इसमें गणपाठ का यथास्थान सन्निवेश है।

२—अष्टाध्यायी की प्राचीन विलुप्त वृत्तियों और ग्रन्थकारों के अनेक मत इस ग्रन्थ में उद्धृत हैं, जिनका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता।

३—इसमें अनेक सूत्रों की व्याख्या प्राचीन वृत्तियों के आधार पर लिखी है। अतः उनसे प्राचीन वृत्तियों के सूत्रार्थ जानने में पर्याप्त सहायता मिलती है।[5]

काशिका में जहाँ जहाँ महाभाष्य से विरोध है वहाँ वहाँ काशिकाकार का लेख प्रायः प्राचीन वृत्तियों के अनुसार है। आधुनिक वैयाकरण भाष्य-विरुद्ध होने से उन्हें हेय समझते हैं, यह उनकी महती भूल है।

४—काशिकान्तर्गत उदाहरण प्रत्युदाहरण प्रायः प्राचीन वृत्तियों के अनुसार हैं।[6] जिनसे अनेक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान होता है

---

१. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४। तथा वृत्तिप्रदीप के प्रारम्भ में।

२. उणादिवृत्ति पृष्ठ १७३॥ ३. भाषावृत्तिटीका ८।४।६७॥

४. वृत्त्यन्तरेषु सूत्राण्येव व्याख्यायन्ते""""वृत्त्यन्तरेषु तु गणपाठ एव नास्ति। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४। ५. देखो ओरियन्टल कालेज मेगजीन लाहौर नवम्बर १९३१ में हमारा 'महाभाष्य से प्राचीन अष्टाध्यायी की सूत्रवृत्तियों का स्वरूप' लेख।

६. अपचितपरिमाणः शृगालः शिखी। अप्रसिद्धोदाहरणं चिरन्तनप्रयोगात्। पदमञ्जरी २।१।५॥ मुद्रित काशिका में 'सदृशं सख्या ससखि' पाठ है। वहां 'सदृश किख्या सकिखि' पाठ होना चाहिये। पुनः लिखा है—अवतप्तेनकुलस्थितं तवैतदिति चिरन्तनप्रयोगः, तस्यार्थमाह। पदमञ्जरी २।१।४७॥

भट्टोजि दीक्षित आदि ने नये नये उदाहरण देकर प्राचीन ऐतिहासिक निर्देशों को लोप कर दिया, यह अत्यन्त दुःख की बात है।

काशिका का पाठ

काशिका के जो संस्करण इस समय उपलब्ध हैं, वे सब महा अशुद्ध हैं। इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रामाणिक परिशुद्ध संस्करण का प्रकाशित न होना अत्यन्त दुःख की बात है। काशिका में पाठों की अव्यवस्था प्राचीन काल से ही रही है। न्यासकार काशिका १।१।५ की व्याख्या में लिखता है—

अन्ये तूत्तरसूत्रे कणिताश्वो रणिताश्व इत्यनन्तरमनेन ग्रन्थेन भवितव्यम्, इह तु दुर्विन्यस्तकाकपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकैर्लिखितमिति वर्णयन्ति।[1]

न्यास और पदमञ्जरी में काशिका के अनेक पाठान्तर उद्धृत किये हैं। काशिका का इस समय जो पाठ उपलब्ध होता है वह अत्यन्त भ्रष्ट है। ६।१।१७४ के प्रत्युदाहरण का पाठ इस प्रकार छपा है—

हल्पूर्वादिति किम्—बहुनावाब्राह्मणी।

इसका शुद्ध पाठ 'बहुनितवा ब्राह्मण्या' है। काशिका में ऐसे पाठ भरे पड़े हैं। इस वृत्ति के महत्त्व को देखते हुए इसके शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है।

काशिका के व्याख्याकार

जयादित्य और वामन विरचित काशिका वृत्ति पर अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएं लिखी हैं। उनका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

१३—भागवृत्तिकार (सं० ७०२-७०६)

अष्टाध्यायी की वृत्तियों में काशिका के अनन्तर भागवृत्ति का स्थान है। यह वृत्ति इस समय अनुपलब्ध है। इसके लगभग सवा सौ उद्धरण पदमञ्जरी, भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति और अमरटीकासर्वस्व आदि विभिन्न ग्रन्थों

१ न्यास भाग १, पृष्ठ ४६।

में उपलब्ध होते हैं। पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति के अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है कि यह वृत्ति काशिका के समान प्रामाणिक मानी जाती थी।[1]

बड़ौदा से प्रकाशित कवीन्द्राचार्य[2] के सूचीपत्र में भागवृत्ति का नाम मिलता है।[3] भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ और सिद्धान्तकौमुदी में भागवृत्ति के अनेक उद्धरण दिये हैं।[4] इससे प्रतीत होता है कि विक्रम की १६ वीं १७ वीं शताब्दी तक भागवृत्ति के हस्तलेख सुप्राप्य थे।

भागवृत्ति का रचयिता

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधर चक्रवर्त्ती ने लिखा है—

भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता।[5]

इस उद्धरण से विदित होता है कि वलभी के राजा श्रीधरसेन की आज्ञा से भर्तृहरि ने भागवृत्ति की रचना की थी।

कातन्त्रपरिशिष्ट का रचयिता श्रीपतिदत्त सन्धि सूत्र १४२ पर लिखता है—

तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिना निपातितः।

इससे प्रतीत होता है कि भागवृत्ति के रचयिता का नाम विमलमति था।

पं० गुरुपद हालदार ने सृष्टि धर के वचन को अप्रमाणिक माना है, परन्तु हमारा विचार है कि सृष्टिधराचार्य और श्रीपतिदत्त दोनों का लेख ठीक है, इनमें परस्पर विरोध नहीं है। यथा कविसमाज में अनेक कवियों का कालिदास औपाधिक नाम है, उसी प्रकार वैयाकरणनिकाय में अनेक उत्कृष्ट वैयाकरणों का भर्तृहरि औपाधिक नाम रहा है। विमलमति ग्रन्थकार का मुख्य नाम है और भर्तृहरि उसकी औपाधिक संज्ञा है। भट्टि

---

१. काशिकाभागवृत्त्योश्चेत् सिद्धान्तं बोद्धुमस्ति धीः। तदा विचिन्त्यतां भ्रातर्भाषावृत्तिरियं मम। २. कवीन्द्राचार्य काशी का रहनेवाला था। इसकी जन्मभूमि गोदावरी तट का कोई ग्राम था। यह परम्परागत ऋग्वेदी ब्राह्मण था। इसने वेदवेदाङ्गों का सम्यग् अभ्यास करके संन्यास ग्रहण किया था। इसने काशी और प्रयाग को मुसलमानों के जजिया कर से मुक्त कराया था। देखो कवीन्द्राचार्य विरचित कवीन्द्रकल्पद्रुम, इण्डिया आफिस लन्दन का सूचीपत्र पृष्ठ ३९४७। इसका समय लगभग सं० १६५०-१७५० तक है। ३. पृष्ठ ३। ४. सिद्धान्त कौमुदी पृष्ठ ३६६ काशी चौखम्बा, मूलसंस्क०। ५. भाषावृत्त्यर्थविवृति ८।४।६७॥

काव्य के कर्त्ता का भी भर्तृहरि औपाधिक नाम था। यह हम पूर्व पृष्ठ २६५ पर लिख चुके हैं। विमलमति बौद्ध सम्प्रदाय का प्रसिद्ध व्यक्ति है।

भागवृत्तिकार का काल

सृष्टिधराचार्य ने लिखा है कि भागवृत्ति की रचना महाराज श्रीधरसेन की आज्ञा से हुई थी। वलभी के राजकुल में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए हैं, जिनका राज्यकाल सं० ५५७–७०५ तक माना जाता है। इस भागवृत्ति में स्थान स्थान पर काशिका का खण्डन उपलब्ध होता है।[1] इससे स्पष्ट है कि भागवृत्ति की रचना काशिका के अनन्तर हुई है। काशिका का निर्माण काल लगभग सं० ६८७–७०१ तक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। चतुर्थ श्रीधरसेन का राज्यकाल सं० ७०२–७०५ तक है। अतः भागवृत्ति का निर्माण चतुर्थ श्रीधरसेन की आज्ञा से हुआ होगा।

न्यास के सम्पादक ने भागवृत्ति का काल सन् ६२५ ई० (सं० ६८२ वि०), और काशिका का सन् ६५० ई० (= सं० ७०७ वि०) माना है,[2] अर्थात् भागवृत्ति का निर्माण काशिका से पूर्व स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं है। इसी प्रकार श्री पं० गुरुपद हालदार ने भागवृत्ति की रचना नवम शताब्दी में मानी है, वह भी अशुद्ध है। वस्तुतः भागवृत्ति की रचना वि० सं० ७०२—७०५ के मध्य हुई है, यह पूर्व विवेचना से स्पष्ट है।

काशिका और भागवृत्ति

हम पूर्व लिख चुके हैं कि भागवृत्ति में काशिका का स्थान स्थान पर खण्डन उपलब्ध होता है। दोनों वृत्तियों में परस्पर महान् अन्तर है। इस का प्रधान कारण यह है कि काशिकाकार महाभाष्य को एकान्त प्रमाण न मानकर अनेक स्थानों में प्राचीन वृत्तिकारों के मतानुसार व्याख्या करता है। अतः उस की वृत्ति में अनेक स्थानों में महाभाष्य से विरोध उपलब्ध होता है। भागवृत्तिकार महाभाष्य को पूर्णतया प्रमाण मानता है। इस कारण वह वैयाकरण सम्प्रदाय में अप्रसिद्ध शब्दों की कल्पना करने से भी नहीं चूकता।[3]

---

१. भागवृत्ति संकलन ५।१।१२॥ ५।२।१३॥ ६।३।८४॥

२. न्यास भूमिका पृष्ठ २६।

३. 'लोलूय+सन्' इस अवस्था में भागवृत्तिकार 'लुलोलूयिषति' रूप मानता है। वह लिखता है—'अनभ्यासग्रहणस्य न किञ्चित् प्रयोजनमुक्तम्। ततश्चोत्तरार्थमपि

भागवृत्ति के उद्धरण

भागवृत्ति के उद्धरण अभी तक हमें २१ ग्रन्थों में उपलब्ध हुए हैं। इन में १५ ग्रन्थ मुद्रित हैं और ६ ग्रन्थ अमुद्रित। वे इस प्रकार हैं—

मुद्रित ग्रन्थ

१ महाभाष्यप्रदीप-कैयट
२ नानार्थार्णवसंक्षेप-केशव
३ पदमञ्जरी
४ भाषावृत्ति
५ अमरटीकासर्वस्व
६ दुर्घटवृत्ति
७ दैवं-व्याख्या-पुरुषकार
८ परिभाषावृत्ति-सीरदेव
९ उणादिवृत्ति-श्वेतवनवासी
१० उणादिवृत्ति-उज्ज्वलदत्त
११ धातुवृत्ति-सायण
१२ सिद्धान्तकौमुदी
१३ शब्दकौस्तुभ
१४ प्रदीपोद्योत-नागेश
१५ व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि

अमुद्रित ग्रन्थ

१६ तन्त्रप्रदीप
१७ अमरटीका-अज्ञातकर्तृक
१८ अमरटीका-सुभूतिचन्द्र
१९ शब्दसाम्राज्य
२० चर्करीतरहस्य
२१ जौमार व्याकरण-परिशिष्ट

भागवृत्ति को उद्धृत करने वाले ग्रन्थों में सबसे प्राचीन कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप है।

भागवृत्ति के उद्धरणों का संकलन

लगभग दश वर्ष हुए हमने १२ मुद्रित ग्रन्थों से भागवृत्ति के उद्धरणों का संकलन करके 'भागवृत्ति-संकलनम्' नाम से उन का संग्रह प्रकाशित किया था। इसका नवीन परिबृंहित संस्करण हम शीघ्र प्रकाशित करेंगे।

भागवृत्ति व्याख्याता—श्रीधर

लीलाशुक मुनि ने 'दैवम्' ग्रन्थ की पुरुषकार नाम्नी व्याख्या लिखी है। उस में भागवृत्ति का उद्धरण देकर लीलाशुकमुनि लिखता है—

भागवृत्तौ तु सीकृसेकृ इत्यधिकमपि पठ्यते। तच्च सीकृ सेचने इति श्रीधरो व्याकरोत्, एतानष्टौ वर्जयित्वा इति चाधिकयमेव मुक्तकण्ठमुक्तवान्।

तत्र भवतीति भाष्यकारस्याभिप्रायो लक्ष्यते। तेनात्र भवितव्यं द्विर्वचनेन। पदमञ्जरी ६।१।६, पृष्ठ ४२६ पर उद्धृत॥

इस उद्धरण से व्यक्त है कि श्रीधर ने भागवृत्ति की व्याख्या लिखी थी। लीलाशुक मुनि ने श्रीधर के तीन वचन और उद्धृत किये हैं। देखो दैवं-पुरुषकार पृष्ठ १६, ६६। माधवीया धातुवृत्ति में श्रीकर अथवा श्रीकार नाम से इस का निर्देश मिलता है।[1] धातुवृत्ति के जितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं वे सब अत्यन्त भ्रष्ट हैं। हमें श्रीकर या श्रीकार श्रीधर का ही अपभ्रंश नाम प्रतीत होता है।

श्रीधर नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। भागवृत्ति की व्याख्या किस श्रीधर ने रची, यह अज्ञात है।

काल—लीलाशुक मुनि लगभग १३ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार है। अतः उस के द्वारा उद्धृत ग्रन्थकार निश्चय ही उस से प्राचीन है।

भागवृत्ति जैसा प्रामाणिक ग्रन्थ और उस की टीका दोनों ही इस समय अप्राप्य हैं।

१४—भर्त्रीश्वर (सं० ७८० से पूर्ववर्ती)

वर्धमान सूरि अपनी गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

भर्त्रीश्वरेणापि वारणार्थानामित्यत्र पुंल्लिङ्ग एव प्रयुक्तः।[2]

अर्थात्-भर्त्रीश्वर ने अष्टाध्यायी के 'वारणार्थानामीप्सितः'[3] सूत्र की व्याख्या में 'प्रेमन्' शब्द का पुलिङ्ग में प्रयोग किया है।

इस उद्धरण से विदित होता है कि भर्त्रीश्वर ने अष्टाध्यायी की कोई व्याख्या लिखी थी।

भर्त्रीश्वर का काल

भट्ट कुमारिल प्रणीत मीमांसाश्लोकवार्तिक पर भट्ट उम्बेक की व्याख्या प्रकाशित हुई है। उस में उम्बेक लिखता है—

तथा चाहुर्भर्त्रीश्वरादयः—किं हि नित्यं प्रमाणं दृष्टं, प्रत्यक्षादि वा यदनित्यं तस्य प्रामाण्ये कस्य विप्रतिपत्तिः इति।[4]

---

१. नृतिनन्दीति वाक्ये नाधूवर्जं नृत्यादीन् पठित्वैतान् सप्त वर्जित्वेति वदन् श्रीकरोऽप्यत्रैवानुकूलः। धातुवृत्ति पृष्ठ १८। तुलना करो—'तथा च श्रीधरो नृत्योगन नृत्यादीन् पठित्वा एतान् सप्त वर्जयित्वा इत्याह। दैवम् पृष्ठ ६६। यहां धातुवृत्ति में उद्धृत श्रीकर निश्चय ही भागवृत्ति टीकाकार श्रीधर है।

२. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २११। ३. १।४।२७॥ ४. पृष्ठ १८

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि भर्त्रीश्वर भट्ट उम्बेक से पूर्ववर्ती है, और वह बौद्धमतानुयायी है।

उम्बेक और भवभूति का ऐक्य

भवभूतिप्रणीत मालतीमाधव के एक हस्तलेख के अन्त में ग्रन्थकर्त्ता का नाम उम्बेक लिखा है, और उसे भट्ट कुमारिल का शिष्य कहा है।[1] भवभूति उत्तररामचरित और मालतीमाधव की प्रस्तावना में अपने लिये 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' पद का व्यवहार करता है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ पद का अर्थ पद = व्याकरण, वाक्य = मीमांसा और प्रमाण = न्यायशास्त्र का ज्ञाता है। इस विशेषण से भवभूति का मीमांसकत्व व्यक्त है। दोनों के ऐक्य का उपोद्बलक एक प्रमाण और है। उम्बेकप्रणीत श्लोकवार्तिक-टीका और मालतीमाधव दोनों के प्रारम्भ में 'ये नाम केचित् प्रथयन्त्य-वज्ञाम्' श्लोक समानरूप से उपलब्ध होता है। अतः उम्बेक और भव-भूति दोनों एक व्यक्ति हैं। मीमांसक सम्प्रदाय में उसकी उम्बेक नाम से प्रसिद्धि है, और कविसम्प्रदाय में भवभूति नाम से। मालतीमाधव में भवभूति ने अपने गुरु का नाम 'ज्ञाननिधि' लिखा है। क्या ज्ञाननिधि भट्ट कुमारिल का नामान्तर था? उम्बेक भट्ट कुमारिल का शिष्य हो या न हो, परन्तु श्लोकवार्तिकटीका, मालतीमाधव और उत्तररामचरित के अन्तरङ्ग साक्ष्यों से सिद्ध है कि उम्बेक और भवभूति दोनों नाम एक व्यक्ति के हैं। पं० सीताराम जयराम जोशी ने अपने संस्कृत साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में उम्बेक को भवभूति का नामान्तर लिखा है, परन्तु मीमांसक उम्बेक को उससे भिन्न लिखा है[2] यह ठीक नहीं।

महाकवि भवभूति महाराज यशोवर्मा का साम्य था। इस कारण भव-भूति का काल सं० ७८०-८०० के लगभग माना जाता है।[3] अतः भव-भूति के द्वारा स्मृत भर्त्रीश्वर सं० ७८० से पूर्ववर्ती है, परन्तु कितना पूर्ववर्ती है यह अज्ञात है।

---

१. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठ ३८६।

२. पृष्ठ ३८६। ३. संस्कृतकविचर्चा पृष्ठ १११। संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठ ३८६।

१५—भट्ट जयन्त (सं० लगभग ८२५)

न्यायमञ्जरीकार जरन्नैयायिक भट्ट[1] जयन्त ने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर एक वृत्ति लिखी थी। इस का उल्लेख जयन्त ने स्वयं अपने 'अभिनवागमाडम्बर' नामक रूपक के प्रारम्भ में किया है। उस का लेख इस प्रकार है—

अत्रभवतः शैशव एव व्याकरणविवरणकरणाद् वृत्तिकार इति प्रथितापरनाम्नो भट्टजयन्तस्य कृतिरभिनवागमाडम्बरनाम किमपिरूपकम्।[2]

परिचय

भट्ट जयन्त ने न्यायमञ्जरी के अन्त में अपना जो परिचय दिया है उस से विदित होता है कि जयन्त के पिता का नाम 'चन्द्र' था। शास्त्रार्थों में जीतने के कारण यह जयन्त नाम से प्रसिद्ध हुआ, और इसका 'नव-वृत्तिकार' नाम भी था।[3] जयन्त के पुत्र अभिनन्द ने कादम्बरीकथा-सार के प्रारम्भ में अपने कुल का कुछ परिचय दिया है। वह इस प्रकार है—

गौड़वंशीय भारद्वाज कुल में शक्ति नाम का विद्वान् उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र 'मित्र' और उसका शक्तिस्वामी हुआ। शक्तिस्वामी कर्कोट वंश के महाराज मुक्तापीड का मन्त्री था। शक्तिस्वामी का पुत्र कल्याण-स्वामी और उसका चन्द्र हुआ। चन्द्र का पुत्र जयन्त हुआ। उसका दूसरा नाम वृत्तिकार था। वह वेदवेदाङ्गों का ज्ञाता और सर्व शास्त्रार्थ का जीतने वाला था। उसका पुत्र साहित्य तत्त्वज्ञ अभिनन्द हुआ।[4]

---

१. आचार्य पुष्पाञ्जलि वाल्यूम में पं० रामकृष्ण कवि का लेख पृष्ठ ४७।

२. भट्टः चतुःशास्त्रामिश्रः। जगद्धर मालतीमाधव की टीका के प्रारम्भ में।

३. वादेष्वाप्तजयो जयन्त इति यः ख्यातः सतामग्रणीरन्वर्थो नववृत्तिकार इति यं शंसन्ति नाम्ना बुधः। सूनुर्व्याप्तदिगन्तरस्य यशसा चन्द्रस्य चन्द्रत्विषा चक्रे चन्द्रकला-वचूडचरणध्यायी सधन्यां कृतिम्। पृष्ठ ६५९।   ४. शक्तिर्नामाभवद् गौडो भारद्वाजकुले द्विजः। दीर्घाभिसार मासाद्य कृतदारपरिग्रह.॥ तस्य मित्राभिधानोभू-दात्मजस्तेजसां निधिः। जनेन दोषोपरमप्रबुद्धे नाचितोदयः॥ स शक्तिस्वामिनं पुत्रमवाप श्रुतिशालिनम्। राज्ञः कर्कोटवंशस्य मुक्तापीडस्य मन्त्रिणम्॥ कल्याणस्वामिनामास्य याज्ञवल्क्य इवाभवत्। तनयः शुद्धयोगर्द्धि निर्धूतभवकल्मषः॥ अगाधहृदयात् तस्मात्

भट्ट जयन्त नैयायिकों में जरन्नैयायिक के नाम से प्रसिद्ध है[1]। यह व्याकरण, साहित्य, न्याय और मीमांसाशास्त्र[2] का महापण्डित था। इस के पितामह कल्याणस्वामी ने ग्राम की कामना से सांग्रहणीष्टि की थी। उस के अनन्तर से 'गौरमूलक' ग्राम की प्राप्ति हुई थी।[3]

काल

जयन्त का प्रपितामह शक्तिस्वामी कश्मीर के महाराज मुक्तापीड का मन्त्री था। मुक्तापीड का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। अतः भट्ट जयन्त का काल विक्रम की नवम शताब्दी का पूर्वार्ध होगा।

अन्य ग्रन्थ

न्यायमञ्जरी—यह न्यायदर्शन के विशेष सूत्रों की विस्तृत टीका है। इस का लेख अत्यन्त प्रौढ और रचना शैली अत्यन्त परिष्कृत और प्राञ्जल है। न्याय के प्राचीन ग्रन्थों में इस का प्रमुख स्थान है।

नयकलिका—गुणरत्न ने षड्दर्शन समुच्चय की वृत्ति में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। सम्भवतः यह ग्रन्थ मीमांसादर्शन सम्बन्धी होगा।

पल्लव—डा० वी० राघवन् एम० ए० ने लिखा है कि श्रीदेव ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार की स्याद्वादरत्नाकर की टीका में जयन्तविरचित "पल्लव" ग्रन्थ के कई उद्धरण दिये हैं।[4]

परमेश्वरमण्डनम्। अजायत सुतः कान्तश्चन्द्रो दुग्धोदधेरिव पुत्रं कृतजनानन्द स जयन्तमजीजनत्। व्यक्ता कवित्ववक्तृत्वफला यत्र सरस्वती॥ वृत्तिकार इति व्यक्तं द्वितीयं नाम बिभ्रतः। वेदवेदाङ्गविदुषः सर्वशास्त्रार्थवादिनः॥ जयन्तनाम्नः सुधियः साधुसाहित्यतत्त्ववित्। सूनुः समभवत्तस्मादभिनन्द इति श्रुतः॥

१. न्यायचिन्तामणि उपमान खण्ड, पृष्ठ ६१, कलकत्ता सोसाइटी संस्क०।

२. वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमित्थमेताः कथाः कृताः। न तु मीमांसकख्याति प्राप्तास्मीत्यभिमानतः। न्यायमञ्जरी पृष्ठ २९१। ३. तथा ह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः सांग्रहणीः कृतवान्, स इष्टिसमाप्तिसमनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप। न्यायमञ्जरी पृष्ठ २७४। ४ स्याद्वादरत्नाकर भाग १ पृष्ठ ६४, ३०२। पृष्ठ ४३२, ४३३ तथा भाग ४, पृष्ठ ७८०। देखो प्रेमी अभिनन्दनग्रन्थ में डा० राघवन् का लेख।

१६—केशव (सं० ११६५ से पूर्व)

केशव नाम के किसी वैयाकरण ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी। केशववृत्ति के अनेक उद्धरण व्याकरण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति में लिखता है—

पृषोदरादित्वादिकारलोपे एकदेशविकारद्वारेण पर्षच्छब्दादपि वलजिति केशवः।[1]

केशववृत्तौ तु विकल्प उक्तः—हे प्रान्, हे प्राण् वा।[2]

भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधराचार्य केशववृत्ति का एक श्लोक उद्धृत करता है—

अपास्याः पदमध्येऽपि न चैकस्मिन् पुनारविः।
तस्माद्रो रीति सूत्रेऽस्मिन् पदस्येति न बध्यते॥[3]

पं० गुरुपद हालदार ने अपने व्याकरण दर्शनेर इतिहास में लिखा है—

अष्टाध्यायीर केशववृत्तिकार केशव पण्डित इहार प्रवक्ता। भाषावृत्तिते (५।२।११२) पुरुषोत्तमदेव, तन्त्रप्रदीपे (१।२।६॥१।४।५५) मैत्रेयरक्षित, एवं हरिचरितामृतव्याकरणे (५०० पृष्ठ) श्रीजीवगोस्वामी केशवपण्डितेर नामस्मरण करियाछेन।[4]

इन उद्धरणों से केशव का अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखना सुव्यक्त है।

केशव का काल

केशव नाम के अनेक ग्रन्थकार हैं। उनमें से किस केशव ने अष्टाध्यायीवृत्ति लिखी यह अज्ञात है। पं० गुरुपद हालदार के लेख से विदित होता है कि यह वैयाकरण केशव मैत्रेय रक्षित से प्राचीन है। मैत्रेय रक्षित का काल सं० ११६५ के लगभग है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[5] अतः केशव सं० ११६५ से पूर्ववर्ती है, इतना निश्चित है।

---

१. ५।२।११२॥ २. ८।४।२०॥ ३. भाषावृत्ति पृष्ठ ५४४ की टिप्पणी। ४. पृष्ठ ४५१। ५. पूर्व पृष्ठ २८३।

१७—इन्दुमित्र (सं० ११५० से पूर्व)

विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादनाम्नी टीका में इन्दुमित्र और इन्दुमती वृत्ति[1] का बहुधा उल्लेख किया है। इन्दुमित्र ने काशिका की 'अनुन्यास' नाम्नी एक व्याख्या लिखी थी। इसका वर्णन हम अगले "काशिका वृत्ति के व्याख्याकार" नामक अध्याय में करेंगे। यद्यपि इन्दुमित्र-विरचित अष्टाध्यायीवृत्ति के कोई साक्षात् उद्धरण उपलब्ध नहीं हुए, तथापि विट्ठल द्वारा उद्धृत उद्धरणों को देखने से प्रतीत होता है कि इन्दुमती वृत्ति अष्टाध्यायी की वृत्ति थी और इसका रचयिता इन्दुमित्र था। अनेक ग्रन्थकार इन्दुमित्र को इन्दु नाम से भी स्मरण करते हैं। एक इन्दु अमरकोष की क्षीरस्वामी की व्याख्या में भी उद्धृत है, परन्तु वह वाग्भट्ट का साक्षात् शिष्य आयुर्वैदिक ग्रन्थकार पृथक् व्यक्ति है।

काल

सीरदेव ने अपनी परिभाषावृत्ति में अनुन्यासकार और मैत्रेय के निम्न पाठ उद्धृत किये हैं—

अनुन्यासकार—प्रत्ययसूत्रे अनुन्यासकार उक्तवान् प्रतीयन्त्यनेनार्थानिति प्रत्ययः, एरच् (३।३।५६) इत्यच्, पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३।३।११८) इति वा घ इति।[2]

मैत्रेय—मैत्रेयः पुनराह—'पुंसि संज्ञायां (३।३।११८) इति घ एव। एरच् (३।३।५६) इत्यच् प्रत्ययस्तु करणे ल्युटा बाधितत्वान्न शक्यते कर्त्तुम्। न च वा सरूपविधिरस्ति, कृतल्युड्डित्यादिवचनात्।[2]

इन दोनों पाठों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट विदित होता है कि मैत्रेय रक्षित अनुन्यासकार का खण्डन कर रहा है। अतः इन्दुमित्र मैत्रेय रक्षित से पूर्वभावी है। इन्दुमित्र के ग्रन्थ की अनुन्यास संज्ञा से विदित होता है कि यह ग्रन्थ न्यास के अनन्तर रचा गया है। अतः इन्दुमित्र का काल सं० ८०० से ११५० के मध्य है, इतना ही स्थूल रूप से कहा जा सकता है।

---

१. भाग १, पृष्ठ ६१०, ६८६। भाग २, पृष्ठ १४५।

२. पृष्ठ ७१। शरणदेव ने इन उपर्युक्त दोनों पाठों को अपने शब्दों में उद्धृत किया है। देखो, दुर्घटवृत्ति पृष्ठ ६७।

१८—मैत्रेय रक्षित (सं० ११६५ के लगभग)

मैत्रेय रक्षित ने अष्टाध्यायी की एक 'दुर्घटवृत्ति' लिखी थी। वह इस समय अनुपलब्ध है। उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिवृत्ति में मैत्रेय रक्षित विचरित दुर्घटवृत्ति के निम्न पाठ उद्धृत किये हैं—

श्रीथमित्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षितः।[1]

कृदिकारादिति ङीषि लक्ष्मीत्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षितः।[2]

मैत्रेयविरचित दुर्घटवृत्ति के इनके अतिरिक्त अन्य उद्धरण उपलब्ध नहीं होते।

शरणदेव ने भी एक दुर्घटवृत्ति लिखी है। सर्वरक्षित ने उसका संक्षेप और परिष्कार किया है। रक्षित शब्द से सर्वरक्षित का ग्रहण हो सकता है, परन्तु सर्वरक्षित द्वारा परिष्कृत दुर्घटवृत्ति में उपर्युक्त पाठ उपलब्ध नहीं होते। उज्ज्वलदत्त ने अन्य जितने उद्धरण रक्षित के नाम से उद्धृत किये हैं वे सब मैत्रेय रक्षित विरचित ग्रन्थों के हैं। अतः उज्ज्वलदत्तोद्धृत उपर्युक्त उद्धरण भी निश्चय ही मैत्रेय रक्षित विरचित दुर्घटवृत्ति के हैं।

मैत्रेय विरचित दुर्घटवृत्ति के विषय में हमें इससे अधिक ज्ञान नहीं है।

मैत्रेय रक्षित का आनुमानिक काल लगभग संवत् ११६५ है, यह हम पूर्व पृष्ठ २८३ पर लिख चुके हैं।

१९—पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० से पूर्व)

पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की एक लघु वृत्ति रची है। इसमें अष्टाध्यायी के केवल लौकिक सूत्रों की व्याख्या है। अत एव इसका दूसरा अन्वर्थ नाम 'भाषावृत्ति' है। इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जो सम्प्रति अप्राप्य हैं।

पुरुषोत्तमदेव के काल आदि के विषय में हम पूर्व 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में लिख चुके हैं।[3]

दुर्घट-वृत्ति

सर्वानन्द अमरकोषटीकासर्वस्व में लिखता है—

---

१. पृष्ठ ८० । २. पृष्ठ १४२ । ३. पूर्व पृष्ठ २६७ ।

पुरुषोत्तमदेवेन गुर्विणीत्यस्य दुर्घटऽसाधुत्वमुक्तम् ।[1]

इस पाठ से प्रतीत होता है कि पुरुषोत्तमदेव ने कोई 'दुर्घटवृत्ति' भी रची थी। शरणदेव ने अपनी दुर्घटवृत्ति में गुर्विणी पद का साधुत्व दर्शाया है। सर्वानन्द ने टीकासर्वस्व सं० १२१५ में लिखा था। शरणदेवीय दुर्घटवृत्ति का रचना-काल सं० १२२९ है।[2] अतः सर्वानन्द के उद्धरण में 'पुरुषोत्तमदेवेन' पाठ अनवधानता मूलक नहीं हो सकता। शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव के नाम से अनेक ऐसे पाठ उद्धृत किये हैं जो भाषावृत्ति में उपलब्ध नहीं होते।[3] शरणदेव ने उन पाठों को पुरुषोत्तमदेव की दुर्घटवृत्ति अथवा अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किया होगा।

भाषावृत्ति-व्याख्याता-सृष्टिधर

सृष्टिधर चक्रवर्ती ने भाषावृत्ति की 'भाषावृत्त्यर्थविवृति' नाम्नी एक टीका लिखी है। यह व्याख्या बालकों के लिये उपयोगी है। लेखक ने कई स्थानों पर उपहासास्पद अशुद्धियां की हैं। चक्रवर्ती उपाधि से व्यक्त होता है कि सृष्टिधर बङ्ग प्रान्त का रहने वाला था।

काल—सृष्टिधर ने ग्रन्थ के आद्यन्त में अपना कोई परिचय नहीं दिया और न ग्रन्थ के निर्माणकाल का उल्लेख किया है। अतः सृष्टिधर का निश्चित काल अज्ञात है। सृष्टिधर ने भाषावृत्यर्थविवृति में निम्न ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है

मेदिनी कोष, सरस्वतीकण्ठाभरण (८।२।१२), मैत्रेयरक्षित, केशव, केशववृत्ति, उदात्तराघव, कातन्त्र परिशिष्ट (८।२।१९), धर्मकीर्ति रूपावतारकृत्, उपाध्यायसर्वस्व, हृद्चन्द्र (८।२।२९) कैयट, भाष्यटीका (प्रदीप), कविरहस्य (७।२।४३) मुरारि (अनर्घराघव) (३।२।२६), कालिदास, भारवि, भट्टी, माघ, श्रीहर्ष (नैषधचरित) वल्लभाचार्य (माघकाव्यटीकाकार) (३।२।११२), क्रमदीश्वर (५।१।७८), पद्मनाभ, मंजूषा (५।४।१४४)।[4]

---

१. भाग २, पृष्ठ २७७। २. आगे पृष्ठ ३५०।

३. दुर्घट वृत्ति पृष्ठ १६, २७, ७१।

४. भाषावृत्ति की भूमिका, पृष्ठ १०।

इनमें मञ्जूषा के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार विक्रम की १४ वीं शताब्दी से अर्वाचीन नहीं है।[1] यह मञ्जूषा नागोजीभट्ट विरचित लघुमंजूषा नहीं है। नागोजी भट्ट का काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।[2] भाषावृत्ति के संपादक ने शकाब्द १६३१ और १६३६ अर्थात् वि० सं० १७६६ और १७७१ के भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति के दो हस्तलेखों का उल्लेख किया है।[3] इससे स्पष्ट है कि भाषावृत्यर्थविवृति की रचना नागोजी भट्ट से पहले हुई है। हमारा विचार है कि सृष्टिधर विक्रम की १५ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार है।

२०—शरणदेव (सं १२२९)

शरणदेव ने अष्टाध्यायी पर 'दुर्घट' नाम्नी वृत्ति लिखी है। यह व्याख्या अष्टाध्यायी के विशेष सूत्रों पर है। संस्कृत भाषा के जो पद व्याकरण से साधारणतया सिद्ध नहीं होते, उन पदों के साधुत्वज्ञापन के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है। अत एव ग्रन्थकार ने इसका अन्वर्थनाम 'दुर्घटवृत्ति' रक्खा है।

ग्रन्थकार ने मङ्गलश्लोक में सर्वज्ञ अपरनाम बुद्ध को नमस्कार किया है,[4] तथा बौद्ध ग्रन्थों के अनेक प्रयोगों का साधुत्व दर्शाया है। इससे प्रतीत होता है कि शरणदेव बौद्धमतावलम्बी था।

काल—शरणदेव ने ग्रन्थ के आरम्भ में दुर्घटवृत्ति की रचना का समय शकाब्द १०९५ लिखा है,[5] अर्थात् वि० सं० १२२९ में यह ग्रन्थ लिखा गया।

---

१. भाषावृत्त्यर्थविवृति में उद्धृत मेदिनीकोष का काल विक्रम की १४ वीं शताब्दी माना जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं है। उणादिवृत्तिकार उज्ज्वलदत्त वि० सं० १२५० से पूर्ववर्ती है, यह हम "उणादि के वृत्तिकार" प्रकरण में लिखेंगे। उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति १।१०१। पृष्ठ ३६ पर मेदिनीकार को उद्धृत किया है।

२. देखो पूर्व पृष्ठ १०८। ३. भाषावृत्ति की भूमिका पृष्ठ १० की टिप्पणी।

४. नत्वा शरणदेवेन सर्वज्ञं ज्ञानहेतवे। वृहद्भट्टजनाम्भोजकोशवीकासभास्वते॥

५. शाकमहीपतिवत्सरमाने एकनभोनवपञ्चविमाने। दुर्घटवृत्तिरकारिमुदेव कण्ठविभूषणहारकृतेव॥

प्रतिसंस्कर्ता—दुर्घटवृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है कि शरणदेव के कहने से श्रीसर्व-रक्षित ने इस ग्रंथ का संक्षेप करके इसे प्रतिसंस्कृत किया।[1]

ग्रन्थ का वैशिष्ट्य—संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन ग्रंथों में प्रयुक्त शतशः दुःसाध्य प्रयोगों के साधुत्वनिदर्शन के लिये इस ग्रंथ की रचना हुई है। प्राचीन काल में इस प्रकार के अनेक ग्रंथ थे, मैत्रेय रक्षित और पुरुषोत्तमदेव विरचित दो दुर्घट वृत्तियों का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। सम्प्रति केवल शरणदेवीय दुर्घटवृत्ति उपलब्ध होती है। यद्यपि शब्दकौस्तुभ आदि अर्वाचीन ग्रंथों में कहीं कहीं दुर्घटवृत्ति का खण्डन उपलब्ध होता है तथापि कृच्छ्रसाध्य प्रयोगों के साधुत्व दर्शाने के लिये इस ग्रंथ में जिस शैली का आश्रय लिया है, उसका प्रायः अनुसरण अर्वाचीन ग्रंथकार भी करते हैं। अतः 'गच्छतः स्खलनं' न्याय से इसके वैशिष्ट्य में किञ्चिन्मात्र न्यूनता नहीं आती।

इस ग्रंथ में एक महान् वैशिष्ट्य और भी है। ग्रंथकार ने इस ग्रंथ में अनेक प्राचीन ग्रंथों और ग्रंथकारों के वचन उद्धृत किये हैं। इनमें अनेक ग्रंथ और ग्रंथकार ऐसे हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। ग्रन्थकार ने ग्रंथ निर्माण का काल लिखकर महान् उपकार किया है। इसके द्वारा अनेक ग्रंथों और ग्रंथकारों के काल निर्णय में महती सहायता मिलती है।

२१—भट्टोजि दीक्षित (सं० १५१०—१५७५ के लगभग

भट्टोजि दीक्षित ने अष्टाध्यायी की 'शब्दकौस्तुभ' नाम्नी महती वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति इस समय समग्र उपलब्ध नहीं होती केवल प्रारम्भ के ढाई अध्याय और चतुर्थ अध्याय उपलब्ध होते हैं।

शब्दकौस्तुभ के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद में प्रायः पतञ्जलि कैयट और हरदत्त के ग्रंथों का दीक्षित ने अपने शब्दों में संग्रह किया है। यह भाग अधिक विस्तार से लिखा गया है, अगले भाग में संक्षेप से काम लिया है।

परिचय

वंश—भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्रिय ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम लक्ष्मीधर और लघु भ्राता का नाम रंगोजि भट्ट था। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है—

---

१. वाक्याच्छरणदेवस्य श्लाघायावग्रहपीडया। श्रीसर्वरक्षितेनैषा संक्षिप्य प्रतिसंस्कृता ॥
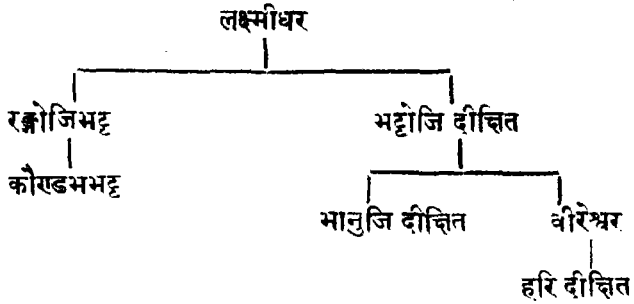
गुरु—पण्डितराज जगन्नाथ कृत प्रौढमनोरमाखण्डन से प्रतीत होता है कि भट्टोजि दीक्षित ने नृसिंहपुत्र शेषकृष्ण से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[1] भट्टोजि दीक्षित ने भी शब्दकौस्तुभ में प्रक्रियाप्रकाश-कार शेषकृष्ण के लिये गुरु शब्द का व्यवहार किया है।[2] तत्त्वकौस्तुभ में भट्टोजि दीक्षित ने अप्पय दीक्षित को नमस्कार किया है।

काल

डाक्टर बेल्वेलकर ने भट्टोजि दीक्षित का काल सन् १६००–१६५० अर्थात् वि० सं० १६५७–१७०७ तक माना है। अन्य ऐतिहासिक वि० सं० १६३७ मानते हैं। शेषकृष्ण-विरचित प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या का सं० १५१४ का एक हस्तलेख भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना के संग्रह में विद्यमान है। देखो, सन् १९२५ में प्रकाशित सूचीपत्र पृष्ठ १२ ग्रन्थाङ्क ३२८। इस काल की पुष्टि एक अन्य हस्तलेख से भी होती है। लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में विट्ठलविरचित प्रक्रियाप्रसाद-टीका का एक हस्तलेख संगृहीत है।[3] उस के अन्त में लेखन काल सं०

---

१. इह केचित् (भट्टोजिदीक्षिताः)……शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णपण्डितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनास्तेषु च पारमेश्वरपदं प्रयातेषु तत्रभवद्भिरुल्लासितं प्रक्रियाप्रकाशं …… दूषणैः स्वानिर्मितायां मनोरमायामाकुलयमकार्षुः। चौखम्बा संस्कृत सीरिज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढमनोरमा भाग ३ के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ १। २. तदेतत् सकलमभिधाय प्रक्रियाप्रकाशे गुरुचरणै-रुक्तम्। पृष्ठ १४५।

३. सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ १६७, ग्रन्थाङ्क ६११।

१५३६ लिखा है।[1] विट्ठल ने व्याकरण का अध्ययन शेषकृष्ण-सूनु वीरेश्वर अपरनाम रामेश्वर से किया था।[2] इस से प्रतीत होता है कि उस समय शेषकृष्ण का स्वर्गवास हो गया था। तदनुसार शेषकृष्ण का स्वर्गवास वि० सं० १५२५ के लगभग हुआ होगा। पण्डितराज जगन्नाथ के लेख से यह भी प्रतीत होता है कि भट्टोजि दीक्षित ने शेषकृष्ण से चिरकाल तक अध्ययन किया था।[3] अतः भट्टोजि दीक्षित का जन्म विक्रम की सोलहवीं शताब्दी की प्रथम दशति में मानना होगा।

अन्य व्याकरण-ग्रन्थ

दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ के अतिरिक्त सिद्धान्तकौमुदी और उसकी व्याख्या प्रौढमनोरमा लिखी है। इन का वर्णन आगे 'पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकार' प्रकरण में किया जायगा।

भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ को सिद्धान्तकौमुदी से पूर्व रचा था। वह उत्तर कृदन्त के अन्त में लिखता है—

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

इस से यह भी व्यक्त होता है कि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर रचा था। 'अतो लोपः'[4] सूत्र की प्रौढमनोरमा और उस की शब्दरत्न व्याख्या से इतना स्पष्ट है कि शब्दकौस्तुभ षष्ठाध्याय तक अवश्य लिखा गया था।[5]

शब्दकौस्तुभ के टीकाकार

आफ्रेक्ट के बृहत्सूचीपत्र में शब्दकौस्तुभ के प्रथम पाद के छ टीकाकारों का उल्लेख मिलता है। उन के नाम निम्नलिखित हैं—

१. नागेश — विषमपदी
२. वैद्यनाथ पायगुण्ड — प्रभा
३. विद्यानाथ शुक्ल — उद्योत

१. संवत् १५३६ वर्षे माघ वदि एकादशीरवौ श्रीमदानन्दपुरस्थानोत्तमे आभ्यन्तरनागरजातीयपण्डितअनन्तसुतपण्डितनारायणादीनां पठनार्थं कुठारीव्यवगादितसुतेन विश्वरूपेण लिखितम्। २. तमर्भकं कृष्णगुरोर्नमामि रामेश्वराचार्यगुरुं गुणाब्धिम्। प्रक्रियाकौमुदीप्रसादान्ते। ३. देखो पृष्ठ ३५२, टि० १।
४. अष्टा० ६।४।४८॥ ५. विस्तरः शब्दकौस्तुभे बोध्यः। मनोरमा। इसकी व्याख्या—कौस्तुभे षाष्ठे। शब्दरत्न।

४. राघवेन्द्राचार्य — प्रभा
५. कृष्णमिश्र — भावप्रदीप
६. भास्करदीक्षित — शब्दकौस्तुभदूषण

नागेश और वैद्यनाथ पायगुण्ड के विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं।[1]

कृष्णमित्र का दूसरा नाम कृष्णाचार्य था। इसके पिता का नाम रामसेवक और पितामह का नाम देवीदत्त था। रामसेवक कृत 'महाभाष्य-प्रदीपव्याख्यान' का उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।[2] कृष्णमित्र ने सिद्धान्त-कौमुदी की 'रत्नार्णव' नाम्नी टीका लिखी है। इसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। कृष्णाचार्यकृत युक्तिरत्नाकर, वादचूडामणि और वाद-सुधाकर नामके तीन ग्रन्थ जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ४५, ४६।

शेष टीकाकारों के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है।

कौस्तुभखण्डनकर्ता—पंडितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रौढमनोरमा खण्डन में लिखा है—

इत्थं च 'ओत्' सूत्रगतकौस्तुभग्रन्थः सर्वोऽप्यसंगत इति ध्येयम्। अधिकं कौस्तुभखण्डनादवसेयम्।[3]

इससे स्पष्ट है कि जगन्नाथ ने शब्दकौस्तुभ के खण्डन में कोई ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है।

परिचय तथा काल

पण्डितराज तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनका दूसरा नाम 'वेल्लनाडु' था। और इनको त्रिशूली भी कहते थे। इनके पिता का नाम पेरंभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी था। पेरंभट्ट ने ज्ञानेन्द्र भिक्षु से वेदान्त, महेन्द्र से न्याय वैशेषिक, भाट्टदीपिकाकार खण्डदेव से मीमांसा और शेष वीरेश्वर से महाभाष्य का अध्ययन किया था। पण्डितराज जगन्नाथ दिल्ली के सम्राट् शाहजहाँ और दाराशिकोह के प्रेमपात्र थे। शाहजहां ने इन्हें पण्डितराज की पदवी प्रदान की थी। शाहजहां सं० १६८५ में गद्दी पर बैठा था। ये चित्रमीमांसाकार अप्पयदीक्षित के समकालिक कहे जाते हैं, परन्तु इसमें कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। पण्डितराज ने शेषकृष्ण के पुत्र

---

१. पूर्व पृष्ठ ३०६—३०६।   २. पूर्व पृष्ठ ३१०।

३. चौखम्बा संस्कृतसीरीज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढमनोरमा भाग १ के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ २१।

वीरेश्वर अपरनाम रामेश्वर से विद्याध्ययन किया था[1]। विट्ठल ने सं० १५३६ से कई वर्ष पूर्व वीरेश्वर से व्याकरण पढ़ा था, यह हम पूर्व पृष्ठ २८४ पर लिख चुके हैं। इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ का काल न्यूनातिन्यून सं० १५७५—१६९० तक स्थिर होता है, परन्तु इतना लम्बा काल सम्भव प्रतीत नहीं होता। हम इस कठिनाई को सुलझाने में असमर्थ हैं।

भट्टोजि दीक्षित ने शेषकृष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजि दीक्षित ने अपने शब्दकौस्तुभ और प्रौढमनोरमा ग्रन्थों में बहुत स्थानों पर शेषकृष्णविरचित प्रक्रियाप्रकाश का खण्डन किया है। अतः पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रौढमनोरमा खण्डन में भट्टोजि को 'गुरुद्रोही' शब्द से स्मरण किया है।[2] प्रौढमनोरमाखण्डन के विषय में सोलहवें अध्याय में लिखेंगे।

२२—अप्पय दीक्षित (१५७७—१६५०)

अप्पय दीक्षित ने पाणिनीय सूत्रों की 'सूत्रप्रकाश' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख अडियार राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ ७५।

परिचय

अप्पय दीक्षित के पिता का नाम 'रङ्गराज अध्वरी' और पितामह का नाम 'आचार्य दीक्षित' था। इनका गोत्र भारद्वाज था। यह अपने समय में शैवमत के महान् स्तम्भ माने जाते थे। अप्पय दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित विरचित शिवलीलार्णव काव्य से ज्ञात होता है कि अप्पयदीक्षित ७२ वर्ष तक जीवित रहे,[3] और उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थ लिखे। नीलकण्ठ के पितामह अर्थात् अप्पय दीक्षित के भ्राता का नाम अच्चा दीक्षित था।

काल

कन्हैयालाल पोद्दार ने संस्कृत साहित्य के इतिहास में अप्पय दीक्षित का काल सन् १६५७ (सं० १७१४ वि०) पर्यन्त माना है।[4] वे लिखते हैं—सन् १६५७ (सं० १७१४ वि०) में काशी के मुक्तिमण्डप में एक

---

१. अस्मद्गुरुवीरेश्वरपण्डितानां ·····। प्रौ० मनो० खण्डन पृष्ठ १।

२. स्यति गर्वं गुरुद्रुहाम्। प्रौ० मनो० खण्डन पृष्ठ १।

३. कालेन शम्भुः किल तावतापि कलाश्चतुष्षष्टिमिताः प्रणिन्ये। द्वासप्ततिं प्राप्य समाः प्रबन्धाञ्छतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्द्रः। सर्ग १।

४. देखो प्रथम भाग पृष्ठ २८५।

सभा हुई थी जिसमें निर्णय किया गया था कि महाराष्ट्रिय देवर्षि (देवसखे) ब्राह्मण पंक्तिपावन हैं। इस निर्णयपत्र पर अप्पय दीक्षित के भी हस्ताक्षर हैं। यह निर्णयपत्र श्री पिपुटकर ने 'चितलेभट्टप्रकरण' पुस्तक में मुद्रित कराया है।"

हमारी समझ में यह निर्णयपत्र बनावटी है, क्योंकि अप्पय दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ के वचन से स्पष्ट है कि अप्पयदीक्षित ७२ वर्ष तक जीवित रहे थे, और व्यङ्कट देशिक के यादवाभ्युदय की टीका बेल्लूर के राजा चिन्नतिम्मनायक की प्रेरणा से लिखी गई थी। चिन्नतिम्म का राज्य-काल वि० सं० १५९९ से १६०७ पर्यन्त है। यदि सं० १७१४ विक्रम के निर्णय पत्र पर अप्पयदीक्षित के हस्ताक्षर मानें तो सं० १६०७ तक अप्पय-दीक्षित का जन्म ही नहीं हुआ था, पुनः चिन्नतिम्म की प्रेरणा से यादवाभ्युदय पर टीका कैसे लिखता? अप्पय दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ ने 'नीलकण्ठचम्पू' का रचना काल कलि अब्द ४७३८ अर्थात् वि० सं० १६९४ लिखा है।[1] उससे पूर्व अप्पय दीक्षित की मृत्यु हो चुकी थी।[2]

हम पूर्व पृष्ठ ३५२ पर लिख चुके हैं कि भट्टोजि दीक्षित ने तत्त्वकौस्तुभ में अप्पय दीक्षित को नमस्कार किया है। भट्टोजी का काल सं० १५१०—१५७५ के मध्य है। अतः अप्पय दीक्षित का काल सं० १५२० से १६०२ तक मानना युक्त होगा।

२३—नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००-१६५०)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने अष्टाध्यायी पर 'पाणिनीयदीपिका' नाम्नी वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति का उल्लेख नीलकण्ठ ने स्वयं परिभाषावृत्ति में किया है।[3] यह वृत्ति सम्प्रति अनुपलब्ध है। ग्रन्थकार के काल आदि के विषय में 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में लिखा जा चुका है।[4]

२४—अन्नंभट्ट (सं० १६५०)

महामहोपाध्याय अन्नंभट्ट ने अष्टाध्यायी पर 'पाणिनीयमिताक्षरा'

---

१. अष्टात्रिंशदुपस्कृत-सप्तशताधिक-चतुस्सहस्रेषु।
कलिवर्षेषु गतेषु (४७३८) ग्रथितः किल नीलकण्ठविजयोऽयम्॥

२. पूर्व पृष्ठ ३५५ टि० ३।

३. अस्मत्कृत-पाणिनीयदीपिकायां स्पष्टम्। पृष्ठ २६।

४. पूर्व पृष्ठ २९६।

नाम्नी वृत्ति रची है। यह वृत्ति काशी से प्रकाशित हो चुकी है। यह वृत्ति साधारण है।

अन्नंभट्ट के विषय में 'महाभाष्यप्रदीप के टीकाकार' प्रकरण में हम पूर्व (पृष्ठ ३०४) लिख चुके है।'

२५–गोपालकृष्ण शास्त्री (सं० १६५०-१७००)

हमने 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में गोपालकृष्ण शास्त्री विरचित 'शाब्दिकचिन्तामणि' ग्रन्थ का उल्लेख किया है। वहां हमने लिखा है कि हमें इस ग्रन्थ के 'महाभाष्यव्याख्या' होने में सन्देह है। यदि यह ग्रन्थ महाभाष्य की व्याख्या न हो तो निश्चय ही अष्टाध्यायी की विस्तृत वृत्ति रूप होगा।

२६–ओरम्भट्ट (सं० १९००)

वैद्यनाथभट्ट विश्वरूप अपरनाम ओरम्भट्ट ने 'व्याकरणदीपिका' नाम्नी अष्टाध्यायी की वृत्ति बनाई है। इस वृत्ति में वृत्ति उदाहरण तथा पंक्तियां आदि यथासम्भव सिद्धान्तकौमुदी से उद्धृत की हैं। अतः जो व्यक्ति सिद्धान्तकौमुदी की फक्किकाओं को अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़ना पढ़ाना चाहें उन के लिये यह ग्रन्थ कुछ उपयोगी हो सकता है।

ओरम्भट्ट काशी निवासी महाराष्ट्रिय पण्डित है। यह काशी के प्रसिद्ध-विद्वान् बालशास्त्री के गुरु काशीनाथ शास्त्री का समकालिक है। पं० काशीनाथ शास्त्री ने सं० १९१६ में काशीराजकीय संस्कृत महाविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया था। अतः ओरम्भट्ट का काल सं० १९०० के लगभग है।

२७–स्वामी दयानन्द सरस्वती (सं० १८८१-१९४०)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय सूत्रों की "अष्टाध्यायीभाष्य" नाम्नी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस के दो खण्ड वैदिक पुस्तकालय अजमेर से प्रकाशित हो चुके हैं।

परिचय

वंश—दयानन्द सरस्वती का जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत टंकारा नगर के औदीच्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इन के पिता सामवेदी ब्राह्मण थे। बहुत अनुसन्धान के अनन्तर इन के पिता का नाम कर्शनजी तिवाड़ी

और पितामह का नाम लालजी तिवाड़ी ज्ञात हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का बाल्यकाल का नाम मूलजी था। सम्भवतः इन्हें मूलशंकर भी कहते थे। मूलजी के पिता शैवमतावलम्बी थे। ये अत्यन्त धर्मनिष्ठ, दृढ़ चरित्र और धनधान्य से वैभवशाली व्यक्ति थे।

भाई बहन—मूलजी के दो कनिष्ठ भाई थे। उन में एक का नाम वल्लभजी था। उनकी दो बहनें थीं, जिनमें बड़ी प्रेमाबाई का विवाह मङ्गलजी लीलारावजी के साथ हुआ था। छोटी बहिन की मृत्यु बचपन में मूलजी के सामने हो गई थी।

प्रारम्भिक अध्ययन और गृहत्याग—मूलजी का पांच वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ और आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन संकार हुआ था। सामवेदी होने पर भी इन के पिता ने शैवमतावलम्बी होने के कारण मूलजी को प्रथम रुद्राध्याय और पश्चात् समग्र यजुर्वेद कण्ठाग्र कराया था। घर में रहते हुए मूलजी ने व्याकरण आदि का भी कुछ कुछ अध्ययन किया था। बाल्यकाल में अपने चाचा और छोटी भगिनी की मृत्यु से इन के मन में वैराग्य की भावना उठी और वह उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। इनके पिता ने मूलजी के मन की भावना समझ कर इन को विवाहबन्धन में बांधने का प्रयत्न किया, परन्तु मूलजी अपने संकल्प में दृढ़ थे। अतः विवाह की सम्पूर्ण तैयारी हो जाने पर उन्होंने एक दिन सायंकाल अपने भौतिक संपत्ति से परिपूर्ण गृह का सर्वदा के लिये परित्याग कर दिया। इस समय इन की आयु लगभग २२ वर्ष की थी। यह घटना संवत् १९०३ की है।

गृह-परित्याग के अनन्तर योगियों के अन्वेषण और सच्चे शिव के दर्शन की लालसा से लगभग पन्द्रह वर्ष तक हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण भयानक वन कन्दरा और हिमालय की ऊंची ऊंची सदा बर्फ से ढकी चोटियों पर भ्रमण करते रहे। इस काल में इन्होंने योग की विविध क्रियाओं और अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया।

गुरु—नर्वदा-स्रोत की यात्रा में मूलजी ने स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती नामक संन्यासी से संन्यास ग्रहण किया और दयानन्द सरस्वती नाम पाया। नर्वदास्रोत की यात्रा में ही इन्होंने मथुरा निवासी प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द स्वामी के पाण्डित्य की प्रशंसा सुनी। अतः उस यात्रा की परिसमाप्ति पर उन्होंने मथुरा आकर सं० १९१७-१९२० तक ३ वर्ष स्वामी विरजानन्द से व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। स्वामी

विरजानन्द व्याकरण शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे। इनकी व्याकरण के नव्य और प्राचीन सभी ग्रन्थों में अव्याहत गति थी। तात्कालिक समस्त पण्डितसमाज पर इन के व्याकरणज्ञान की धाक थी। स्वामी दयानन्द भी इन्हें व्याकरण का सूर्य कहा करते थे। इन्हीं के प्रयत्न से कौमुदी आदि के पठन-पाठन से नष्टप्राय महाभाष्य के पठन-पाठन का पुनः प्रवर्तन हुआ था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] स्वामी विरजानन्द के व्याकरण-विषयक अद्भुत पाण्डित्य का निदर्शन इस ग्रन्थ के दूसरे भाग के 'धातुपाठ' नामक प्रकरण में कराया जायगा।

काल

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म सं० १८८१ में हुआ था। इनके जन्म की तिथि आश्विन बदि ७ कही जाती है। इनका स्वर्गवास सं० १९४० कार्तिक कृष्णा अमावास्या दीपावली के दिन सायं ६ बजे हुआ था।

अष्टाध्यायीभाष्य

स्वामी दयानन्द के १५ अगस्त सन् १८७८ ई० (आषाढ ब० २ सं० १९३५) के पत्र से ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायीभाष्य की रचना उक्त तिथि से पूर्व प्रारम्भ हो गई थी।[2] एक अन्य पत्र से विदित होता है कि २४ अप्रेल सन् १८७८ तक अष्टाध्यायीभाष्य के चार अध्याय बन चुके थे।[3] चौथे अध्याय से आगे बनने का उल्लेख उनके किसी उपलब्ध पत्र में नहीं मिलता। स्वामी दयानन्द के अनेक पत्रों से विदित होता है कि पर्याप्त ग्राहक न मिलने से वे इसे अपने जीवन काल में प्रकाशित नहीं कर सके। स्वामीजी की मृत्यु के कितने ही वर्ष पश्चात् उनकी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा ने इसके दो भाग प्रकाशित किये, जिनमें तीसरे अध्याय तक का भाष्य है। चौथा अध्याय अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। इस के प्रथम भाग (अ० १।१-२तथा अ० ३) का सम्पादन डा० रघुवीर जी एम. ए. ने किया है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय का सम्पादन हमारे पूज्य आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने किया है। इसमें मैंने भी सहायक रूप से कुछ कार्य किया है। इस अष्टाध्यायीभाष्य के विषय में हमने "ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास" ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है, अतः विशेष वहीं देखें।

---

१. पूर्व पृष्ठ २५०। २. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ११७।
३. वही, पृष्ठ १५३।

अन्य ग्रन्थ

स्वामी दयानन्द ने अपने दश वर्ष के कार्यकाल (सं० १९३१-१९४० तक) में लगभग ५० ग्रन्थ रचे हैं। उनमें सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ऋग्वेद भाष्य, यजुर्वेद भाष्य आदि मुख्य हैं। स्वामी दयानन्द के समस्त ग्रन्थों का वर्णन हमने "ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" नामक ग्रन्थ में विस्तार से किया है। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है।[1]

अब हम उन वृत्तिकारों का वर्णन करते हैं जिन का काल अज्ञात है—

२८ अप्पन नैनार्य

अप्पन नैनार्य ने पाणिनीयाष्टक पर 'प्रक्रियादीपिका' नाम्नी वृत्ति लिखी है। ग्रन्थकार का दूसरा नाम वैष्णवदास था। प्रक्रियादीपिका का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग ३ खण्ड १ A पृष्ठ ३६०१, ग्रन्थाङ्क २५४१। इसके आद्यन्त में निम्न पाठ है—

आदि में—अप्पननैनार्येण वेङ्कटाचार्यसूनुना।
प्रक्रियादीपिका सेयं कृता वात्स्येन धीमता।

अन्त में—श्रीमद्वात्स्यान्वयपयःपारावारसुधाकरेण वादिमत्तेभकण्ठीरवकण्ठलुण्टाकेन श्रीमद्वेङ्कटार्यपादकमलचञ्चरीकेण श्रीमत्परवादिमतभयंकरमुक्ताफलेन अप्पननैनार्याभिधश्रीवैष्णवदासेन कृता प्रक्रियादीपिका समाप्ता।

इस लेख से इतना व्यक्त होता है कि अप्पन नैनार्य के पिता का नाम वेङ्कटार्य था और यह वात्स्यगोत्र का था। 'प्रक्रियादीपिका' नाम से सन्देह होता है कि यह कहीं प्रक्रिया ग्रन्थ न हो।

२९—नारायण सुधी

नारायण सुधी विरचित 'अष्टाध्यायीप्रदीप' अपरनाम 'शब्दभूषण' के हस्तलेख मद्रास, अडियार और तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। मद्रास के राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ४ खण्ड A. पृष्ठ ४२७५ पर निर्दिष्ट हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

---

१. प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस से प्राप्य।

इति श्रीगोविन्दपुरवास्तव्यनारायणसुधीविरचिते सवार्तिकाष्टाध्यायीप्रदीपे शब्दभूषणे अष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

यह व्याख्या बहुत विस्तृत है । इसमें उपयोगी वार्तिकों का भी समावेश है । तृतीयाध्याय के द्वितीयपाद के अनन्तर उणादिसूत्र और षष्ठाध्याय के द्वितीयपाद के पश्चात् फिट्सूत्र भी व्याख्यात हैं ।

नारायण सुधी का देश, काल अज्ञात है ।

३०—रुद्रधर

रुद्रधरकृत अष्टाध्यायीवृत्ति का एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन के संग्रह में विद्यमान है । देखो संग्रह नं० १९ वेष्टन संख्या १३ ।

रुद्रधर मैथिल पण्डित है । इसका काल अज्ञात है ।

३१—उदयन

उदयनकृत 'मितवृत्त्यर्थसंग्रह' नाम्नी वृत्ति का एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथमन्दिर के पुस्तकालय में है । देखो सूचीपत्र पृष्ठ ४५ ।

उदयन ने इस ग्रन्थ में काशिकावृत्ति का संक्षेप किया है । ग्रन्थकार का देश काल अज्ञात है । यह नैयायिक उदयन से भिन्न व्यक्ति है ।

३२—रामचन्द्र

रामचन्द्र ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी है । उस में उसने भी काशिकावृत्ति का संक्षेप किया है । इसके प्रारम्भ के श्लोक से विदित होता है कि रामचन्द्र ने यह ग्रन्थ नागोजी की प्रेरणा से लिखा था ।[1] यह नागोजी कौन है, यह अज्ञात है । एक रामचन्द्र शेषवंशीय नागोजी भट्ट का पुत्र है[2], उस से यह भिन्न प्रतीत होता है ।

३३—पाणिनीय-लघुवृत्ति

यह वृत्ति श्लोकबद्ध है । देखो ट्रिवेण्ड्रम् पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग ५ ग्रन्थांक १०५ ।

१. नागोजीविदुषा प्रोक्तो रामचन्द्रो यथामति ।
शब्दशास्त्रं समालोक्य कुर्वेऽहं वृत्ति संग्रहम् ॥

२. इसने सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या लिखी थी । इस का वर्णन आगे होगा ।

श्लोकबद्ध पाणिनीयसूत्रवृत्ति का एक हस्तलेख मैसूर के राजकीय पुस्तकालय में भी है। देखो सन् १९२२ का सूचीपत्र पृष्ठ ३१५ ग्रन्थाङ्क ४०५०।

ये दोनों ग्रन्थ एक ही हैं अथवा पृथक् पृथक् यह अज्ञात है।

पाणिनीयसूत्रलघु[वृत्ति]विवृति

यह पूर्वोक्त लघुवृत्ति की श्लोकबद्ध टीका है। यह टीका रामशाली क्षेत्र निवासी किसी द्विजन्मा की रचना है। देखो ट्रिवेण्ड्रम् के राजकीय पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग ६ ग्रन्थाङ्क ३४।

मैसूर राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र पृष्ठ ३१५ पर 'पाणिनीयसूत्र-वृत्ति टिप्पणी' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। उसका कर्त्ता 'देवसहाय' है।

३४-४१--अष्टाध्यायी की अज्ञातकर्तृक वृत्तियां

मद्रास राजकीय पुस्तकालय के नये छपे हुए बृहत् सूचीपत्र में अष्टाध्यायी की ५ वृत्तियों का उल्लेख मिलता है। वे निम्न हैं—

ग्रन्थनाम	ग्रन्थाङ्क
३४—पाणिनीय-सूत्रवृत्ति	११५७७
३५—पाणिनीय-सूत्रविवरण	११५७८
३६—पाणिनीय-सूत्रविवृति	११५७९
३७—पाणिनीय-सूत्रविवृति लघुवृत्तिकारिका	११५८०
३८—पाणिनीय-सूत्रव्याख्यान उदाहरणश्लोकसहित	११५८१

३९, ४०—डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में पाणिनीय सूत्र की दो वृत्तियां विद्यमान हैं। देखो ग्रन्थांक ३८५०, ६२८१। ये दोनों वृत्तियां केरल लिपि में लिखी हुई हैं।

४१—सरस्वतीभवन काशी के संग्रह में पाणिनीयाष्टक की एक अज्ञात कर्तृक वृत्ति वर्तमान है। देखो महीधर संग्रह वेष्टन नं० २८।

इसी प्रकार अन्य पुस्तकालयों में भी अनेक अष्टाध्यायीवृत्तियों के हस्तलेख विद्यमान हैं। इन सब का अन्वेषण होना परमावश्यक है।

हमने इस अध्याय में अष्टाध्यायी के ३२ वृत्तिकारों, ९ अज्ञात-कर्तृक वृत्तियों और प्रसंगवश अनेक व्याख्याताओं का वर्णन किया है। इस प्रकार हमने इस अध्याय में ५० पाणिनीय वैयाकरणों का वर्णन किया है।

अब अगले अध्याय में काशिका के व्याख्याकारों का वर्णन किया जायगा

पन्द्रहवां अध्याय

काशिका के व्याख्याता

काशिका जैसे महत्त्वपूर्ण वृत्ति-ग्रन्थ पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखीं, उनमें से कई एक इस समय अप्राप्य हैं। बहुत से टीकाकारों के नाम भी अज्ञात हैं। हमें जितने टीकाकारों का ज्ञान हो सका, उनका वर्णन इस अध्याय में करते हैं।

१ जिनेन्द्रबुद्धि

काशिका पर जितनी व्याख्याएं उपलब्ध अथवा परिज्ञात हैं, उनमें बोधिसत्त्वदेशीय आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि विरचित काशिकाविवरणपञ्जिका अपरनाम न्यास सबसे प्राचीन है। न्यासकार का 'बोधिसत्त्वदेशीय' वीरुत् होने से स्पष्ट है कि न्यासकार बौद्धमत का प्रामाणिक आचार्य है।

न्यासकार का काल

न्यासकार ने अपना किञ्चिन्मात्र परिचय नहीं दिया, अतः इसका इतिवृत्त सर्वथा अन्धकार में है। हम यहां न्यासकार के कालनिर्णय करने का कुछ प्रयत्न करते हैं—

हरदत्त ने पदमञ्जरी ४।१।४२ में न्यासकार का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। हरदत्त का काल विक्रम की १२वीं शताब्दी का प्रथम चरण अथवा उससे कुछ पूर्व है। यह हम पूर्व (पृष्ठ २८३) लिख चुके। अत: न्यासकार १२वीं शताब्दी से प्राचीन है।

महाभाष्यव्याख्याता कैयट हरदत्त से पौर्वकालिक है, यह हम कैयट के प्रकरण में लिख चुके। कैयट और जिनेन्द्रबुद्धि के अनेक वचन परस्पर अत्यन्त मिलते हैं। जिनसे यह स्पष्ट है कि कोई एक दूसरे से सहायता अवश्य ले रहा है, परन्तु किसी ने किसी का नाम निर्देश नहीं किया। इसलिये उनके पौर्वापर्य के ज्ञान के लिये हम दोनों के दो तुलनात्मक पाठ उद्धृत करते हैं—

न्यास—**द्वयोरिकारयोः प्रश्लेषनिर्देशः। तत्र यो द्वितीय इवर्णः स ये [विभाषा] इत्यात्वबाधा यथास्यादित्येवमर्थः। ३।१।११॥**

प्रदीप—दीर्घोच्चारणे भाष्यकारेण प्रत्याख्याते केचित् प्रश्लेष-निर्देशेन द्वितीय ईकारो ये विभाषा (६ । ४ । ४३) इत्यात्वस्य पक्षे परत्वात् प्राप्तस्य बाधनार्थ इत्याहुः । तदयुक्तम् । कथप्रसन्नियोगेन विधीयमानस्येत्वस्यान्तरङ्गत्वात् । ३ । १ । १११ ॥

न्यास—अनित्यता पुनरागमशासनस्य घोर्लोपो लेटि वा(७।३।७०) इत्यत्र वाग्रहणालिङ्गाद् विज्ञायते । तद्धि ददद् ददाद् इत्यत्र नित्यं घोर्लोपो माभूदित्येवमर्थं क्रियते । यदि च नित्यमागमशासनं स्याद् वाग्रहणमनर्थकं स्यात् । भवतु नित्यो लोपः । सत्यपि तस्मिन् लेटोऽडाटौ (३।४।९४) इत्यादि कृते ददत् ददादिति सिध्यत्येव । अनित्यत्वे त्वागमशासनस्याडागमाभावान्न सिध्यति ततो वा वाचन-मर्थवद् भवति । ७ । १ । १ ॥

प्रदीप—केचित्त्वनित्यमागमशासनमित्यस्य ज्ञापकं वाग्रहणं वर्णयन्ति । अनित्यत्वात्तस्याट्यसति ददादिति न स्यादिति । तत्सिद्धये वाग्रहणं क्रियमाणमेनां परिभाषां ज्ञापयति । ७ । ३ । ७० ॥

इन उद्धरणों की परस्पर तुलना करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों स्थानों में कैयट 'केचित्' पद से न्यासकार का निर्देश करता है और उसके ग्रन्थ को अपने शब्दों में उद्धृत करता है । अतः न्यासकार निश्चय ही वि० सं० १०९० से पूर्ववर्ती है । यह उसकी उत्तर सीमा है । न्यास के सम्पादक श्रीशन्द्र चक्रवर्ती ने न्यासकार का काल सन् ७२५—७५० अर्थात् ७८२—८०७ वैक्रमाब्द पर्यन्त माना है ।

महाकवि माघ और न्यास

महाकवि माघ ने शिशुपालवध के 'अनुत्सूत्रपदन्यास' इत्यादि श्लोक में श्लेषालंकार से न्यास का उल्लेख किया है । न्यास के सम्पादक ने इसी के आधार पर माघ को न्यासकार से उत्तरवर्ती लिखा है, वह अयुक्त है । यह हम पूर्व लिख चुके ।[1] प्राचीनकाल में न्यास नाम के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे । कोई न्यास ग्रन्थ भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका में भी उद्धृत है ।[2] एक न्यास मल्लवदिसूरि ने वामनविरचित विश्रान्तविद्याधर

१. पूर्व पृष्ठ ३३४ ।

२. देखो पूर्व पृष्ठ २७७ पर महाभाष्यदीपिका का ३६ वां उद्धरण ।

व्याकरण पर लिखा था।[1] पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दी ने भी पाणि-नीयाष्टक पर 'शब्दावतार' नामक एक न्यास लिखा था। अतः महा-कवि माघ ने किस न्यास की ओर संकेत किया है, यह अज्ञात है। हाँ इतना निश्चित है कि माघ के उपर्युक्त श्लोकांश में जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास का उल्लेख नहीं है, क्योंकि शिशुपालवध का रचना काल सं० ६८२-७०० के मध्य है।[2]

भामह और न्यासकार

भामह ने अपने अलंकार शास्त्र में लिखा है—

शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथंचिदुदाहरेत्॥
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिस्तद्गमको यथा॥

इन श्लोकों में स्मृत न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि नहीं है, क्योंकि उस के सम्पूर्ण न्यास में कहीं पर भी 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (अष्टा० १।४।३०) के ज्ञापक से 'वृत्रहन्ता' पद में समास का विधान नहीं किया। न्यास के सम्पादक ने उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर भामह का काल सन् ७७५ ई० अर्थात् सं० ८३२ वि० माना है।[4] यह ठीक नहीं, क्योंकि सं० ६८७ वि० के समीपवर्ती स्कन्द-महेश्वर ने अपनी निरुक्तटीका में भामह के अलंकार ग्रन्थ का एक श्लोक उद्धृत किया है।[5] अतः भामह निश्चय ही वि० सं० ६८७ से पूर्ववर्ती है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि व्याकरण पर अनेक न्यास ग्रन्थ रचे गये थे। अतः भामह ने किस न्यासकार का उल्लेख किया है, यह अज्ञात है। इसलिये केवल न्यास नाम के उल्लेख से भामह जिनेन्द्रबुद्धि से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता।

---

१. इस का वर्णन 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में करेंगे।

२. देखो पूर्व पृष्ठ ३२३। ३. देखो पूर्व पृष्ठ ३३४, ३३५।

४. न्यास की भूमिका, पृष्ठ २६। ५. देखो निरुक्त टीका १०।१६। आह-तुल्यश्रुतीनां.......तन्निरुच्यते। यह भामह के अलंकार शास्त्र २। १७ का वचन है। निरुक्तटीका का पाठ त्रुटित तथा अशुद्ध है।

न्यास के व्याख्याता

१. मैत्रेय रक्षित

मैत्रेय रक्षित ने न्यास की 'तन्त्रप्रदीप' नाम्नी महती व्याख्या रची है। सौभाग्य से इसका एक हस्तलेख कलकत्ता के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। हस्तलेख में प्रथमाध्याय के प्रथम पाद का ग्रन्थ नहीं है, शेष संपूर्ण है। देखो बंगाल गवर्नमेण्ट की आज्ञानुसार पं० राजेन्द्रलाल सम्पादित सूचीपत्र भाग ६, पृष्ठ १४०, ग्रन्थाङ्क २०७६।

मैत्रेय रक्षित का काल संवत् ११४०—११६५ तक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1]

तन्त्रप्रदीप के व्याख्याता

१. नन्दनमिश्र—नन्दनमिश्र न्यायवागीश ने तन्त्रप्रदीप की 'तन्त्रप्रदीपोद्योतन' नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। नन्दनमिश्र के पिता का नाम वाणेश्वरमिश्र है। इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय का हस्तलेख कलकत्ता के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो पं० राजेन्द्रलाल संपादित पूर्वोक्त सूचीपत्र भाग ६, पृष्ठ १५० ग्रन्थांक २०८३।

२. सनातन तर्काचार्य—इसने तन्त्रप्रदीप पर 'प्रभा' नाम्नी टीका लिखी है। प्रो० कालीचरण शास्त्री हुबली का मैत्रेय रक्षित पर एक लेख भारत-कौमुदी भाग दो में छपा है। उसमें उन्होंने इस टीका का उल्लेख किया है।

३. तन्त्रप्रदीपालोककार—किसी अज्ञातनामा पण्डित ने तंत्रप्रदीप पर 'आलोक' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका उल्लेख भी प्रो० कालीचरण शास्त्री के उक्त लेख में है।

हम इन ग्रन्थकारों के विषय में अधिक नहीं जानते।

२. मल्लिनाथ

मल्लिनाथ ने न्यास की 'न्यासोद्योत' नाम्नी टीका लिखी थी। आफ्रेक्ट ने बृहत् सूचीपत्र में इसका उल्लेख किया है। मल्लिनाथ ने स्वयं किरातार्जुनीय की टीका में न्यासोद्योत के पाठ उद्धृत किये हैं।[2]

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २८३।

२. उक्तं च न्यासोद्योते—न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्य, अपि तु गम्यमानापि २।१७, पृष्ठ २४, निर्णयसागर संस्क०।

मल्लिनाथ साहित्य और व्याकरण का अच्छा पण्डित है। यह उसकी काव्यटीकाओं से भले प्रकार विदित होता है।

मल्लिनाथ का काल—मल्लिनाथ का निश्चित काल अज्ञात है। सायण ने धातुवृत्ति में 'न्यासोद्योत' के पाठ उद्धृत किये हैं।[1] सायण का काल संवत् १३७२—१४४४ तक माना जाता है। अतः मल्लिनाथ विक्रम की १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का या उस से पूर्ववर्ती है, इतना सामान्यतया कहा जा सकता है।

३. महामिश्र

महामिश्र नाम के किसी पण्डित ने न्यास पर एक व्याख्या लिखी है। इसका नाम 'व्याकरणप्रकाश' है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग का एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ४१।

महामिश्र ने विद्यापति की प्रेरणा से यह ग्रन्थ लिखा है।[2] यह विद्यापति कौन है, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। यदि यह विद्यापति लक्ष्मणसेन का सभ्य हो तो इसका काल विक्रम की १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध होगा। महामिश्र के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

४. रत्नमति

सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व ३।१।५ पर रत्नमति का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

न तु संशयवति पुरुष इति न्यासः। अतः सप्तम्यर्थे बहुव्रीहिः। संशयकर्तरि पुरुष एवेति तद्रत्नमतिः[3]।

इस उद्धरण में यदि तच्छब्द से न्यास ही अभिप्रेत हो तो मानना होगा कि रत्नमति ने न्यास पर कोई ग्रन्थ लिखा था। रत्नमति के व्याकरण-विषयक अनेक उद्धरण अमरटीकासर्वस्व और धातुवृत्ति आदि में उद्धृत हैं।

---

१. पृष्ठ ११, २१६ काशी संस्क०। २. विद्यापतेः प्रेरणकारणेन कृतो मया व्याकरणप्रकाशः। सूचीपत्र पृष्ठ २५८ पर निर्दिष्ट।

३. भाग ४ पृष्ठ ३।

२–इन्दुमित्र (सं० ११५० से पूर्ववर्ती)

इन्दुमित्र नाम के वैयाकरण ने काशिका की एक "अनुन्यास" नाम्नी व्याख्या लिखी थी। इन्दुमित्र को अनेक ग्रन्थकार 'इन्दु' नाम से स्मरण करते हैं। इन्दु और उसके अनुन्यास के उद्धरण माधवीया धातुवृत्ति[1], उज्जवलदत्त की उणादिवृत्ति[2], सीरदेवीय परिभाषावृत्ति[3], दुर्घवृत्ति[4] प्रक्रिया कौमुदी की प्रसादटीका[5] और अमरटीकासर्वस्व[6] आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इन्दुमित्र ने अष्टाध्यायी पर 'इन्दुमती' नाम्नी एक वृत्ति लिखी थी, उसका उल्लेख हम पूर्व (पृष्ठ ३४७) कर चुके हैं।

आफ्रेख्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में अनुन्यास के नाम से तन्त्रप्रदीप का उल्लेख किया है, वह चिन्त्य है। सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में अनुन्यास-कार और तन्त्रप्रदीपकार के शाश्वतिक विरोध का उल्लेख किया है। यथा—

एतस्मिन् वाक्ये इन्दुमैत्रेययोः शाश्वतिको विरोधः। पृष्ठ ७६।
उद्देशग्रहणानुवर्तनं प्रति रक्षितानुन्यसयोर्विवाद एव। पृष्ठ २८।

अनुन्यासकार इन्दुमित्र का काल हम पूर्व लिख चुके हैं। तदनुसार इन्दुमित्र का काल सं० ८०० से ११५० के मध्य है। देखो पृष्ठ ३४७।

३–महान्यासकार (सं० १२१५ से पूर्ववर्ती)

किसी वैयाकरण ने काशिका पर 'महान्यास' नाम्नी टीका लिखी थी। इस के उद्धरण उज्ज्वलदत्त की उणादि वृत्ति और सर्वानन्द विरचित अमरटीकासर्वस्व में उपलब्ध होते हैं। वे निम्न हैं—

१. **टित्वमभ्युपगम्य गौरादित्वात् सूचीति महान्यासे।**[8]
२. **वहतेः घञ्, ततष्ठन् इति महान्यासः।**[9]
३. **चुल्लीति महान्यास इति उपाध्यायसर्वस्वम्।**[10]

---

१. पृष्ठ २०१। २. पृष्ठ १, ५५, ८८। ३. पृष्ठ २८, ७०।
४. पृष्ठ १२०, १२३, १२६। ५. भाग १, पृष्ठ ६१०। भाग २, पृष्ठ १४५
६. भाग १, पृष्ठ ६०। भाग २, पृष्ठ ३३६। ७. सूचीपत्र भाग २
८. उज्ज्वल उणादिवृत्ति पृष्ठ १६५।
९. अमरटीका० भाग २, पृष्ठ ३७६।
१०. अमरटीका० भाग ३, पृष्ठ २७७।

इन में प्रथम उद्धरण काशिका १। २। ५० के 'पञ्चसूचिः' उदाहरण की व्याख्या से उद्धृत किया है। द्वितीय उद्धरण का मूल स्थान अज्ञात है। ये दोनों उद्धरण जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास में उपलब्ध नहीं होते। अतः महान्यास उस से पृथक् है। महान्यास के कर्त्ता का नाम अज्ञात है। एक महान्यास क्षपणक व्याकरण पर भी था। मैत्रेय ने तन्त्रप्रदीप ४। १। १५५ पर उसे उद्धृत किया है।[1]

महान्यास का काल—सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व की रचना शकाब्द १०८१ अर्थात् वि० सं० १२१५ में की थी। यह हम पूर्व लिख चुके। अतः महान्यासकार का काल सं० १२१५ से प्राचीन है। महान्यास संज्ञा से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ न्यास और अनुन्यास दोनों ग्रन्थों से पीछे बना होगा।

४—विद्यासागर मुनि (१११५ से पूर्व)

विद्यासागर मुनि ने काशिका की 'प्रक्रियामञ्जरी' नाम्नी टीका लिखी है। यह ग्रन्थ मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग ३ खण्ड १ A पृष्ठ ३५०७ ग्रन्थाङ्क २४९३। इस का एक हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम् में भी है। देखो सूचीपत्र भाग ३ ग्रन्थाङ्क ३३।

इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक लेख इस प्रकार है—

> वन्दे मुनीन्द्रान् मुनिवृन्दवन्द्यान्
> श्रीमद्गुरून् श्वेतगिरीन् रिष्ठान्।
> न्यासकारवचःपद्मनिकरोद्गीर्णमम्बरं
> गृह्णामि मधुप्रीतो विद्यासागरषट्पदः॥

वृत्ताविति—सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो भट्टनल्पूरप्रभृतिभिर्विरचितो वृत्ति........।

उपरि निर्दिष्ट श्लोक से विदित होता है कि विद्यासागर के गुरु का नाम श्वेतगिरि था।

काल

पूर्व निर्दिष्ट उद्धरण में विद्यासागर मुनि ने केवल न्यासकार का उल्लेख किया है। पदमञ्जरी अथवा उस के कर्त्ता हरदत्त का उल्लेख नहीं है। इस से प्रतीत होता है कि विद्यासागर हरदत्त से पूर्ववर्ती है।

---

१. देखो, धातुप्रदीप की भूमिका, पृष्ठ १।

ग्रन्थ के अन्त में "इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकचार्य विद्यासागरमुनीन्द्रविरचितायां ...." पाठ उपलब्ध होता है।

५—हरदत्त मिश्र (सं० ११९५)

हरदत्त मिश्र ने काशिका की 'पदमञ्जरी' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के अवलोकन से उसके पाण्डित्य और ग्रन्थ की प्रौढ़ता स्पष्ट प्रतीत होती है। हरदत्त केवल व्याकरण का पण्डित नहीं है। इसने श्रौत, गृह्य और धर्म आदि अनेक सूत्रों की व्याख्याएं लिखी हैं। हरदत्त पण्डितराज जगन्नाथ के सदृश अपनी अत्यधिक प्रशंसा करता है।[1]

परिचय—हरदत्त ने पदमञ्जरी ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

> तातं पद्मकुमाराख्यं प्रणम्याम्बां श्रियं तथा।
> ज्येष्ठं चाग्निकुमाराख्यमाचार्यमपराजितम् ॥

अर्थात्—हरदत्त के पिता का नाम 'पद्मकुमार' (पाठान्तर-रुद्रकुमार), माता का नाम 'श्री', ज्येष्ठभ्राता का नाम 'अग्निकुमार' और गुरु का नाम 'अपराजित' था।

हरदत्त ने प्रथम श्लोक में शिव को नमस्कार किया है।[2] अतः वह शैव मतानुयायी था।

देश—ग्रन्थ के आरम्भ में हरदत्त ने अपने को दक्षिण देशवासी लिखा है।[3] पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ५१९ से विदित होता है कि हरदत्त द्रविड़ देशवासी था।[4] हरदत्तकृत अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि यह चोल-देशान्तर्गत कावेरी नदी के किसी तटवर्ती ग्राम का निवासी और द्रविड़भाषा-भाषी था।[5]

---

१. प्रक्रियातर्कगहनप्रविष्टो हृष्टमानसः। हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्यते ॥ पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४६। २. तस्मै शिवाय परमाय दशाव्ययाय साम्बाय सादरमय विहितः प्रणामः। ३. यश्चिराय हरदत्तसंज्ञया विश्रुतो दशसु दिक्ष दक्षिणः। पृष्ठ १। ४. लेटशब्दस्तु वृत्तिकारदेशे जगुप्सितः, यथात्र द्रविडदेशे निविशब्दः। ५. अनुष्ठानमपि चोलदेशे प्रायेणवम्। गौतम धर्म० टीका १४।४४॥ यस्यां वसन्ति यामुपजीवन्ति। यथा तीरेण कावेरि तव। आपस्तम्बगृह्यटीका १४ ६॥ किलासः त्वग्दोषः तेमल् इति द्रविडभाषायां प्रसिद्धः। गौतम धर्म० टीका ११।१८॥

काल—हरदत्त ने अपने ग्रन्थ में ऐसी किसी घटना का उल्लेख नहीं किया, जिससे उसके काल का निश्चित ज्ञान हो। कैयट के कालनिर्णय के लिये हमने कुछ ग्रन्थकारों का पौर्वापर्य द्योतक चित्र दिया है।[1] उसके अनुसार हरदत्त का काल वि० सं० ११९५ के लगभग प्रतीत होता है। न्यास के संपादक ने हरदत्त और मैत्रेय दोनों का काल सन् ११०० ई० अर्थात ११५७ वि० माना है।[2] वह ठीक नहीं। क्योंकि मैत्रेय रक्षित विरचित धातुप्रदीप पृष्ठ १३१ पर धर्मकीर्तिकृत रूपावतार का उल्लेख है।[3] रूपावतार भाग २ पृष्ठ १५७ पर हरदत्त का मत उद्धृत है।[4] अतः हरदत्त और मैत्रेय रक्षित दोनों समकालिक नहीं हो सकते।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

१. महापदमञ्जरी—पदमञ्जरी १।१।२० पृष्ठ ७२ से विदित होता है कि हरदत्त ने एक 'महापदमञ्जरी' संज्ञक ग्रन्थ रचा था।[5] यह ग्रन्थ किस की टीका थी, यह अज्ञात है। सम्भव है, यह भी काशिका की व्याख्या हो। महापदमञ्जरी ग्रन्थ इस समय अप्राप्य है।

२. परिभाषा-प्रकरण—पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ४२७ से जाना जाता है कि हरदत्त ने 'परिभाषाप्रकरण' नाम्नी परिभाषावृत्ति लिखी थी।[6] यह ग्रन्थ भी इस समय अप्राप्य है।

इसके अतिरिक्त हरदत्त मिश्र के निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

१. आश्वलायन गृह्य व्याख्या—अनाविला।
२. गौतम धर्मसूत्र व्याख्या—मिताक्षरा।
३. आपस्तम्ब गृह्य व्याख्या—अनाकुला।
४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र व्याख्या—उज्ज्वला।
५. आपस्तम्ब गृह्य मन्त्र व्याख्या।
६. आपस्तम्ब परिभाषा व्याख्या।

---

१. पूर्व पृष्ठ २८३। २. न्यास की भूमिका पृष्ठ २६।

३. रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव कृते सत्येकाच्त्वात् यङ्गाहृतः, चोचूर्यत इति। देखो रूपावतार भाग २ पृष्ठ २०६। ४. कुङ् शब्दे, अकूत इति, वेदलोकप्रयोगदर्शनाद् दीर्घान्त एवायं हरदत्ताभिमतः। ५. भाष्यवार्तिक-विरोधस्तु महापदमञ्जर्यामस्माभिः प्रपञ्चितः। ६. एतच्चास्माभिः परिभाषा-प्रकरणाख्ये ग्रन्थे उपपादितम्।

७. एकाग्निकाण्ड व्याख्या।

८. श्रुतिसूक्तिमाला।

कई विद्वान् इन ग्रन्थों के रचियता हरदत्त को पदमञ्जरीकार हरदत्त से भिन्न व्यक्ति मानते हैं, परन्तु इन ग्रन्थों की पदमञ्जरी के साथ तुलना करने से इन सब का कर्त्ता एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है।

पदमञ्जरी के व्याख्याता

१. रङ्गनाथ यज्वा (सं० १७४४ के लगभग)

चोलदेश निवासी रंगनाथ यज्वा ने पदमञ्जरी की 'मञ्जरीमकरन्द' नाम्नी टीका लिखी है। इस टीका के कई हस्तलेख मद्रास[1], अडियार[2] और तञ्जौर[3] के राजकीय पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। अडियार के सूचीपत्र में इसका नाम 'परिमल' लिखा है।

परिचय—रंगनाथ यज्वा ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया—

यो नारायणदीक्षितस्य नप्ता नल्लादीक्षितसूरिणस्तु पौत्रः।
श्रीनारायणदीक्षितेन्द्रपुत्रो व्याचष्टामयेष रङ्गनाथयज्वा॥

प्रथमाध्याय के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

इतिश्री सर्ववेदवेदाङ्गसर्वक्रत्वग्निचितः पौत्रेण नारायणदीक्षिताग्निचिद्द्वादशाहयाजितनयेन रङ्गनाथदीक्षितेन विरचिते मंजरीमकरन्दे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।

इन आद्यन्त लेखों के अनुसार रङ्गनाथ यज्वा नल्ला दीक्षित का पौत्र, नारायण दीक्षित का पुत्र और नारायण दीक्षित का दौहित्र है। यह कौण्डिन्य गोत्रज थे।

रंगनाथ का नाना नारायण दीक्षित नल्ला दीक्षित के भ्राता धर्मराज यज्वा का शिष्य था। इसने कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप की टीका लिखी थी। देखो, पूर्व पृष्ठ ३०५।

रामचन्द्र अध्वरी रंगनाथ यज्वा का चचेरा भाई था। रामचन्द्र के पिता का नाम यज्ञराम दीक्षित और पितामह का नाम नल्ला दीक्षित था।

---

१. सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १C पृष्ठ ५७०१, ग्रन्थांक ३८५१। २. सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ ७२। ३. सूचीपत्र भाग १० पृष्ठ ४१४६ ग्रन्थाङ्क ५४६६।

यह कुल श्रौतयज्ञों के अनुष्ठान के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इनका पूर्ण वंश हम पूर्व पृष्ठ ३०६ पर दे चुके हैं।

वामनाचार्य सूनु वरदाराज कृत क्रतुवैगुण्यप्रायश्चित्त के प्रारम्भ में रंगनाथ यज्वा को चोलदेशान्तर्गत 'करण्डमाणिक्य' ग्राम का रहनेवाला और पदमञ्जरी की 'मकरन्द' टीका तथा सिद्धान्तकौमुदी की 'पूर्णिमा' व्याख्या का रचियता लिखा है।[1]

काल—तञ्जौर के पुस्तकालय के सूचीपत्र में रङ्गनाथ का काल १७ वीं शताब्दी लिखा है। रङ्गनाथ यज्वा के चचेरे भाई रामचन्द्र यज्वा विरचित उणादिवृत्ति तथा परिभाषावृत्ति की व्याख्या से विदित होता है कि यह तञ्जौर के 'शाहजी' नामक राजा का समकालिक था।[2] शाहजी के राज्य काल का प्रारम्भ सं० १७४४ से माना जाता है। अतः रंगनाथ यज्वा का काल भी विक्रम की १८ वीं शताब्दी का मध्य भाग होगा।

२. शिवभट्ट

शिवभट्टविरचित पदमञ्जरी की 'कुङ्कुमविकास' नाम्नी व्याख्या का उल्लेख आफ्रेक्ट के बृहत् सूचीपत्र में उपलब्ध होता है। हमें इसका अन्यत्र उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ। इसका काल अज्ञात है।

३—रामदेव मिश्र (सं० ११९५–१३५० के मध्य)

रामदेव मिश्र ने काशिका की 'वृत्तिप्रदीप' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख डी० ए० वी० कालेजान्तर्गत लालचन्द पुस्तकालय तथा मद्रास और तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

काल—रामदेवविरचित 'वृत्तिप्रदीप' के अनेक उद्धरण माधवीया धातुवृत्ति में उपलब्ध होते हैं।[3] अतः रामदेव सायण (संवत् १३७२—

१. येन करण्डमाणिक्यग्रामरत्ननिवासिना। रङ्गनाथाध्वरीन्द्रेण मकरन्दाभिधा कृता॥ व्याख्या हि पदमञ्जर्याः कौमुद्याः पूर्णिमा तथा॥ मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय सूचीपत्र भाग १ खण्ड १ C पृष्ठ ८०८, ग्रन्थाङ्क ६३४ C।

२. भोजो राजति भोसलान्वयमणिः श्रीशाहपृथ्वीपतिः। ... ...रामभद्रमखी तेन प्रेरितः करुणाब्धिना। तञ्जौर पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग १०, पृष्ठ ४२३६, ग्रन्थाङ्क ५६७५।

३. पृष्ठ ३४, ५० इत्यादि।

१४४४) से पूर्ववर्ती है। यह इसकी उत्तर सीमा है। सायण धातुवृत्ति पृष्ठ ५० में लिखता है—हरदत्तानुवादी राममिश्रोऽपि। इससे प्रतीत होता है कि रामदेव हरदत्त का उत्तरवर्ती है।

रामदेव के विषय में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

७—वृत्तिरत्नकार

ट्रिवेण्ड्रम के राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ४ ग्रन्थाङ्क ५९ पर काशिका की 'वृत्तिरत्न' नाम्नी व्याख्या का उल्लेख है। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है।

८—चिकित्साकार

आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में काशिका की 'चिकित्सा' नाम्नी व्याख्या का उल्लेख किया है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

इस अध्याय में हमने काशिकावृत्ति के व्याख्याता १७ वैयाकरणों का वर्णन किया गया है। अगले अध्याय में पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकारों का वर्णन किया जायगा।

सोलहवां अध्याय

पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकार

पाणिनीय व्याकरण के अनन्तर कातन्त्र आदि अनेक लघु व्याकरण प्रक्रियाक्रमानुसार लिखे गये। इन व्याकरणों की प्रक्रियानुसार रचना होने से इनमें यह विशेषता है कि छात्र इन ग्रन्थों का जितना भाग अध्ययन करके छोड़ देता है, उसे उतने विषय का ज्ञान होजाता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी आदि शब्दानुशासनों के सम्पूर्ण ग्रन्थ का जब तक अध्ययन न हो तब तक किसी एक विषय का भी ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इसमें प्रक्रियानुसार प्रकरण रचना नहीं है। यथा समास प्रकरण द्वितीय अध्याय में रक्खा है, परन्तु समासान्त प्रत्यय पञ्चमाध्याय में लिखे हैं। समास में पूर्वोत्तर पद को निमित्त मान कर होने वाले कार्य का विधान षष्ठाध्याय के तृतीयपाद में किया है। कुछ कार्य प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद और कुछ द्वितीयाध्याय के चतुर्थ पाद में पढ़ा है। इस प्रकार समास से सम्बन्ध रखने वाला कार्य अनेक स्थानों में बंटा हुआ है। अतः छात्र जब तक अष्टाध्यायी के न्यून से न्यून छः अध्याय न पढ़ले तब तक उसे समास विषय का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः जब अल्पमेधस और लाघवप्रिय व्यक्ति पाणिनीय व्याकरण को छोड़कर कातन्त्र आदि प्रक्रियानुसारी व्याकरणों का अध्ययन करने लगे, तब पाणिनीय वैयाकरणों ने भी अष्टाध्यायी की प्रक्रियाक्रम से पठन पाठन की नई प्रणाली का आविष्कार किया। विक्रम की १६वीं शताब्दी के अनन्तर पाणिनीय व्याकरण का समस्त पठनपाठन प्रक्रियाग्रन्थानुसार होने लगा। इस कारण सूत्रपाठ-क्रमानुसारी पठनपाठन शनैः शनैः उच्छिन्न होगया।

दोनों प्रणालियों से अध्ययन में गौरव लाघव

यह सर्वसम्मत नियम है कि किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन यदि ग्रन्थकर्ता विरचित क्रम से किया जावे तो उसमें अत्यन्त सरलता होती है। इसी नियम के अनुसार सिद्धान्तकौमुदी आदि व्युत्क्रम ग्रन्थों की अपेक्षा अष्टाध्यायी के क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन करने से अल्प

परिश्रम और अल्पकाल में अधिक बोध होता है, और अष्टाध्यायी के क्रम से प्राप्त हुआ बोध चिरस्थायी होता है। हम उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करते हैं। यथा—

१—सिद्धान्तकौमुदी में 'आद् गुणः[1]' सूत्र अच्सन्धि में व्याख्यात है। वहां इसकी वृत्ति इस प्रकार लिखी है—

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात् संहितायाम्।[2]

इस वृत्ति में "अचि, पूर्वपरयोः, एकः, संहितायाम्" ये पद कहां से संगृहीत हुए, इसका ज्ञान सिद्धान्तकौमुदी पढ़ने वाले छात्र को नहीं होता। अतः उसे सूत्र के साथ साथ सूत्र से ५, ६ गुनी वृत्ति भी कण्ठाग्र करनी पड़ती है। अष्टाध्यायी के क्रमानुसार अध्ययन करने वाले छात्र को इन पदों की अनुवृत्तियों का सम्यक् बोध होता है, अतः उसे वृत्ति घोखने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। उसे केवल पूर्वानुवृत्त पदों के सम्बन्धमात्र का ज्ञान करना होता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी के क्रमानुसार पढ़नेवाले छात्र को सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा छठा भाग अर्थात् सूत्रमात्र कण्ठाग्र करना होता है। वह इतने महान् परिश्रम और समय की व्यर्थ हानि से बच जाता है।

२—अष्टाध्यायी में 'इट्' 'द्विर्वचन' 'नुम्' आदि के सब प्रकरण सुसम्बद्ध पढ़े हैं। यदि किसी व्यक्ति को इट् या नुम् की प्राप्ति के विषय में कहीं सन्देह उत्पन्न होजाय, तो अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़ा हुआ व्यक्ति ४, ५ मिनट में सम्पूर्ण प्रकरण का पाठ करके सन्देहमुक्त हो सकता है, परन्तु कौमुदी के क्रम से अध्ययन करने वाला शीघ्र संदेहमुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें ये सूत्र विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए हैं।

३—पाणिनीय व्याकरण में "विप्रतिषेधे परं कार्यम्,[3] असिद्धवदत्राभात्,[4] पूर्वत्रासिद्धम्[5]" आदि सूत्रों के अनेक कार्य ऐसे हैं जिनमें सूत्रपाठक्रम के ज्ञान की महती आवश्यकता होती है। सूत्रपाठक्रम के बिना जाने पूर्व, पर, आभात्, त्रिपादी, सपाद सप्ताध्यायी आदि का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, और इसके बिना शास्त्र का पूर्ण बोध नहीं होसकता। सिद्धान्तकौमुदी पढ़े हुए छात्र को सूत्रपाठ के क्रम का ज्ञान न

---

१. अष्टा० ६।१।८७॥ २. सूत्र संख्या ६९।

३. अष्टा० १।४।२॥ ४. अष्टा० ६।४।२२॥ ५. अष्टा० ८।२।१॥

होने से महाभाष्य पूर्णतया समझ में नहीं आता, उसे पदे पदे महती कठिनाई का अनुभव होता है, यह हमारा अपना अनुभव है।

४—सिद्धान्तकौमुदी आदि के क्रम से पढ़े हुए छात्र को व्याकरण-शास्त्र शीघ्र विस्मृत हाजाता है। अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरण पढ़नेवाले छात्र को सूत्रपाठ-क्रम और अनुवृत्ति के संस्कार के कारण शीघ्र विस्मृत नहीं होता।

सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों के आधार पर पाणिनीय व्याकरण पढ़ने में अन्य अनेक दोष हैं, जिन्हें हम विस्तरभिया नहीं लिखते।

यहां यह ध्यान में रखने योग्य है कि अष्टाध्यायी के क्रम से पाणिनीय व्याकरण पढ़ने के जो लाभ ऊपर दर्शाए हैं, वे उन्हें ही प्राप्त होते हैं, जिन्हें सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पूर्णतया कण्ठाग्र होती है और महाभाष्य के अध्ययन पर्यन्त बराबर कण्ठाग्र रहती है। जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठाग्र नहीं होती और अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरण पढ़ते हैं, वे न केवल उसके लाभ से वञ्चित रहते हैं, अपितु अधिक कठिनाई का अनुभव करते हैं प्राचीन काल में प्रथम अष्टाध्यायी कण्ठाग्र कराने की परिपाटी थी। इत्सिग भी अपने भारतयात्रा वर्णन में इसका निर्देश करता है।

पाणिनीय-क्रम का महान् उद्धारक

विक्रम की १५वीं शताब्दी से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रक्रियाग्रन्थों के आधार पर होने लगा और अतिशीघ्र सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रवृत्त होगया। १६वीं शताब्दी के अनन्तर अष्टाध्यायी के क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रायः लुप्त होगया। लगभग ४०० सौ वर्ष तक यही क्रम प्रवृत्त रहा। विक्रम की १९वीं शताब्दी के अन्त में महावैयाकरण दण्डी स्वामी विरजानन्द को प्रक्रियाक्रम से पाणिनीय व्याकरण अध्ययन में होने वाली हानियों की उपज्ञा हुई। अतः उन्होंने सिद्धान्तकौमुदी के पठन-पाठन को छोड़कर अष्टाध्यायी पढ़ाना प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के अध्ययन पर विशेष बल दिया। अब अनेक पाणिनीय वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी के क्रम को हानिकारक और अष्टाध्यायी के क्रम को लाभदायक मानने लगे हैं।

इस ग्रन्थ के लेखक ने पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अष्टाध्यायी के क्रम से किया है, और काशी में अध्ययन करते हुए सिद्धान्तकौमुदी

के पठनपाठन क्रम का भी परिशीलन किया है तथा अनेक छात्रों को सम्पूर्ण महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण पढ़ाया है। उससे हम भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि शब्दशास्त्र के ज्ञान के लिये पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अष्टाध्यायी के क्रम से ही करना चाहिये। काशी के व्याकरणाचार्यों को सिद्धान्तकौमुदी के क्रम से व्याकरण का जितना ज्ञान १०, १२ वर्षों में होता है, उससे अधिक ज्ञान अष्टाध्यायी के क्रम से ५, ६ वर्षों में हो जाता है और वह चिरस्थायी होता है, यह हमारा बहुधा अनुभूत है। इत्यलमति विस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।

अनेक वैयाकरणों ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रक्रिया ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से प्रधान प्रधान ग्रन्थकारों का वर्णन आगे किया जाता है—

१. धर्मकीर्ति (सं० ११४० के लगभग)

अष्टाध्यायी पर जितने प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ लिखे गये उनमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'रूपावतार' इस समय उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ का लेखक बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति है। यह न्यायबिन्दु आदि के रचयिता प्रसिद्ध बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति से भिन्न व्यक्ति है। धर्मकीर्ति ने अष्टाध्यायी के प्रत्येक प्रकरणों के उपयोगी सूत्रों का संकलन करके इसकी रचना की है।

धर्मकीर्ति का काल

धर्मकीर्ति ने रूपावतार में ग्रन्थ लेखन काल का निर्देश नहीं किया। अतः इसका निश्चित काल अज्ञात है। धर्मकीर्ति के काल निर्णय में जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं, वे निम्न हैं—

१. शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति की रचना शकाब्द १०९५ तदनुसार वि० सं० १२३० में की।[1] शरणदेव ने रूपावतार[2] और धर्मकीर्ति[3] दोनों का उल्लेख दुर्घटवृत्ति में किया है।

२. अमरटीकासर्वस्व में असकृत् उद्धृत मैत्रेयविरचित धातुप्रदीप के पृष्ठ १३१ में नामनिर्देश पूर्वक रूपावतार का उद्धरण मिलता है।[4] मैत्रेय का काल वि० सं० ११६५ के लगभग है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[5] यह धर्मकीर्ति की उत्तर सीमा है।

१. देखो पूर्व पृष्ठ ३५० टि० ५। २. पृष्ठ ७९। ३. पृष्ठ ३०। ४. रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव कृते सत्येकाच्त्वाद् यङुदाहृतश्चोचूर्यत इति। देखो रूपावतार भाग २ पृ० २०६। ५. पूर्व पृष्ठ २८३।

३. धर्मकीर्ति ने रूपावतार में पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख किया है।[1] हरदत्त का काल सं० ११९५ के लगभग है।

यह धर्मकीर्ति की पूर्व सीमा है। अतः रूपावतार का काल इन दोनों के मध्य में वि० सं० १०४० के लगभग मानना चाहिये। हरदत्त का काल आनुमानिक है, यदि उसका काल कुछ पूर्व खिच जाय तो धर्मकीर्ति का काल भी कुछ ऊपर सरक जायगा।

रूपावतार संज्ञक अन्य ग्रन्थ

जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय के सूचीपत्र पृष्ठ ४५ पर रूपावतार संज्ञक दो पुस्तकों का उल्लेख है। इनका ग्रन्थांक ४५ और ११०९ है। सूचीपत्र में ग्रन्थांक ४५ का कर्ता कृष्ण दीक्षित लिखा है। ग्रन्थाङ्क ११०९ का हस्तलेख हिन्दी भाषानुवाद सहित है। इस पर सूचीपत्र के सम्पादक स्टाईन ने टिप्पणी लिखी है—यह ग्रन्थ सं० ४५ से भिन्न है। विद्वानों को इन हस्तलेखों की तुलना करनी चाहिये।

रूपावतार के टीकाकार

१. शंकरराम

शंकरराम ने रूपावतार की 'नीवि' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके तीन हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम् के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान हैं। देखो सूचीपत्र भाग २ ग्रन्थाङ्क ६२; भाग ४ ग्रन्थाङ्क ४९; भाग ६ ग्रन्थाङ्क ३१।

शंकरराम का देश, काल और वृत्त अज्ञात है।

२. अज्ञातनामा

मद्रास राजकीय पुस्तकालय के सन् १९३७ के छपे हुए सूचीपत्र पृष्ठ १०३६८ पर रूपावतार के व्याख्या ग्रन्थ का उल्लेख है। इसका ग्रन्थाङ्क १५९१३ है। यह ग्रन्थ अपूर्ण है। यह बड़े आकार के ५२४ पृष्ठों पर लिखा हुआ है।

ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है। अत एव उसके काल का निर्णय दुष्कर है।

---

१. पूर्व पृष्ठ २८१, टि० ८।

२—प्रक्रियारत्नकार (सं० १३०० से पूर्व)

सायण ने अपनी धातुवृत्ति में प्रक्रियारत्न नामक ग्रन्थ को बहुधा उद्धृत किया है।[1] इन उद्धरणों के देखने से विदित होता है कि यह पाणिनीय सूत्रों पर प्रक्रियानुसारी व्याख्यान ग्रन्थ है। 'दैवम्' की लीला-शुक मुनि विरचित पुरुषकार व्याख्या में भी प्रक्रियारत्न उद्धृत है।[2]

ग्रन्थकार का नाम और देश काल आदि अज्ञात है। पुरुषकार में उद्धृत होने से इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थकार सं० १३०० से पूर्वभावी है। लीलाशुक मुनि का काल विक्रम संवत् १३०० - १३५० के मध्य माना जाता है।

३—विमल सरस्वती (सं० १४०० से पूर्व)

विमल सरस्वती ने पाणिनीय सूत्रों की प्रयोगानुसारी 'रूपमाला' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस ग्रन्थ में समस्त पाणिनीय सूत्र व्याख्यात नहीं है। रूपमाला का काल सं० १४०० से प्राचीन माना जाता है।

४—रामचन्द्र (सं० १४८० के लगभग)

रामचन्द्राचार्य ने पाणिनीय व्याकरण पर 'प्रक्रियाकौमुदी' संज्ञक ग्रन्थ रचा है। यह धर्मकीर्तिविरचित रूपावतार से विस्तृत है, परन्तु इसमें भी अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का निर्देश नहीं है। पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों के लिये इस ग्रन्थ की रचना हुई है। अतः ग्रन्थकर्ता ने सरल ढंग और सरल शब्दों में मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है। इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन प्रक्रियाज्ञान कराना है।

परिचय—रामचन्द्राचार्य का वंश शेषवंश कहाता है। व्याकरणज्ञान के लिये शेषवंश अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इस वंश के अनेक वैयाकरणों ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रौढ ग्रन्थ लिखे हैं। रामचन्द्र के पिता का नाम 'कृष्णाचार्य' था। रामचन्द्र के पुत्र 'नृसिंह' ने धर्मतत्त्वालोक के आरम्भ में रामचन्द्र को आठ व्याकरणों का ज्ञाता और साहित्यरत्नाकर

---

१. धातुवृत्ति काशी संस्क०, पृष्ठ ३१, ४२६ इत्यादि।

२. प्रयोक्षतं चैतत् प्रक्रियारत्ने। पृष्ठ ११०।

लिखा है। रामचन्द्र ने अपने पिता कृष्णाचार्य और ताऊ गोपालाचार्य से विद्याध्ययन किया था। रामचन्द्र के ज्येष्ठ भ्राता नृसिंह का पुत्र शेष कृष्ण रामचन्द्राचार्य का शिष्य था। रामचन्द्र का वंशवृत्त हम पूर्व दे चुके हैं।

काल—रामचन्द्र ने अपने ग्रन्थ के निर्माण काल का उल्लेख नहीं किया। रामचन्द्र के पौत्र विट्ठल ने प्रक्रिया कौमुदी की प्रसाद नाम्नी व्याख्या लिखी है, परन्तु उसने भी ग्रन्थरचना-काल का संकेत नहीं किया। रामचन्द्र के प्रपौत्र अर्थात् विट्ठल के पुत्र के हाथ का लिखा हुआ प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का एक हस्तलेख पूना के डक्कन कालेज के पुस्तकालय में विद्यमान है। इसके अन्त में ग्रन्थ लेखन काल सं० १५८२ लिखा है।[3] प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का सं० १५६० का हस्तलेख बड़ोदा के राजकीय पुस्तकालय में वर्तमान है।[4] इससे भी पुराना सं० १५३६ का लिखा हुआ प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में सुरक्षित है इसके अन्त का लेख इस प्रकार है—

सं० १५३६ वर्षे माघवदि एकादशी रवौ श्रीमदानन्दपुर-स्थानोत्तमे आभ्यन्तरनगरजातीयपण्डितअनन्तसुतपण्डितनारायणादीनां पठनार्थं । कुठारी व्यवगहितसुतेन विश्वरूपेण लिखितम।[5]

इससे सुव्यक्त है कि प्रक्रियाकौमुदी की टीका विट्ठल ने सं० १५३६ से पूर्व अवश्य बनाली थी। श्रीकृष्णविरचित प्रक्रियाकौमुदी वृत्ति का एक हस्तलेख भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च सोसाइटी के पुस्तकालय में है। इसका लिपिकाल सं० १५१४ है।[6] इससे निश्चित है कि प्रक्रियाकौमुदी की रचना सं० १५१४ से पूर्व अवश्य हो चुकी थी। इस वृत्ति का लेखक

१. देखो इण्डिया आफिस लन्दन के संग्रह का सूचीपत्र ग्रन्थाङ्क १५५६।

२. पूर्व पृष्ठ २६३।

३. प्र० कॉ० के हस्तलेखों का विवरण, पृष्ठ १२।

४. प्र० कौ० के हस्तलेखों का विवरण, पृष्ठ १७।

५. इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय का सूचीपत्र भा० २, पृष्ठ १६७, ग्रन्थांक ६१६।

६. सन् १९२५ में प्रकाशित सूचीपत्र पृष्ठ २ ग्रन्थांक ३२८।

श्रीकृष्ण रामचन्द्र का शिष्य और उसके ज्येष्ठ भ्राता नृसिंह का पुत्र प्रसिद्ध वैयाकरण शेष कृष्ण ही है। तदनुसार विट्ठल का काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना होगा।

प्रक्रियाकौमुदी के सम्पादक ने लिखा है कि हेमाद्रि ने अपनी रघुवंश की टीका में प्रक्रियाकौमुदी और उसकी प्रसाद टीका के दो उद्धरण दिये हैं। तदनुसार रामचन्द्र और विट्ठल का काल ईसा की १४ वीं शताब्दी है।[1]

प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता

१. शेष कृष्ण (सं० १५१०) के लगभग

गंगा यमुना के अन्तरालवर्ती पत्रपुञ्ज के राजा कल्याण की आज्ञा से नृसिंह के पुत्र शेष कृष्ण ने प्रक्रिया कौमुदी की 'प्रकाश' नाम्नी व्याख्या लिखी।[2] यह रामचन्द्र का शिष्य और रामचन्द्र के पुत्र नृसिंह का गुरु था। प्रक्रियाकौमुदी-प्रकाश का दूसरा नाम प्रक्रियाकौमुदी-वृत्ति भी है। इसका सं० १५१४ का एक हस्तलेख पूना के पुस्तकालय में सुरक्षित है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। अतः इसकी रचना सं० १५१४ से पूर्व हुई होगी। इसकी टीका के हस्तलेख तंजौर और लन्दनस्थ इण्डिया आफिस के पुस्तकालयों में भी विद्यमान हैं।

---

२. विट्ठल (सं० १५२० के लगभग)

रामचन्द्र के पौत्र और नृसिंह के पुत्र विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रसाद' नाम्नी टीका लिखी है। विट्ठल ने शेष कृष्ण के पुत्र रामेश्वर अपर नाम वीरेश्वर से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था, यह हम पूर्व पृष्ठ २५३ पर लिख चुके हैं। विट्ठल की टीका का सबसे पुराना हस्तलेख सं० १५३६ का है, यह भी हम पूर्व दर्शा चुके हैं। अतः इस टीका की रचना सं० १५३६ से कुछ पूर्व हुई होगी।

विट्ठल की टीका अत्यन्त सरल है। लेखनशैली में प्रौढ़ता नहीं है। सम्भव है विट्ठल का यह प्रथम ग्रन्थ हो। विट्ठल के लेख से विदित होता

---

१. प्र० कौ० भाग १, भूमिका पृष्ठ ४४, ४५।

२. कल्याणस्य तनूद्भवस्य नृपतिः कल्याणमूर्तेस्ततः कल्याणीमतिमाकलय्य विषमग्रन्थार्थसंवित्तये। कृष्णं शेषनृसिंहसूरितनयं श्री प्रक्रियाकौमुदीटीकां कर्तुममौ विशेषविदुषां प्रीत्यै समाज्ञापयत्। प्र० कौ० भाग १, भूमिका, पृष्ठ ५४।

है कि उसके काल तक प्रक्रिया कौमुदी में पर्याप्त प्रक्षेप हो चुका था।[1] अत एव उसने अपनी टीका का नाम प्रसाद रक्खा।

प्रक्रियाप्रसाद में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार—विट्ठल ने प्रक्रियाप्रसाद में अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है। जिनमें से कुछ एक ये हैं—

दर्पण कविकृत पाणिनीयमत दर्पण (श्लोकबद्ध) भाग १, पृ० ८, ३१८, ३४७ इत्यादि।

कृष्णाचार्यकृत उपसर्ग श्लोक—भाग १, पृ० ३०।

वोपदेवकृत विचारचिन्तामणि (श्लोकबद्ध) भाग १, पृ० १६७, १७९, २२८, २३० इत्यादि। काव्यकामधेनु—भाग २, पृ० २९५। मुग्धबोध—भाग १, पृ० २७९, ३७५, ४३१ इत्यादि। रामव्याकरण भाग २, पृ० २४४, ३२८। पदसिन्धुसेतु (सरस्वतीकण्ठाभरणप्रक्रिया) भाग १, पृ० ३१३।

मुग्धबोधप्रदीप—भाग २, पृ० १०२।

प्रबोधोदयवृत्ति—भाग २, पृ० ५३।

रामकौतुक (व्याकरणग्रन्थ) भाग १, पृ० ३६०।

कारकपरीक्षा—भाग १, पृ० ३८५।

प्रपञ्चप्रदीप (व्याकरणग्रन्थ) भाग १, पृ० ५९५।

कृष्णाचार्य—भाग १, पृ० ३४।

हेमसूरी—भाग २, पृ० १४६।

कविदर्पण—भाग १, पृ० ४३९, ६०७, ७६७ इत्यादि।

शाकटायन—भाग १, पृ० ३०३, ३०६।

नरेन्द्राचार्य भाग १, पृ० ८०७। वोपदेव—बहुत्र।

३—चक्रपाणिदत्त (सं० १५००—१५५०)

चक्रपाणिदत्त ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रक्रियाप्रदीप' नाम्नी व्याख्या लिखी थी। चक्रपाणिदत्त ने शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर से विद्याध्ययन

१. तथा च पण्डितंमन्यैः प्रक्षेपैर्मलिनी कृता। भाग १, पृष्ठ २। एतच्च कुर्वे इत्यस्मात् प्राक् स्थितं केनचिदज्ञानात् कोषादत्र पठितं ज्ञेयम्। भाग २ पृ० २७९।

किया था ।[1] चक्रपाणिदत्त ने 'प्रौढमनोरमाखण्डन' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसका उपलब्ध अंश काशी से प्रकाशित हुआ है । उसके पृष्ठ ४७ में लिखा है—

तस्मादुत्तरत्रानुवृत्त्यर्थं तदित्यस्मत्कृतप्रदीपोक्त एव निष्कर्षो बोध्यः ।

पुनः पृष्ठ १२० पर लिखा है--अन्यत्तु प्रक्रियाप्रदीपाद्‌वधेयम् ।

प्रक्रियाप्रदीप सम्प्रति उपलब्ध नहीं है । चक्रपाणिदत्त वीरेश्वर का शिष्य है, अतः उस का काल सं० १५००—१५५० के मध्य होगा ।

४— वारणवनेश

वारणवनेश ने प्रक्रियाकौमुदी की 'अमृतसृति' नाम्नी टीका लिखी है । इसका एक हस्तलेख तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है । देखो सूचीपत्र भाग १०, ग्रन्थाङ्क ५७५५ । वारणवनेश का काल अज्ञात है ।

५—विश्वकर्मा शास्त्री

विश्वकर्मा नाम के किसी वैयाकरण ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रक्रिया-व्याकृति' नाम्नी व्याख्या लिखी है । विश्वकर्मा के पिता का नाम दामोदर विज्ञ और पितामह का नाम भीमसेन था । इसका काल भी अज्ञात है । तञ्जौर के सूचीपत्र में इस टीका का नाम 'प्रक्रियाप्रदीप' लिखा है । देखो सूचीपत्र भाग १०, पृष्ठ ४३०४ ।

६—नृसिंह

किसी नृसिंह नामा विद्वान् ने प्रक्रियाकौमुदी की 'व्याख्यान' नाम्नी टीका लिखी है । इसका एक हस्तलेख उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय में है । देखो सूचीपत्र पृष्ठ ८० ।

---

१. विरोधिनां तिरोभावमव्या यद्भारतीभरः वीरेश्वरं गुरुशेषवशान्तं भजामितम् ॥ प्रौढमनोरमा खण्डन के प्रारम्भ में । मुद्रितग्रन्थ में 'वटेश्वरं गुरुं' पाठ है । हमारा पाठ लन्दन के इण्डिया आफिस पुस्तकालय के हस्तलेखानुसार है । देखो सूची० भाग २ पृष्ठ ६२, ग्रन्थाङ्क ७२८ ॥

दूसरा हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग २, खण्ड १ सी. पृष्ठ २२९३।

नृसिंह नाम के अनेक विद्वान् प्रसिद्ध हैं। यह कौनसा नृसिंह है, यह अज्ञात है।

७—निर्मलदर्पणकार

किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने प्रक्रियाकौमुदी की 'निर्मलदर्पण' नाम की टीका लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत है। देखो सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १ c. पृष्ठ ५५८६, ग्रन्थाङ्क ३७७५।

८—जयन्त

जयन्त ने प्रक्रियाकौमुदी की 'तत्त्वचन्द्र' नाम्नी व्याख्या लिखी है। जयन्त के पिता का नाम मधुसूदन था। यह तापती तटवर्ती 'प्रकाशपुरी' का निवासी था।[1] इस के ग्रन्थ का एक हस्तलेख लन्दन नगरस्थ इण्डिया आफिस पुस्तकालय के संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ १७०, ग्रन्थाङ्क ६२५।

जयन्त ने यह व्याख्या शेष कृष्ण विरचित प्रक्रियाकौमुदी की टीका के आधार पर लिखी है।[2] ग्रन्थकार ने प्रक्रियाकौमुदी की किसी और टीका का उल्लेख नहीं किया। अतः सम्भव है इसका काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी का मध्यभाग हो। यह जयन्त न्यायमञ्जरीकार जयन्त से भिन्न अर्वाचीन है।

---

१. भूपीठे तापतीतटे विजयते तत्र प्रकाशा पुरी,
तत्र श्रीमधुसूदनो विरुरुचे विद्वद्विभूषामणिः।
तत्पुत्रेण जयन्तकेन विदुषामालोच्य सर्वं मतम्,
तत्त्वे संकलिते समाप्तिमागमत् सन्धिस्थिता व्याकृतिः॥

२. श्रीकृष्णपण्डितवचोम्बुधिमन्थनोत्थम्,
सारं निपीय फणिसम्मतयुक्तिमिष्टम्।
अध्यर्धमविस्तरयुतां कुरुते जयन्तः,
सत्कौमुदीविवृतिमुत्तमसंमदाय॥

९—विद्यानाथ दीक्षित

विद्यानाथ ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रक्रियारञ्जन' नाम्नी टीका लिखी है। आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में इस टीका का उल्लेख किया है।

१०—वरदराज

वरदराज ने प्रक्रियाकौमुदी की 'विवरण' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या का एक हस्तलेख उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ८०, ग्रन्थाङ्क ७९१। यह वरदराज लघुकौमुदी का रचयिता है या अन्य, यह अज्ञात है।

५—भट्टोजिदीक्षित (सं० १५१०-१५७५ के मध्य)

भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनीय व्याकरण पर सिद्धान्तकौमुदी नाम्नी प्रयोगक्रमानुसारी व्याख्या लिखी है। इस से पूर्व के रूपावतार, रूपमाला और प्रक्रियाकौमुदी में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनता को पूर्ण करने के लिये भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी ग्रन्थ रचा। सम्प्रति समस्त भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन सिद्धान्तकौमुदी के आधार पर प्रचलित है।

भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी की रचना से पूर्व शब्दकौस्तुभ लिखा था। यह पाणिनीय व्याकरण की सूत्रपाठानुसारी विस्तृत व्याख्या है। इसका वर्णन हम अष्टाध्यायी के वृत्तिकार प्रकरण में कर चुके हैं।[1]

वंश और काल—इस विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं।[2]

सिद्धांतकौमुदी के व्याख्याता

१. भट्टोजि दीक्षित (सं० १५१० १५७५ के मध्य)

भट्टोजि दीक्षित ने स्वयं सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या लिखी है। यह प्रौढमनोरमा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रक्रियाकौमुदी और उस की टीकाओं का स्थान स्थान पर खण्डन किया है। भट्टोजि दीक्षित ने 'यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्' पर बहुत बल दिया है। प्राचीन ग्रन्थकार अन्य

---

१. पूर्व पृष्ठ ३५१। २. पूर्व पृष्ठ ३५१, ३५२।

वैयाकरणों के मतों का भी प्रायः संग्रह करते रहे हैं, परन्तु भट्टोजि दीक्षित ने इस प्रक्रिया का सर्वथा उच्छेद कर दिया। अतः आधुनिक काल के पाणिनीय वैयाकरण अर्वाचीन व्याकरणों के तुलनात्मक ज्ञान से सर्वथा वञ्चित होगये।

भट्टोजि दीक्षित कृत प्रौढमनोरमा पर उनके पौत्र हरि दीक्षित ने बृहच्छब्दरत्न और लघुशब्दरत्न दो व्याख्याएं लिखी हैं। कई विद्वानों का मत है कि लघुशब्दरत्न नागेश भट्ट ने लिखकर अपने गुरु के नाम से प्रसिद्ध कर दी है। बृहच्छब्दरत्न अभी अप्रकाशित है। लघुशब्दरत्न पर अनेक वैयाकरणों ने टीकाएं लिखी हैं।

२. ज्ञानेन्द्र सरस्वती (सं० १५५०-१६००)

ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने सिद्धान्तकौमुदी की 'तत्त्वबोधिनी' नाम्नी व्याख्या लिखी है। ग्रन्थकार ने प्रायः प्रौढमनोरमा का ही संक्षेप किया है। ज्ञानेन्द्र सरस्वती के गुरु का नाम वामनेन्द्र सरस्वती था। नीलकण्ठ वाजपेयी ज्ञानेन्द्र सरस्वती का शिष्य था। नीलकण्ठ ने महाभाष्य की 'भाष्य-तत्त्वविवेक' नाम्नी टीका लिखी है। इस का उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।[1]

काल—हम पूर्व पृष्ठ २९७ पर लिख चुके हैं कि भट्टोजि दीक्षित और ज्ञानेन्द्र सरस्वती दोनों समकालिक हैं। अतः तत्त्वबोधिनीकार का काल सं० १५५०—१६०० तक रहा होगा।

३. नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १५७५-१६२५ के मध्य)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने सिद्धान्तकौमुदी की 'सुखबोधिनी' नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह रामचन्द्र का पौत्र और वरदेश्वर का पुत्र था। नीलकण्ठ ने ज्ञानेन्द्र सरस्वती से विद्याध्ययन किया था। अतः इसका काल सं० १५७५—१६२५ के मध्य रहा होगा।

नीलकण्ठविरचित 'भाष्यतत्त्वविवेक' का वर्णन 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में पूर्व कर चुके हैं।[1]

४. रामानन्द (सं० १६८०—१७२०)

रामानन्द ने सिद्धान्तकौमुदी पर 'तत्त्वदीपिका' नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। वह इस समय हलन्त स्त्रीलिंग तक मिलती है।

---

१. पूर्व पृष्ठ २६६।

परिचय तथा काल—रामानन्द सरयूपारीण ब्राह्मण था। इन के पूर्वज काशी में आकर बस गये थे। रामानन्द के पिता का नाम मधुकर त्रिपाठी था। ये अपने समय के उत्कृष्ट शैव विद्वान् थे।

रामानन्द का दाराशिकोह के साथ विशेष सम्बन्ध था, दाराशिकोह के कहने से रामानन्द ने विराड्विवरण नामक एक पुस्तक रची थी। उस की रचना संवत् १७१२ वैशाख शुक्ल पक्ष १३ शनिवार को समाप्त हुई थी। दाराशिकोह ने रामानन्द की विद्वत्ता से मुग्ध होकर उन्हें "विविध-विद्याचमत्कारपारङ्गत" उपाधि से भूषित किया था।

अन्य ग्रन्थ

रामानन्द ने संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक ग्रन्थ लिखे थे। जिन में से लगभग ५० ग्रन्थ समग्र तथा खण्डित उपलब्ध हैं। सिद्धान्तकौमुदी टीका के अतिरिक्त रामानन्दविरचित लिङ्गानुशासन की एक अपूर्ण टीका भी उपलब्ध होती है। यह टीका पाणिनीय लिङ्गानुशासन पर है।[1]

५. नागेश भट्ट (सं० १७२०—१७८० के मध्य)

नागेश भट्ट ने सिद्धान्तकौमुदी की दो व्याख्याएं लिखी हैं। इन के नाम हैं बृहच्छब्देन्दुशेखर और लघुशब्देन्दुशेखर। लघुशब्देन्दु-शेखर पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। बृहच्छब्देन्दुशेखर अभी तक अमुद्रित है। इस के हस्तलेख भारत के विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। शब्देन्दुशेखर की रचना महाभाष्यप्रदीपोद्योत से पूर्व हुई थी।[2]

नागेश भट्ट के काल आदि का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं।[3]

६. रामकृष्ण (सं० १७४४ से पूर्व)

रामकृष्ण ने सिद्धान्तकौमुदी की "रत्नाकर" नाम्नी टीका लिखी है। इस के पिता का नाम तिरुमल और पितामह का नाम वेङ्कटाद्रि था। इस के हस्तलेख तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालय और जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। जम्मू के एक हस्तलेख का लेखन काल सं० १७४४ है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ५०।

---

१. रामानन्द के लिये देखो आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस १२ वां अधिवेशन सन् १९४४ भाग ४, पृष्ठ ४७—५८।

२. शब्देन्दुशेखरे स्पष्टं निरूपितमस्माभिः महाभाष्य प्रदीपोद्योत २।१।१२, पृष्ठ ३६८, कालम २।

३. पूर्व पृष्ठ ३०६—३०८।

७. रङ्गनाथ यज्वा (सं० १७४४)

हम ने पूर्व पृष्ठ ३७३ टि० १ पर वामनाचार्यसूनु वरदराजकृत क्रतुवैगुण्यप्रायश्चित्त के श्लोक उद्धृत किये हैं। उन से जाना जाता है कि रङ्गनाथ यज्वा ने सिद्धान्तकौमुदी की "पूर्णिमा" नाम्नी टीका लिखी थी।

रङ्गनाथ यज्वा के वंश और काल का परिचय हम पूर्व पृष्ठ ३७२-३७३ पर दे चुके हैं।

८. वासुदेव वाजपेयी (सं० १७५०-१८००)

वासुदेव ने सिद्धान्तकौमुदी की 'बालमनोरमा' नाम्नी टीका लिखी है। यह सरल होने से छात्रों के लिये वस्तुतः बहुत उपयोगी है। बालमनोरमा के अन्तिम वचन से ज्ञात होता है कि इस के पिता का नाम महादेव वाजपेयी, माता का नाम अन्नपूर्णा और गुरु का नाम विश्वेश्वर वाजपेयी था। यह चोल (तञ्जौर) देश के भोसलवंशीय शाहजी, शरभजी तुक्कोजी नामक तीन राजाओं के मन्त्री विद्वान् सार्वभौम आनन्दराय का अध्वर्यु था।

शाहजी शरभजी और तुक्कोजि राजाओं का राज्यकाल सन् १६८७-१७३८ अर्थात् वि० सं० १७४४—१७९३ तक माना जाता है। बालमनोरमा के अन्तिम लेख में तुक्कोजि राजा के नाम का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि बालमनोरमा की रचना तुक्कोजि के काल में हुई थी। अतः बालमनोरमाकार का काल सं० १७५०—१८०० के मध्य मानना चाहिये।

९. कृष्णमित्र

कृष्णमित्र ने सिद्धान्तकौमुदी पर 'रत्नार्णव' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में किया है। कृष्णमित्र ने शब्दकौस्तुभ की 'भावप्रदीप' नाम्नी टीका लिखी है। इस का वर्णन हम पूर्व पृष्ठ ३५४ पर कर चुके। इसने सांख्य पर तत्त्वमीमांसा नामक एक निबन्ध भी लिखा है। देखो हमारे मित्र माननीय श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री विरचित "सांख्य दर्शन का इतिहास" पृष्ठ ३१८।

१०. रामचन्द्र

शेषवंशीय रामचन्द्र ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वरप्रक्रिया अंश की व्याख्या लिखी है। रामचन्द्र के पिता का नाम 'नागोजी' था। जम्मू के रघुनाथ मन्दिरस्थ पुस्तकालय के हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

इति शेषकुलोत्पन्नेन नागोजी पण्डितानां पुत्रेण रामचन्द्र-पण्डितेन विरचिता स्वरप्रक्रिया व्याख्या समाप्ता । सं० १८४७ वैशाखम से शुक्लपक्षे ४ वार शनिश्चर ।

ए० शेष रामचन्द्र शेष नारायण का शिष्य है, यह हम पूर्व पृष्ठ २९४ पर लिख चुके हैं ।

११ तिरुमल द्वादशाहयाजी

तिरुमल द्वादशाहयाजी ने कौमुदी की 'सुमनोरमा' टीका लिखी है । तिरुमल के पिता का नाम वेङ्कट है । हम संख्या ६ पर रामकृष्णविरचित रत्नाकर व्याख्या का उल्लेख कर चुके हैं । रामकृष्ण के पिता का नाम तिरुमल और पितामह का नाम वेङ्कटाद्रि है । यदि रामकृष्ण का पिता यही तिरुमल यज्वा हो तो इस का काल सं० १७०० के लगभग मानना होगा ।

सुमनोरमा का एक हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में है । देखो सूचीपत्र भाग १०, पृष्ठ ४२११, ग्रन्थाङ्क ५६४९ ।

१२. तोप्पल दीक्षितकृत	—	प्रकाश
१३. अज्ञातकर्तृक	—	लघुमनोरमा
१४. ,, ,,	—	शब्दसागर
१५. ,, ,,	—	शब्दरसार्णव
१६ ,, ,,	—	सुधाञ्जन

सिद्धान्तकौमुदी की इन टीकाओं के हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं । देखो सूचीपत्र भाग १०, ग्रन्थाङ्क ५६६०-५६६३, ५६६६ ।

१७. लक्ष्मी नृसिंह — विलास

इस टीका का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में है । देखो सूचीपत्र भाग २९, पृष्ठ १०५७५, ग्रन्थाङ्क १६२३४ ।

१८. शिवरामचन्द्र सरस्वती	—	रत्नाकर
१९. इन्द्रदत्तोपाध्याय	—	फक्किकाप्रकाश
२०. सारस्वत व्यूढमिश्र	—	बालबोध
२१. वल्लभ	—	मानमरञ्जनी

इन टीकाओं का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में किया है । संख्या १८ का शिवरामचन्द्र सरस्वती शिवरामेन्द्र सरस्वती ही है ।

इसने महाभाष्य की भी रत्नाकर नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इसका उल्लेख हम पूर्व पृष्ठ २९८ पर कर चुके हैं।

सिद्धान्तकौमुदी के सम्प्रदाय में प्रौढमनोरमा, लघुशब्देन्दुशेखर और बृहच्छब्देन्दुशेखर आदि पर अनेक टीका टिप्पणियाँ लिखी गई हैं। विस्तरभिया हमने उन सबका निर्देश यहाँ नहीं किया।

प्रौढमनोरमा के खण्डनकर्त्ता

अनेक वैयाकरणों ने भट्टोजि दीक्षित कृत प्रौढमनोरमा के खण्डन में ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से कुछ एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिताओं का उल्लेख हम नीचे करते हैं—

१ शेषवीरेश्वर-पुत्र (सं० १५७५ के लगभग)

वीरेश्वर अपर नाम रामेश्वर के पुत्र ने प्रौढमनोरमा के खण्डन पर एक ग्रन्थ लिखा था। इसका उल्लेख पण्डितराज जगन्नाथ ने 'प्रौढमनोरमा खण्डन'[1] में किया है। वह लिखता है—

"……शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णाख्यपण्डितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनास्तेषु च पारमेश्वरं पदं प्रयातेषु कलिकालवशंवदीभवन्तस्तत्र भवद्भिरुल्लासितं प्रक्रिया-प्रकाशमाशयानवबोधनिबन्धनैर्दूषणैः स्वयंनिर्मितायां मनोरमायामाकुलयमकार्षुः। सा च प्रक्रियाप्रकाशकृतां पौत्रैरखिलशास्त्रमहार्णवमन्थाचलायमानमानसानामस्मद्गुरुवीरेश्वरपण्डितानां तनयैर्दूषिता अपि………।"

शेष वीरेश्वर के पुत्र और उसके ग्रन्थ का नाम अज्ञात है। उसने प्रौढमनोरमा के खण्डन में जो ग्रन्थ लिखा था, वह सम्प्रति अप्राप्य है।

२. चक्रपाणिदत्त (सं० १६५०)

चक्रपाणिदत्त ने भट्टोजि विरचित प्रौढमनोरमा के खण्डन में एक ग्रन्थ लिखा है। चक्रपाणिदत्तकृत प्रौढमनोरमा-खण्डन इस समय संपूर्ण उपलब्ध नहीं होता। इस का कुछ अंश लाजरस कम्पनी बनारस से प्रकाशित हुआ है। चक्रपाणिदत्त शेष वीरेश्वर का शिष्य है। इस के

---

१. चौखम्बा सीरीज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढमनोरमा भाग १ के अन्त में मुद्रित मनोरमाखण्डन, पृष्ठ १।

विषय में हम पूर्व पृष्ठ ३८३ पर लिख चुके हैं। चक्रपाणिदत्तकृत प्रक्रियाकौमुदी टीका का वर्णन पूर्वक पृष्ठ ३८३ पर हो चुका है।

चक्रपाणिदत्त के खण्डन का उद्धार भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरि दीक्षित ने प्रौढमनोरमा की शब्दरत्न व्याख्या में किया है।

३. पण्डितराज जगन्नाथ (सं० १५७५–१६९० (?))

पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षितकृत प्रौढमनोरमा के खण्डन में 'कुचमर्दन' नाम का ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ सम्प्रति सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। इस का कुछ अंश चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढमनोरमा भाग ३ के अन्त में छपा है। पण्डितराज ने भट्टोजि दीक्षित कृत शब्दकौस्तुभ के खण्डन में भी एक ग्रन्थ लिखा था, उसका उल्लेख हम पूर्व पृष्ठ ३५४ पर कर चुके हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ के विषय में हम पूर्व पृष्ठ ३५४,३५५ पर लिख चुके हैं।

६. नारायण भट्ट (सं० १६१७–१७३३)

केरल देश निवासी नारायण भट्ट ने 'प्रक्रियासर्वस्व' नाम का प्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में २० प्रकरण हैं।[1] प्रक्रियासर्वस्व के अवलोकन से विदित होता है कि नारायण ने किसी देवनारायण नाम के भूपति की आज्ञा से यह ग्रन्थ लिखा था।[2] प्रक्रियासर्वस्व के टीकाकार केरल वर्मदेव ने लिखा है कि नारायणभट्ट ने यह ग्रन्थ ६० दिनों में रचा था।[3] इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र यथास्थान सन्निविष्ट हैं। प्रकरणों का विभाग और क्रम सिद्धान्तकौमुदी से भिन्न है। ग्रन्थकार ने भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण और उसकी वृत्ति से महती सहायता ली है।

ग्रन्थकार का परिचय—नारायण भट्ट विरचित 'अपाणिनीय प्रामाणिकता' के सम्पादक ई० वी० रामशर्मा ने लिखा है कि नारायणभट्ट

---

१. इह संज्ञा परिभाषा सन्धिः कृत्तद्धिताः समासाश्च। स्त्रीप्रत्ययाः सुबर्थाः सुपां विधिश्चात्मनेपदविभागः ॥६॥ तिङापि च कार्यविशेषाः सन्नन्तयङ्यङ्लुकश्च सुब्धातुः। ण्याद्यो धातुरुणादि छान्दसमिति सन्तु विंशतिखण्डाः ॥७॥ भाग १, पृष्ठ १।

२. प्रारम्भिक श्लोक २,४,८। ३. ....प्रक्रियासर्वस्वं स मनीषिणामचरमः षष्ट्या दिनैर्निममे। भूमिका, भाग २, पृष्ठ २ पर उद्धृत।

केरल देशान्तर्गत 'नावा' क्षेत्र के समीप 'निला' नदी तीरवर्ती 'मेल्पुत्तूर' ग्राम में उत्पन्न हुआ था। इसके पिता का नाम 'मातृदत्त' था। नारायण ने मीमांसक मूर्धन्य माधवाचार्य से वेद, पिता से पूर्वमीमांसा, दामोदर से तर्कशास्त्र और अच्युत से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था।

नारायण भट्ट का काल—पं० ई० वी० रामशर्मा ने अपाणिनीय-प्रामाणिकता का रचनाकाल सन् १६१८-१९ ई० माना है। प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक साम्बशास्त्री ने नारायण का काल सन् १५६०-१६७६ अर्थात् वि० सं० १६१७-१७३३ तक माना है।[1] प्रक्रियासर्वस्व का टीकाकार केरलवर्मदेव ने लिखा है—भट्टोजिदीक्षित ने नारायण से मिलने के लिये केरल की ओर प्रस्थान किया, परन्तु मार्ग में नारायण की मृत्यु का समाचार सुनकर वापस लौट गया।[2] यदि यह लेख प्रामाणिक माना जाय तो नारायण भट्ट का काल विक्रम की १६वीं शताब्दी मानना होगा। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि नारायण भट्ट ने अपने ग्रंथ में भट्टोजि के ग्रन्थ से कहीं सहायता नहीं ली। प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक ने लिखा है कि कई लोग पूर्वोक्त घटना का विपरीत वर्णन करते हैं अर्थात् नारायण भट्ट भट्टोजि से मिलने के लिये केरल से चला, परन्तु मार्ग में भट्टोजि की मृत्यु सुनकर वापस लौट गया[2] नारायण का गुरु मीमांसक-मूर्धन्य माधवाचार्य यदि सायण का ज्येष्ठ भ्राता हो तो नारायणभट्ट का काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी मानना होगा। अतः नारायण भट्ट का काल विमर्शार्ह है।

अन्य ग्रन्थ

नारायण भट्ट ने क्रियाक्रम, चमत्कारचिन्तामणि, धातुकाव्य और अपाणिनीयप्रामाणिकता आदि ३८ ग्रन्थ संस्कृत में लिखे हैं। धातुकाव्य का वर्णन धातुपाठ के प्रकरण में किया जायगा।

अपाणिनीय प्रामाणिकता—इसका वर्णन पूर्व पृष्ठ ३४ तथा ११३ पर हो चुका है।

१. अंग्रेजी भूमिका भाग १, पृष्ठ ३। २. देखो भूमिका भाग २, पृष्ठ २ में उद्धृत श्लोक।

प्रक्रियासर्वस्व के टीकाकार

प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक साम्बशास्त्री ने तीन टीकाकारों का उल्लेख किया है। एक टीका केरल कालिदास केरल वर्मदेव ने लिखी है। केरल वर्मदेव का काल सं० १९०१—१९७१ तक माना जाता है।[1] दो टीकाकारों का नाम अज्ञात है।[2] ट्रिवेण्ड्रम् से प्रकाशित प्रक्रियासर्वस्व के प्रथम भाग में 'प्रकाशिका' व्याख्या छपी है।

अन्य प्रक्रिया ग्रन्थ

इन के अतिरिक्त लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी आदि अनेक छोटे मोटे प्रक्रिया ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण पर लिखे गये। ये सब अत्यन्त साधारण और अर्वाचीन हैं। अतः इनका उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं किया गया।

इस अध्याय में ६ प्रसिद्ध प्रक्रियाग्रन्थों के रचयिता और उन के टीकाकारों का वर्णन किया है। इस प्रकार अध्याय ५—१६ तक ११ अध्यायों में पाणिनि और उसकी अष्टाध्यायी के लगभग १६० व्याख्याकार वैयाकरणों का संक्षेप से वर्णन किया है।

अब अगले अध्याय में पाणिनि से अर्वाचीन प्रधान वैयाकरणों का वर्णन किया जायगा।

१. द्वितीयभाग की भूमिका, पृष्ठ १। २. भूमिका, भाग १, पृष्ठ ४।

सत्रहवां अध्याय

आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण

आचार्य पाणिनि के अनन्तर अनेक वैयाकरणों ने व्याकरण-शास्त्रों की रचनाएं कीं। इन सब व्याकरणों का मुख्य उपजीव्य प्रायः पाणिनीय व्याकरण है। केवल कातन्त्र एक ऐसा व्याकरण है जिसका आधार कोई अन्य प्राचीन व्याकरण है। पाणिनि से अर्वाचीन समस्त उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों में केवल लौकिक संस्कृत के शब्दों का अन्वाख्यान है। अर्वाचीन वैयाकरणों में अधोलिखित ग्रन्थकार मुख्य हैं—

१—कातन्त्रकार	८—भोजदेव
२—चन्द्रगोमी	९—बुद्धिसागर
३—क्षपणक	१०—भद्रेश्वर सूरि
४—देवनन्दी	११—हेमचन्द्र
५—वामन	१२—क्रमदीश्वर
६—पाल्यकीर्ति	१३—सारस्वत व्याकरणकार
७—शिवस्वामी	१४—बोपदेव

१५—पद्मनाभ

इनके अतिरिक्त द्रुतबोध, शीघ्रबोध, शब्दबोध, हरिनामामृत आदि व्याकरणों के रचयिता अनेक वैयाकरण हुए हैं, परन्तु ये सब अत्यन्त अर्वाचीन हैं। इनके ग्रन्थ भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और इन ग्रन्थों का प्रचार भी केवल बंगाल प्रान्त तक ही सीमित है। इसलिये इन वैयाकरणों का वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया जायगा।

पं० गुरुपद हालदार ने अपने "व्याकरण दर्शनेर इतिहास" नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ४४८ पर पाणिनि से परवर्ती निम्न वैयाकरणों और उनकी कृतियों का उल्लेख किया है—

द्वितीय व्याघ्रपाद्	कृत	दशपादी वैयाघ्रपद्य व्याकरण	
यशोभद्र	,,	जैन व्याकरण	
आर्यवज्रस्वामी	,,	,,	,,
भूतिबलि	,,	,,	,,

बौद्ध इन्द्रगोमी	कृत	ऐन्द्र व्याकरण
वाग्भट्ट	,,	,,
श्रीदत्त	,,	जैन ,,
चन्द्रकीर्त्ति	,,	समन्तभद्र ,,
प्रभाचन्द्र	,,	जैन ,,
अमरसिंह		बौद्ध व्याकरण
?		अष्टधातु ,,
सिद्धनन्दि	,,	जैन ,,
भद्रेश्वर सूरि	,,	दीपक ,,
श्रुतपाल	,,	,,
शिवस्वामी या शिवयोगी	,,	,,
बुद्धिसागर	,,	बुद्धिसागर ,,
केशव	,,	केशवी ,,
वाग्भट्ट	,,	,,
विनतीकीर्ति	,,	,,
विद्यानन्द	,,	विद्यानन्द ,,
		यम ,,
		वरुण ,,
		सौम्य ,,

इन ग्रन्थकारों का उल्लेख करके पं० गुरुपद हालदार ने अपने इतिहास के पृष्ठ ४४९ पर लिखा है कि डा० कीलहार्न और पं० सूर्यकान्त के मत में जैन नाम कल्पित हैं। हालदार महोदय इन्हें कल्पित नहीं मानते।

पं० नाथूराम प्रेमी ने अपने "जैन साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ में लिखा है—"जहां तक हम जानते हैं इन छः (भूतबलि, श्रीदत्त, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन, समन्तभद्र) आचार्यों में से किसी का भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। परन्तु जान पड़ता है इनके ग्रन्थों में कुछ भिन्न तरह के शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हीं को व्याकरण सिद्ध करने के लिये ये सब सूत्र रचे गये हैं। शाकटायन ने भी इसी का अनुकरण करके तीन आचार्यों के मत दिये हैं।" पृष्ठ १२०।

हमारा विचार है समस्त जैन नाम कल्पित नहीं हैं। भट्टेश्वर सूरि आदि विरचित व्याकरणों के कई उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत हैं। अतः इस विषय में अभी अन्वेषण की आवश्यकता है।

विक्रम की १७वीं शताब्दी में विद्यमान कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय का सूचीपत्र गायकवाड़ संस्कृत सीरीज़ बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। उसमें निम्नलिखित व्याकरणों का उल्लेख मिलता है—

हेमचन्द्र	व्याकरण	यम	व्याकरण
सारस्वत	,,	वायु	,,
कालाप	,,	वरुण	,,
शाकटायन	,,	सौम्य	,,
शाकल्य	,,	वैष्णव	,,
ऐन्द्र	,,	रुद्र	,,
चान्द्र	,,	कौमार	,,
दौर्ग	,,	बालभाषा	,,
ब्रह्म	,,	शब्दतर्क	,,

इनमें शाकल्य और ऐन्द्र ये दो नाम प्राचीन हैं, परन्तु सूचीपत्र में निर्दिष्ट ग्रन्थ प्राचीन हैं या आर्वाचीन यह अज्ञात है।

अब हम पूर्व निर्दिष्ट १५ पन्द्रह मुख्य वैयाकरणों का क्रमशः वर्णन करते हैं—

१—कातन्त्रकार (१५०० वि० पू०)

व्याकरण के वाङ्मय में कातन्त्र व्याकरण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस के कलापक और कौमार नामान्तर हैं। अर्वाचीन वैयाकरण कलाप शब्द से इसका व्यवहार करते हैं। इस व्याकरण में दो भाग हैं। एक आख्यातान्त, दूसरा कृदन्त। दोनों भाग भिन्न भिन्न व्यक्तियों की रचनाएं हैं।

कातन्त्र, कलापक और कौमार शब्दों का अर्थ

कातन्त्रवृत्ति-टीकाकार दुर्गसिंह आदि वैयाकरण का तन्त्र शब्द का अर्थ 'लघुतन्त्र' करते हैं। उनके मतानुसार ईषत्=लघु अर्थवाची 'कु' शब्द को 'का' आदेश होता है।

कलापक—अर्वाचीन वैयाकरण कलाप शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय मानते हैं। वे इस का वास्तविक नाम 'कलाप' समझते हैं। कातन्त्रीय वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि महादेव के पुत्र कुमार = कार्तिकेय ने सर्व प्रथम इसे मयूर की पूंछ पर लिखा था, अत एव इस का नाम कलाप हुआ। प्राचीन वैयाकरण 'कलापक' शब्द को स्वतन्त्र मानते हैं। वे इस की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दर्शाते हैं—

आचार्य हेमचन्द्र अपने धातुपारायण में लिखता है—बृहत्तन्त्रात् कलाः [आ] पिबतीति।[1]

पुनः उणादिवृत्ति में लिखता है—आदिग्रहणात् बृहत्तन्त्रात् कला आपिबन्तीति कलापकाः शास्त्राणि।[2]

हेमचन्द्र से प्राचीन अज्ञातनामा दशपादी-उणादि-वृत्तिकार लिखता है—सपूर्वस्यापि-पा पाने भौ०, आङ्पूर्वः कलाशब्द पूर्वः। बृहत्तन्त्रात् कला, [आ] पिबतीति कलापकः शास्त्रम्।[3]

हेमचन्द्र और दशपादी उणादिवृत्तिकार की व्युत्पत्तियों से स्पष्ट है कि किसी बड़े ग्रन्थ से संक्षेप होने के कारण कातन्त्र का नाम कलापक हुआ है। यही अर्थ 'कलाप' शब्द का भी है। इस में 'कला' उपपद होने पर 'पा' धातु से 'क' प्रत्यय होता है।[4]

कौमार—वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि कुमार कार्तिकेय की आज्ञा से शर्ववर्मा ने इस शास्त्र की रचना की है।[5] हमारा विचार है—कुमारों = बालकों को व्याकरण का साधारण ज्ञान कराने के लिये प्रारम्भ में यह ग्रन्थ पढ़ाया जाता था। अत एव इस का नाम 'कुमाराणामिदं कौमारम्' हुआ। मारवाड़ देश में अभी तक देशी पाठशालाओं में बालकों को ५ पांच सिधी पाटियां पढ़ाई जाती हैं। ये पांच पाटियां कातन्त्र व्याकरण के प्रारम्भिक पांच पदों का ही विकृत रूप है। हम दोनों की तुलना के लिये प्रथम पाटी और कातन्त्र के प्रथम पाद के सूत्रों का उल्लेख करते हैं—

---

१. पृष्ठ ६। २. पृष्ठ १०। ३. ३।५, पृष्ठ १३०।

४. आतोऽनुपसर्गे कः। अष्टा० ३।२।३॥ ५. तत्र भगवत्कुमार-प्रणीत-सूत्रानन्तरं तदाज्ञयैव श्रीशर्ववर्मणा प्रणीतं सूत्रं कथमनर्थकं भवति। दुर्घटीका, परिशिष्ट पृष्ठ ४६६।

१ सिधी पाटी	कातन्त्र का प्रथम पाद
सिधो वरणा समामुनाया:	सिद्धो वर्णः समाम्नायः।
चत्रुत्रत्रुदासाः वऊसवाराः	तत्र चतुर्दशादौ स्वराः।
दसे समानाः	दश समानाः।
तेषु दुध्या वरणाः नसीसवरणाः	तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यस्य सवर्णौ
पुरबो हंसवाः	पूर्वो ह्रस्वः।
पारो दीरघाः	परो दीर्घः।
सरोवरणा बिणज्या नामीः	स्वरोऽवर्णवर्जो नामी।
इकारदणी सीधकराणीः	एकारादीनि सन्ध्यक्षराणि।
कादी. भीबू बिणज्योनामीः	कादीनि व्यंजनानि।
ते विरघाः पंचा पंचा	ते वर्गाः पञ्च पञ्च।
बिरघानाऊ प्रथमदुनीयाः संषो-	वर्गाणां प्रथमद्वितीया शषसा-
साईचाः घोषा	श्चाघोषाः
घोषपितरो रतीः	घोषवन्तोऽन्ये
अनुरे आसकाः निनाणे नामाः	अनुनासिका ङ ञ ण न माः।
अनेसंता जेरल्लवाः	अन्तस्थाः यरलवाः।
रुकमण संषोसाहाः	ऊष्माणः शषसहाः।
आयतीः विसुरजुनीयाः	अः इति विसर्जनीयः।
कायती जिह्वामूलियाः	≍क इति जिह्वामूलीयः।
पायती पदमानीया	≍प इत्युपध्मानीयः।
आयो आयो रतमसवारोः	अं इत्यनुस्वारः।
पूरबो फल्योरथा रथोपालरेऊ-पदुपदुः	पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्।
विणज्यो नामीः सरूवरूवरणानेतू	व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत्।
नेतकरमैयाः रासससलाकीजेतुः	अनतिक्रामयन् विश्लेषयेत्।
लेषोः पचाईडाः दुर्गुणसींधीः	लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः।
पतीः सींधीसूत्रताः प्रथमपाटी शुभकरता	इति सन्धिसूत्राणि प्रथमः पादः शुभं भूयात्

मारवाड़ी में सीधी पाटी के न्यूनाधिक अन्तर से कई पाठ प्रचलित हैं। हमने एक का निर्देश किया है।

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि मारवाड़ की देशी पाठशालाओं में पढ़ाई जाने वाली पांच सीधी पाटियां कातन्त्र व्याकरण के पांच सन्धिपाद हैं। इससे यह भी विस्पष्ट है कि कातन्त्र का कौमार नाम पड़ने का कारण 'कुमाराणामिदम्' (बालकों का व्याकरण) ही है।

अग्निपुराण और गरुड़पुराण में किसी व्याकरण का संक्षेप उपलब्ध होता है।[1] वह संक्षेप इनमें कुमार और स्कन्द के नाम से दिया है। कई विद्वान् इसका आधार कातन्त्र व्याकरण मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। उसमें पाणिनीय प्रत्याहारों और संज्ञाओं का उल्लेख मिलता है। अतः हमारा विचार है वह संक्षेप पाणिनीय व्याकरणानुसार है।

काल

कातन्त्र व्याकरण का रचनाकाल अत्यन्त विवादास्पद है। अतः हम उसके कालनिर्णय में जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उन सब का क्रमशः निर्देश करते हैं—

१—कथासरित्सागर में लिखा है—शर्ववर्मा ने सातवाहन नृपति को व्याकरण का बोध कराने के लिये कातन्त्र व्याकरण पढ़ाया था।[2] सातवाहन नृपति आन्ध्रकुल का व्यक्ति है। कई ऐतिहासिक आन्ध्रकाल विक्रम के पश्चात् जोड़ते हैं, परन्तु यह भूल है। आन्ध्रकाल वस्तुतः विक्रम से पूर्ववर्ती है।[3]

२—शूद्रकविरचित पद्मप्राभृतक भाण में कातन्त्र का उल्लेख मिलता है।[4] यह भाण उसी शूद्रक कवि की रचना है जिसने मृच्छकटिक नाटक लिखा है। दोनों ग्रन्थों के आरम्भ में शिव की स्तुति है और वर्णन शैली समान है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना से जाना जाता है कि शूद्रक नामा कवि ऋग्वेद, सामवेद और अनेक विद्याओं में निष्णात, अश्वमेधयाजी,

---

१. अग्नि पुराण, अध्याय ३४९—३५९। गरुड़पुराण आचारकाण्ड अध्याय २०५, २०६। २. लम्बक १, तरङ्ग ६, ७। ३. पं० भगवद्दत्तजीकृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० संस्क०। ४. एषोऽस्मि बलिभुग्भिरिव संघातबलिभिः कातन्त्रिकैरवस्कन्दित इति। हन्त प्रवृत्तं काको लूकम्। सखे दिष्ट्या त्वामक्षतपक्षं पश्यामि। किं ब्रवीषि ? कार्चेदानीं मम वैयाकरणपारशवेषु कातन्त्रिकेष्वास्था। पृष्ठ १८।

शिवभक्त महीपाल था।[1] अनेक विद्वान् शूद्रक का काल विक्रम की पांचवीं शताब्दी मानते हैं,[2] यह महती भूल है। महाराज शूद्रक हालनामा सातवाहन नृपति का समकालिक था और वह विक्रम से लगभग ४००, ५०० वर्ष पूर्ववर्ती था।[3]

३.—चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है—

सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो गुरुम्।
लघुविस्पष्टसम्पूर्णम् उच्यते शब्दलक्षणम्॥

इस श्लोक में चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण के लिये तीन विशेषण लिखे हैं—लघु, विस्पष्ट और सम्पूर्ण। कातन्त्र व्याकरण लघु और विस्पष्ट है, परन्तु सम्पूर्ण नहीं है। इस में कृत्प्रकरण का समावेश नहीं है, अन्यत्र भी कई आवश्यक बातें छोड़ दी हैं। पाणिनीय व्याकरण सम्पूर्ण तो है, परन्तु महान् है लघु नहीं।

हमार विचार है चन्द्राचार्य ने 'सम्पूर्ण' विशेषण कातन्त्र की व्यावृत्ति के लिये रक्खा है। चन्द्राचार्य का काल भारतीय गणनानुसार न्यूनातिन्यून विक्रम से १००० वर्ष पूर्व है यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

४—महाभाष्य ४। २। ६५ में लिखा है—

संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—माहावार्तिकः, कालापकः।

अर्थात्—सूत्र (ग्रन्थ) वाची ककारोपध प्रातिपदिक से '*तदधीते तद्वेद*' अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का जो लुक् विधान किया है वह संख्याप्रकृति वाले (=संख्यावाची शब्द से बने हुए) प्रातिपादिक से कहना चाहिये। यथा अष्टकमधीते अष्टकाः पाणिनीयाः, दशका वैयाघ्रपद्याः। यहां अष्टक और दशक शब्द संख्याप्रकृतिवाले हैं। इनमें अष्ट और दश शब्द से परिमाण अर्थ में सूत्र अर्थ गम्यमान होने पर कन् प्रत्यय होता है।[4]

---

१. ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां, ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य। राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा, लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः। २. संस्कृतकविचर्चा पृष्ठ १५८-१६१। ३. पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० संस्क० पृष्ठ २९१-३०२। ४. तदस्य परिमाणम्, संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु। ५।१।५७, ५८॥

वार्तिक में संख्याप्रकृति ग्रहण करने से 'माहावार्तिकः, कालापकः' यहां वुञ् का लुक् नहीं होता, क्योंकि ये शब्द संख्याप्रकृतिवाले नहीं हैं।

ये दोनों प्रत्युदाहरण 'संख्याप्रकृति' अंश के हैं। इनमें सूत्रवाचकत्व और कोपधत्व अंश का रहना आवश्यक है। अतः 'कालापकाः' प्रत्युदाहरण में निर्दिष्ट 'कलापक' निश्चय ही किसी सूत्र ग्रन्थ का वाचक है। पूर्वोद्धृत व्युत्पत्ति के अनुसार वह कातन्त्र व्याकरण का वाचक है।

हरदत्त और नागेश की भूल—हरदत्त और नागेश ने महाभाष्य के 'कालापकाः' प्रत्युदाहरण की व्याख्या करते हुए लिखा है—कलापी द्वारा प्रोक्त छन्द का अध्ययन करने वाले 'कलाप' कहाते हैं। उन कलापों का आम्नाय कालापक होगा। संख्याप्रकृति ग्रहण करने से 'कालापक आम्नाय का अध्ययन करने वाले' इस अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् नहीं होता।[1]

यह व्याख्या अशुद्ध है, क्योंकि 'चरणाद्धर्माम्नाययोः,'[2] की व्याख्या में समस्त टीकाकार 'आम्नाय' का अर्थ 'वेद' करते हैं। अतः कालापक आम्नाय सूत्र ग्रन्थ नहीं हो सकता। सूत्रत्व अंश के न होने पर वह वार्तिक का प्रत्युदाहरण नहीं बन सकता। 'कालापकः' के साथ पढ़े हुए 'महावार्तिकः, प्रत्युदाहरण की प्रकृति 'महावार्तिक' शब्द स्पष्ट सूत्रग्रन्थ का वाचक है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि महाभाष्य में निर्दिष्ट 'कलापक' शब्द किसी सूत्र ग्रन्थ का वाचक है और वह कातन्त्र व्याकरण ही है। भारतीय गणना के अनुसार महाभाष्यकार पतञ्जलि का काल न्यूनातिन्यून विक्रम से १२०० वर्ष पूर्व है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3]

५—महाभाष्य और वार्तिक पाठ में प्राचीन आचार्यों की अनेक संज्ञाएं उपलब्ध होती हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

---

१. कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापास्तेषामाम्नायः कालापकम्। भाष्यप्रदीपोद्योत ७।१।९५॥ ऐसा ही लेख हरदत्त का है।

२. महाभाष्य ४।३।१२०।

३. पूर्व पृष्ठ २४०—२४५।

अद्यतनी—२।४।३॥ ३।२।१०२॥ ६।४।११४ ॥
श्वस्तनी—३।३।१५ ॥
भविष्यन्ती—३।२।१२३॥ ३।३।१५॥
परोक्षा—१।२।२८॥३।२।१५॥
समानाक्षर—१।१।१॥ २।२।३४॥ ३।१।८॥
विकरण—अनेक स्थानों में । कारित निरु० १।१२॥

कातन्त्रव्याकरण में भी इन्हीं संज्ञाओं का व्यवहार उपलब्ध होता है। यथा—

अद्यतनी ३।१।२२॥
श्वस्तनी ३।१।१५।
भविष्यन्ती ३।१।१५॥
परोक्षा ३।१।१३
विकरण ३।४।३२॥
समानाक्षर १।१।३॥
कारित ३।२।९॥

इसी प्रकार ह्यस्तनी, वर्तमाना, चेक्रीयित आदि अनेक प्राचीन संज्ञाओं का निर्देश कातन्त्र व्याकरण में उपलब्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि कातन्त्र व्याकरण पर्याप्त प्राचीन है।

६—महाभाष्य में अनेक स्थानों पर पूर्वसूत्रों का उल्लेख है।[1] ६।१।१६३ के महाभाष्य में लिखा है—

अथवाऽकारो मत्वर्थीयः । तद्यथा–तुन्दः, घाट इति । पूर्वसूत्रनिर्देशश्च चित्वान् चित इति ।

इस पर कैयट लिखता है—यह 'चितः' निर्देश पूर्वसूत्रों के अनुसार है। पूर्वसूत्रों में जिसको किसी कार्य का विधान किया जाता है, उसका प्रथमा से निर्देश करते हैं।[2] पुनः ८।४।७ पर लिखता है—पूर्वाचार्य जिसको कार्य करना होता है उसका षष्ठी से निर्देश नहीं करते।[3]

पतञ्जलि और कैयट ने जिस प्राचीन शैली की ओर संकेत किया है वह शैली कातन्त्र व्याकरण में पूर्णतया उपलब्ध होती है। उसमें सर्वत्र कार्यी (जिसके स्थान में कार्य करना हो उस) का प्रथमा विभक्ति से निर्देश किया है। यथा—

भिस् पेस् वा २।१।१८॥[4] ङसिरात् २।१।२१॥

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ १६६, १६७। २. पूर्वव्याकरणे प्रथमया कार्यी निर्दिश्यते। ३. पूर्वाचार्याः कार्यभाजान् षष्ठ्या न निरदिक्षन्। ४. इस सूत्र पर विशेष विचार पूर्व पृष्ठ २८ पर देखो।

ङस स्य २।१।२२॥ इन् टा २।१।२३॥
ङेर्यः २।१।२४॥ (यहां 'ङे' एकारान्त प्रत्यय है)
ङसिः स्मात् २।१।२६॥ ङिः स्मिन् २।१।२७॥

इससे इतना स्पष्ट है कि कातन्त्र की रचना शैली अत्यन्त प्राचीन है। पाणिनि आदि ने कार्यी का निर्देश षष्ठी विभक्ति से किया है।

७—हम इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में लिख चुके हैं कि कातन्त्र व्याकरण में "देवेभिः, पितरस्तर्पयामः, अर्वन्तौ अर्वन्तः, मघवन्तौ मघवन्तः," तथा दीधीङ् वेवीङ् और इन्धी धातु से निष्पन्न प्रयोगों की सिद्धि दर्शाई है।[1] कातन्त्र व्याकरण विशुद्ध लौकिक भाषा का व्याकरण है और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त। अतः इस में इन प्रयोगों का विधान करना बहुत महत्त्व रखता है। महाभाष्य के अनुसार 'अर्वन्, 'मघवन्' प्रातिपदिक तथा दीधीङ् वेवीङ् और इन्धी धातु छान्दस हैं। पाणिनि इन्हें छान्दस नहीं मानता। इस से स्पष्ट है कि कातन्त्र व्याकरण की रचना उस समय हुई है जब उपर्युक्त शब्द लौकिक भाषा में प्रयुक्त होते थे। वह काल महाभाष्य से पर्याप्त प्राचीन होगा। यदि कातन्त्र की रचना महाभाष्य के अनन्तर होती तो महाभाष्य में जिन प्रातिपदिकों और धातुओं को छान्दस माना है, उनका उल्लेख कभी न होता। इस से स्पष्ट है कि कातन्त्र महाभाष्य के प्राचीन है।

यदि कातन्त्र व्याकरण का वर्तमान स्वरूप इतना प्राचीन न भी हो, तब भी यह अवश्य मानना होगा कि कातन्त्र का मूल अवश्य प्राचीनतम है।

कातन्त्र व्याकरण का कर्ता

कथासरित्सागर[3] और कातन्त्रवृत्तिटीका[4] आदि के अनुसार कातन्त्र व्याकरण के आख्यातान्त भाग का कर्ता शर्ववर्मा है। मुसलमान यात्री अल्बेरूनी ने भी कातन्त्र को शर्ववर्मा विरचित लिखा है। और कथास-

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २८—३० ।

२. महाभाष्य ६।४।१२७,१२८॥ १।१।६॥ १।२।६॥

३. लम्बक १, तरङ्ग ६,७ ।

४. तत्र भगवत्कुमारप्रणीतसूत्रानन्तरं तदाज्ञयैव श्रीशर्ववर्मणा प्रणीतं सूत्रं कथमनर्थकं भवति । परिशिष्ट, पृष्ठ ४६६ ।

रित्सागर में निर्दिष्ट 'मोदकं देहि' कथा का निर्देश किया है।[1] पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' में शर्ववर्मा को कातन्त्र की विस्तृतवृत्ति का रचयिता लिखा है।[2]

जनरल गङ्गानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग १, अङ्क ४ में तिब्बतीय ग्रन्थों के आधार पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा है—

"सातवाहन के चाचा भाववर्मा ने 'शङ्कु' से संक्षिप्त किया इन्द्रव्याकरण प्राप्त किया, जिसका प्रथम सूत्र 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' था, और वह १५ पादों में था।[3] इस का वररुचि सप्तवर्मा ने संक्षेप किया, और इसका नाम कलाप सूत्र हुआ, क्योंकि जिन अनेक स्रोतों से इसका संकलन हुआ था, वे मोर की पूंछ के सदृश पृथक् पृथक् थे। इसमें २५ अध्याय[4] और ४०० श्लोक थे।"

इस लेख के लेखक ने टिप्पणी में लिखा है—तिब्बतीय भाषा में शर्व = सर्व = सप्त = सत्त इस प्रकार शर्व का सत्त रूपान्तर बन सकता है।

हमारा विचार है वर्तमान कातन्त्र व्याकरण शर्ववर्मा द्वारा संक्षिप्त किया हुआ है। इस संक्षिप्त संस्करण का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून ४००—५०० वर्ष प्राचीन है। इसका मूल ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं।

कृदन्त भाग का कर्ता — कात्यायन

कातन्त्र का वृत्तिकार दुर्गसिंह कृदन्त के आरम्भ में लिखता है—

> वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृता कृतः।
> कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिपत्तये॥

अर्थात् कातन्त्र का कृदन्त भाग कात्यायन ने बनाया है।

कात्यायन नाम के अनेक आचार्य हो चुके हैं। कृदन्त भाग किस कात्यायन ने बनाया, यह दुर्गसिंह के लेख से स्पष्ट नहीं होता। सम्भव

---

१. अल्बेरूनी का भारत भाग २ पृष्ठ ४१।

२. पृष्ठ ४३७।   ३. कातन्त्र के आख्यातान्त भाग में १६ पाद हैं। क्या आख्यातप्रकरण के चार पाद प्रक्षिप्त हैं? सम्भव है १६ के स्थान में १५ संख्या प्रमादजन्य हो।   ४. यहां अध्याय से पादों का अभिप्राय है। कृदन्त भाग मिलाकर सम्पूर्ण ग्रन्थ में २५ पाद हैं।

है महाराज विक्रम के पुरोहित कात्यायन गोत्रज वररुचि ने कृदन्त भाग की रचना की हो।

कातन्त्रपरिशिष्ट का कर्ता—श्रीपतिदत्त

आचार्य कात्यायन द्वारा कृदन्त भाग का समावेश हो जाने पर भी कातन्त्र व्याकरण में अनेक न्यूनताएं रह गईं। उन्हें दूर करने के लिये श्रीपतिदत्त ने कातन्त्र परिशिष्ट की रचना की। श्रीपतिदत्त का काल अज्ञात है, परन्तु वह विक्रम की ११ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती है, इतना स्पष्ट है।

कातन्त्रोत्तर का कर्ता—विजयानन्द

कातन्त्र व्याकरण की महत्ता बढ़ाने के लिये विजयानन्द ने 'कातन्त्रोत्तर' नाम का ग्रन्थ लिखा। इस का दूसरा नाम विद्यानन्द है।[1] डा० बेलवेल्कर ने कातन्त्रोत्तर परिशिष्ट के कर्ता का नाम त्रिलोचनदास लिखा है।[1] पट्टन के जैन ग्रन्थागारों के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र पृष्ठ २६१ पर कातन्त्रोत्तर ग्रन्थ का निर्देश है। हस्तलेख के आद्यन्त में लेखन काल का निर्देश नहीं है। पट्टन के जैन ग्रन्थागारों के हस्तलेखों का संग्रह विक्रम की १४ वीं शताब्दी से प्राचीन हैं। जैनपुस्तकप्रशस्ति-संग्रह में 'पाटण खेतर वसही पाठकावस्थित' भाण्डागार के कातन्त्रोत्तर हस्तलेख का निर्देश है। उसका लेखन काल सं० १२०८ है।[2] तदनुसार विजयानन्द सं० १२०० से प्राचीन है, यह निश्चित है।

कातन्त्र का प्रचार

कातन्त्र व्याकरण का प्रचार सम्प्रति बंगाल तक ही सीमित है, परन्तु किसी समय इस का प्रचार न केवल सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपितु उस से बाहर भी था। मारवाड़ की देशी पाठशालाओं में अभी तक जो 'सीधी पाटी' पढ़ाई जाती है, वह कातन्त्र के प्रारम्भिक भाग का विकृत रूप है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। शूद्रकविरचित पद्मप्राभृतक भाण से प्रतीत होता है कि उस के काल में कातन्त्रानुयायियों की पाणिनीयों से महती स्पर्धा थी।[3]

---

१. सिस्टम आफ संस्कृतग्रामर पैरा नं० ६६।

२. इति विजयानन्दविरचिते कातन्त्रोत्तरे विद्यानन्दापरनाम्नि तद्धितप्रकरणं समाप्तम् सं० १२०८। जैनपुस्तकप्रशस्ति संग्रह पृष्ठ १०६।

३. पूर्व पृष्ठ ४०० टि० ४।

कीथ अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखता है—कातन्त्र के कुछ भाग मध्य एशिया की खुदाई से प्राप्त हुए थे। इस पर ल्यूसियोन जनरल में एल्यूपिनो ने एक लेख लिखा था। देखो उक्त जनरल सन् १९११ पृष्ठ १९२।[1]

कातन्त्र के ये भाग मध्य एशिया तक निश्चय ही बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा पहुंचे होंगे। कातन्त्र का धातुपाठ तिब्बती भाषा में अभी तक उपलब्ध होता है।[2]

कातन्त्र के वृत्तिकार

सम्प्रति कातन्त्र व्याकरण की सब से प्राचीन वृत्ति दुर्गसिंह विरचित उपलब्ध होती है। उसमें कश्चित् अपरे अन्ये आदि शब्दों द्वारा अनेक प्राचीन वृत्तिकारों के मत उद्धृत हैं। अतः यह निस्सन्दिग्धरूप से कहा जा सकता है कि दुर्गसिंह से पूर्व अनेक वृत्तिकार हो चुके थे, जिन का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

१—शर्ववर्मा

श्री पं० गुरुपद हालदार ने अपने व्याकरण दर्शनेर इतिहास के पृष्ठ ४३७ पर शर्ववर्मा को कातन्त्र की बृहद्वृत्ति का रचयिता लिखा है, परन्तु इस के लिये उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया।

२—वररुचि

पं० गुरुपद हालदार ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ३९४ और ५७९ पर वररुचि विरचित कातन्त्रवृत्ति का उल्लेख किया है। पृष्ठ ५७९ पर वररुचिकृत वृत्ति का नाम चैत्रकूटी लिखा है।

३—दुर्गसिंह

आचार्य दुर्गसिंह या दुर्गसिंह्म विरचित कातन्त्रवृत्ति सम्प्रति उपलब्ध है। यह उपलब्ध वृत्तियों में सब से प्राचीन है। दुर्गसिंह ने अपने ग्रन्थ में अपना कुछ परिचय नहीं दिया। अतः दुर्गसिंह का इतिवृत्त सर्वथा अज्ञात है।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४३१।

२—देखो जर्मन की छपी क्षीरतरङ्गिणी का परिशिष्ट।

दुर्गसिंह का काल

दुर्गसिंह के काल पर साक्षात् प्रकाश डालने वाली कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती। अतः काशकुशावलम्ब न्याय से दुर्गसिंह के काल-निर्धारण का कुछ प्रयत्न करते हैं—

१—कातन्त्र के 'इन् व्यञ्जनादेरुभयम्' (३।५।४५) सूत्र की वृत्ति में दुर्गसिंह ने निम्न पद्यांश उद्धृत किये हैं—

तव दर्शनं किन्न धत्ते। कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये। तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।

इन के विषय में टीकाकार लिखता है—

महाकविनिबन्धाश्च प्रयोगा दृश्यन्ते। यदाह भारविः-तव दर्शनं किन्न धत्त इति .... तथा मयूरोऽपि-कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये [सूर्यशतक २] इति। ...... तथा च किरातकाव्ये—तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः इति।[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि दुर्गसिंह भारवि और मयूर से उत्तरवर्ती है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कोंकण के महाराज दुर्विनीत ने भारवि-विरचित किरात के १५ वें सर्ग पर टीका लिखी थी। दुर्विनीत का राज्य काल सं० ५३९–५६९ तक माना जाता है।[2] अतः भारवि का काल विक्रम की षष्ठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। महाकवि मयूर महाराज हर्षवर्धन का सभा-पण्डित था। हर्षवर्धन का राज्यकाल सं० ६६३–७०५ तक है, यह दुर्गसिंह की पूर्वसीमा है।

२—काशिकावृत्ति ७।४।९३ में लिखा है—

अत्र केचिद् गशब्दं लघुमाश्रित्य सन्वद्भावमिच्छन्ति। सर्वत्रैव लघोरानन्तर्यमभ्यासेन नास्तीति कृत्वा व्यवधानेऽपि वचन-प्रामाण्याद् भवितव्यम्। तदसत् ....।

इस पाठ में वामन ने किसी ग्रन्थकार के मत का खण्डन किया है। कातन्त्र ३।३।३५ की दुर्गवृत्ति के 'कथमजीजागरत्? अनेक वर्ण-व्यवधानेऽपि लघुनि स्यादेवेति मतम्' पाठ के साथ काशिका के पूर्वोक्त

---

१ कातन्त्र परिशिष्ट, पृष्ठ ५२२।

२. पूर्व पृष्ठ ३२५।

पाठ की तुलना करने से विदित होता है कि वामन यहां दुर्ग के मत का प्रत्याख्यान कर रहा है। धातुवृत्तिकार सायण के मत में भी काशिकाकार ने दुर्गवृत्ति का खण्डन किया है।[1] काशिका का वर्तमान स्वरूप सं० ७०० से पूर्ववर्ती है, यह हम काशिका के प्रकरण में लिख चुके। अतः यह दुर्गसिंह की उत्तर सीमा है।

पं० गुरुपद हालदार ने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' में लिखा है कि दुर्गसिंह काशिका के पाठ उद्धृत करता है।[2] हमने कातन्त्रवृत्ति की काशिका से विशेष रूप से तुलना की, परन्तु हमें एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिला, जिससे यह सिद्ध हो सके कि दुर्ग काशिका को उद्धृत करता है। दोनों वृत्तियों के अनेक पाठ समान हैं, परन्तु उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि कौन किसको उद्धृत करता है। ऐसी अवस्था में काशिका के पूर्व उद्धरण और सायण के साक्ष्य से यही मानना अधिक उचित है कि दुर्गसिंह की कातन्त्रवृत्ति काशिका से पूर्ववर्ती है।

दुर्गसिंहविरचित वृत्ति का उल्लेख प्रबन्धकोश पृष्ठ ११२ पर मिलता है।[3]

अनेक दुर्गसिंह

संस्कृत वाङ्मय में दुर्ग अथवा दुर्गसिंह विरचित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें तीन ग्रंथ प्रधान हैं। निरुक्तवृत्ति, कातन्त्रवृत्ति और कातन्त्रवृत्ति-टीका। कातन्त्रवृत्ति और उसकी टीका का रचयिता दोनों भिन्न भिन्न ग्रन्थकार हैं। पं० गुरुपद हालदार ने कातन्त्रवृत्ति-टीकाकार का नाम दुर्गगुप्तसिंह लिखा है। उन्होंने तीन दुर्गसिंह माने हैं। हमारा विचार है कातन्त्रवृत्तिकार और निरुक्तवृत्तिकार दोनों एक हैं। इसमें निम्न हेतु हैं—

१. दुर्गाचार्य विरचित निरुक्तवृत्ति के अनेक हस्तलेखों के अन्त में दुर्गसिंह अथवा दुर्गसिंह्म नाम उपलब्ध होता है।[4]

२. दोनों ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ को वृत्ति कहते हैं। इससे इन दोनों के एक होने की संभावना होती है।

---

१. यत्तु कातन्त्रे मतान्तरेणोक्तम्—ह्रस्वदीर्घप्लुतयोः अजीजागरत् इति भवतीति तदप्येवं प्रत्युक्तम्, वृत्तिकारात्रेयवर्धमानादिभिरप्येतद् दूषितम। पृष्ठ २६५।

२. पृष्ठ ।

३. सूत्रे वृत्तिः कृता पूर्वं दुर्गसिंहेन धीमता। विसूत्रे तु कृता तेषां वास्तुपालेन मन्त्रिणा॥

४. डा० लक्ष्मणस्वरूप सम्पादित मूल निरुक्त की भूमिका पृष्ठ १०।

३. दोनों ग्रन्थों के रचयिताओं के लिये 'भगवत्' शब्द का व्यवहार होता है।[1]

४. दोनों ग्रन्थकारों की एकता का उपोद्बलक निम्न प्रमाण उपलब्ध होता है—

निरुक्त १।१३ की वृत्ति में दुर्गाचार्य लिखता है—

पाणिनीया भूप्रकृतिमुपादाय लडित्येतं प्रत्ययमुपाददते ततः कृतानुबन्धलोपस्यानकस्य लस्य स्थाने तिबादीनादिशन्ति।…… अपरे पुनर्वैयाकरणा लटमकृत्वैव तिबादीनुपाददते। तेषामपि हि शब्दानुशासने सा तन्त्रशैली।

इस उद्धरण में पाणिनीय प्रक्रिया की प्रतिद्वन्द्वता में जिस प्रक्रिया का उल्लेख किया है, वह कातन्त्र-व्याकरणानुसारिणी है। कातन्त्र में धातु से लट् आदि प्रत्ययों का विधान न करके सीधे 'तिप्' आदि प्रत्ययों का विधान किया है। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तवृत्तिकार कातन्त्र व्याकरण से भले प्रकार परिचित था।

५. कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंह का काल सं० ६००–६८० के मध्य में है यह हम पूर्व लिख चुके। हरिस्वामी ने सं० ६८८ में शतपथ के प्रथमकाण्ड का भाष्य लिखा।[2] उसके गुरु स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्तटीका में दुर्गाचार्य का उल्लेख किया है।[3] अतः निरुक्तवृत्तिकार दुर्ग का काल भी ६००-६८० के मध्य सिद्ध होता है।

यदि हमारा उपर्युक्त विचार ठीक हो तो कातन्त्रवृत्तिकार के विषय में अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

दुर्गवृत्ति के टीकाकार

दुर्गवृत्ति पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं, उनमें से निम्न टीकाकार मुख्य हैं।

---

१. निरुक्तवृत्तिकार—तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिः……। निरुक्त स्कन्द टीका भाग १, पृष्ठ ४। …… …आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृतौ………(प्रत्येक अध्याय के अन्त में)। कातन्त्रवृत्तिकार—भगवान् वृत्तिकारः श्लोकमेकं कृतवान् देवदेवमित्यादि। कातन्त्रवृत्तिटीका, परिशिष्ट पृष्ठ ४६५।

२. देखो पूर्व पृष्ठ २५६।

३. देखो इसी पृष्ठ की टि० २।

१—दुर्गसिंह (९ वीं शताब्दी ?)

कातन्त्रवृत्ति पर दुर्गसिंह ने एक टीका लिखी है।[1] पं० गुरुपद हालदार ने टीकाकार का नाम दुर्गगुप्तसिंह लिखा है। टीकाकार ग्रन्थ के आरम्भ में लिखता है—

भगवान् वृत्तिकारः श्लोकमेकं कृतवान् देवदेवमित्यादि।

इस से स्पष्ट है कि टीकाकार दुर्गसिंह वृत्तिकार दुर्गसिंह से भिन्न व्यक्ति है। अन्यथा वह अपने लिये परोक्षनिर्देश करता हुआ भी 'भगवान्' शब्द का व्यवहार न करता।

कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखा है—'दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति पर स्वयं टीका लिखी।'[2] यह अयुक्त है। सम्भव है कीथ को दोनों के नाम सादृश्य से भ्रम हुआ हो।

दुर्गसिंह अपनी टीका में लिखता है—नैयासिकास्तु ह्रस्वत्वं विदधतेऽविशेषात्।[3]

टीकाकार ने यहां किस न्यास का स्मरण किया है, यह अज्ञात है। उग्रभूति ने कातन्त्रवृत्ति पर एक न्यास लिखा था (उस का उल्लेख आगे होगा)। उसका काल विक्रम की ११ शताब्दी है। अतः यहां उस का उल्लेख नहीं हो सकता।

दुर्गसिंह ने कृत्सूत्र ४१, ६८ की वृत्तिटीका में श्रुतपाल का उल्लेख किया है।[4] यह श्रुतपाल देवनन्दी विरचित धातुपाठ का व्याख्याता है। कातन्त्र २।४।१० की वृत्तिटीका में भट्टि ८।७३ का 'श्लाघमानः परस्त्रीभ्यस्तत्रागाद् राक्षसाधिपः' चरण उद्धृत है।

टीकाकार दुर्गसिंह के काल का अभी निश्चय नहीं हो सका। सम्भव है, यह नवमी शताब्दी का ग्रन्थकार हो।

२. उग्रभूति (११ वीं शताब्दी)

उग्रभूति ने दुर्गवृत्ति पर 'शिष्यहितन्यास' नाम्नी टीका लिखी है। मुसलमान यात्री अल्बेरूनी इस का नाम 'शिष्यहिता वृत्ति' लिखता है।

---

१. यह टीका बंगला अक्षरों में सम्पूर्ण छप चुकी है। २. पृष्ठ ४११।

३. ३।४।७१ ॥ परिशिष्ट पृष्ठ ५२८। ४. व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ४६५।

उसने इस ग्रन्थ के प्रचार की कथा का भी उल्लेख किया है।[1] इस कथा के अनुसार उग्रभूति का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी है।

३. वर्धमान (१२ वीं शताब्दी)

डा० बेलवेल्कर ने वर्धमान की टीका का नाम "कातन्त्रविस्तर" लिखा है। गोलस्टूकर इस वर्धमान को गणरत्नमहोदधि का कर्त्ता मानता है। वोपदेव ने अपनी काव्यकामधेनु में इसे उद्धृत किया है। महा-महोपाध्याय पृथ्वीधर ने वर्धमान की टीका पर एक व्याख्या लिखी है।

४—त्रिलोचनदास (सं० ११०० ?)

त्रिलोचनदास ने दुर्गवृत्ति पर 'कातन्त्रपञ्जिका' नाम्नी बृहती व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या बंगलाक्षरों में मुद्रित हो चुकी है। वोप-देव ने इसे उद्धृत किया है। त्रिलोचनदास का निश्चित काल अज्ञात है। सम्भव है यह ११ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार हो।

पञ्जिका टीकाकार—त्रिविक्रम (१३ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती)

त्रिविक्रम ने त्रिलोचनदासविरचित 'पञ्जिका' पर 'उद्योत' नाम्नी टीका लिखी है। त्रिविक्रम वर्धमान का शिष्य है। वर्धमान नाम के अनेक आचार्य हो चुके हैं। अतः यह किस वर्धमान का शिष्य है, यह अज्ञात है। पट्टन के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र के पृष्ठ २६१ पर त्रिविक्रमकृत पञ्जिका का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है, उसके अन्त में निम्न लेख है—

इति श्री वर्धमानशिष्यत्रिविक्रमकृते पञ्जिकोऽद्योतेऽनुषङ्ग-पादः। सं० १२२१ ज्येष्ठ वदि ३ शुक्रे लिखितमिति।

इससे स्पष्ट है कि विक्रम की १३ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती है।

जिनप्रभसूरि, कुशल, रामचन्द्र आदि अनेक लेखकों ने कातन्त्रपञ्जिका पर टीकाएं लिखी हैं ऐसा डा० बेलवेल्कर का मत है।[2]

कातन्त्र व्याकरण का नागराक्षरों में जो संस्करण कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, उस के अन्त में निम्न टीकाकारों और टीकाओं के कुछ पाठ उद्धृत किये हैं—

५ काशीराज	७ हरिराम
६ लघुवृत्ति	८ चतुष्टयप्रदीप

१. अल्बेरूनी का भारत, भाग २, पृष्ठ ४०, ४१।

२. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैरा नं० ६९।

इन टीकाकारों तथा टीकाओं के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं। इन के अतिरिक्त अन्य कई विद्वानों ने दुर्गवृत्ति पर टीकाएं लिखी हैं।

४—जिनप्रभ सूरि (सं० १३५२)

आचार्य जिनप्रभ सूरि ने कायस्थ खेतल की अभ्यर्थना पर कातन्त्र की 'कातन्त्रविभ्रम' नाम्नी टीका लिखी थी। इस टीका की रचना सं० १३५२ में दिल्ली में हुई थी।[1] डा० बेलवेल्कर ने इसे त्रिलोचनदास की पञ्जिका की टीका माना है।[2]

५—जगद्धर भट्ट (सं० १३५० का समीपवर्ती)

जगद्धर ने अपने पुत्र यशोधर को पढ़ाने के लिये कातन्त्र की 'बालबोधिनी' वृत्ति लिखी है। जगद्धर कश्मीर का प्रसिद्ध पण्डित है। उसने स्तुतिकुसुमाञ्जलि और मालतीमाधव आदि अनेक ग्रन्थों की टीकाएं लिखी हैं। जगद्धर के पितामह गौरधर ने यजुर्वेद की वेदविलासिनी नाम्नी व्याख्या लिखी थी।[3]

डा० बेलवेल्कर ने जगद्धर का काल १० वीं शताब्दी माना है वह ठीक नहीं है, क्योंकि जगद्धर ने वेणीसंहार नाटक की टीका में रूपावतार को उद्धृत किया है।[4] रूपावतार की रचना सं० ११४० के लगभग हुई है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं।[5] जगद्धर का काल सं० १३५० के लगभग है।

बालबोधिनी का टीकाकार—राजानक शितिकण्ठ

राजानक शितिकण्ठ ने जगद्धरविरचित बालबोधिनी वृत्ति की व्याख्या लिखी है। राजानक शितिकण्ठ जगद्धर का 'नप्तृकन्या-तनया-तनूज' अर्थात् पोते की कन्या का दौहित्र था। राजनक शितिकण्ठ का काल १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

---

१. जैन सिद्धान्तभास्कर भाग १३, किरण २, पृष्ठ १०५।

२. सिस्टम आफ संस्कृतग्रामर पैरा नं० ६६।

३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २, पृष्ठ १०।

४. अत्र जयस्थिति, अत्र यद्यपि जयतेरनभिधानादुत्वं न भवति इति रूपावतारे दृश्यते। पृष्ठ १८, निर्णयसागर संस्क०।

५. पूर्व पृष्ठ ३७१।

कातन्त्र सूत्रपाठ पर इनके अतिरिक्त अन्य अनेक वृत्तियां लिखी गई होंगी, परन्तु हमें उनका ज्ञान नहीं है।

२—चन्द्रगोमी (१००० वि० पू०)

आचार्य चन्द्रगोमी ने पाणिनीय व्याकरण के आधार पर एक नय व्याकरण की रचना की। इस ग्रन्थ की रचना में चन्द्रगोमी ने पातञ्जल महाभाष्य से भी महती सहायता ली है।

परिचय

वंश—चन्द्राचार्य के वंश का कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

मत—चान्द्र व्याकरण के प्रारम्भ में जो श्लोक उपलब्ध होता है, उससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगोमी बौद्धमतावलम्बी था।[1]

देश—कल्हण के लेख से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने कश्मीर के महाराज अभिमन्यु की आज्ञा से कश्मीर में महाभाष्य का प्रचार किया था[2], परन्तु उस के लेख से यह विदित नहीं होता कि चन्द्राचार्य ने भारत के किस प्रान्त में जन्म लिया था। किसी अन्य प्रमाण से भी इस विषय पर साक्षात् प्रकाश नहीं पड़ता। चन्द्रगोमी के उणादि-सूत्रों की अन्तरङ्ग परीक्षा करने से प्रतीत होता है कि वह बंग प्रान्त का निवासी था।

हम पुरुषोत्तमदेव के प्रकरण में लिख चुके हैं कि बंगवासी अन्तस्थ वकार और पवर्गीय बकार का उच्चारण एक जैसा करते हैं। उनका यह उच्चारण दोष अत्यन्त प्राचीन काल से चला आरहा है।[3]

चन्द्राचार्य ने अपने उणादि सूत्रों की रचना ककारादि अक्षरान्त क्रम से की है। वह उणादि सूत्र २। ८८ तक पकारान्त शब्दों को समाप्त करके सूत्र ८९ में फकारान्त गुल्फ शब्द की सिद्धि दर्शाकर बकारान्तों के अनुक्रम में सूत्र ९०, ९१ में अन्तस्थान्त "गर्व, शर्व, अश्व, लट्वा, कण्व, खट्वा" और "विश्व" शब्दों का विधान करके सूत्र ९२ के शिवा-

---

१. सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो गुरुम्। २. पूर्व पृष्ठ ३४३, टि० १।
३. पूर्व पृष्ठ २८६, २८६।

दिगण में "शिव, सर्व, उल्व, शुल्व, निम्ब, बिम्ब, शम्ब, स्तम्ब, जिह्वा, ग्रीवा" शब्दों का साधुत्व दर्शाता है। इन में अन्तस्थान्त और पवर्गीयान्त दोनों प्रकार के शब्दों का एक साथ सन्निवेश है। इस से प्रतीत होता है कि चन्द्राचार्य बंगदेशीय था। अत एव उसने प्रान्तीयोच्चारण दोष की भ्रान्ति से अन्तस्थ वकारान्त पदों को भी पवर्गीय बकारान्त के प्रकरण में पढ़ दिया।

काल

महान् ऐतिहासिक कल्हण के लेखानुसार चन्द्राचार्य कश्मीर के नृपति अभिमन्यु का समकालिक था। उसी की आज्ञा से चन्द्राचार्य ने नष्ट हुए महाभाष्य का पुनः प्रचार किया और नये व्याकरण की रचना की।[1] महाराज अभिमन्यु का काल अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। पाश्चात्य विद्वान् अभिमन्यु को ४२३ ईसा पूर्व से लेकर ५०० ईसा पश्चात् तक विविध कालों में मानते हैं। कल्हण के मतानुसार अभिमन्यु का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून १००० वर्ष पूर्व है। हम भारतीय काल-गणना के अनुसार इसी काल को ठीक मानते हैं। चन्द्राचार्य के काल के विषय में हम महाभाष्यकार पतञ्जलि के प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।[2]

चान्द्र व्याकरण की विशेषता

प्रत्येक ग्रन्थ में अपनी कुछ न कुछ विशेषता होती है। चान्द्रवृत्ति[3] और वामनीय लिङ्गानुशासन वृत्ति[4] में चान्द्र व्याकरण की विशेषता—"चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्" लिखी है। अर्थात् चान्द्र व्याकरण में किसी पारिभाषिक संज्ञा का विधान न करना उसकी विशेषता है। चन्द्राचार्य ने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति के प्रारम्भ में अपने व्याकरण की विशेषता इस प्रकार दर्शाई है—

लघुविस्पष्टसम्पूर्णमुच्यते शब्दलक्षणम्।

अर्थात् यह व्याकरण पाणिनीय तन्त्र की अपेक्षा लघु, विस्पष्ट और कातन्त्र आदि की अपेक्षा सम्पूर्ण है। पाणिनीय व्याकरण में जिन शब्दों के साधुत्व का प्रतिपादन वार्तिकों और महाभाष्य की इष्टियों से किया है

---

१. पूर्व पृष्ठ २४४ टि० १। २. पूर्व पृष्ठ २४१।
३. २।२।८६। ४. पृष्ठ ७।

चन्द्राचार्य ने उन पदों का सन्निवेश सूत्रपाठ में कर दिया है, अत एव उसने अपने ग्रंथ का विशेषण "सम्पूर्ण" लिखा है।

चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की रचना में पातञ्जल महाभाष्य से महान् लाभ उठाया है। पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों के जिस न्यासान्तर को निर्दोष बताया, चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में प्रायः उसे ही स्वीकार कर लिया।[1] इसी प्रकार जिन पाणिनीय सूत्रों या सूत्रांशों का पतञ्जलि ने प्रत्याख्यान कर दिया, चन्द्राचार्य ने उन्हें अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया।[2] इतना होने पर भी अनेक स्थानों पर चन्द्राचार्य ने पतञ्जलि के व्याख्यान को प्रामाणिक न मान कर अन्य ग्रन्थकारों का आश्रय लिया है।[3]

उपलब्ध चान्द्र व्याकरण असम्पूर्ण है

इस समय चान्द्र व्याकरण का जो जर्मन मुद्रित संस्करण उपलब्ध होता है उसमें ६ अध्याय हैं। यद्यपि छठे अध्याय के अन्त में समाप्ति प्रदर्शक 'समाप्तं चेदं चान्द्रव्याकरणं शुभम्' पाठ उपलब्ध होता है, तथापि अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चान्द्र व्याकरण में स्वरप्रक्रिया का भी कोई भाग अवश्य था, जो संप्रति अनुपलब्ध है। जिन प्रमाणों से चान्द्रव्याकरण की असम्पूर्णता की प्रतीति होती है, उन में से कुछ इस प्रकार हैं—

१—'व्याप्यत् काम्यच्'[4] सूत्र की वृत्ति में लिखा है—'चकारः सतिशिष्टस्वरबाधनार्थः—पुत्रकाम्यतीति" सतिशिष्टस्वर आदि की व्यवस्था के लिये चकारानुबन्ध करना तभी युक्त हो सकता है जब कि उस व्याकरण में स्वरव्यवस्था का विधान हो।

२—'तव्यानीयर्केलिमरः,[5] सूत्र की वृत्ति में "तव्यस्य वा स्वरितत्वं वक्ष्यामः" पाठ उपलब्ध होता है। पाणिनीय शब्दानुशासन में विभिन्न स्वर की व्यवस्था के लिये 'तव्य' और 'तव्यत्' दो प्रत्यय पढ़े हैं। उन में यथाक्रम अष्टाध्यायी ३।१।३ और ६।१।१८५ से प्रत्ययाद्युदात्तत्व तथा अन्तस्वरितत्व का विधान किया है। चान्द्र व्याकरण में एक 'तव्य' प्रत्यय का विधान है, उस से विभिन्न स्वरों का विधान कैसे हो, इसके लिये वृत्ति में

१. तुमो लुक् चच्छायाम्। चान्द्र १।१।२२। तुलना करो—महाभाष्य ३।४।७—तुमुनन्ताद्वा तस्य लुग्वचनम्। २. यथा – एकशेष प्रकरण।

३. रक्षोः प्राणिनि वा। चान्द्र ३।२।९ की महाभाष्य ८।२।१०० से तुलना करो।

४. चान्द्र सूत्र १।१।२३॥ ५. चान्द्रसूत्र १।२।१०५॥

कहा है—'तव्य का विकल्प से स्वरितत्व कहेंगे'। यहां वृत्तिगत "वक्ष्यामः" पद का निर्देश तभी उपपन्न हो सकता है जब सूत्रपाठ में स्वरप्रक्रिया का निर्देश हो, अन्यथा उस की कोई आवश्यकता ही नहीं।

३—चान्द्रवृत्ति १।१।१०८ के "जनिवधोरिगुपान्तानां च स्वरं वक्ष्यामः" पाठ में स्वरविधान करने की प्रतिज्ञा की है।

४—'अमावसो वा'[1] सूत्र की वृत्ति में "अनौ वसः इति प्रतिषेधाभावादाद्युदात्तत्वम्" पाठ उपलब्ध होता है। इस में 'अमावस्या' शब्द में ण्यत् के अभाव में यत् होने पर आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति होती है, पर इष्ट है अन्त स्वरितत्व। इस के लिये वृत्तिकार ने "अनौ वसः" सूत्र को उद्धृत करके आद्युदात्तस्वर का प्रतिषेध दर्शाया है। इस से स्पष्ट है कि वृत्तिकार द्वारा उद्धृत 'अनौ वसः' सूत्र चान्द्र व्याकरण में कभी अवश्य विद्यमान था। पाणिनि ने अन्तस्वरितत्व की सिद्धि के लिये 'अमावस्या' और 'अमावास्या' दोनों पदों में एक ण्यत् प्रत्यय का विधान करके वृद्धि का विकल्प किया है।[2]

५—'लिपो नेश्च'[3] सूत्र की वृत्ति में "स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्यामः" लिखा है। इस पाठ में स्पष्ट ही अष्टमाध्याय में स्वरप्रक्रिया का विधान स्वीकार किया है।

प्रथम चार प्रमाणों से स्पष्ट है कि चान्द्र व्याकरण में स्वरप्रक्रिया का विधान अवश्य था। पञ्चम प्रमाण से यह भी स्पष्ट है कि उस में आठ अध्याय थे। स्वरप्रक्रिया की विशेष आवश्यकता वैदिक प्रयोगों में होती है। अतः प्रतीत होता है चान्द्र व्याकरण में वैदिक प्रक्रिया का विधान भी अवश्य था। उपर्युक्त पञ्चम प्रमाणानुसार स्वरप्रक्रिया का निर्देश अष्टमाध्याय में था। अतः सम्भव है सप्तमाध्याय में वैदिक प्रक्रिया का उल्लेख हो। इस की पुष्टि उसके धातुपाठ से भी होती है। चन्द्र ने अपने धातुपाठ में कई वैदिक धातुएं पढ़ी हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चान्द्रव्याकरण के वैदिक और स्वरप्रक्रिया विधायक सप्तम अष्टम दो अध्याय नष्ट हो चुके हैं।

---

१. चान्द्रसूत्र २।१।१३४॥

२. अमावसोरहं ण्यतोर्निपातयाम्यवृद्धिताम्। तथैकवृत्तिता तयोः स्वरश्च मे प्रसिद्ध्यति॥ महाभाष्य ३।१।१२२।

३. चान्द्रसूत्र १।१।१४५॥

विक्रम की १२ वीं शताब्दी में विद्यमान भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तम-देव से बहुत पूर्व चान्द्र व्याकरण के अन्तिम दो अध्याय नष्ट हो चुके थे। अत एव उस समय के वैयाकरण चान्द्र व्याकरण को लौकिक शब्दानुशासन ही समझते थे। इसी लिये पुरुषोत्तमदेव ने ७।३।९४ की भाषावृत्ति के "चन्द्रगोमी भाषासूत्रकारो यको वेति सूत्रितवान्" पाठ में चन्द्र-गोमी को भाषासूत्रकार लिखा है।[1] डा० बेलवेल्कर ने भी चान्द्रव्याकरण को केवल लौकिक भाषा का व्याकरण माना है।

अन्तिम अध्यायों के नष्ट होने का कारण

हम "पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रियाग्रन्थकार" नामक १४ वें अध्याय में लिख चुके हैं कि सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों में स्वर वैदिक प्रक्रिया का अन्त में संकलन होने से उन ग्रन्थों के अध्येता स्वर वैदिक प्रक्रिया को अनावश्यक समझ कर प्रायः छोड़ देते हैं। इसी प्रकार सम्भव है चान्द्र व्याकरण के अध्येताओं द्वारा भी उसके स्वर वैदिक प्रक्रियात्मक अन्तिम दो अध्यायों का परित्याग होने से वे शनैः शनैः नष्ट हो गये। पाणिनि ने स्वर वैदिक प्रक्रिया का लौकिक प्रकरण के साथ साथ ही विधान किया है, इसलिये उस के ग्रन्थ में वे भाग सुरक्षित रहे।

अन्य ग्रन्थ

१. चान्द्रवृत्ति—इस का वर्णन अनुपद होगा।

२. धातुपाठ ३. गणपाठ

४. उणादिसूत्र ५. लिङ्गानुशासन

इन ग्रन्थों का वर्णन इस ग्रन्थ के अगले भाग में यथास्थान किया जायगा।

६. उपसर्गवृत्ति—इस में २० उपसर्गों के अर्थ और उदाहरण हैं। यह केवल तिब्बती भाषा में मिलता है।[2]

७. शिक्षासूत्र—इस में वर्णोच्चारणशिक्षा सम्बन्धी ४८ सूत्र हैं। इस का विशेष विवरण 'शिक्षाशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में लिखेंगे। इस शिक्षा का एक नागरी संस्करण हमने गत वर्ष प्रकाशित किया है।

---

१. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैरा नं. ४४।

२. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैरा नं० ४५।

८. कोष—कोष ग्रन्थों की विभिन्न टीकाओं तथा कतिपय व्याकरण ग्रन्थों में चन्द्रगोमी के ऐसे पाठ उद्धृत हैं जिन से प्रतीत होता है कि चन्द्रगोमी ने कोई कोष ग्रन्थ भी रचा था।

डा० बेलवेल्कर ने चन्द्रगोमी विरचित 'शिष्यलेखा' नामक धार्मिक कविता तथा 'लोकानन्द' नामक नाटक का भी उल्लेख किया है।[1]

चान्द्रवृत्ति

निश्चय ही चान्द्रसूत्रों पर अनेक विद्वानों ने वृत्ति रचे होंगे, परन्तु सम्प्रति वे अप्राप्य हैं। इस समय केवल एक वृत्ति उपलब्ध है, जो जर्मन देश में रोमन अक्षरों में मुद्रित है।[2]

उपलब्ध वृत्ति का रचयिता

यद्यपि रोमनाक्षर मुद्रित वृत्ति के कुछ कोशों में "श्रीमदाचार्यधर्मदासस्य कृतिरियम्" पाठ उपलब्ध होता है,[3] तथापि हमारा विचार है कि उक्त वृत्ति धर्मदास की कृति नहीं है, वह आचार्य चन्द्रगोमी की स्वोपज्ञ-वृत्ति है। हमारे इस विचार के पोषक निम्न प्रमाण हैं—

१—*विक्रम की १२वीं शताब्दी का जैनग्रन्थकार वर्धमान सूरि लिखता है—*

चन्द्रस्तु सौहृदमिति हृदयस्याणि हृदादेशो न हृदुत्तरपदम्, हृद्भगेत्युत्तरपदादैजभावमाह।[4]

चान्द्रवृत्ति ६।१।२९ में यह पाठ इस प्रकार है—

सौहृदमिति हृदयस्याणि हृदादेशो, न हृदुत्तरपदम्।

२—वही पुनः लिखता है—

मन्तूय—मन्तूयति मन्तूयते इति चन्द्रः।[5]

यह पाठ चान्द्रव्याकरण १।१।३९ की टीका में उपलब्ध होता है।

३—सायणाचार्य ने भी उपर्युक्त पाठ को चन्द्र के नाम से उद्धृत किया है।[6] इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थानों में वर्धमान और सायण ने चान्द्रवृत्ति को चन्द्र के नाम से उद्धृत किया है।

---

१. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर पैरा नं० ४५।

२. डा० ब्रूनो ने तिब्बती से इसका अनुवाद किया है। उन्होंने उसे सन् १९०२ में लिपिजिग छपवाया है। सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर पैरा नं० ४२।

३. चान्द्रवृत्ति जर्मन संस्करण पृष्ठ ५१३। ४. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २१७।

५. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १४२। ६. धातुवृत्ति पृष्ठ ४०४।

कश्यप भिक्षु (सं० १२५७)

बौद्ध भिक्षु कश्यप ने सं० १२५७ के लगभग चान्द्र सूत्रों पर एक वृत्ति लिखी। इसका नाम बालबोधिनी है। यह वृत्ति लंका में बहुत प्रसिद्ध है।[1] डा० बेलवेल्कर ने लिखा है कि कश्यप ने चान्द्र व्याकरण के अनुरूप बालावबोध नामक व्याकरण लिखा, वह वरदराज की लघुकौमुदी से मिलता जुलता है।[2] हम इस के विषय में कुछ नहीं जानते।

३—क्षपणक (वि० प्रथम शताब्दी)

व्याकरण के कतिपय ग्रन्थों में कुछ उद्धरण ऐसे उपलब्ध होते हैं जिन से व्यक्त होता है[3] कि किसी क्षपणक नामा वैयाकरण ने कोई शब्दानुशासन रचा था।

परिचय तथा काल

कालिदासविरचित ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ में विक्रम की सभा के नवरत्नों के नाम लिखे हैं, उन में एक अन्यतम नाम क्षपणक भी है।[4] कई ऐतिहासिकों का मत है कि जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का ही दूसरा नाम क्षपणक है।[5] सिद्धसेन दिवाकर विक्रम का समकालिक है, यह जैन ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। सिद्धसेन अपने समय का महान् पण्डित था। जैन आचार्य देवनन्दी ने अपने जैनेन्द्र नामक व्याकरण में आचार्य सिद्धसेन का व्याकरण विषयक एक मत उद्धृत किया है।[6] उस से प्रतीत होता है कि सिद्धसेन दिवाकर ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था। अतः बहुत सम्भव है क्षपणक और सिद्धसेन दिवाकर दोनों नाम एक व्यक्ति के हों। यदि यह ठीक हो तो निश्चय ही क्षपणक महाराज विक्रम का समकालिक होगा।

---

१. कीथविरचित संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४११।

२. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर पैराग्राफ नं० ४६।

३. क्षपणक के अनेक मत तन्त्रप्रदीप में उद्धृत हैं।

४. धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कू वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥ २० । १० ॥

५. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० २४४।

६. वेत्तेः सिद्धसेनस्य । ५ । १ । ७ ॥

प्राचीन वैयाकरणों के अनुकरण पर क्षपणक ने भी अपने शब्दानुशासन के धातुपाठ, उणादि सूत्र आदि अवश्य रचे होंगे, परन्तु उन का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। उज्ज्वलदत्तविरचित उणादिवृत्ति में क्षपणक के नाम से एक ऐसा पाठ उद्धृत है,[1] जिस से प्रतीत होता है कि क्षपणक ने उणादि सूत्रों की कोई व्याख्या रची थी। वे सूत्र निश्चय ही उसके स्वप्रोक्त होंगे।

स्वोपज्ञवृत्ति

क्षपणकविरचित उणादिवृत्ति का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उस से सम्भावना होती है कि क्षपणक ने अपने शब्दानुशासन पर भी कोई वृत्ति अवश्य रची होगी। मैत्रेय रक्षित ने तन्त्रप्रदीप में लिखा।

अत एव नावमात्मानं मन्यते इति विग्रहपरत्वादनेन ह्रस्वत्वं बाधित्वा अमागमे सति 'नावंमन्ये' इति क्षपणकव्याकरणे दर्शितम्।[2]

यह पाठ निश्चय ही किसी क्षपणक वृत्ति से उद्धृत किया गया है।

क्षपणक महान्यास

मैत्रेय रक्षित ने तन्त्रप्रदीप ४।१।१५५ में 'क्षपणक महान्यास' को उद्धृत किया है। यह ग्रन्थ किस की रचना है, यह अज्ञात है। 'महान्यास' में लगे हुए 'महा' विशेषण से व्यक्त है कि 'क्षपणक' व्याकरण पर कोई न्यास ग्रन्थ भी रचा गया था।

क्षपणक व्याकरण के सम्बन्ध में हमें इस से अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

४—देवनन्दी (सं० ५००—५५०)

आचार्य देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद ने 'जैनेन्द्र' संज्ञक एक शब्दानुशासन रचा है। आचार्य देवनन्दी के काल आदि के विषय में हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।

जैनेन्द्र व्याकरण के दो संस्करण

जैनेन्द्र व्याकरण के सम्प्रति दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। एक औदीच्य, दूसरा दाक्षिणात्य। औदीच्य संस्करण में लगभग तीन सहस्र सूत्र हैं, और दाक्षिणात्य संस्करण में तीन सहस्र सात सौ सूत्र उपलब्ध

---

१. क्षपणकवृत्तौ अत्र 'इति' शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः। पृष्ठ ६०।

२. भारत कौमुदी भाग २ पृष्ठ ८९३ की टिप्पणी में उद्धृत।

होते हैं। दाक्षिणात्य संस्करण में न केवल ७०० सूत्र ही अधिक हैं, अपि तु सैकड़ों सूत्रों में परिवर्तन और परिवर्धन भी उपलब्ध होता है। औदीच्य संस्करण की अभयनन्दी कृत महावृत्ति में बहुत से वार्तिक मिलते हैं, परन्तु दाक्षिणात्य संस्करण में वे सब सूत्रान्तर्गत हैं। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि पूज्यपादविरचित मूल सूत्र पाठ कौन सा है।

जैनेन्द्र का मूल सूत्रपाठ

जैनेन्द्र व्याकरण के दाक्षिणात्य संस्करण के संपादक पं० श्रीलाल शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपादविरचित है। उन्होंने इस विषय में जो हेतु दिये हैं उनमें मुख्य हेतु इस प्रकार है—

तत्वार्थसूत्र १।६ की स्वविरचित सर्वार्थसिद्धि नाम्नी व्याख्या में पूज्यपाद ने लिखा है कि 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र में अल्पाच्तर होने से नय शब्द का पूर्व प्रयोग होना चाहिये, परन्तु अभ्यर्हित होने से बह्वच् प्रमाण शब्द का पूर्व प्रयोग किया है। जैनेन्द्र व्याकरण के औदीच्य संस्करण में इस प्रकार का कोई लक्षण नहीं है, जिससे बह्वच् प्रमाण शब्द का पूर्व निपात हो सके। दाक्षिणात्य संस्करण में इस अर्थ का प्रतिपादक 'अर्च्यम्'[1] सूत्र उपलब्ध होता है। अतः दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित है।[2]

पं० श्रीलालजी का यह लेख प्रमाणशून्य है। यदि दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपादविरचित होता तो वे अभ्यर्हितत्वात्' ऐसा न लिखकर 'अर्च्यत्वात्' लिखते। पूज्यपाद का यह लेख ही बता रहा है कि उन की दृष्टि में 'अर्च्यम्' सूत्र नहीं है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण के 'अभ्यर्हितं च' वार्तिक को दृष्टि में रखकर 'अभ्यर्हितत्वात्' लिखा है सर्वार्थसिद्धि में अन्यत्र भी कई स्थानों में अन्य वैयाकरणों के लक्षण उद्धृत किये हैं। यथा—

१—तत्त्वार्थसूत्र ५।४ की सर्वार्थसिद्धि टीका में नित्य शब्द के निर्वचन में 'नेर्ध्रुवे त्यः' वचन उद्धृत किया है। यह 'त्यब् नेर्ध्रुवे वक्तव्यम्'[3] इस कात्यायन वार्तिक का अनुवाद है। जैनेन्द्र व्याकरण में इस प्रकरण में 'त्य' प्रत्यय ही नहीं है। इसलिये अभयनन्दी ने 'क्येस्तुट् च'[4] सूत्र की

१. शब्दार्णवचन्द्रिका १।१।१४ ॥ २. शब्दार्णवचन्द्रिका की भूमिका।
३. वार्तिक ४।२।१०४ ॥ ४. ३।२।८१॥

व्याख्या में 'नेर्ध्रुवः' उपसंख्यान करके नित्य शब्द की सिद्धि दर्शाई है। दाक्षिणात्य संस्करण में नित्यशब्द की व्युत्पत्ति ही उपलब्ध नहीं होती।

२—तत्त्वार्थसूत्र ४।२२ की सर्वार्थसिद्धि में 'द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्' वचन पढ़ा है। यह पाणिनि के 'तपरस्तत्कालस्य'[1] सूत्र पर कात्यायन का वार्त्तिक है।

अतः दाक्षिणात्य संस्करण में केवल 'अभ्यर्हितं च' के समानार्थक 'अर्च्यम्' सूत्र की उपलब्धि होने से वह पूज्यपादविरचित नहीं हो सकता अब हम एक ऐसा प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिससे इस विवाद का सदा के लिये अन्त हो जाता है, और स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि औदीच्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित है, न कि दाक्षिणात्य संस्करण। यथा—

'आदावुपज्ञोपक्रमम्'[2] सूत्र के दाक्षिणात्य संस्करण की शब्दार्णवचन्द्रिका टीका में 'देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्' उदाहरण उपलब्ध होता है। यह उदाहरण औदीच्य संस्करण की अभयनन्दी की महावृत्ति में भी मिलता है। इस उदाहरण से व्यक्त है कि देवनन्दी विरचित व्याकरण में एकशेष प्रकरण नहीं था। दाक्षिणात्य संस्करण में 'चार्थे द्वन्द्वः'[3] सूत्र के अनन्तर द्वादशसूत्रात्मक एकशेष प्रकरण उपलब्ध होता है। औदीच्य संस्करण में न केवल एकशेष प्रकरण का अभाव ही है, अपि तु उसकी अनावश्यकता का द्योतक सूत्र भी पढ़ा है—स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः[4]। अर्थात् अर्थाभिधानशक्ति के स्वाभाविक होने से एकशेष प्रकरण नहीं पढ़ा।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि पूज्यपादविरचित मूल ग्रन्थ वही है, जिस में एकशेष प्रकरण नहीं है, और वह औदीच्य संस्करण ही है, न कि दाक्षिणात्य संस्करण। वस्तुतः दाक्षिणात्य संस्करण जैनेन्द्र व्याकरण का परिष्कृत रूपान्तर है। इस का वास्तविक नाम शब्दार्णव व्याकरण है। पहले हम पूज्यपाद के मूल जैनेन्द्र व्याकरण अर्थात् औदीच्य संस्करण के विषय में लिखते हैं।

१, अष्टा० १।१।७०॥ २, औदीच्य सं० १।४।१७॥ दा० सं० १।४।११४॥

३, दा० सं० १।३।६९॥ ४, औदीच्य सं० १।१।९९ ॥ सम्पादक के प्रमाद से मुद्रित ग्रन्थ में यह सूत्र वृत्यन्तर्गत ही छपा है। देखो पृष्ठ ५२।

जैनेन्द्र व्याकरण की विशेषता

हम ऊपर लिख चुके हैं कि जैनेन्द्र के दोनों संस्करणों की टीकाओं में 'देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्'[1] उदाहरण मिलता है। इस उदाहरण से व्यक्त होता है कि एकशेष प्रकरण से रहित व्याकरण शास्त्र की रचना सब से पूर्व आचार्य देवनन्दी ने की है। अतः जैनेन्द्र व्याकरण की विशेषता 'एकशेष प्रकरण न रखना है'।[2] परन्तु यह विशेषता जैनेन्द्र व्याकरण की नहीं है, और ना ही आचार्य पूज्यपाद की स्वोपज्ञा है। जैनेन्द्र व्याकरण से कई शताब्दी पूर्व रचित चान्द्र व्याकरण में भी एकशेष प्रकरण नहीं है। चन्द्राचार्य को एकशेष की अनावश्यकता का ज्ञान महाभाष्य से हुआ है। उस में लिखा है—'अशिष्य एकशेष एकेनोक्तत्वात्, अर्थाभिधानं पुनः स्वाभाविकम्'[3]। अर्थात् शब्द की अर्थाभिधान शक्ति के स्वाभाविक होने से एक शब्द से भी अनेक अर्थों की प्रतीति हो जाती है, अतः एकशेष प्रकरण अनावश्यक है। महाभाष्य से प्राचीन अष्टाध्यायी की माथुरी वृत्ति के अनुसार भगवान् पाणिनि ने स्वयं एकशेष की अशिष्यता का प्रतिपादन किया था।[4] अतः एकशेष प्रकरण को न रखना जैनेन्द्र व्याकरण की विशेषता नहीं है, यह स्पष्ट है। प्रतीत होता है टीकाकारों ने प्राचीन चान्द्रव्याकरण और महाभाष्य आदि का सम्यग् अनुशीलन नहीं किया। अत एव उन्होंने जैनेन्द्र की यह विशेषता लिख दी।

जैनेन्द्र व्याकरण की दूसरी विशेषता अल्पाक्षर संज्ञाएं कही जा सकती हैं, परन्तु यह भी आचार्य देवनन्दी की स्वोपज्ञा नहीं है। पाणिनीय तन्त्र में भी 'घ घु टि' आदि अनेक एकाच् संज्ञाएं उपलब्ध होती हैं। शास्त्र में लाघव दो प्रकार का होता है, शब्दकृत और अर्थकृत। शब्दकृत लाघव की अपेक्षा अर्थकृत लाघव का महत्त्व विशेष है।[5] अतः परम्परा से लोक प्रसिद्ध बह्वक्षर संज्ञाओं के स्थान में नवीन अल्पाक्षर संज्ञाएं

---

१. औ० सं० १।४।६७॥ दा० सं० १।४।११४॥ २. तुलना करो—पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। काशिका २।४।२१॥ चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्। चान्द्रवृत्ति २।२।६८॥

३. महाभाष्य १।२।६४॥ ४. माथुर्यां तु वृत्तावशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते। भाषावृत्ति १।२।५०॥ देखो पूर्व पृष्ठ ३१८॥ ५. देखो पूर्व पृष्ठ १५७, टि० ४।

बनाने में किंचित् शब्दकृत लाघव होने पर भी अर्थकृत गौरव बहुत बढ़ जाता है, और शास्त्र क्लिष्ट हो जाता है। अत एव पाणिनीय तन्त्र की अपेक्षा जैनेन्द्र व्याकरण क्लिष्ट है।

जैनेन्द्र व्याकरण का आधार

जैनेन्द्र व्याकरण का मुख्य आधार पाणिनीय व्याकरण है, कहीं कहीं पर चान्द्रव्याकरण से भी सहायता ली है। यह बात इनकी पारस्परिक तुलना से स्पष्ट हो जाती है। जैनेन्द्र व्याकरण में पूज्यपाद ने श्रीदत्त[1], यशोभद्र[2], भूतबलि[3], प्रभाचन्द्र[4], सिद्धसेन[5] और समन्तभद्र[6] इन ६ प्राचीन जैन आचार्यों का उल्लेख किया है। 'जैन साहित्य और इतिहास' के लेखक पं० नाथूरामजी प्रेमी का मत है कि इन आचार्यों ने कोई व्याकरण शास्त्र नहीं रचा था।[7] हमारा विचार है उक्त आचार्यों ने व्याकरण ग्रन्थ अवश्य रचे होंगे।

जैनेंद्र व्याकरण के व्याख्याता

जैनेन्द्र व्याकरण पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएं रचीं। आर्य श्रुतकीर्त्ति पञ्चवस्तुप्रक्रिया के अन्त में जैनेन्द्र व्याकरण की विशाल राजप्रसाद से उपमा देता है। उस के लेखानुसार इस व्याकरण पर न्यास, भाष्य, वृत्ति और टीका आदि अनेक व्याख्याएं लिखी गईं।[8] उन में से सम्प्रति केवल ४, ५ व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

१—देवनन्दी (सं० ५००-५५०)

हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में लिख चुके हैं कि आचार्य देवनन्दी ने अपने व्याकरण पर जैनेन्द्र संज्ञक न्यास लिखा था।[9] यह न्यास ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है।

---

१. गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् ।१।४।३४॥ २. कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य २।१।९९॥ ३. राद् भूतबलेः ।३।४।८३॥ ४. रात्रेः कृतिप्रभाचन्द्रस्य ।४।३।१८०॥ ५. वेत्तेः सिद्धसेनस्य ।५।१।७॥ ६. चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ।५।४।१४०॥ ७. पृष्ठ १२०।

८. सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन् न्यासोरुरत्नक्षितिश्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुगं भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं प्रासादं पृथु पंचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात् ॥ ९. पूर्व पृष्ठ ३२३।

२—अभयनन्दी (सं० १२००)

अभयनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण पर एक विस्तृत वृत्ति रची है, यह महावृत्ति नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थकार ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया, अतः अभयनन्दी के देश काल आदि का वृत्त अज्ञात है। महावृत्ति ३।२।५५ में 'तत्त्वार्थवार्त्तिकमधीयते' उदाहरण मिलता है। तत्त्वार्थवार्त्तिक भट्ट अकलङ्क की रचना है। अकलङ्क का काल सं० ८०० के लगभग है।[1] अतः अभयनन्दी अकलङ्क से उत्तरवर्ती है, यह स्पष्ट है।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य के कर्त्ता वीरनन्दी का काल सं० १०३५ (शकाब्द ९००) के लगभग है।[2] वीरनन्दी की गुरुपरम्परा इस प्रकार है—

श्रीगुणनन्दी
|
विबुधनन्दी
|
अभयनन्दी
|
वीरनन्दी

यदि वीरनन्दी का गुरु अभयनन्दी ही इस महावृत्ति का रचयिता हो तो अभयनन्दी का काल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण होना चाहिये। बेलवेल्कर ने अभयनन्दी का काल सन् ७५० ई० माना है।[3]

३—भाष्यकार ? (सं० १२०० से पूर्व)

आर्य श्रुतकीर्ति अपनी पञ्चवस्तुप्रक्रिया के अन्त में लिखता है—वृत्तिकपाटसंपुटयुगं भाष्योऽथ शय्यातलम्। इस वचन से व्यक्त होता है कि जैनेन्द्र व्याकरण पर कोई 'भाष्य' नाम्नी व्याख्या अवश्य लिखी गई थी। इसके लेखक का नाम अज्ञात है, और यह भाष्य ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है। आर्य श्रुतकीर्ति का काल विक्रम की १२ वीं शताब्दी का प्रथम चरण है, यह हम अनुपद इसी प्रकरण में लिखेंगे। अतः भाष्य का रचयिता सं० १२०० से पूर्वभावी है, यह निर्विवाद है।

---

१. सं० सा० का इतिहास पृष्ठ २७१।

२. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १११।

३. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर पैरा ५०।

४—प्रभाचन्द्राचार्य (सं० १०७५-११२५)

आचार्य प्रभाचन्द्र ने जैनेन्द्र व्याकरण पर 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास' नाम्नी महती व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या अभयनन्दी की महावृत्ति से भी विस्तृत है, परन्तु इस समय समग्र उपलब्ध नहीं होती।

प्रभाचन्द्र ने 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास' के तृतीय अध्याय के अन्त में अभयनन्दी को नमस्कार किया है। अतः यह अभयनन्दी से उत्तरवर्ती है, यह स्पष्ट है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का कर्त्ता भी यही प्रभाचन्द्र है, क्योंकि शब्दाम्भोजभास्करन्यास के प्रारम्भ में अनेकान्त की चर्चा उक्त दोनों ग्रन्थों में देखने के लिये लिखा है।[1] प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्तिम लेख से विदित होता है कि प्रभाचन्द्र ने यह ग्रन्थ महाराज भोज के काल में रचा है।[2] महाराज भोज का राज्यकाल सं० १०७८-१११० तक है। प्रभाचन्द्र ने आराधनाकथाकोश भोज के उत्तराधिकारी जयसिंहदेव के राज्यकाल में लिखा है।[3] अतः प्रभाचन्द्र का काल सामान्यतया सं० १०७५-११२५ तक समझना चाहिये।

५—महाचन्द्र (२० वीं शताब्दी)

पण्डित महाचन्द्र ने लघु जैनेन्द्र नाम्नी एक वृत्ति लिखी है, यह ग्रन्थ विक्रम की २०वीं शताब्दी का है। यह वृत्ति अभयनन्दी की महावृत्ति के आधार पर लिखी गई है।

---

१. कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्तात्मक इत्यर्थः……………………तथा प्रपंचतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिनिरूपितमिह द्रष्टव्यम्।

२. श्रीमद्भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रमाणार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।

३. श्रीमज्जयदेवसिंहराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना……………श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्धः कृतः।

प्रक्रियाग्रन्थकार

१—आर्य श्रुतकीर्त्ति (सं० १२२५)

आर्य श्रुतकीर्ति ने जैनेन्द्र व्याकरण पर 'पञ्चवस्तु' नामक प्रक्रिया ग्रन्थ रचा है। कनाड़ी भाषा के चन्द्रप्रभचरित के कर्त्ता अग्गलदेव ने श्रुतकीर्त्ति को अपना गुरु लिखा है। चन्द्रप्रभचरित की रचना शकाब्द १०११ (सं० ११४६) में हुई है। यदि अग्गलदेव का गुरु श्रुतकीर्त्ति ही पञ्चवस्तु प्रक्रिया का रचयिता हो तो श्रुतकीर्ति का काल विक्रम की १२ वीं शताब्दी का प्रथम चरण होगा।

२—वंशीधर (२० वीं शताब्दी)

पं० वंशीधर ने अभी हाल में जैनेन्द्रप्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इसका केवल पूर्वार्ध ही प्रकाशित हुआ है।

जैनेन्द्रस्य व्याकरण का दाक्षिणात्य संस्करण

जैनेन्द्र व्याकरण का दाक्षिणात्य संस्करण के नाम से जो ग्रन्थ प्रसिद्ध है, वह आचार्य देवनन्दी की कृति नहीं है, यह हम सप्रमाण लिख चुके हैं। इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'शब्दार्णव' है।

शब्दार्णव का संस्कर्त्ता—गुणनन्दी (सं० ९१०–९६०)

आचार्य देवनन्दी के जैनेन्द्र व्याकरण में परिवर्तन और परिवर्धन करके नवीन रूप में परिष्कृत करने वाला आचार्य गुणनन्दी है। इस में निम्न हेतु है—

१. सोमदेव सूरि ने 'शब्दार्णव' पर 'चन्द्रिका' नाम्नी लघ्वी टीका लिखी है। उस के अन्त में वह अपनी टीका को गुणनन्दी विरचित शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिये नौका के समान लिखता है।[१] टीका का 'शब्दार्णवचन्द्रिका' नाम भी तभी उपपन्न होता है जब कि मूल ग्रन्थ का नाम 'शब्दार्णव' हो।

---

१. श्रीसोमदेवयतिनिर्मितमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवार्धौ।

२. जैनेन्द्रप्रक्रिया के नाम से प्रकाशित ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में लिखा है—गुणनन्दी ने जिस के शरीर को विस्तृत किया है, उस शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिये यह प्रक्रिया साक्षात् नौका के समान है।[1]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य गुणनन्दी ने ही मूल जैनेन्द्र व्याकरण में परिवर्तन और परिवर्धन करके उसे इस रूप में सम्पादित किया है, और गुणनन्दी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ का नाम 'शब्दार्णव' है। अत एव सोमदेव सूरि ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में पूज्यपाद के साथ गुणनन्दी को भी नमस्कार किया है। इसी प्रकार 'शब्दार्णव' के धातुपाठ में चुरादिगण के अन्त में गुणनन्दी का नामोल्लेख[3] भी तभी सुसम्बद्ध हो सकता है जब कि शब्दार्णव का सम्बन्ध गुणनन्दी के साथ हो।

काल

जैन सम्प्रदाय में गुणनन्दी नाम के कई आचार्य हुए हैं। अतः किस गुणनन्दी ने शब्दार्णव का सम्पादन किया, यह अज्ञात है। जैन शाकटायन व्याकरण जैनेन्द्र शब्दानुशासन की अपेक्षा अधिक पूर्ण है, उस में किसी प्रकार के उपसंख्यान आदि की आवश्यकता नहीं है।[4] प्रतीत होता है, गुणनन्दी ने जैन शाकटायन व्याकरण की पूर्णता को देख कर ही पूज्यपाद विरचित शब्दानुशासन को पूर्ण करने का विचार किया हो और उस में परिवर्तन तथा परिवर्धन करके उसे इस रूप में सम्पादित किया हो। शाकटायन व्याकरण अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकाल में लिखा गया है।[5] अमोघवर्ष का राज्यकाल सं० ८७१—९२४ तक है। अतः शब्दार्णव की रचना उस के अनन्तर की है।

श्रवणबेल्गोल के ४२, ४३ और ४७ वें शिलालेख में किसी गुणनन्दी आचार्य का उल्लेख मिलता है। ये बलाकपिच्छ के शिष्य और गृध्र-

१. सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवनिर्णयं, नावत्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात् स्वयं प्रक्रिया। २. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमावरव्रतिपूजितपादयुग्मम्। ३. शब्दब्रह्मा स जीयाद् गुणनिधिगुणनन्दिव्रतीशः सुसौख्यः।

४. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्। संख्यातं नोपसंख्यानं यस्य शब्दानुशासने। चिन्तामणिटीका के प्रारम्भ में।

५. इस के विषय में विस्तार से आगे शाकटायन के प्रकरण में लिखेंगे।

पिच्छ के प्रशिष्य थे। इन्हें न्याय, व्याकरण और साहित्य का महाविद्वान् लिखा है।[1] अतः सम्भव है ये ही शब्दार्णव व्याकरण के सम्पादक हों। कर्नाटककविचरित के कर्त्ता ने गुणनन्दी के प्रशिष्य और देवेन्द्र के शिष्य पम्प का जन्मकाल सं० ९५९ लिखा है। अतः गुणनन्दी का काल विक्रम की दशम शताब्दी का उत्तरार्ध है।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य के कर्त्ता वीरनन्दी का काल शक सं० ९०० (वि० सं० १०३५) के लगभग है। वीरनन्दी गुणनन्दी की शिष्य परम्परा में तृतीय पीढ़ी में है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2] प्रति पीढ़ी न्यूनातिन्यून २५ वर्ष का अन्तर मानकर गुणनन्दी का काल सं० ९६० के लगभग सिद्ध होता है। अतः स्थूलतया गुणनन्दी का काल सं० ९१०—९६० तक मानना अनुचित न होगा।

शब्दार्णव का व्याख्याता—सोमदेव सूरि (सं० १२६५)

सोमदेव सूरि ने शब्दार्णव व्याकरण की 'चन्द्रिका' नाम्नी अल्पाक्षर वृत्ति रची है। यह वृत्ति काशी की सनातन जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुकी है।

शब्दार्णवचन्द्रिका के प्रारम्भ के द्वितीय श्लोक से विदित होता है कि सोमदेवसूरि ने यह वृत्ति मूलसंघीय मेघचन्द्र के शिष्य नागचन्द्र (भुजङ्ग-सुधाकर) और उनके शिष्य हरिश्चन्द्र यति के लिये बनाई है।[3]

काल—शब्दार्णवचन्द्रिका की मुद्रित प्रति के अन्त में जो प्रशस्ति छपी है उस से ज्ञात होता है कि सोमदेव सूरि ने शिलाहार वंशज भोज-देव (द्वितीय) के राज्यकाल में कोल्हापुर के 'अर्जुरिका' ग्राम के त्रिभुवन-तिलक नामक जैनमन्दिर में शकाब्द ११२७ (वि० सं० १२६५) में इस टीका को पूर्ण किया।[4]

---

१. तच्छिष्यो गुणनन्दिपण्डितयतिश्चारित्रचक्रेश्वरः, तर्कव्याकरणादिशास्त्रनिपुणः साहित्यविद्यापतिः। २. पूर्व पृष्ठ ४२६। ३. श्रीमूलसंघजलजप्रतिबोधभानोर्मेघे-न्दुदीक्षितभुजङ्गसुधाकरस्य। राद्धान्तोयनिधिवृद्धिकरस्य वृत्तिं रेभे हरीन्दुयतये वरदीक्षिताय॥ ४. स्वस्ति श्रीकोल्हापुरदेशांतर्वत्यार्जुरिकामहास्थान······त्रिभुवन-तिलकजिनालये······ श्रीमच्छिलाहारकुलकमलमार्तण्ड······ ······श्रीवीरभोजदेवविजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैकशतसप्तविंशति (११२७) तमक्रोधनसंवत्सरे··········सोमदेवमुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णवचंद्रिका नामवृत्तिरिति।

शब्दार्णवप्रक्रियाकार

किसी अज्ञातनामा पण्डित ने शब्दार्णवचन्द्रिका के आधार पर शब्दार्णवप्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इस प्रक्रिया के प्रकाशक महोदय ने ग्रन्थ का नाम जैनेन्द्रप्रक्रिया और ग्रन्थकार का नाम गुणनन्दी लिखा है, ये दोनों अशुद्ध हैं। प्रतीत होता है, ग्रन्थ के अन्त में 'सैषागुणनन्दितानितवपुः' श्लोकांश देख कर प्रकाशक ने गुणनन्दी नाम की कल्पना की है।

५—वामन (सं० ४०० या ६०० से पूर्व)

वामन ने 'विश्रान्तविद्याधर' नाम का व्याकरण रचा था। इस व्याकरण का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र और वर्धमान सूरि ने अपने ग्रन्थों में किया है। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में इस व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं, और वामन को 'सहृदयचक्रवर्ती' उपाधि से विभूषित किया है।[1]

काल

संस्कृत वाङ्मय में वामन नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। अतः नाम के अनुरोध से कालनिर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। पुनरपि काशकुशावलम्ब न्याय से इसके कालनिर्णय का प्रयत्न करते हैं—

१. विक्रम की १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान आचार्य हेमचन्द्र ने हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञटीका में विश्रान्तविद्याधर का उल्लेख किया है।[2]

२. इसी काल का वर्धमान सूरि गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

दिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्या.............. वामनो विश्रान्तविद्याधरव्याकरणकर्त्ता।[3]

३. प्रभावकचरितान्तर्गत मल्लवादी प्रबन्ध में लिखता है—

शब्दशास्त्रे च विश्रान्तविद्याधरवराभिधे।
न्यासं चक्रेऽल्पधीवृन्दबोधनाय स्फुटार्थकम्॥

---

१. सहृदयचक्रवर्तिना वामनेन तु हेम्नः इति सूत्रेण........। पृष्ठ १६८।

२. आगे हेमचन्द्र के प्रकरण में। ३. पृष्ठ १, २।

४. निर्णयसागर सं० पृष्ठ ७८।

इस से स्पष्ट है कि मल्लवादी ने वामनप्रोक्त विश्रान्तविद्याधर व्याकरण 'न्यास' लिखा था। आचार्य हेमचन्द्र ने भी हैम व्याकरण की स्वोपज्ञ-टीका में इस न्यास को उद्धृत किया है।

इस प्रमाण के अनुसार वामन का काल निश्चय करने के लिये मल्लवादी का काल जानना आवश्यक है। अत: प्रथम मल्लवादी के काल का निर्णय करते हैं—

मल्लवादी का काल—आचार्य मल्लवादी का काल भी अनिश्चित है। अत: हम यहां उन सब प्रमाणों को उद्धृत करते हैं, जिन से मल्लवादी के काल पर प्रकाश पड़ता है।

१. हेमचन्द्र अपने व्याकरण की बृहती टीका में लिखता है—**अनुमल्लवादिन: तार्किकाः**।[1]

२. धर्मकीर्तिकृत न्यायबिन्दु पर धर्मोत्तर नामक बौद्ध विद्वान् ने टीका लिखी है, उस पर आचार्य मल्लवादी ने धर्मोत्तरटिप्पण लिखा है। ऐतिहासिक व्यक्ति धर्मोत्तर का काल विक्रम की सातवीं शताब्दी मानते हैं।[2]

३. पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने "जैन साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"आचार्य हरिभद्र ने अपने 'अनेकान्तजयपताका' नामक ग्रन्थ में वादिमुख्य मल्लवादी कृत 'सन्मतिटीका' के कई अवतरण दिये हैं और श्रद्धेय मुनि जिनविजयजी ने अनेकानेक प्रमाणों से हरिभद्र सूरि का समय वि० सं० ७५७—८२७ तक सिद्ध किया है। अतः आचार्य मल्लवादी विक्रम की आठवीं शताब्दी के पहले के विद्वान् हैं। यह निश्चय है।"[3]

हमारे विचार में हरिभद्रसूरि वि० सं० ७५७ से प्राचीन है।[4]

---

१. २।२।३९॥ २. मोहनलाल दलीचन्द देसाई कृत जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ १३६। ३. पृष्ठ १६४।

४. हरिभद्रसूरि का वि० सं० ५८५ में स्वर्गवास हुआ था, ऐसी जैन संप्रदाय में श्रुतिपरम्परा है (जैन साहित्य नो सं० इतिहास पृष्ठ १६५) यही काल ठीक है। हरिभद्रसूरि को सं० ७५७—८२७ तक मानने में मुख्य आधार इत्सिंग के वचनानुसार भर्तृहरि और धर्मपाल को वि० सं० ७०० के आस पास मानना है। इत्सिंग का भर्तृहरि विषयक लेख भ्रान्ति-युक्त है, यह हम पूर्व पृष्ठ २५८—२६४ तक लिख चुके हैं।

४. राजशेखर सूरि कृत प्रबन्धकोश के अनुसार मल्लवादी वलभी के राजा शीलादित्य का समकालिक है। प्रबन्धकोश में लिखा है—मल्लवादी ने बौद्धों से शास्त्रार्थ करके उन्हें वहां से निकाल दिया था। वि० सं० ३७५ में म्लेच्छों के आक्रमण से वलभी का नाश हुआ था और इसी में शिलादित्य की मृत्यु हुई थी।[1] पट्टावलीसमुच्चय के अनुसार वीरनिर्वाण से ८४५ वर्ष बीतने पर वलभीभंग हुआ।[2] कई विद्वानों के मतानुसार वीर संवत् का आरम्भ विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व हुआ था।[3] तदनुसार श्री वलभीभंग का काल वि० सं० ३७५ स्थिर होता है।[4] प्रबन्धकोश के सम्पादक श्री जिनविजयजी ने 'विक्रमादित्यभूपालात् पञ्चवर्षशतवत्सरे' का अर्थ ५७२ किया है, वह ठीक नहीं है। प्रबन्धचिन्तामणि में एक प्राकृत गाथा इस प्रकार उद्धृत है—

पणसयरी वाससयं तिन्निसयाइं अइक्कमेऊण।
विक्कमकालाऊ तओ वलहीभंगो समुप्पन्नो॥[5]

इस गाथा में भी विक्रम से ३७५ वर्ष पीछे वलभीभंग का उल्लेख है।

५. प्रभावकचरित में लिखा है—

श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते।
जिग्ये मल्लवादी बौद्धांस्तद् व्यन्तरांश्चापि॥[6]

इस के अनुसार महावीर संवत् ८८४ में मल्लवादी ने बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। वीर संवत् के आरम्भ के विषय में जैन ग्रन्थों में अनेक मत हैं। जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास के लेखक ने विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व वीर संवत् का प्रारम्भ मानकर वि० सं० ४१४ में मल्लवादी के शास्त्रार्थ का उल्लेख किया है। यह काल संख्या ४ के प्रमाणों से विरुद्ध है। यदि प्रबन्धकोश और प्रबन्धचिन्तामणि में दिया हुआ ३७५ वर्षमान महाराज

---

१. पृष्ठ २१-२२।

२. अमलकाले श्री वीरात् पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टशत ८४५ वर्षातिक्रमे वलभी-भंगः। पृष्ठ ५०। ३. पट्टावलीसमुच्चय में लिखा है—"श्रीवीरात् ४७० विक्रमवंशः, तदनु वर्ष ३८० शून्यो वंशः"। पृष्ठ १९८। तदनुसार वि० सं० ३९५ में वलभी भंग हुआ। हमें पट्टावली का यह लेख अशुद्ध प्रतीत होता है। ४

४. पृष्ठ १०९। ५. निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ ७६।

विक्रम की मृत्यु समय से गिना जाय। (जिसकी श्लोक और गाथा के शब्दों से अधिक सम्भावना है) तो प्रभावकचरित का लेख उपपन्न हो जाता है। विक्रम का राज्यकाल लगभग ३९ वर्ष का था।[1]

प्राचीन जैन परम्परा के अनुसार मल्लवादी सूरि का काल वि० सं० ४०० के लगभग निश्चित है और विश्रान्तविद्याधर पर न्यास ग्रन्थ लिखने वाला भी यही व्यक्ति है। यदि प्रबन्धकोश के सम्पादक के मतानुसार संवत् ५७३ में वलभी भंग मानें तब भी मल्लवादी सं० ६०० से अर्वाचीन नहीं है। तदनुसार विश्रान्तविद्याधर के कर्ता वामन का काल सं० ४०० और पक्षान्तर में ६०० से प्राचीन है, इतना निश्चित है।

विश्रान्तविद्याधर के व्याख्याता

१. वामन

वर्धमानविरचित गणरत्नमहोदधि से विदित होता है कि वामन ने अपने व्याकरण पर स्वयं दो टीकाएं लिखी थीं। वह लिखता है—वामनस्तु बृहद्वृत्तौ यवमाषेति पठति।[2]

इस से व्यक्त है कि वामन ने स्वयं लघ्वी और बृहती दो व्याख्याएं रची थीं, अन्यथा 'बृहत्' विशेषण व्यर्थ होता है। वामनकृत दोनों वृत्तियां तथा मूल सूत्रग्रन्थ इस समय अप्राप्त हैं।

२. मल्लवादी

तार्किकशिरोमणि मल्लवादी ने वामनकृत विश्रान्तविद्याधर व्याकरण पर न्यास ग्रन्थ लिखा था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं।[3] इस न्यास का उल्लेख वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में कई स्थानों पर किया है।[4] हेम शब्दानुशासन की बृहती टीका में भी यह न्यास उद्धृत है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में विक्रम का राज्यकाल ९३ वर्ष लिखा है। सम्भव है; उस में या उस के मूल में (जिसके आधार पर उन्होंने लिखा है) लेखक प्रमाद से ३९ के अंकों का विपर्यय होकर ९३ बन गया होगा।

२. पृष्ठ २१७। ३. पूर्व पृष्ठ में प्रभावकचरित का उद्धरण।

४. विश्रान्तन्यासकृत्तु [illegible] पृष्ठ १४१। विश्रान्तन्यासस्तु [illegible]। पृष्ठ ६२।

९—पाल्यकीर्ति (शाकटायन) (सं० ८७१—९२४)

व्याकरण के वाङ्मय में शाकटायन नाम से दो व्याकरण प्रसिद्ध हैं। एक प्राचीन और दूसरा अर्वाचीन। प्राचीन शाकटायन व्याकरण का उल्लेख हम पूर्व कर चुके। अब अर्वाचीन शाकटायन व्याकरण का वर्णन करते हैं।

अभिनव शाकटायन तन्त्र का कर्त्ता

अभिनव शाकटायन व्याकरण के कर्त्ता का वास्तविक नाम 'पाल्यकीर्ति' है। वादिराजसूरि ने 'पार्श्वनाथचरित' में लिखा है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥

अर्थात्—उस महातेजस्वी पाल्यकीर्ति की शक्ति का क्या कहना जिस के 'श्री' पद का श्रवण करते ही लोगों को वैयाकरण बना देती है।

इस श्लोक में 'श्रीपदश्रवणं यस्य' का संकेत शाकटायन व्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघा वृत्ति की ओर है। उस के मङ्गलाचरण का प्रारम्भ 'श्रीवीरममृतं ज्योतिः' से होता है। पार्श्वनाथचरित की पञ्जिका टीका के रचयिता शुभचन्द्र ने पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

तस्य पाल्यकीर्तेर्महौजसः श्रीपदश्रवणं क्रिया उपलक्षिताः किलेति पश्यन्ति शाकटायनसूत्राणि, तेषां श्रवणमाकर्णनम्।

इस से स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण के कर्त्ता का नाम पाल्यकीर्ति था। शाकटायनप्रक्रिया के मङ्गलाचरण में भी पाल्यकीर्ति को नमस्कार किया है।

आचार्य पाल्यकीर्ति विरचित व्याकरण का नाम केवल 'शब्दानुशासन' है उस के साथ 'शाकटायन' नाम का सम्बन्ध कैसे हुआ यह [illegible] है। सम्भव है, जैसे कवियों में कालिदास की महती उत्कर्षता होने से उत्तरवर्ती कई उत्कृष्ट कवि भी कालिदास नाम से व्यवहृत होने लगे, वैसे ही वैदिक वैयाकरणों में सर्वोत्कृष्ट शाकटायन का नाम उत्कर्षता के बोधन के लिये जैन सम्प्रदाय के महावैयाकरण पाल्यकीर्ति के साथ भी युक्त कर दिया गया। अतः हम भी इस व्याकरण का [illegible] लोक-

प्रसिद्ध शाकटायन नाम से किया है, परन्तु पाठकों को सन्देह न हो इसलिये इस के साथ सर्वत्र जैन या अभिनव विशेषण का प्रयोग किया है।

परिचय

आचार्य पाल्यकीर्त्ति यापनीय सम्प्रदाय के थे। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का अन्तरालवर्त्ती सम्प्रदाय था। यापनीय संप्रदाय के नष्ट हो जाने से दोनों सम्प्रदाय वाले इन्हें अपना आचार्य मानते हैं।

काल

"ख्याते दृश्ये"[1] सूत्र की अमोघावृत्ति में "अरुणद्देवः पाण्ड्यम्" और "अदहदमोघवर्षोऽरातीन्" उदाहरण दिये हैं। द्वितीय उदाहरण में अमोघवर्ष (प्रथम) द्वारा शत्रुओं को नष्ट करने की घटना का उल्लेख है। ठीक यही वर्णन राष्ट्रकूट के एक शिलालेख में "भूपालान् कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह" के रूप में किया है। शिलालेख अमोघवर्ष के बहुत पश्चात् लिखा गया है। अतः इस काल में उक्त घटना का प्रत्यक्ष न होने से 'अदहत्' के स्थान पर 'ददाह' क्रिया का प्रयोग किया है। अमोघावृत्ति में लङ्लकार का प्रयोग होने से विदित होता है कि पाल्यकीर्ति अमोघवर्ष (प्रथम) के काल में वर्त्तमान था। इसका एक प्रमाण महाराज अमोघदेव के नाम पर स्वोपज्ञवृत्ति का 'अमोघा' नाम रखना भी है। सम्भव है पाल्यकीर्ति महाराज अमोघदेव का सभ्य रहा हो। महाराज अमोघदेव सं० ८७१ में सिंहासनारूढ हुए थे, और उनका एक दानपत्र सं० ९२४ का उपलब्ध हुआ है, अतः यही समय पाल्यकीर्ति का भी है। तदनुसार निश्चय ही शाकटायन व्याकरण और उसकी अमोघा वृत्ति की रचना सं० ८७१-९२४ के मध्य में हुई।

शाकटायन तन्त्र की विशेषता

इस व्याकरण की चिन्तामणि नाम्नी टीका का रचयिता यक्षवर्मा लिखता है—

शाकटायन व्याकरण में इष्टियाँ पढ़ने की आवश्यकता नहीं है, सूत्रों से पृथक् वक्तव्य कुछ नहीं है, उपसंख्यानों की भी आवश्यकता नहीं है। इन्द्र चन्द्र आदि आचार्यों ने जो शब्दलक्षण कहा है वह सब इसमें है। और जो यहां नहीं है वह कहीं नहीं है। गणपाठ धातुपाठ लिङ्गानुशासन

---

१. शाकटायन ४।३।२०७॥

और उणादि इन चार के अतिरिक्त समस्त व्याकरण कार्य इस वृत्ति के अन्तर्गत है।[1]

इस व्याकरण में आर्यवज्र (१।२।१३) सिद्धनन्दी (२।१।२२९) और इन्द्र (१।२।३७) नामक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख है।

शाकटायन व्याकरण के व्याख्याता

१. पाल्यकीर्ति

आचार्य पाल्यकीर्ति ने स्वयं अपने शब्दानुशासन की वृत्ति रची है। यह पाल्यकीर्ति के आश्रयदाता महाराज अमोघदेव के नाम पर 'अमोघा' नाम से प्रसिद्ध है। अमोघावृत्ति अत्यन्त विस्तृत है। इसका परिमाण लगभग १८००० सहस्र श्लोक है। गणरत्नमहोदधि के रचयिता वर्धमान सूरि ने शाकटायन के नाम से अनेक ऐसे उद्धरण दिये हैं जो अमोघा वृत्ति में ही उपलब्ध होते हैं।[2] इसी प्रकार यक्षवर्मा विरचित चिन्तामणिवृत्ति के प्रारम्भ के ६ठे और ७वें श्लोक की परस्पर संगति लगाने से स्पष्ट होता है कि अमोघा वृत्ति सूत्रकार ने स्वयं रची है।[3] सर्वानन्द ने अमरटीका-सर्वस्व में अमोघावृत्ति का पाठ पाल्यकीर्ति के नाम से उद्धृत किया है।[4]

अमोघावृत्ति का टीकाकार—प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र ने अमोघावृत्ति पर 'न्यास' नाम्नी टीका रची है। एक प्रभाचन्द्र आचार्य का वर्णन हम पूर्व जैनेन्द्रव्याकरण के प्रकरण में

---

१. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्। संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य शब्दानुशासने ॥६॥ इन्द्रचन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्। तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥१०॥ गणधातुपाठयोगेन धातून् लिङ्गानुशासने लिङ्गगतम्। औणादिकानुणादौ शेषं निःशेषमत्र वृत्तौ विद्यात् ॥११॥

२. शाकटायनस्तु कर्णेटिरिटिरिः कर्णेचुरुचुरिरित्याह। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ८२, अमोघा वृत्ति २।१।५७॥ शाकटायनस्तु अथ पञ्चमी अथ द्वितीयेत्याह। गण० पृष्ठ ६०, अमोघा २।१।७६॥

३. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्। संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य शब्दानुशासने ॥६॥ तस्यातिमहतीं वृत्तिं संहृत्येयं लघीयसी। ....॥७॥ यस्य पाल्यकीर्तेः शब्दानुशासने इष्ट्यादयो नैवापेक्ष्यन्ते तस्य पाल्यकीर्तेः महतीं वृत्तिं संक्षिप्येयं लघ्वी वृत्तिर्विधीयते इति संगतिः ॥

४. तथाहि तत्र पाल्यकीर्तेर्विवरणं पोटगलो वृहत्कोशः। भाग ४, पृष्ठ ७२।

कर चुके।[1] इन्होंने जैनेन्द्र व्याकरण पर 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास' की रचना की थी। ये दोनों ग्रन्थकार एक हैं या पृथक् पृथक्, यह अज्ञात है।

१२ वीं शताब्दी के लीलाशुक मुनि ने 'दैवम्' की पुरुषकार टीका में शाकटायन न्यास को उद्धृत किया है।[2] इससे स्पष्ट है कि शाकटायन न्यास की रचना १२ वीं शताब्दी से पूर्व की है।

२—यक्षवर्मा

यक्षवर्मा ने अमोघा वृत्ति के आधार पर शाकटायन की 'चिन्तामणि' नाम्नी लघ्वी वृत्ति रची है। यह वृत्ति काशी से प्रकाशित हो चुकी है। इस वृत्ति का ग्रन्थ परिमाण लगभग ६ सहस्र श्लोक है। यक्षवर्मा ने अपनी वृत्ति के विषय में लिखा है कि इस वृत्ति के अभ्यास से बालक और बालिकाएं भी निश्चय से एक वर्ष में समस्त वाङ्मय को जान लेती हैं।[3]

चिन्तामणि का टीकाकार—अजितसेनाचार्य

आचार्य अजितसेन ने यक्षवर्मविरचित चिन्तामणि वृत्ति पर मणिप्रकाशिका नाम्नी टीका लिखी है।

प्रक्रिया ग्रन्थकार

१. अभयचन्द्राचार्य

अभयचन्द्राचार्य ने शाकटायन सूत्रों के आधार पर 'प्रक्रियासंग्रह' ग्रन्थ रचा है। यह ग्रन्थ शाकटायन व्याकरण में प्रवेशार्थियों के लिये लिखा गया है, अतः इस में सम्पूर्ण सूत्र व्याख्यात नहीं हैं।

२. भावसेन त्रैविद्यदेव

इन्होंने भी प्रक्रियानुसारी 'शाकटायनटीका' ग्रन्थ लिखा है। इन्हें वादिपर्वतवज्र भी कहते हैं।

३. दयालपाल मुनि (सं० १०५२)

मुनि दयालपाल ने बालकों के लिये 'रूपसिद्धि' नामक लघु प्रक्रिया ग्रन्थ बनाया है। ये पार्श्वनाथचरित के कर्त्ता वादिराजसूरि के सधर्मा माने जाते हैं। अतः इन का काल सं० १०५२ के लगभग है। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

---

१. पूर्व पृष्ठ ४६७। २. शाकटायनन्यासे तु ओदन्तो [illegible] पृ० [illegible]।

३. बालाबलाजनोऽप्यस्या वृत्तेरभ्यासवृत्तितः। समस्तं वाङ्मयं वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात्॥ प्रारम्भिक श्लोक १४।

७—शिवस्वामी (सं० ९१४—९४०)

शिवस्वामी महाकवि के रूप में संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है। इन का रचा हुआ कफ्फणाभ्युदय महाकाव्य एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है। वैयाकरण के रूप में शिवस्वामी का उल्लेख गणरत्नमहोदधि, कातन्त्रगण-धातुवृत्ति और माधवीया धातुवृत्ति[1] में मिलता है। वर्धमान पतञ्जलि और कात्यायन के साथ शिवस्वामी का प्रथम निर्देश करता है।[2] दूसरे स्थान पर 'परः पाणिनिः, अपरः शिवस्वामी' उदाहरण देता है।[3] इससे प्रतीत होता है कि वर्धमान की दृष्टि में शिवस्वामी पाणिनि के सदृश महा-वैयाकरण था।

काल

कल्हण ने राजतरङ्गिणी ५।३४ में लिखा है कि शिवस्वामी कश्मी-राधिपति अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में विद्यमान था।[4] अवन्तिवर्मा का राज्यकाल सं० ९१४—९४० तक है। अतः वही काल शिवस्वामी का है।

पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' में लिखा है—"शिवस्वामी शिवयोगी बलिया ओ प्रसिद्ध। षड्गुरुशिष्य सम्भवतः इहाकेइ छयजन गुरुर मध्ये अन्यतम बलिया स्वीकार करिया छेन।"[1]

"कफ्फणाभ्युदय लिखिलेओ शिवस्वामी बौद्ध न हेन, तिनि सनातन-धर्मावलम्बी छिलेन। स्मार्तदेर मध्येओ तिनि एकजन प्रमाणपुरुष। मदनपारिजाते स्मृतिचन्द्रिकाय एवं पराशरमाधवीये ताहार मतवाद उद्धृत हइया छे।"[5]

पं० गुरुपद हालदार का उपर्युक्त लेख ठीक नहीं है। शिवस्वामी और शिवयोगी भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। शिवस्वामी का काल दशम शताब्दी का पूर्वार्ध है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। शिवयोगी षड्गुरुशिष्य का अन्य-तम गुरु है। षड्गुरुशिष्य ने अपनी सर्वानुक्रमणी की वृत्ति सं० १२३४

---

1. शिवस्वामिकाश्यपौ तु दीर्घान्तमाहतुः। धातुवृत्ति पृष्ठ ११६। शिवस्वामी वकारोपधं पपाठ। धातुवृत्ति पृष्ठ २५७।

2. शुद्धचन्द्रस्याधिकरणत्वात् शिवस्वामिपतञ्जलिकात्यायनप्रवृत्तयो लभ्यन्ते। पृष्ठ २।   3. पृष्ठ ९१।   4. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः। प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥   5. पृष्ठ ४५२।

में लिखी थी।[1] शिवस्वामी बौद्धमतावलम्बी था, और शिवयोगी वैदिक धर्मावलम्बी था। अतः शिवयोगी और शिवस्वामी को एक समझना महती भूल है। प्रतीत होता है कि पं० गुरुपद हालदार को षड्गुरुशिष्य के काल का ध्यान न रहा होगा और नाम सादृश्य से उन्हें भ्रान्ति हुई होगी।

८—महाराज भोजदेव (सं० १०७५–१११०)

महाराज भोजदेव ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नाम का एक बृहत् शब्दानुशासन रचा है। उन्हों ने योगसूत्रवृत्ति के प्रारम्भ में स्वयं लिखा है—

> शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता,
> वृत्तिं, राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
> वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-
> स्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥

इस श्लोक के अनुसार सरस्वतीकण्ठाभरण, योगसूत्रवृत्ति और राजमृगाङ्क ग्रन्थों का रचयिता एक ही व्यक्ति है, यह स्पष्ट है।

परिचय और काल

भोजदेव नाम के अनेक राजा हुए हैं, किन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण आदि ग्रन्थों का रचयिता, विद्वानों का आश्रयदाता परमारवंशीय धाराधीश्वर ही प्रसिद्ध है। यह महाराज सिन्धुल का पुत्र और महाराज जयसिंह का पिता था।

महाराज भोज का एक दानपत्र सं० १०७८ का उपलब्ध हुआ है, और इन के उत्तराधिकारी जयसिंह का दानपत्र सं० १११२ का मिला है। अतः भोज का राज्यकाल सामान्यतया सं० १०७५–१११० तक माना जाता है।

---

१. वर्षेऽस्यात्मेषुमायेति कल्यब्दगणने सति। सर्वानुक्रमणीवृत्तिर्जाता वेदार्थदीपिका॥ वेदार्थदीपिका के अंत में। कलि के १५, ६५, १३२ दिन = कलि सं० ४२८८, वि० सं० १२३४।

संस्कृत भाषा का पुनरुद्धारक

महाराज भोजदेव स्वयं महाविद्वान्, विद्यारसिक और विद्वानों का आश्रयदाता था। उस ने लुप्तप्रायः संस्कृत भाषा का पुनः एक बार उद्धार किया। बल्लभदेवकृत भोजप्रबन्ध में लिखा है—

चाण्डालोऽपि भवेद्विद्वान् यः स पुरि तिष्ठतु मे।
विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद् बहिरस्तु मे॥

महाराज भोज की इतनी महती उदारता के कारण इन के समय में तन्तुवाय (जुलाहे) तथा काष्ठभारवाहक (लकड़हारे) भी संस्कृत भाषा के अच्छे मर्मज्ञ बन गये थे। भोजप्रबन्ध में लिखा है—एक बार धारा नगरी में बाहर से कोई विद्वान् आया। उसके निवास के लिये नगरी में कोई गृह रिक्त नहीं मिला। अतः राज्यकर्मचारियों ने एक तन्तुवाय को जाकर कहा कि तू अपना घर खाली कर दे, इस में एक विद्वान् को ठहरावेंगे। तन्तुवाय ने राजा के पास जाकर जिन चमत्कारी शब्दों में अपना दुःख निवेदन किया, वे देखने योग्य हैं। तन्तुवाय ने कहा—

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि,
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि।
भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ !
हे साहसाङ्क ! कवयामि वयामि यामि॥

एक अन्य अवसर पर भोजराज ने एक वृद्ध लकड़हारे को कहा—

भूरिभारभराक्रान्त ! बाधति स्कन्ध एष ते।

इस के उत्तर में उस वृद्ध लकड़हारे ने निम्न चमत्कारी उत्तरार्ध पढ़ा—

न तथा बाधते राजन् ! यथा बाधति बाधते।

अर्थात्—हे राजन् ! लकड़ियों का भार मुझे इतना कष्ट नहीं पहुंचा रहा है, जितना आप का 'बाधति' अपशब्द कष्ट दे रहा है।

वस्तुतः महाराज विक्रमादित्य के अनन्तर भोजराज ने ही ऐसा प्रयत्न किया जिस से संस्कृत भाषा पुनः उस समय की जनसाधारण की भाषा बन गई। ऐसे स्तुत्य प्रयत्नों के कारण ही संस्कृत भाषा अभी तक जीवित है। जो संस्कृत भाषा मुसलमानों के सुदीर्घ राज्यकाल में नष्ट न हो सकी, वह ब्रिटिश राज्य के अल्प काल में मृतप्राय हो गई। इस का मुख्य

कारण यह है कि मुसलमानों के राज्यकाल में आर्य राजनैतिक रूप में पराधीन हुए थे, वे मानसिक दास नहीं बने थे, उन्होंने अपनी संस्कृति को नहीं छोड़ा था, परन्तु ब्रिटिश शासन ने आर्यों में मानसिक दासता का ऐसा बीज बो दिया कि उन्हें योरोपियन विचार, योरोपियन भाषा तथा योरोपियन सभ्यता ही सर्वोच्च प्रतीत होती है और भारतीय भाषा और संस्कृति तुच्छ प्रतीत होती है। भारत स्वतन्त्र हो जाने पर भी वह मानसिक दासता से मुक्त नहीं हुआ, नेता माने जाने वाले लोग अभी भी अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी सभ्यता से उसी प्रकार चिपटे हुए हैं, जैसे पराधीनता के काल में थे। इसी कारण सब भाषाओं की आदि जननी, समस्त संसार को ज्ञान तथा सभ्यता का पाठ पढ़ानेहारी संस्कृत भाषा आज अन्तिम श्वास ले रही है वस्तुतः भारतीय संस्कृति की रक्षा तभी हो सकेगी, जब हम अपनी प्राचीन संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार करेंगे, क्योंकि भाषा और संस्कृति का परस्पर चोली-दामन का सम्बन्ध है। आर्यों की प्राचीन संस्कृति, ज्ञान और इतिहास के समस्त ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही हैं। अतः जब तक उन ग्रन्थों का अनुशीलन न होगा, भारतीय सभ्यता कभी जीवित नहीं रह सकती। इसलिये भारतीय सभ्यता की रक्षा का एकमात्र उपाय संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार है।

सरस्वतीकण्ठाभरण

महाराज भोजदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण नाम के दो ग्रन्थ रचे। एक व्याकरण का, दूसरा अलंकार का। सरस्वतीकण्ठाभरण नामक शब्दानुशासन में ८ आठ बड़े बड़े अध्याय हैं,[1] प्रत्येक अध्याय ४ पादों में विभक्त है। इस की समस्त सूत्र संख्या ६४२१ है।

हम इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में लिख चुके हैं कि प्राचीन काल से प्रत्येक शास्त्र के ग्रन्थ उत्तरोत्तर क्रमशः संक्षिप्त किये गये। इसी कारण शब्दानुशासन के अनेक महत्त्वपूर्ण भाग परिभाषापाठ, गणपाठ और उणादि सूत्र आदि शब्दानुशासन से पृथक् हो गये। इस का फल यह

१. दण्डनाथवृत्ति सहित सरस्वतीकण्ठाभरण के सम्पादक पं० साम्बशास्त्री ने लिखा है कि इस में सात ही अध्याय हैं। देखो ट्रिवेण्ड्रम् प्रकाशित स० कं०, भाग १, भूमिका पृष्ठ १। यह संपादक की महती अनवधानता है कि उसने समग्र ग्रन्थ का बिना अवलोकन किये सम्पादन कार्य आरम्भ कर दिया।

हुआ कि शब्दानुशासनमात्र का अध्ययन मुख्य हो गया और परिभाषा-पाठ, गणपाठ तथा उणादि सूत्र आदि महत्त्वपूर्ण भागों का अध्ययन गौण हो गया। अध्येता इन परिशिष्टरूप ग्रन्थों के अध्ययन में प्रमाद करने लगे। इस न्यूनता को दूर करने के लिये भोजराज ने अपना महत्त्व-पूर्ण सरस्वतीकण्ठाभरण नामक शब्दानुशासन रचा। उसने अपने शब्दा-नुशासन में परिभाषा, लिङ्गानुशासन, उणादि और गणपाठ का तत्तत् प्रकरणों में पुनः सन्निवेश कर दिया। इससे इस शब्दानुशासन के अध्य-यन करने वाले को धातुपाठ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रहती। गणपाठ आदि का सूत्रों में सन्निवेश हो जाने से उनका अध्ययन आवश्यक हो गया। इस प्रकार व्याकरण के वाङ्मय में सरस्व-तीकण्ठाभरण अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रारम्भिक सात अध्यायों में लौकिक शब्दों का सन्निवेश है और आठवें अध्याय में स्वरप्रकरण तथा वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान है।

सरस्वतीकण्ठाभरण का आधार

सरस्वतीकण्ठाभरण का मुख्य आधार पाणिनीय और चान्द्र व्याकरण है। सूत्ररचना और प्रकरणविच्छेद आदि में ग्रन्थकार ने पाणिनीय अष्टा-ध्यायी की अपेक्षा चान्द्र व्याकरण का आश्रय अधिक लिया है। यह इन तीनों ग्रन्थों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट है। पाणिनीय शब्दानुशासन के अध्ययन करने वालों को चान्द्र व्याकरण और सरस्वतीकण्ठाभरण का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याता

१—भोजराज

भोजराज ने स्वयं अपने शब्दानुशासन की व्याख्या लिखी थी। इस में निम्न प्रमाण हैं—

१. गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान लिखता है—

भोजस्तु सुखादयो दश क्यङ्विधौ निरूपिता इत्युक्तवान्।[1]

वर्धमान के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भोजराज ने स्वयं अपने ग्रन्थ

१. गणरत्नावली पृष्ठ ७।

की वृत्ति लिखी थी। वर्धमान ने यह उद्धरण 'जातिकालसुखादिभ्यश्च'[1] सूत्र की वृत्ति से लिया है।

२. क्षीरस्वामी अमरकोष १।२।२४ की टीका में लिखता है—

इल्वलास्तारकाः। इल्वलोऽसुर इति उणादौ श्रीभोजदेवो व्याकरोत्।

क्षीरस्वामी ने यह उद्धरण सरस्वतीकण्ठाभरणान्तर्गत 'तुल्वलेल्वलपल्वलादयः'[2] उणादिसूत्र की वृत्ति से लिया है। यद्यपि यह पाठ दण्डनाथ की वृत्ति में भी उपलब्ध होता है तथापि क्षीरस्वामी ने यह पाठ भोज के ग्रन्थ से ही लिया है, यह उसके "श्रीभोजदेवो व्याकरोत्" पदों में स्पष्ट है।

वर्धमान और क्षीरस्वामी ने भोज के नाम से अनेक ऐसे उद्धरण दिये हैं जो सरस्वतीकण्ठाभरण की व्याख्या से ही उद्धृत किये जा सकते हैं। अतः प्रतीत होता है, भोजराज ने स्वयं अपने शब्दानुशासन पर कोई वृत्ति लिखी थी।

इस की पुष्टि दण्डनाथविरचित हृदयहारिणी टीका के प्रत्येक पाद की अन्तिम पुष्पिका से भी होती है। उस का पाठ इस प्रकार है—

इति श्रीदण्डनाथनारायणभट्टसमुद्धृतायां सरस्वतीकण्ठाभरणस्य लघुवृत्तौ हृदयहारिण्यां........................।

इस पाठ में "समुद्धृतायां और "लघुवृत्तौ" पद विशेष महत्त्व के हैं। इन से सूचित होता है कि नारायणभट्ट ने किसी विस्तृतव्याख्या का संक्षेपमात्र किया है अन्यथा वह 'समुद्धृतायां' न लिखकर "विरचितायां" आदि पद रखता। प्रतीत होता है उसने भोजदेव की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति का उसी के शब्दों में संक्षेप किया है। अत एव क्षीर वर्धमान आदि ग्रन्थकारों द्वारा भोज के नाम से उद्धृत वृत्ति के पाठ प्रायः नारायणभट्ट की वृत्ति में मिल जाते हैं।

भोज के अन्य ग्रन्थ—महाराज भोजदेव ने व्याकरण के अतिरिक्त योगशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, साहित्य और कोष आदि विषय के अनेक ग्रन्थ रचे हैं।

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण ३।३।१०१॥ २. सरस्वतीकण्ठाभरण २।१।१२२॥

२. दण्डनाथ नारायण (१२ वीं शताब्दी)

दण्डनाथ नारायणभट्ट नाम के विद्वान् ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'हृदयहारिणी' नाम्नी व्याख्या लिखी है। दण्डनाथ ने अपने ग्रन्थ में अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। अतः इस के देश काल आदि वृत्त अज्ञात है।

दण्डनाथ का नाम निर्देशपूर्वक सब से प्राचीन उल्लेख देवराज की निघण्टु-व्याख्या में उपलब्ध होता है। देवराज सायण से पूर्ववर्ती है। सायण ने देवराज की निघण्टुटीका को उद्धृत किया है। देवराज का काल विक्रम की १४ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।[1] इसलिये दण्डनाथ उस से प्राचीन है, इतना ही निश्चित कहा जा सकता है।

हृदयहारिणी व्याख्या सहित सरस्वतीकण्ठाभरण के सम्पादक साम्ब-शास्त्री ने 'दण्डनाथ' शब्द से कल्पना की है कि नारायणभट्ट भोजराज का सेनापति या न्यायाधीश था।[2]

३. कृष्णलीलाशुक मुनि (सं० १२२५-१३५० के मध्य)

कृष्णलीलाशुक मुनि ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस का एक हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम् के हस्तलेखसंग्रह में है। देखो सूचीपत्र भाग ६, ग्रन्थाङ्क ३५। पं० कृष्णाचार्य ने भी अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' ग्रन्थ में इस का उल्लेख किया है। इस टीका में ग्रन्थकार ने पाणिनीय जाम्बवतीकाव्य के अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।[3]

कृष्णलीलाशुक वैष्णव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध आचार्य है। इस का बनाया हुआ कृष्णकर्णामृत या कृष्णलीलामृत नाम का स्तोत्र वैष्णवों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ने धातुपाठविषयक 'दैवम्' ग्रन्थ पर 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस से ग्रन्थकार का व्याकरण विषयक प्रौढ़ पाण्डित्य स्पष्ट विदित होता है।

कई विद्वान् कृष्णलीलाशुक को बंगदेशीय मानते हैं। इसका निश्चित काल अज्ञात है। कृष्णलीलाशुक विरचित 'पुरुषकार' व्याख्या की कई

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २, पृष्ठ २११।

२. भाग १, भूमिका पृष्ठ २, ३। ३. पृष्ठ ३३६।

पंक्तियां देवराजविरचित निघण्टुटीका में उद्धृत हैं।[1] देवराज का समय सं० १३५०-१४०० के मध्य माना जाता है। अतः कृष्णलीलाशुक सं० १३५० से पूर्ववर्ती है, यह इस की उत्तर सीमा है। पुरुषकार में आचार्य हेमचन्द्र का मत तीन बार उद्धृत है।[2] हेमचन्द्र का ग्रन्थलेखन काल सं० ११६६-१२२० के लगभग है, यह कृष्णलीलाशुक की पूर्व सीमा है। पं० सीताराम जयराम जोशी ने 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में कृष्ण-लीलाशुक का काल सन् ११०० (वि० सं० ११५७) के लगभग माना है[3], वह चिन्त्य है।

पुरुषकार में कविकामधेनु नाम का ग्रन्थ कई बार उद्धृत है। वह बोप-देवविरचित कविकल्पद्रुम की कामधेनु टीका से भिन्न ग्रन्थ है। सम्भव है वह अमरकोश की टीका हो। इस ग्रन्थ में पाणिनीय सूत्र उद्धृत हैं। देखो पुरुषकार पृष्ठ १०२।

४. रामसिंहदेव

रामसिंहदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'रत्नदर्पण' नाम्नी व्याख्या लिखी है। ग्रन्थकार का देश काल अज्ञात है।

प्रक्रियाग्रन्थकार (सं० १५०० से पूर्ववर्ती)

प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में लिखा है—

तथा च सरस्वतीकण्ठाभरणप्रक्रियायां पदसिन्धुसेतावित्युक्तम्।[4]

इससे प्रतीत होता है कि सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'पदसिन्धुसेतु' नाम का कोई प्रक्रिया ग्रन्थ रचा गया था। ग्रन्थकार का नाम तथा देशकाल अज्ञात है। विट्ठलद्वारा उद्धृत होने से यह ग्रन्थकार सं० १५०० से पूर्व-वर्ती है, यह स्पष्ट है।

६—बुद्धिसागरसूरि (सं० १०८०)

आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने 'बुद्धिसागर' अपरनाम 'पञ्चग्रन्थी' व्याकरण रचा था।

---

१. क्षप् प्रेरणे, क्षपि क्षान्त्यामिति कथादिषु [अ]पठितेऽपि बहुलमेतन्निदर्शनमित्यस्यो-दाहरणत्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते। क्षपेः क्षपयन्ति क्षान्त्यां प्रेरणे क्षपयेत् इति दैवम्। निघण्टु टीका पृष्ठ ४३। देखो दैवम् पुरुषकार पृष्ठ ९५।

२. पृष्ठ २२, २४, १०। ३. पृष्ठ २५९। ४. भाग १, पृष्ठ ३१३।

परिचय

बुद्धिसागर[1] श्वेताम्बर सम्प्रदाय का आचार्य था। इन के सहोदर का नाम जिनेश्वर सूरि था। यह चन्द्रकुल के वर्धमानसूरि का शिष्य था।

काल

बुद्धिसागर व्याकरण के अन्त में एक श्लोक है—

श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालात् साशीतिके याति समासहस्रे।
सश्रीकजाबालिपुरे तदाद्यं दृब्धं मया सप्तसहस्रकल्पम्॥[2]

तदनुसार बुद्धिसागर ने वि० सं० १०८० में उक्त व्याकरण की रचना की थी। अतः बुद्धिसागर का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है, यह स्पष्ट है।

व्याकरण का परिमाण

ऊपर जो श्लोक उद्धृत किया है उस में बुद्धिसागर व्याकरण का परिमाण सात सहस्र श्लोक लिखा है। प्रतीत होता है, यह परिमाण उक्त व्याकरण के खिलपाठ और उसकी वृत्ति के सहित है। प्रभावकचरित में इस व्याकरण का परिमाण आठ सहस्र श्लोक लिखा है। यथा—

बुद्धिसागरसूरिश्चक्रे व्याकरणं नवम्।
सहस्राष्टकमानं तद् बुद्धिसागराभिधम्॥

मद्रासविश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हर्षवर्धनकृत लिङ्गानुशासन की भूमिका पृष्ठ ३४ पर सम्पादक ने बुद्धिसागरकृत लिङ्गानुशासन का निर्देश किया है।

१०—भद्रेश्वर सूरि (सं० १२०० से पूर्व)

भद्रेश्वर सूरि ने दीपक व्याकरण की रचना की थी। यह ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है। गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान लिखता है—

मेधाविनः प्रवरदीपककर्तृयुक्ताः।[3]

---

१. बुद्धिसागर सूरि का उल्लेख पुरातनप्रबन्धसंग्रह पृष्ठ ९५ के अभयदेव सूरि प्रबन्ध में मिलता है। २ पं० चन्द्रसागर सूरि सम्पादित सिद्धहैमशब्दानुशासन बृहद्वृत्ति की प्रस्तावना पृष्ठ 'ख'। ३. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १।

इस की व्याख्या में लिखता है—"दीपककर्त्ता भद्रेश्वरसूरिः। प्रवरश्चासौ दीपककर्त्ता च प्रवरदीपककर्त्ता। प्राधान्यं चास्याधुनिकवैयाकरणापेक्षया।[1]

आगे पृष्ठ ९८ पर दीपक व्याकरण का निम्न अवतरण दिया है—

"भद्रेश्वराचार्यस्तु—

किञ्च स्वा दुर्भगा कान्ता रक्षान्ता निश्चिता समा।
सचिवा चपला भक्तिर्बाल्येति स्वादयो दश॥
इति स्यादौ वेत्यनेन विकल्पेन पुंवद्भावं मन्यते।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भद्रेश्वर सूरि ने कोई शब्दानुशासन रचा था और उसका नाम "दीपक" था। सायणविरचित माधवीया धातुवृत्ति में श्रीभद्र के नाम से व्याकरणविषयक अनेक मत उद्धृत हैं। सम्भव है, वे मत भद्रेश्वर सूरि के दीपक व्याकरण के हों। धातुवृत्ति पृष्ठ २७८, २७९ से व्यक्त होता है कि श्रीभद्र ने अपने धातुपाठ पर भी कोई-वृत्ति रची थी।

काल

वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि की रचना वि० सं० ११९७ में की थी।[2] उस में भद्रेश्वरसूरि और उसके दीपक व्याकरण का उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि भद्रेश्वरसूरि सं० ११९७ से पूर्ववर्ती है, परन्तु उस से कितना पूर्ववर्ती है, यह कहना कठिन है।

पं० गुरुपद हालदार ने भद्रेश्वर सूरि और उपाङ्गी भद्रबाहु सूरि की एकता का अनुमान किया है।[3] जैन विद्वान् भद्रबाहु सूरि को चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालिक मानते हैं।[4] अतः जब तक दोनों की एकता का बोधक सुदृढ़ प्रमाण न मिले, तब तक इनकी एकता का अनुमान व्यर्थ है।

११—हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५—१२२९)

प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' नाम का एक सांगोपाङ्ग बृहद् व्याकरण लिखा है।

---

१. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २। २. सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु। वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः॥ पृष्ठ २५१। ३. व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ४५२। ४. जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठ १४,१५।

परिचय

वंश—हेमचन्द्र के पिता का नाम 'चाचिग' और माता का नाम 'पाहिणी' था। पिता वैदिक मत का अनुयायी था, परन्तु माता का झुकाव जैन मत की ओर था। हेमचन्द्र का जन्म मोढवंशीय वैश्यकुल में हुआ था।

जन्मकाल-हेमचन्द्र का जन्म कार्तिक पूर्णिमा सं० ११४५ में हुआ था।

जन्मनाम—हेमचन्द्र का जन्म नाम 'चांगदेव' था।

जन्मस्थान—ऐतिहासिक विद्वानों के मतानुसार हेमचन्द्र का जन्म 'धुन्धुक' (अहमदाबाद) में हुआ था।

गुरु—हेमचन्द्र के गुरु का नाम 'चन्द्रदेव सूरि' था। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायान्तर्गत वज्रशाखा के आचार्य थे।

दीक्षा—एक बार माता के साथ जैन मन्दिर जाते हुए चांगदेव (हेमचन्द्र) की चन्द्रदेव सूरि से भेंट हुई। चन्द्रदेव ने चांगदेव को विलक्षणप्रतिभाशाली होनहार बालक जान कर शिष्य बनाने के लिये उन्हें उन की माता से मांग लिया। माता ने भी अपने पुत्र को श्रद्धापूर्वक चन्द्रदेव मुनि को समर्पित कर दिया। इस समय चांगदेव के पिता परदेश गये हुए थे। साधु होने पर चांगदेव का नाम सोमचन्द्र रक्खा गया। सं० ११६२ में मारवाड़ प्रदेशान्तर्गत 'नागौर' नगर में इन्हें सूरि पद मिला और इनका नाम हेमचन्द्र हुआ। कई विद्वान् सूरिपद की प्राप्ति सं० ११६६ में मानते हैं।

पाण्डित्य—हेमचन्द्र जैन मत के श्वेताम्बर सम्प्रदाय का एक प्रामाणिक आचार्य है। इसे जैन ग्रन्थों में 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा है। जैन लेखकों में हेमचन्द्र का स्थान सर्वप्रधान है। इसने व्याकरण, न्याय, छन्द, काव्य और धर्म आदि प्रायः समस्त विषयों पर ग्रन्थरचना की है। इस के अनेक ग्रन्थ इस समय अप्राप्य हैं।

सहायक—गुजरात के महाराज सिद्धराज और कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र के महान् भक्त थे। उन के सहाय से हेमचन्द्र ने अनेक ग्रन्थों की रचना की और जैन मत का प्रचार किया।

निर्वाण—आचार्य हेमचन्द्र का निर्वाण सं० १२२९ में ८४ वर्ष की आयु में हुआ। आचार्य हेमचन्द्र का उपर्युक्त परिचय हमने प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ (पृष्ठ ८३—९५) के अनुसार दिया है।

शब्दानुशासन की रचना—हेमचन्द्र ने गुजरात के सम्राट् सिद्धराज के आदेश से शब्दानुशासन की रचना की। सिद्धराज का काल सं० ११५१—११९९ तक माना जाता है।

हैमशब्दानुशासन

हेमचन्द्रविरचित सिद्धहैमशब्दानुशासन संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का व्याकरण है। प्रारम्भिक ७ अध्यायों के २८ पादों में संस्कृत भाषा का व्याकरण है। इसमें ३५६६ सूत्र हैं। आठवें अध्याय में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश आदि का अनुशासन है। आठवें अध्याय में समस्त १११९ सूत्र हैं। जैन आगम की प्राकृतभाषा का अनुशासन पाणिनि के ढंग पर "आर्षम्" कह कर समाप्त कर दिया। इस प्रकार अनेकविध प्राकृत भाषाओं का व्याकरण सर्वप्रथम हेमचन्द्र ने ही लिखा है। जैनप्रसिद्धि के अनुसार हैमशब्दानुशासन की रचना में केवल एक वर्ष का समय लगा था।[1] हैमबृहद्वृत्ति के व्याख्याकार श्री पं० चन्द्रसागर सूरि के मतानुसार हेमचन्द्राचार्य ने हैमव्याकरण की रचना संवत् ११९३, ११९४ में की थी।[2]

हैमव्याकरण का क्रम प्राचीन शब्दानुशासनों के सदृश नहीं है। इस की रचना कातन्त्र के समान प्रकरणानुसारी है। इस में यथाक्रम संज्ञा, स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, नाम, कारक, षत्व, णत्व, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित प्रकरण हैं।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

१—हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञा लघ्वी वृत्ति।
२—हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञा बृहती वृत्ति।
३—हैमशब्दानुशासन पर बृहन्न्यास।
इन तीनों का वर्णन अनुपद किया जायगा।
४—धातुपाठ और उसकी धातुपारायण नाम्नी व्याख्या।

---

१. श्रीहेमचन्द्राचार्यैः श्रीसिद्धहेमाभिधानमभिनवं पञ्चाङ्गमपि व्याकरणं सपादलक्षप्रमाणं संवत्सरेण रचयांचक्रे। प्रबंधचिन्तामणि पृष्ठ ६०।

२. श्री पं० चन्द्रसागर सूरि प्रकाशित हैमबृहद्वृत्ति भाग १ की भूमिका पृष्ठ "कौ"।

५—उणादि सूत्र और उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति।
६—लिङ्गानुशासन और उसकी वृत्ति।
इन ग्रन्थों का वर्णन यथास्थान तत्तत् प्रकरणों में किया जायगा।

हैमव्याकरण के व्याख्याता

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने समस्त मूल ग्रन्थों की स्वयं टीकाएं रची हैं। अपने व्याकरण की उन्होंने दो व्याख्याएं लिखी हैं। शास्त्र में प्रवेश करने वाले बालकों के लिये लघ्वी वृत्ति और कुशाग्रमति प्रौढ़ व्यक्तियों के लिये बृहती वृत्ति की रचना की है। लघ्वी वृत्ति का परिमाण लगभग ६ सहस्र श्लोक है और बृहती का १८ सहस्र श्लोक। कहा जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण पर ५० सहस्र श्लोक परिमाण का एक "बृहन्न्यास" नाम का विवरण लिखा था। यह सम्प्रति अनुपलब्ध है।

हैमशब्दानुशासन में स्मृत ग्रन्थकार—इस व्याकरण तथा उसकी वृत्तियों में निम्नलिखित प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है—

आपिशलि, यास्क, शाकटायन, गार्ग्य, वेदमित्र, शाकल्य, इन्द्र, चन्द्र, शेषभट्टारक, पतञ्जलि, वार्त्तिककार, पाणिनि, देवनन्दी, जयादित्य, वामन, विश्रान्तविद्याधरकार, विश्रान्तन्यासकार (मल्लवादी सूरि), जैन शाकटायन, दुर्गसिंह, श्रुतपाल, भर्तृहरि, क्षीरस्वामी, भोज, नारायणकण्ठी, सारसंग्रहकार, द्रमिल, शिक्षाकार, उत्पल, उपाध्याय, क्षीरस्वामी, जयन्तीकार, न्यासकार और पारायणकार।

अन्य व्याख्याकार

हैमव्याकरण पर अनेक विद्वानों ने टीका टिप्पणी आदि लिखे। उनके ग्रन्थ प्रायः दुष्प्राप्य और अज्ञात हैं। डा० बेलवेल्कर ने अपने 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' नामक ग्रन्थ में निम्न व्याख्याकारों का नाम निर्देश किया है—

१ (हेमचन्द्र ?)	बृहद् ढुंढिका
२ धनचन्द्र	....
३ जिनसागर	ढुण्ढिका
४ उदयसौभाग्य	„ (प्राकृतभाग पर)
५ देवेन्द्र सूरि	हैमलघुन्यास
६	शब्दमहार्णव न्यास

७ विनयविजय गणी	हैमलघुप्रक्रिया
८ मेघविजय	हैमकौमुदी

आचार्य हेमचन्द्र संस्कृत शब्दानुशासन के अन्तिम रचयिता है। इस के साथ ही उत्तर भारत में संस्कृत के उत्कृष्ट मौलिक ग्रंथों का रचना काल समाप्त होजाता है। उसके अनन्तर विदेशी मुसलमानों के आक्रमण और आधिपत्य से भारत की प्राचीन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में भारी उथल पुथल हुई, जनता को विविध असह्य यातनायें सहनी पड़ीं। ऐसे भयंकर काल में नये उत्कृष्ट वाङ्मय की रचना सर्वथा असम्भव थी। इस काल में भारतीय विद्वानों के सामने प्राचीन वाङ्मय की रक्षा की ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या उत्पन्न होगई थी। अधिकतर आर्य राज्यों के नष्ट हो जाने से विद्वानों को सदा से प्राप्त होने वाला राज्याश्रय प्राप्त होना भी दुर्लभ होगया। अनेक विघ्न बाधाओं के होते हुए भी तात्कालिक विद्वानों ने प्राचीन ग्रन्थों की रक्षार्थ उन पर टीका टिप्पणी लिखने का क्रम बराबर प्रचलित रक्खा। उसी काल में संस्कृत भाषा के प्रचार को जीवित जागृत रखने के लिये तत्कालीन वैयाकरणों ने अनेक नये छोटे छोटे व्याकरण ग्रन्थों की रचनायें कीं। इस काल के कई व्याकरणग्रन्थों में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति भी परिलक्षित होती है। इस अर्वाचीन काल में जितने व्याकरण बनें उनमें निम्न चार व्याकरण कुछ महत्त्वपूर्ण हैं—

१–जौमार २–सारस्वत ३–मुग्धबोध ४–सुपद्म

अब हम इनका नामोद्देशमात्र से वर्णन करते हैं—

१२—क्रमदीश्वर (सं० १३०० से पूर्व)

क्रमदीश्वर ने संक्षिप्तसार नामक एक व्याकरण रचा है। यह सम्प्रति उसके परिष्कर्त्ता जुमरनन्दी के नाम पर जौमार नाम से प्रसिद्ध है। क्रमदीश्वर ने इस पर एक वृत्ति भी रची थी। उसी वृत्ति का जुमरनन्दी ने परिष्कार किया। इसीलिये अनेक हस्तलेखों के अन्त में निम्नपाठ उपलब्ध होता है—

इति वादीन्द्रचक्रचूडामणिमहापण्डितश्रीक्रमदीश्वरकृतौ संक्षिप्तसारे महाराजाधिराजजुमरनन्दिशोधितायां वृत्तौ रसवत्यां....।

परिष्कर्त्ता-जुमरनन्दी

उपर्युक्त उद्धरण से व्यक्त है कि जुमरनन्दी किसी प्रदेश का राजा था। कई लोग जुमर शब्द का संबन्ध जुलाहा से लगाते हैं, वह चिन्त्य है।

परिशिष्टकार—गोयीचन्द्र

गोयीचन्द्र औत्थासनिक ने सूत्रपाठ, उणादि और परिभाषापाठ पर टीकाएं लिखीं और उसने जौमार व्याकरण के परिशिष्टों की रचना की। इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में ८३६ संख्या का एक हस्तलेख है, उस पर "गोयीचन्द्र कृत जौमारव्याकरण परिशिष्ट" लिखा है। गोयीचन्द्र की टीका पर न्यायपञ्चानन ने एक टीका लिखी है।

इस व्याकरण का प्रचलन संप्रति पश्चिमी बंगाल तक ही सीमित है।

१३—सारस्वतव्याकरणकार (सं० १३०० के लगभग)

सारस्वत व्याकरण के विषय में प्रसिद्धि है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य को सरस्वती देवी से इन सूत्रों का आगम हुआ और इसी कारण इस का सारस्वत नाम हुआ। यद्यपि सारस्वत व्याकरण के अन्त में प्रायः "अनुभूतिस्वरूपाचार्यविरचिते" पाठ मिलता है, तथापि उसके प्रारम्भिक—

प्रणम्य परमात्मानं बालधीवृद्धिसिद्धये।
सरस्वतीमृजुं कुर्वे प्रक्रियां नातिविस्तराम्॥

श्लोक से विदित होता है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य इस व्याकरण का मूल लेखक नहीं है, वह तो उसकी प्रक्रिया को सरल करने वाला है।

सारस्वत सूत्रों का रचयिता

क्षेमेन्द्र अपनी सारस्वतप्रक्रिया के अन्त में लिखता है—

इति श्रीनरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमेन्द्रटिप्पनं समाप्तम्।

इससे प्रतीत होता है कि सारस्वत सूत्रों का मूल रचयिता नरेन्द्राचार्य नामक वैयाकरण है। अमरभारती नामक एक अन्य टीकाकार भी लिखता है—

यन्नरेन्द्रनगरिप्रभाषितं यच्च वैमलसरस्वतीरितम्।
तन्मयात्र लिखितं तथाधिकं किञ्चिदेव कलितं स्वया धिया॥

विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका में नरेन्द्राचार्य को असकृत् उद्धृत किया है।

एक नरेन्द्रसेन वैयाकरण प्रमाणप्रमेयकलिका का कर्ता है। इस के गुरु का नाम कनकसेन और उसके गुरु का नाम अजितसेन था। नरेन्द्रसेन का चान्द्र, कातन्त्र, जैनेन्द्र और पाणिनीय तन्त्र पर पूरा अधिकार था। इस का काल शकाब्द ९७५ अर्थात् वि० सं० ११९० है। यद्यपि नरेन्द्राचार्य और नरेन्द्रसेन की एकता का कोई उपोद्बलक प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ, तथापि हमारा विचार है ये दोनों एक हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से इतना स्पष्ट है कि नरेन्द्र या नरेन्द्राचार्य ने कोई सारस्वत व्याकरण अवश्य रचा था, जो अभी तक मूल रूप में प्राप्त नहीं हुआ।

सारस्वत के टीकाकार

सारस्वत व्याकरण पर अनेक वैयाकरणों ने टीकाएं रची हैं, उन में से जिन की टीकाएं इस समय प्राप्य हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

नाम टीकाकार	समय	ग्रन्थनाम	हस्तलेख का काल
१–क्षेमेन्द्र	सं० १२५० ?	टिप्पन	
२–धनेश्वर	सं० १२७५ ?	क्षेमेन्द्रटिप्पनखंडन	
३–अनुभूतिस्वरूप	सं० १३००	सारस्वतप्रक्रिया	
४–अमतभारती	सं० १५०० से पूर्व	सुबोधिनी	सं० १५१४
५–पुञ्जराज	सं० १५५०	प्रक्रिया	
६–सत्यप्रबोध	सं० १५५६ से पूर्व	दीपिका	सं० १५५६
७–माधव	सं० १५९१ ,, ,,	सिद्धान्तरत्नावली	सं० १५९१
८–चन्द्रकीर्ति	सं० १६००	सुबोधनिका	
९–रघुनाथ	सं. १६०० के लगभग	लघुभाष्य	
१०–मेघरत्न	सं० १६१४ से पूर्व	ढुण्डिका या दीपिका	सं० १६१४
११–मण्डन	सं० १६३२ ,, ,,	....	सं० १६३२
१२–वासुदेव भट्ट	सं० १६३४	प्रसाद	
१३–रामभट्ट	सं० १६५० के लगभग	विद्वत्प्रबोधिनी	
१४–काशीनाथ	सं० १६६७ से पूर्व	भाष्य	सं० १६६७
१५–भट्ट गोपाल	सं० १६७२ ,, ,,	....	सं० १६७२
१६–तिलक भट्टाचार्य	सं० १६७२		
१७–सहजकीर्ति	सं० १६८१	प्रक्रियावार्तिक	
१८–रामचन्द्राश्रम	सं० १७४१ से पूर्व	सिद्धान्तचन्द्रिका	

टीकाकार–लोकेशकर	सं० १७२१	तत्त्वदीपिका
,, सदानन्द	सं० १७९९	सुबोधिनी

१४—वोपदेव

वोपदेव ने "मुग्धबोध" नामक लघुतन्त्र की रचना की। यह केशव का पुत्र धनेश या धनेश्वर का शिष्य था। यह वही धनेश्वर है जिसने महाभाष्य की चिन्तामणि नाम्नी टीका लिखी है। वोपदेव अच्छा वैयाकरण था। इस का काल सं० १३०० –१३४० के लगभग है।

टीकाकार

वोपदेवकृत मुग्धबोध पर अनेक वैयाकरणों ने टीकाएं लिखी हैं, उन में से कुछ एक के नाम इस प्रकार हैं—

नाम	काल	टीकानाम
१–नन्दकिशोर भट्ट	सं० १४५१	....
२–काशीश्वर		....
३–दुर्गादास		....
४–रामतर्क वागीश	सं० १६९६	परिशिष्ट

इनके अतिरिक्त इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में मुग्धबोध की निम्न टीकाओं के हस्तलेख विद्यमान हैं—

नाम टीकाकार	काल	टीका का नाम	हस्तलेख की संख्या
५–देवीदास	....	....	८५१
६–रामानन्द	....	....	८५२
७–श्रीराम शर्मा	....	....	८५३
८–श्रीकाशीश	....	....	८५६
९–गोविन्दशर्मा	....	शब्ददीपिका	८५७
१०–श्रीवल्लभ	....	बालबोधिनी	८५८
११–रामभद्र	....	....	८६१
१२–कार्तिकेय	....	सुबोधा	८६२
१३–मधुसूदन	....	....	८६९
१४–भोलानाथ	....	सन्दर्भामृततोषिणी	?

१५—पद्मनाभदत्त (संवत् १४००)

पद्मनाभदत्त ने 'सुपद्म' नाम का एक संक्षिप्त व्याकरण रचा है। सुपद्म की उणादिवृत्ति में ग्रन्थकार ने अपना नाम 'सुपद्मनाभ' लिखा है।[1] पद्मनाभदत्त मैथिल ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम दामोदरदत्त और पितामह का नाम श्रीदत्त था। पद्मनाभ ने "भूरिप्रयोग" नामक कोष में उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति को उद्धृत किया है। अतः पद्मनाभ का काल विक्रम की १४वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है।

सुपद्म के टीकाकार

पद्मनाभदत्त ने स्वयं अपने व्याकरण की वृत्ति रची है, जिसका नाम 'पञ्जिका' है। इसने सुपद्म के खिल पाठों की रचना और उनकी व्याख्या भी की है। सुपद्म व्याकरण पर विष्णुमिश्र, श्रीधर चक्रवर्त्ती और रामचन्द्र काशीश्वर आदि कई वैयाकरणों ने टीकाएं लिखी हैं। इनमें विष्णुमिश्र की "सुपद्ममकरन्द" टीका सर्वश्रेष्ठ है।

इस व्याकरण का प्रचार सम्प्रति बंगाल के कुछ जिलों तक ही सीमित है।

अन्य व्याकरणकार

पाणिनि से अर्वाचीन उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ और भी वैयाकरण हुए हैं जिन्हों ने अपने अपने व्याकरणों की रचना की है। उनमें से निम्न वैयाकरणों के व्याकरण सम्प्रति उपलब्ध हैं—

१—भट्ट अकलंक अकलङ्क व्याकरण	९—……………चैतन्यामृत व्याकरण
२—भरतसेन द्रुतबोध ,,	१०—बालराम पञ्चानन प्रबोधप्रकाश
३—रामकिंकर आशुबोध ,,	११-विल्ललभूपति प्रबोधचन्द्रिका ,,
४—रामेश्वर शुद्धाशुबोध ,,	१२-विनय सुन्दर भोज ,,
५—शिवप्रसाद शीघ्रबोध ,,	१३-विनायक भावसिंहप्रक्रिया ,,
६—काशीश्वर ज्ञानामृत ,,	१४-चिद्रूपाश्रम दीप ,,
७—रूपगोस्वामी हरिनामामृत ,,	१५-नारायण सुरनन्द कारिकावली
८—जीवगोस्वामी हरिनामामृत ,,	१६-नरहरि बालबोध ,,

१. सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मतं विधिः समग्रः सुगमं समस्यते। इण्डिया आफिस पुस्तकालय लन्दन का सूचीपत्र ग्रन्थांक ८९१।

ये ग्रन्थ नाम मात्र के व्याकरण हैं और इनका प्रचार भी नहीं है। इसलिये हमने इनका वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया।

हमने "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" के इस प्रथम भाग में पाणिनि से प्राचीन २३ और अर्वाचीन १५ व्याकरणकार आचार्यों तथा उनके शब्दानुशासनों पर विविध व्याख्याएं रचने वाले लगभग २५० वैयाकरणों का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसके दूसरे भाग में व्याकरण शास्त्र के खिलपाठ (अर्थात् उणादि, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन), फिट् सूत्र और प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता तथा व्याख्याकारों का वर्णन होगा। ग्रन्थ के अन्त में व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थों और व्याकरणप्रधान काव्यों के रचयिताओं का भी उल्लेख किया जायगा।

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणपण्डितब्रह्मदत्ताचार्याणाम्
अन्तेवासिना पाणिनीयकातन्त्रचान्द्रजैनेन्द्रहैमादिविविध-
व्याकरणज्ञेन युधिष्ठिरमीमांसकेन विरचिते
"संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास"
ग्रन्थे प्रथमो भागः पूर्तिमगात्
शुभं भवतु

श्री० पं० भगवद्दत्तजी बी. ए. द्वारा विरचित पुस्तकें